प्रकाशक

दरबारीलाल जैन कोठिया,

मन्त्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

२१, दरियागज, दिल्ली

प्रथम सस्करण पाँच सौ प्रति

मगसिर स० २०२४ दिसम्बर १९६७

पृष्ठ-सख्या कुल ८७६

~~लागत मूल्य आठ रुपये~~

[illegible] एवं परिवर्धित

मूल्य [illegible]

मुद्रक

विश्वनाथ भार्गव,

मनोहर प्रेस,

जतनबर, वाराणसी–१

ग्रन्थानुक्रम

	पृष्ठ
१. प्रकाशकीय	१
२. प्राक्कथन	३
३. उत्तरात्मक निबन्ध	१७ से ५३६
४. समालोचनात्मक निबन्ध	५३७ से ६६०
५. स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध	६६१ से ७५४
६. विनोद-शिक्षात्मक निबन्ध	७५५ से ७९०
७. प्रकीर्णक निबन्ध	७९१ से ८६८
८. निबन्ध-सूची	८६९ से ८७२

ग्रन्थ-प्राप्ति-स्थान

१. वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट, २१ दरियागंज, दिल्ली

२. अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट,'

c/o डा० श्रीचन्द जैन सगल, जी०टी० रोड, एटा ETAH (U.P.

प्रकाशकीय

आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तार 'युगवीर'के विभिन्न निबन्धो-की सग्रह-कृति युगवीर-निबन्धावलीका प्रथम खण्ड सन् १९६३ मे प्रकाशित हुआ था और अब लगभग पांच वर्ष बाद उनका यह द्वितीय खण्ड पाठकोके हाथोमे देते हुए हमें बडी प्रसन्नता होती है। इसमे भी प्रथम खण्डकी तरह इतस्तत विखरे हुए दूसरे सामाजिक तथा धार्मिक निबन्धोका सग्रह है। पहला खण्ड विविध विषयके ४१ महत्वपूर्ण मौलिक निबन्धोको लिये हुए है तो यह दूसरा खण्ड ६५ निबन्धोको आत्मसात् किये हुए है, जिन्हे १ उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक ऐसे पाँच विभागोमें विभक्त किया गया है और उन्हे अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखा गया है। इसका विशेष परिचय साथमे दी गई निबन्ध-सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। इस खण्डकी पृष्ठसख्या पहले खण्डसे दुगुनी हो गई है, फिर भी मूल्य दुगना न किया जाकर लागतमात्र रखा गया है।

मुख्तारश्रीके लेख-निबन्धोको जिन्होंने भी कभी पढा-सुना है उन्हे मालूम है कि वे कितने खोजपूर्ण उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नही है। विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोने समय-समयपर समाजमें किन-किन सुधारोको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है। 'विवाह-क्षेत्रप्रकाश' नामका सबसे बडा निबन्ध तो पुस्तकके रूपमें छपकर कभीका नि शेष हो चुका है और अब मिलता नही। इससे सभी पॉठक एक ही स्थानपर उपलब्ध इन निबन्धोसे अब अच्छा लाभ उठा सकेगे। इस खण्डके अधिकाश निबन्धोंके लिखनेमें कितना भारी परिश्रम और कितना अधिक शोध-खोज-कार्य किया गया है यह उन्हे पढनेसे ही जाना जा सकता है।

निबन्धावलीका यह खण्ड भी स्कूलो, कालिजो तथा विद्यालयो आदि-की लायब्रेरियोमें रखे जानेके योग्य है और उच्च कक्षाओंके विद्यार्थियोको

पढनेके लिये पारितोषिकादिकके रूपमें दिया जाना चाहिये, जिससे उन्हे समाजकी पूर्वगति-विधियो एव स्पन्दनोका कितना ही परिज्ञान होकर कर्त्तव्यका समुचित भान हो सके, और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामें भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें।

अन्तमें हम डा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० लखनऊको हार्दिक धन्यवाद देते है, जिन्होंने निबन्धावलीके इस खण्डके लिए अपना महत्वपूर्ण 'प्राक्कथन' लिख-भेजकर सस्थाको आभारी बनाया है। किन्तु उनके 'पेशेवर पडित', 'धनी सेठोंके आश्रित, उनके मुखापेक्षी अथवा उनके द्वारा स्थापित, सचालित या पोषित सस्थाओ, सगठनो आदिमे चाकरी करने वाले जैन पडितो' जैसे अप्रासगिक एव अनावश्यक आक्षेपोंसे हम सहमत नही हैं। हम तो समझते है कि चाहे पेशेवर' हो और चाहे 'अपेशेवर', जो कर्त्तव्यनिष्ठ है वह प्रशसनीय है।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
२४ अगस्त १९६७

दरबारीलाल जैन कोठिया
(न्यायाचार्य, एम० ए०)
मत्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

प्राक्कथन

साहित्य जीवनका और समाजका प्रतिबिम्ब होता है। एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति जब वैविध्य एवं वैचित्र्यपूर्ण बाह्यजगतका सजग अवलोकन करता है तो उसके मानसपटल पर उसकी प्रकृति, रुचि, अभिज्ञता और परिस्थितियोंके अनुसार बाह्य वस्तुस्थितिकी छाप पड़ती है, जिसे आत्मसात् करके वह विचारपूर्वक भाषाद्वारसे अभिव्यक्त करता है—लेखबद्ध कर देता है। यही साहित्य है और यह सभ्यमानवकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, उसकी सर्वश्रेष्ठ-कला है। साहित्यिक कृति जितना ही अधिक रसपूर्ण, भावपूर्ण विचारोत्तेजक, युक्तियुक्त, बुद्धिगम्य, अनुभूत और प्रामाणिक होती है उतना ही अधिक वह क्षेत्र-कालव्यापी होनेमें, मानव समाजका मनोरंजन एवं उसकी ज्ञानवृद्धि करनेमें, तथा उसका उचित दिशादर्शन करके उसका अपना जीवन प्रगतिशील एवं उन्नत बनानेमें समर्थ होती है। कुछ साहित्यकार 'कला, कलाके लिये' का नारा लगाते हैं, किन्तु अन्य अनेक कलाका सोद्देश्य होना मान्य करते हैं। निरर्थक, निरुद्देश्य कलाको वे उपादेय नहीं मानते। वह लेखक और पाठकका भी अस्थायी मनोरंजन भले ही करले किन्तु व्यक्ति या समाजका कोई ठोस हित सम्पादन नहीं करती। इसके अतिरिक्त, शुद्ध कलात्मक अथवा सृजनात्मक साहित्य, यथा—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिके क्षेत्रमें कल्पना-शक्ति एवं भावप्रवणताके बलपर कलात्मकताका प्रदर्शन चाहे जितना भी किया जा सकता है किन्तु विविध ज्ञान-विज्ञानसे सम्बन्धित तथा मनुष्य-जीवनके सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि अनगिनत क्षेत्रों-को स्पर्श करनेवाले वस्तुपरक साहित्यमें तथाकथित कलात्मकताका प्रदर्शन सीमित-रूपमें ही किया जा सकता है। ऐसा समस्त साहित्य सोद्देश्य ही होता है और विश्वके प्रायः समस्त देशोंके अर्वाचीन ही नहीं प्राचीन साहित्यमें भी इसी प्रकारके साहित्यकी बहुलता है। उसीके आधार पर देश, जाति या युग-विशेषकी सभ्यता, संस्कृति एवं प्रगति-शीलताका मूल्याङ्कन

किया जाता है। ऐसा साहित्य ही व्यक्ति और समाजका पथ-प्रदर्शन करता है और अपनी समस्याओंका समाधान करनेमें उनका सहायक होता है। शायद यही कारण है कि पद्यकी अपेक्षा गद्यका और गद्य-साहित्यकी अन्य अनेक विधाओंकी अपेक्षा उसकी निबन्ध' नामक विधाका ही आधुनिक कालमे सर्वाधिक विकास एव प्रसार हुआ है।

'निबध' शब्द 'बध' से बना हुआ है, जिसका अर्थ है 'बधा हुआ।' अतएव, अपनेमें पूर्ण एक ऐसी बधी हुई, सुगठित, सक्षिप्त गद्य-रचनाको 'निबन्ध' सज्ञा दी जाती है जिसमे कि लेखक अपने निजके दृष्टिकोणसे किसी विवेच्य-विषयका युक्तियुक्त, तर्कसगत, विचारपूर्ण अथवा भावपूर्ण विवेचन करता है। जो निबध भावप्रधान या भावात्मक होते हैं उनमें लेखक अपने भावो अथवा अनुभूतियोकी कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। जो निबध वस्तुपरक होते हैं उनमे वह अपने ज्ञान, अध्ययन, अनुभव और चिन्तनके बलपर अपने विचार व्यक्त करता है। इस प्रकारके निबन्धोमें युक्ति और तर्कके अतिरिक्त प्रमाणो और सन्दर्भोंका भी यथावश्यक अवलम्बन लिया जाता है। वस्तुपरक निबन्धोमे वर्णनात्मक, परिचयात्मक, सस्मरणात्मक, आलोचनात्मक, शिक्षाप्रद, हास्य-व्यग्यात्मक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक तथा अन्य विविध ज्ञान-विज्ञानसे सबधित अनेक प्रकार होते हैं। निबन्ध जितना ही आत्मपरक (सबजेक्टिव) होगा वह उतना ही भावप्रधान होगा और जितना ही वह वस्तुपरक (ऑबजेक्टिव) होगा उतना ही वह युक्ति एव प्रमाणप्रधान होगा। भावप्रधान-रचना हृदयको प्रभावित करती है तो युक्तिप्रधान बुद्धिको प्रभावित करती है। रस-सिद्ध तो दोनो ही होनी चाहिये, उपयुक्त भाषा, शैली, रचनाशिल्प या तकनीक भी दोनोंके ही लिये आवश्यक हैं। परन्तु प्रथम-कोटिके निबन्धोका फल जब प्रधानतया मनोरजन ही होता है तब दूसरी कोटिके निबन्धकोंका फल ज्ञानवृद्धि होता है। वे पाठकके मस्तिष्कमे उपादेय विचारोका स्फुरण करते हैं, उसे अध्ययन, चिन्तन और शोधखोजके लिये प्रेरित करते हैं और उसे स्वयके जीवनको तथा अपने समाजको समुन्नत एव प्रगतिगामी बनानेके लिये प्रोत्साहन देते हैं। स्वतन्त्र विचारशक्ति, जो

मनुष्यकी सर्वाधिक मूल्यवान निधि है, उसकी प्रक्रिया ऐसे सत्-साहित्यके पठन-मनन-द्वारा होती ही है।

गद्य-साहित्यकी निबन्ध नाम्नी विधाका अपने प्राय वर्तमान रूपमें सर्वप्रथम प्रारभ १५ वी शती ई० में इटलीमें हुआ माना जाता है। १६ वी १७ वी शतीमे वहांसे इगलैड, फ्रान्स आदिमे उसका प्रवेश एव प्रचार हुआ ओर १९ वी गतीके अन्त तक अग्रेजी निवन्धशैली अपने विविध रूपोमें विकासकी चरमावस्थाको प्राप्त हो गई। भारतवर्षमें १८ वी शती-के उत्तरार्धमे इस देशके बहुभागमें अग्रेजी शासनका प्रसार होने लगा था। फलस्वरूप १९ वी शतीके प्रारभसे ही पाश्चात्य सस्कृतिके प्रभावसे यहाँ नवजागृतिकी एक लहर चल पडी, जिसने १८५७ के स्वातन्त्र्य-समरके उपरान्त, प्राय पूरे देश पर अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण शासन एव सुरक्षाका सुयोग पाकर, अपूर्व वेग पकडा। रेल, डाक, तार और छापेखानेकी स्थापना-ने देशके विभिन्न भागोको एक दूसरेके निकट-सम्पर्कमें ला दिया और धर्म-सुधार, समाजसुधार, समाजसगठन, राजनीतिक सुधार, राष्ट्रीय-जागरण, शिक्षाप्रचार आदिके विविध आन्दोलन यत्र तत्र चल पडे। अनेक स्थानीय, प्रान्तीय, सार्वदेशिक, जातीय, साम्प्रदायिक, आदि सस्थाओकी स्थापना होने लगी। अग्रेजी ही नही, देशी भाषाओमे भी अनेक समाचार पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी, मुख्यतया जिनके माध्यमसे और अग्रेजीके प्रभाव एव अनुकरणसे सभवतया पहिले बगलामें और फिर हिन्दी आदि अन्य स्वदेशभाषाओमें निबन्ध-शैलीका अद्भुत विकास हुआ।

१९ वी शतीके उत्तरार्धकी इस समस्त जागृति और नवचेतनाके प्रभावसे जैनजगत भी अछूता नही रह सकता था। थोडा देरसे ही सही उसने भी अपनी क्षमताओ एव आवश्यकताओंके अनुसार प्राय उन सभी प्रवृत्तियोको अपनाया जिनसे देशका जैनेतर समाज आन्दोलित हो रहा था और इन समस्त आन्दोलनोमें प्रचारका सबसे बडा साधन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें नेताओ, सुधारको, विद्वानो एव विचारको-द्वारा लिखे जानेवाले लेख-निबधादि ही सिद्ध हुए। जैन-समाजके इन प्रारभिक लेखकोमे, विशेषकर दिगम्बर सम्प्रदायके हिन्दी लेखकोमें, प० गोपालदास बरैया,

प० पन्नालाल बाकलीवाल, बा० सूरजभान वकील, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, प० नाथूराम प्रेमी और प० जुगलकिशोर मुख्तार सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। श्वेताबर सम्प्रदायमें मुनि आत्माराम, मुनि जिनविजय, पं० सुखलाल तथा प० बेचनदास और अंग्रेजी भाषाके जैन लेखकोमें प० लालन, वीरचन्द राघवजी गाधी, जगमन्दरलाल जैनी, पूरणनन्द नाहर, चम्पतराय बैरिस्टर और अजितप्रसाद वकील उस कालमे उल्लेखनीय रहे। इन प्रभृति प्रारंभिक जैन निबंधलेखकोमेसे अधिकाश दिवगत हो चुके हैं और जो अभी हमारे सौभाग्यसे विद्यमान हैं उनमे प्राक्तन-विद्या-विचक्षण, प्राच्य-विद्या-महार्णव, सिद्धान्ताचार्य आदि उपाधि विभूषित ९० वर्षीय आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' अनेक दृष्टियोसे अद्वितीय रहे हैं।

वर्तमान शताब्दीके प्रारंभसे ही—प्राय सात दशक पूरे होने आये—मुख्तार साहब जैन संस्कृति, जैनसाहित्य और जैनसमाजकी सेवा तन, मन और धनसे एकनिष्ठ होकर करते आये हैं। और यह सेवा वे स्वान्त-सुखाय एव कर्त्तव्यबुद्धिसे करते रहे हैं, आजीविका द्रव्यार्जन या मानार्जनका भी उसे कभी साधन नही बनाया। वस्तुत, ऊपर जिन महानुभावोका उल्लेख किया गया है उनमेसे प्राय सब ही और उनके अनेक साथी भी इसी कोटिके अमूल्य कार्यकर्त्ता रहे हैं। उनमें से प्राय सबने ही निजी आजीविकाके स्वतन्त्र साधन रखे और साथ ही अपनी रुचि, कर्त्तव्यबुद्धि, लगन और अध्यवसायसे शास्त्रोका अध्ययन करने और उनका रहस्य समझनेकी क्षमता प्राप्त की, कई-कई भाषाओपर अधिकार किया, समाजकी दुर्दशा, पीडा और आवश्यकताओका अनुभव किया, और अपने समय एव श्रमका, बहुधा अपने निजी द्रव्यका भी, यथाशक्य अधिकाधिक उपयोग समाज एव संस्कृतिकी सेवामें किया। उन्होंने प्रतिक्रियावादी स्थितिपालकोंके कट्टर विरोधोसे टक्करें ली, स्वजातिसे अपमान, लाछन और बहिष्कार तक सहे तथापि वे युगवीर कर्त्तव्यपथपर डटे रहे। वर्तमान युगमे जन-जागरणके इन अग्रदूतोंने भी उसी परम्पराका अनुसरण किया जिसे पूर्वकालमे वीर चामुण्डराय, वस्तुपाल, आशाधर, हस्तिमल्ल, मल्लिनाथ, इरुगुप्प दण्डनायक, तारणस्वामी, लोकाशाह, बनारसीदास, रूपचन्द, भूधरदास,

द्यानतराय, दौलतराम, टोडरमल्ल, गुमानीराम, जयचन्द, सदासुख, त्यागी बाबा दौलतराम, आदि अनेक श्रावक विद्वानोने स्थापित की थी। इनमेसे कईएक आज भी 'आचार्यकल्प' विशेषणके साथ स्मरण किये जाते हैं। इन नरपुगवोंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूपसे निहित स्वार्थोसे लोहा लिया और धर्मका धार्मिक-व्यवसायियोंके चगुलसे उद्धार करनेका और उसे कूप-मण्डूकताकी दलदलसे उबारनेका स्तुत्य प्रयास किया था। जिस प्रकार इन पुराने क्रान्तिकारियोमेसे अधिकाश पेशेवर पडित नही थे उसी प्रकार इस युगके उपरोक्त समाज-उद्बोधक लेखक एव कार्यकर्त्ता भी पेशेवर पडित नही रहे हैं। देशमे आज अनेक राज्याश्रित या राजमुखापेक्षी साहित्यकारो एव कवियोंके विषयमे जो प्रवाद प्रचलित हैं वेही धनी सेठोंके आश्रित, उनके मुखापेक्षी अथवा उनके द्वारा स्थापित, सचालित या पोषित सस्थाओ, सगठनो आदिमें चाकरी करनेवाले जैन पडितो पर भी प्राय लागू होते हैं। उनमे भी दो-चार अपवादरूप हैं, किन्तु अपवाद होना ही नियमको सिद्ध करना है। मुख्तार साहबके वर्गके विद्वानो या समाजसेवियोने भी अपने समकालीन तथा अपने कार्यसे प्रभावित श्रीमन्तोका सहयोग एव आर्थिक सहायता भी बहुधा प्राप्त की, किन्तु समान स्तर पर, अपने स्वाभिमानको अक्षुण्ण रखते हुए—स्वामी-सेवक अथवा आश्रयदाता-आश्रितभावसे नहीं, और सो भी केवल कार्यके लिये, अपने निजी उपयोगके लिये नहीं। यही कारण है कि उनके लेखो और वक्तव्योमे आत्मनिर्भरता-प्रसूत आत्मविश्वास एव निर्भीकता रही। उन्होने कभी व्यक्तिकी अपेक्षा नही की, जो सत्य समझा उसीको महत्व दिया। और शायद इसीलिये श्रीमन्तवर्ग तथा श्रीमन्तोका आश्रित विद्वद्वर्ग इन लोगोंसे प्राय. अप्रसन्न ही रहा। मुख्तार साहब उक्त स्वान्त सुखाय समाजसेवियोकी तथोक्त विशेषताओके ज्वलत उदाहरण हैं, उनके सामूहिक प्रतीक हैं। इसमें सन्देह नही कि उन्होने अनेक अशोमे अपना 'युगवीर' उपनाम सार्थक किया है।

अपने इस लगभग ७० वर्ष जितने दीर्घ-कार्यकालमें, जिसमे प्राय. पीढियाँ समाप्त हो जाती हैं, उन्होंने विपुल साहित्यका सृजन किया है। उनका साधनाक्षेत्र भी पर्याप्त विविध रहा है। समन्तभद्राश्रम तथा वीर-

सेवा-मदिर-जैसी सस्थाओकी प्रारभमें प्राय अपने ही एकाकी वलवूते पर स्थापना की, जैनगजट, जैनहितैपी और अनेकान्त जैसे पत्र-पत्रिकाओका उत्तम सम्पादन किया—अनेकान्त तो स्वय उन्हीकी पत्रिका रही, जिसने जैन-पत्रकारिताके क्षेत्रमे सर्वोच्च मान स्थापित किया। अनेक प्राचीन ग्रन्थोका उन्होंने जीर्ण-शीर्ण पाडुलिपियोपरसे उद्धार किया और उनमेंसे कईको सुसम्पादित करके प्रकाशित किया। पुरातन-जैनवाक्य-सूची, जैनग्रन्थ-प्रशस्तिसग्रह, जैनलक्षणावली जैसे महत्त्वपूर्ण सन्दर्भग्रन्थ तैयार किये और कराये। कई ग्रन्थोंके अद्वितीय अनुवाद, भाष्य आदि रचे और ग्रन्थोकी शोधखोजपूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी। अनेक तथाकथित प्राचीन ग्रन्थोंके मार्मिक परीक्षण लिखे और प्रकाशित किये। कई नवीन प्रकाशनो-की विस्तृत एव गभीर समालोचनायें की। आज भी हेमचन्द्रके योगशास्त्र पर एक अधुना अज्ञात दिगम्वरी टीका पर, अमितगतिके योगसारप्राकृतके स्वरचित भाष्य पर तथा कल्याणकल्पद्रुम स्त्रोत्रपर मनोयोगसे कार्य कररहे हैं। आपने कविता भी की—सस्कृत और हिन्दी दोनो भापाओमें—और उच्चकोटिकी की। स्वामिसमन्तभद्र आपके परम इष्ट हैं और उनके हार्टको जितना और जैसा मुख्तार साहवने समझा है वैसा शायद वर्तमान विद्वानोमेंसे अन्य किसीने नही। आज, इस वृद्धावस्थामें भी, वे एक अद्वितीय 'समन्तभद्रस्मारक' की स्थापनाका तथा 'समन्तभद्र' नामक एक पत्र-द्वारा आ० समन्तभद्रके विचारोका देशविदेशमें प्रचार करनेका स्वप्न वडी उत्कठाके साथ देख रहे है। जिस विपयपर और साहित्यके जिस क्षेत्रमें भी आपने कदम उठाया, वडा ठोस कदम उठाया। जैन जगतमें साहित्यैतिहासिक अनुसधानमें वे अपने समयमें सर्वाग्रणी रहे हैं। पत्र-सम्पादनमें अभीतक कोई उनके स्तरको नही पहूँच सका और समालोचना तो कोई वैसी करता ही नही। अपने समयमें समाजमें उठने और चलनेवाले प्राय सभी प्रगतिगामी आन्दोलनोमे उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष योग रहा है। अस्तु, लगभग सात दशको पर व्याप्त उनके दो सौ से भी अधिक लेख-निबन्धादि, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें समय सयय पर प्रकाशित हुए हैं, जहाँ एक ओर मुख्तार साहवके व्यक्तित्वके, उनकी प्रकृति और शैलीके और उनके पाडित्य एव प्रामाणिकताके परिचायक हैं वहाँ वे

जैन समाजकी तत्तत्कालीन गति-विधियो, आन्दोलनो, समस्याओ आदिका भी एक अच्छा प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं।

मुख्तार साहबके ३२ निबन्धोका एक सग्रह करीब ७५० पृष्ठका 'जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश—प्रथम खण्ड' शीर्षक से १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ था (दूसरा खण्ड अभी प्रकाशित होनेको हैं)। तदुपरान्त 'युगवीर-निबन्धावली—प्रथम खण्ड' के रूपमें उनके ४१ अन्य मौलिक निबन्धोका सग्रह १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ। इस सग्रहके निबन्धोका विपयवार कोई वर्गीकरण नही किया गया था और उनमें सयाजसुधार, अधविश्वाओ एव अज्ञानपूर्ण-मान्यताओ-प्रथाओ आदिकी तीव्र आलोचना, राष्ट्रीयतापोपण एव राजनीतिक दशा, हिन्दीप्रचार, जैननीति, जैन उपासना-का स्वरूप, जैनी भक्तिका रहस्य इत्यादि अनेक उपयोगी विपयोका समावेश हुआ है। जैसा कि उक्त सग्रहके 'नये युगकी झलक' नामक प्राक्कथन में डा० हीरालालजीने कथन किया है—"इन पुराने लेखोमे ऐतिहासिक महत्त्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोंके सम्बन्धमें भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।" इसी शृखलामें अब उक्त 'युगवीर-निबन्धावली' का यह द्वितीय खण्ड प्रकाशित हो रहा है, जिसमें मुख्तार साहबके अन्य ६५ निबन्ध-लेखादि सग्रहीत हैं। इन निबन्धोको उत्तरात्मक, समालोचनात्मक, स्मृति-परिचयात्मक विनोद-शिक्षात्मक एव प्रकीर्णक—इन ५ विभागोमे वर्गीकृत किया गया है।

प्रथम वर्गके निबन्ध प्राय कई विभिन्न विद्वानो-द्वारा मुख्तार साहबपर या उनके लेखोपर किये गये आक्षेपोंके उत्तर-प्रत्युत्तर-रूपमें हैं। भाषा और शैली पर्याप्त तीखी है। जैसा सवाल हो उसका वैसा ही करारा जवाव देनेमें वे कभी नही चूके। जिसे मुँहतोड जवाब कहते हैं उसकी वानगी इस वर्गके लेखोमें स्थान-स्थान पर चखी जा सकती है। गालीगलौजका उत्तर वे वैसी ही गालीगलौजसे नही देते, किन्तु उनकी उत्तरात्मक शिष्ट-भाषा भी इतनी तीखी और व्यग्यपूर्ण होती है कि जिसके प्रति उसका प्रयोग हुआ है वह तिलमिलाये विना नही रह सकता। प्रारभ के ४ निबन्ध १९१३ और १९२५ के बीच लिखे गये हैं और उनमे समाजमें प्रचलित

विवाहसम्बन्धी कुरीतियो, सकीर्णताओ आदिपर खुला प्रहार किया गया है और 'रूढिके दासो' तथा 'रस्मरिवाजोके गुलामो'को खरी खरी सुनाई गई हैं। विवाह-विपयक सामाजिक कुप्रथाएँ उस युगमें सुधारकोके आन्दोलनका लक्ष्य बन रही थी और मुख्तार साहबने सबल युक्तियो एव शास्त्रीय प्रमाणो-द्वारा समाजकी आँखें खोलनेका स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनका 'विवाह-क्षेत्र-प्रकाश' शीर्षक निबन्ध, जो १४६ पृष्ठोपर है, इस विपयका स्मृतिशास्त्र माना जा सकता है। ५ वे निबन्धमे जातीय पचायतोके अन्यायपूर्ण दण्डविधानपर तीखे प्रहार किये गये है और उनका अनौचित्य प्रदर्शित किया गया है। परस्पर अभिवादनमें 'जयजिनेन्द्र' पद के, विशेपकर अग्रेजी पढे-लिखे लोगो द्वारा, बढते हुए प्रयोगके विरुद्ध भी स्थितिपालकोंने आन्दोलन छेडा और उसके स्थानमें 'जुहारु' का समर्थन किया, अतएव मुख्तार सा० का ६ ठा लेख इस प्रतिक्रियाके उत्तरमे लिखा गया। मुख्तार सा०का एक निबन्ध 'उपासनाका ढग' शीपकसे पत्रो मे प्रकाशित हुआ था। स्थितिपालकोकी ओरसे उसकी भी प्रतिकिया हुई—वे लोग तो उससमय तक शास्त्रोंके छपानेका विरोध भी जोर-शोरसे कर रहे थे। अस्तु, इस सग्रहका ७वाँ लेख उनके उत्तरमे 'उपासना-विपयक समाधान'के रूपमे लिखा गया था। अपने मूललेखके—जो 'उपासनाका ढग' शीर्षकसे अलगसे भी प्रकाशित हुआ था—लिखनेमे अपना हेतु मुख्तार सा० ने स्वय स्पष्ट कर दिया था, यथा—"आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोप होरही है और इसलिये समाजमे उपासनाके जितने अग और ढग प्रचलित हैं उन सबके गुण-दोपो पर विचार करनेकी बडी जरूरत है ·· उपासनाका वही ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमें—उसके मूल उद्देश्योमे—कुछ भी बाधा न आती हो। उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता··· ··उपासनाके जो विधि-विधान आज प्रचलित है वे बहुत पहले प्राचीन समयमें भी प्रचलित थे, ऐसा नही कहा जा सकता।" अपने तद्विपयक लेखोमे इन्ही प्रतिपत्तियोको उन्होने सप्रमाण एव सयुक्ति-सिद्ध किया है। कूपमडूक-जैनसमाजको आधुनिककताके स्तरपर खीच लानेके एक सुन्दर प्रयत्नकी झाँकी इन निबन्धोमें मिलती है। ८वाँ और ९वाँ लेख सम्पादककी हैसियतसे अपने

पत्रमे प्रकाशित लेखोपर यथावश्यक सम्पादकीय टिप्पणियाँ लगादेनेके कारण कुपित हुए उक्त लेखोंके लेखको और उनके समर्थकोका समाधान करनेके लिये लिखे गए थे। स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजीने मुख्तार साहबकी इस सम्पादकीय हरकतके लिये उन्हे 'मकतबका मौलवी' और उनकी उक्त टिप्पणियोको 'मौलवीकी कमचियाँ' कहकर ऐसा कटु व्यग्य किया था कि उससे एकबार तो मुख्तार सा० भी, लगता है, तिलमिला गये थे। किन्तु मुख्तार साहब जो करते थे उसमें अनुचित क्या था, समझमे नही आया। एक सक्षम एव कुशल सम्पादकका तो यह कर्त्तव्य है ही कि वह जिन लेखोको अपने पत्रकी नीति-रीति और स्तरकी दृष्टिसे उपयुक्त समझे उन्हे ही स्वीकार करे, उनका भाषा आदिकी दृष्टिसे यथासभव ऊपरी सशोधन, परिष्कार आदि करे, और यदि लेखकका कोई मन्तव्य भ्रामक अथवा सदोष जान पडे तो उसपर यथावश्यक उपयुक्त पादटिप्पणि भी लगा दे। जैनपत्रकारो एव सम्पादकोमें मूर्धन्य मुख्तार साहब यही सब करते थे, जिसमे पर्याप्त समय और श्रम लगता था, और जिसके लिये उन लेखकोको उनका आभार मानना था न कि कुपित होना था। एक बार स्व० बा० अजितप्रसादजीसे हमने कहा था कि आप अपने जैनगजट (अग्रेजी)में नवयुवक लेखकोंके लेख छापकर उन्हें प्रोत्साहन क्यो नही देते, तो उन्होंने उत्तर दिया 'भई, मैं अपने पत्रको तख्तिये मश्क नही बनाना चाहता।' उस समय तो बात बुरी लगी—यदि कोई भी पत्र-पत्रिका तख्तियेमश्क (अभ्यासपट्टिका) बननेके लिये तैयार न हो तो नवीन लेखकोंका निर्माण कैसे हो? किन्तु बातका दूसरा पहलू भी तो है। एक सम्पादकका यह कर्त्तव्य भी तो है कि अथक-परिश्रम-द्वारा अपने पत्रको शनै शनै जिस स्तरपर वह ले आया है उस स्तरको वह गिरने न दे। जिन स्तरीय लेखकोका सहयोग प्राप्त करनेमें वह सफल होगया है और उसके जो पाठक हैं उन सबके प्रति भी तो वह उत्तरदायी है। और जैनसमाजमें 'अनेकान्त' जैसा पत्र तो मुख्तार साहबके हाथोमे साहित्यिक-ऐतिहासिक-सास्कृतिक शोधखोजका एक प्रमुख साधन बनगया था। उक्त शोधखोजकी प्रगति तो इस प्रकार लेखोंके उत्तर-प्रत्युत्तर, स्पष्टीकरण आदिके द्वारा ही सभव थी।

आज भी जैन समाजमे यह एक कमी है कि सब निगुरे है। कोई उस्ताद बनाना नही चाहता, उस्तादकी कमचियो खाना तो दरकिनार।

मुख्तार साहब सुप्रसिद्ध हिन्दी सम्पादक स्व० प० महावीरप्रसाद द्विवेदी-के समकालीन रहे है। द्विवेदीजीने जिसप्रकार सुधार-सुधारकर अनेक हिन्दी लेखकोका निर्माण किया और हिन्दी जगतको उपकृत किया, उसीप्रकार मुख्तार साहब भी जैन सुलेखकोका एक अच्छा वर्ग तैयार करने में प्रयत्न-शील थे। शब्दविन्यास, वाक्य-सगठन, विभक्तियोका प्रयोग, विरामचिह्न, पाठशुद्धि, इत्यादि सभी छोटी-बडी बातोपर उनकी दृष्टि रहती थी और उन सबका उन्होंने स्तरीकरण किया। शोधखोजकी प्रगतिपर भी उनकी दृष्टि बराबर लगी थी और वह नही चाहते थे कि उनके पत्रके किसी भी लेखमे कोई लचर बात, भ्रामक या त्रुटिपूर्ण कथन अथवा अप्रामाणिक तथ्य जाय। किन्तु जैन समाजका दुर्भाग्य है कि वे अपनी इस सदाशयता-के लिये भी अपने समकालीन जैनविद्वानोंके कोपभाजन ही बने, आजतक भी अनेक विद्वान उनकी तथाकथित कमचियोकी मारकी तिलमिलाहट शायद नही भूलपाये हैं और उनसे रुष्ट चले आते हैं। इससे जैन पत्रकारिता-का अहित ही हुआ है। मुनियो और त्यागियोकी शास्त्र-प्रतिकूल प्रवृत्तियो-पर भी मुख्तार साहबने पर्याप्त लिखा, उच्च-नीच गोत्र, दस्सा-बीसा, शूद्र और म्लेच्छ-विषयक प्रचलित भ्रान्त धारणओको दूर करनेका प्रयत्न उन्होंने इनमेसे कई लेखोमे किया है। इस कारण भी अनेक श्रीमान और पुरानी शैलीके अधिकाश पडित उनसे अप्रसन्न हुए और अभीतक अप्रसन्न हैं। कानजी स्वामीकी विचारधाराको लेकर इधर लगभग दो दशकसे समाजमे एक नया बवडर उठा हुआ है। इस विभागके अतिम दो लेखोमे मुख्तार साहबने जिस सुन्दरताके साथ कानजीस्वामीको चुनौती दी है और उनसे सम्बन्धित वस्तुस्थितिको स्पष्ट किया है, वह इस विषयमे अन्तिम शब्द समझा जा सकता है। अच्छा हो यदि कुछ पत्र जो व्यर्थ एव बीभत्स, बहुधा हास्यप्रद, खडनमडन और गालीगलोजमें फँसे हुए हैं उस समस्त अशोभनीय प्रवृत्तिको त्यागकर मुख्तार साहबके ही दृष्टिकोणको स्थिरचित्तसे अपनालें और अपनी शक्ति अन्य सृजनात्मक कार्योंमें लगायें।

दूसरे विभागमें तीन ग्रन्थोकी तथा कतिपय फुटकर लेखो, कविताओ, कथनो आदिकी समालोचनाएँ हैं। प्रो० घोषाल-कृत 'द्रव्यसग्रहके' अग्रेजी सस्करण तथा प्रवचनसारके डा० उपाध्ये द्वारा सुसम्पादित सस्करणकी समालोचनाएँ पढकर भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि एक साहित्यिक समालोचकको कितना सुविज्ञ और सक्षम होना चाहिये और एक वास्तविक समालोचनाके लिये कितना कुछ श्रम एव सावधानी अपेक्षित है। समालोचनाका उद्देश्य समालोच्य-कृतिके वाह्य एव अभ्यन्तर समस्त गुण-दोपोको निष्पक्ष किन्तु सहृदय दृष्टिसे प्रकाशित करना होता है। जो ऐसा नही करता वह समालोचकके कर्तव्यका पालन नही करता। **वर्तमान युगमे जैन समाजमे इस कोटिका समालोचक एक ही हुआ है, और वह मुख्तार सा० हैं।** प्राय अन्य किसी विद्वानने इस विपयमे उनका अनुसरण नही किया, शायद साहस ही नही हुआ। प्रथम तो, जितना समय और श्रम किसी गभीर ग्रन्थके आद्योपान्त सम्यक् अध्ययनके लिये, उसमें निरूपित या विवेचित त्रुटिपूर्ण अथवा भ्रामक जँचनेवाले कथनो, तथ्यो आदिके शुद्ध रूपोको खोज निकालनेके लिये, तद्विपयक अन्य अनेक सन्दर्भोको देखनेके लिये, विवेचित विपय पर अतिरिक्त अथवा विशेप प्रकाश डालनेकी क्षमता प्राप्त करनेके लिये और अन्तमें आलोच्य कृतिका समुचित मूल्याङ्कन करनेवाली विस्तृत समालोचना लिखनेके लिये अपेक्षित है 'वह किसी विद्वानके पास है ही नही, विशेपकर जवकि समालोचकको उससे कोई आर्थिक लाभ भी न हो। फिर भी यदि कोई इस दिशामें कुछ प्रयत्न करता है तो वह कृतिके लेखक और प्रकाशक दोनोका ही कोपभाजन वन जाता है। समालोचनाके नामसे लेखककी और उसकी कृतिकी प्रशसाके खूब पुल वाधिये, वह प्रसन्न है। किन्तु यदि कही आपने उसके बुरी तरहसे खटकनेवाले एकाध दोषका भी उल्लेख कर दिया—चाहे कितनी ही शिष्ट-सयत भाषामें क्यो न किया हो—तो गजव हो जाता है। सदैवके लिये लेखक समालोचकका शत्रु वन जाता है। ऐसा इस जैन-समाजमें ही होता है, उसके वाहर तो समालोचना साहित्यिक प्रगतिका, चाहे वह किसी भी ज्ञान-विज्ञानसे सबधित क्यो न हो, एक अत्यन्त आवश्यक एव उपयोगी

अंग समझा जाता है। लेखक उससे स्वयको उपकृत अनुभव करता है, सबक लेता है और द्वितीयादि संस्करणोंमें अपनी कृतिको बताये गये दोषा-त्रुटियों आदि से मुक्त करनेका प्रयास करता है। समालोचनासे पुस्तकका प्रचार भी बढता है और पाठकोंको उसका सही मूल्याङ्कन करने और उससे लाभ उठानेमें सहायता मिलती है। लेखकके 'अहं'को भले ही कुछ ठेस लगे, किन्तु एक स्वस्थ समालोचनासे लेखक प्रकाशक और पाठक सभी दिशा-दर्शन प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओंमें ही नहीं, देशी भाषाओंमें और स्वय हिन्दी साहित्यिक जगतमें इधर, कुछ दशकोंमें समालोचना-शास्त्र और कलाने प्रभूत विकास किया है। मुख्तार सा० के तद्विषयक निबन्धोंको पढकर यह सहज जाना जा सकता है कि वह समालोचना-शास्त्र और समालोचना-कलाके भी इस समाजमें एकमात्र नहीं तो सर्वश्रेष्ठ पंडित रहे ही हैं। दुर्भाग्यसे समाजके विद्वानों और लेखकोंने उनके इस गुणका भी यथोचित लाभ नहीं उठाया।

तीसरे विभागमें १७ स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध संकलित हैं, जिनमें विभिन्न सुहृद्जनों-परिजनों सहयोगी अथवा सम्पर्कमें आये विद्वानों वा अन्य व्यक्तियोंका उनके अभिनन्दनमें अथवा उनके निधनोपरान्त श्रद्धांजलि आदिके रूपमें संस्मरण है। ये निबन्ध बहुत कुछ आत्मीयता लिये हुए हैं। इनमेंसे 'सन्मति-विद्या-विनोद' निबन्ध तो ऐसी करुणोत्पादक एवं व्यक्तिगत रचना है जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी इस उक्तिको चरितार्थ करती है कि "व्यक्तिगत निबन्ध 'निबन्ध' इसलिये हैं कि वे लेखकके समूचे व्यक्तित्वसे सम्बद्ध होते हैं, लेखककी सहृदयता और चिन्तनशीलता ही उसके बन्धन हैं।" एक संवेदनशील पाठक सहज ही अनुभव कर सकता है कि स्त्री एवं सन्तानके वियोगकी टीसको चिरकाल और चिरसाधना भी सर्वथा शान्त करनेमें किस प्रकार असमर्थ रहते हैं। इस विभाग के दो निबन्धोंमें राजगृह एवं कलकत्तामें हुए प्रथम वीरशासन-महोत्सवके हृदय-ग्राही सजीव वर्णन हैं। ये निबन्ध भी व्यक्तिगत कोटिके ही निबन्ध हैं।

चौथे विभागमें ७ शिक्षाप्रदनिबन्ध हैं जिनमें हास्य-व्यंग्यका भी पुट है, जो उन्हें शिक्षाप्रद होनेके साथ ही साथ मनोरंजक भी बना देता है। अंतिम विभागमें १२ प्रकीर्णक या फुटकर निबन्ध हैं। ये भी समयोपयोगी हैं।

इस संग्रहके सभी निबन्ध पठनीय हैं। उनकी ताजगीमें भी विशेष कमी आई प्रतीत नही होती। उनमें समाजके नवनिर्माणकी एक उत्कट ललक लक्षित होती है और आज भी वे उतने ही उपादेय हैं जितने कि उस समय थे जब वे लिखे गये। मुख्तार सा० की विशिष्ट शैलीका, जिसे बहुधा लोग 'मुख्तारी शैली' कहते हैं, इन निबन्धोंमे पग-पगपर दर्शन होता है। भाषा सरल, सुबोध, धाराप्रवाह, तर्कपूर्ण, और अपनी बातको पाठकके हृदयमें पैवस्त कर देनेके लिये कृतसंकल्प, शास्त्राधारसे सीमित किन्तु स्वतन्त्र चिन्तन, युक्ति और विवेककी बलि देकर नही, आत्मविश्वासपूर्ण और निर्भीक है। जहाँ मुख्तार सा० किसीकी अनुचित या आवश्यकतासे अधिक प्रशसा करनेमें पर्याप्त कृपण हैं वहाँ अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए एक-एक शब्दके कई-कई पर्याय-वाची एक साथ दे देनेमें बडे मुक्तहस्त हैं। अपने और दूसरोंके शब्दोंकी पकडमे जितने मजबूत ये हैं, विरले ही होते हैं। शब्दोंका जो जौहरीपन इनके अनुवादो और भाष्योंमें लक्षित होता है वह इन निबन्धोंमें शायद उतना नही होता, किन्तु निरर्थक या विपरीतार्थक शब्द-प्रयोग यहाँ भी नही मिलेगे।

वर्तमान जैनसाहित्य-ससारके इस भीष्मपितामहका जैसा और जितना कृतज्ञता-ज्ञापन होना चाहिये वह उस समाजने जिसके लिये वह जिया, जिसकी सेवा एव हित सम्पादनमे वह शतायु होने जा रहा है—आज ९० वर्षकी आयुमे भी कई माससे रुग्ण होते हुए और एटामे अपने भ्रातृज डा० श्रीचन्द सगलकी पुत्रवत् सेवाका लाभ उठाते हुए उसी गभीर साहित्यिक शोध-खोज एव निर्माणमे युवकोचित उत्साहसे रत है—अभीतक नही किया। उसका सम्यक् लाभ भी नही उठाया। महाभारतके भीष्मपितामहका लाभ भी तो विपक्षी पाडवोने तो उठाया था किन्तु जिन कौरवोके लिए उसने अपने रक्तकी अतिम बूंद तक बहा दी और शरशैय्या ग्रहण की उन्होने तो उसकी सदैव अवहेलना ही की थी।

अस्तु, समादरणीय मुख्तार साहबके इस निबन्ध-सग्रहका प्रकाशन समाजकी प्रगतिके लिए उपयोगी और हिन्दी साहित्यकी अभिवृद्धिमें एक श्रेष्ठ योगदान होगा, इसमे सन्देह नही है। मेरा सौभाग्य है कि मुझपर

उनका विशेष स्नेह एव कृपादृष्टि रहती है। उनका आदेश हुआ कि मैं इस निवन्धावलीका 'प्राक्कथन' लिखूं। सूर्यको दीपक दिखाना धृष्टता जान पडी, किन्तु आदेशको टाल भी न सका। इन कुछ शब्दोंके साथ इस 'प्राक्कथन'को पाठकोकी भेंट करता हूँ, और श्री मुख्तार साहबके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाजलि समर्पित करता हुआ हार्दिक कामना करता हूँ, कि अभी कमसे कम एक दशक और हमारे बीच रहकर वे अपनी प्रतिभासे हमें लाभान्वित करते रहे।

ज्योतिनिकुज,
चार वाग, लखनऊ–४
१८ अगस्त १९६७

(डा०) ज्योतिप्रसाद जैन,
(एम. ए., एल-एल बी , पी-एच. डी.)

: १ :

उत्तरात्मक निबन्ध

१. शुभचिह्न
२. म्लेच्छ-कन्याओंसे विवाह
३. अर्थ-समर्थन
४. विवाह-क्षेत्र-प्रकाश
५. दण्ड-विधान-विषयक समाधान
६. जयजिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार

७. उपासना-विषयक समाधान
८. एक आक्षेप
९. एक विलक्षण आरोप
१०. ब्रह्मचारीजीकी विचित्र स्थिति और अजीब निर्णय
११. स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ?
१२. पूर्वाऽपर-विरोध नहीं
१३. अनोखा तर्क और अजीब साहस
१४. गोत्रकर्मपर शास्त्रीजीका उत्तरलेख
१५. गलती और गलतफहमी
१६. जैनागम और यज्ञोपवीतपर विचारणा
१७. समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश
१८. कानजी स्वामी और जिन-शासन
१९. श्रीहीराचन्द बोहराका नम्र निवेदन

●

शुभचिह्न   : १ :

जैन-समाजकी अतरग और बहिरग अवस्थापर—अन्दरूनी और बेरूनी हालतपर—विचार करनेसे मालूम होता है कि आज-कल इस समाजमे अज्ञानान्धकारके कारण प्रवृत्ति-देवीकी खूब ही उपासना हो रही है। जैन-जन प्राय: रूढियोके दास, रस्म-रिवाजके गुलाम बने हुए हैं। इस दासत्व और गुलामगिरीने उनका कितना अध पतन किया है, उनको कितना नीचे गिराया है और उनकी विचार-शक्तियोको इससे कितना धक्का पहुँचा है, इसका उन्हे कुछ भी खयाल नही है। किसी प्रचलित रीति-रिवाजके विरुद्ध जबान खोलने, उसकी योग्यता-अयोग्यताके विषयमे विचार करनेको वे एक प्रकारका पाप समझते हैं। अमुक प्रवृत्ति धर्मसे विरुद्ध है या अविरुद्ध, देश-कालके अनुकूल है या प्रतिकूल, शास्त्रो-के मुताबिक है या खिलाफ, हितकर है या अहितकर, कबसे और कैसे प्रचलित हुई, इत्यादि बातोपर विचार करना वे अपना कर्त्तव्य ही नही समझते। कलकी प्रचलित हुई रीतियाँ भी उनके हृदयमे स्वयसिद्धत्व और अनादि-निधनत्वका रग जमाये बैठी हैं। और यह रग इतना गहरा चढा हुआ है, यह प्रवृत्ति-भक्ति इतनी बढी हुई है कि यदि किसी प्रवृत्तिके विरुद्ध कोई शास्त्रका प्रमाण या किसी आचार्यका वाक्य भी दिखलाया जावे तो जैनी उसको सहसा माननेके लिये शायद ही तैयार होवें, बल्कि आश्चर्य नही कि उनमेसे कोई-कोई व्यक्ति तो उसकी सत्यतासे ही इन्कार कर बैठे और ऐसा कहने या बतानेवाले अपने उस हितैषीके ही उलटे शत्रु बन जावें। ऐसे समयमें समाजकी ऐसी स्थितिके

होते हुए रूढियोके उपासकोमेंसे ही यदि किसी व्यक्तिकी ओरसे उन रूढियोपर विचार करनेकी बात उठाई जावे तो कहना होगा कि वह एक प्रकारका शुभचिह्न है—उसको भावीका शुभ लक्षण समझना चाहिये। मुझे यह देखकर बहुत हर्ष हुआ और यह जानकर बडी खुशी हुई कि लखनऊ निवासी पडित रघुनाथ-दासजीने हालमे ऐसी ही एक बात उठाई है। विशेष आनन्दकी बात यह भी है कि उन्होने रूढियोपर विचार करनेकी वह बात एक ऐसे पत्रमे उठाई है जिसका सचालनादि कार्य आजकल ऐसे पुरुषोके हाथमे है जो प्रवृत्तिके अनन्य भक्त और रूढिके पक्के दास बने हुए हैं। वह पत्र महासभाका "जैनगजट" है। इस पत्रके गत १७ फरवरी १९१३ के अकमे, उक्त पडितजीने एक लेख दिया है जिसका शीर्षक है "शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये" अर्थात् प्रवृत्ति और रिवाजके मुताबिक नही, किन्तु शास्त्रके मुताबिक चलना चाहिये।

जिन विद्वानोने उक्त लेखको पढा है, उनमेसे कुछ महानुभाव शायद यहॉपर यह कहेगे कि "वह लेख तो असम्बद्ध है—वाक्योका सम्बन्ध ही उसमे नही मिलता, अधूरा है—पद-पदपर "आगे दौड पीछे छोड" की नीतिका अनुसरण लिये हुए है—स्वपक्षके मडन और परपक्षके खंडनमे, उसमे न तो कोई शास्त्र-प्रमाण दिया गया और न किसी युक्ति वा हेतुसे कुछ काम लिया गया, यद्यपि उसमे यह तो जरूर लिखा है कि अमुक साहब अर्थ लगाने-मे भूल गये, परन्तु वे क्या भूल गये? और कौन-सा अर्थ ठीक या सही है? यह कुछ भी नही लिखा। इसी प्रकार कई शास्त्रीय बातोका ऐसा जबानी जमा-खर्च भी कर दिया है जो प्रत्यक्ष शास्त्रसे विरुद्ध पडता है, जैसे भरतजी और चन्द्रगुप्तके समस्त

स्वप्नोका एक ही बतलाना तथा म्लेच्छ-कुलमे राज्य और वैश्य वर्णमे जैनधर्मका निर्धारित कर देना इत्यादि। ऐसी अवस्थामे वह लेख विद्वानोमे कैसे आदरणीय हो सकता है ? उसको तो लेख ही न कहना चाहिये, उसके प्रकाशित होनेमे हर्ष कैसा ?

इसके उत्तरमे इतना ही निवेदन है कि यद्यपि यह सब कुछ ठीक है—वह लेख नही, पडितजीके नोट्स-पेपरकी नकल ही सही वा कुछ अन्य ही सही, परन्तु क्या उसका यह एक ही वाक्य—उसका यह प्रधान नोट कि "शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये" कुछ कम महत्त्वका है ? क्या इसकी कुछ कम कीमत है ? नही, मेरी समझमे यह वाक्य बडा ही अमूल्य और बडा ही सन्तोपजनक है। हमे अन्य बातोपर लक्ष्य न देकर उसके इस मूल वाक्यको ही ग्रहण करना चाहिये और समझना चाहिये कि जहाँ अभीतक रिवाज, प्रवृत्ति और आम्नायका गीत गाया जाता था वहाँ अब "शास्त्रके अनुकूल प्रवर्त्तना चाहिये" ऐसा कहनेके लिये मुँह तो खुला, जबान तो उठी, यह कुछ कम आनन्दकी बात नही है। धर्मोपकारियो और जैनधर्मका प्रसार चाहनेवालोको इसका अभिनन्दन करना चाहिये।

प्यारे उदारचित्त महानुभावो। आप जिस बातको अर्सेसे चाहते थे उसके पूरा होनेका समय अब निकट आता जाता है। उसके शुभचिह्नोका सूत्रपात होना प्रारभ हो गया है। पडितजीका उक्त वाक्य इस बातकी घोषणा करता है, इस बातको सूचित करता है कि रूढियोकी दलदलमे बेतरह फँसे हुए प्राणियोपर आपकी शुभ भावनाओका अवश्य ही असर पहुँचा है और वे लोग रस्म-रिवाजरूपी दलदलसे निकालना चाहते हैं, जिसमे पडे-पडे वे बहुत-कुछ हानियाँ उठा चुके हैं, निकलनेके लिये कुछ सहारा

दरकार है। उसीको वे लोग माँग रहे हैं। उनको हस्तावलम्बन दीजिये। हेयोपादेयका विचार उनके सम्मुख उपस्थित कीजिये। शास्त्रोके प्रमाण दिखलाइये। उनका हृदय-स्थल शास्त्र-प्रमाणोको आश्रय देनेके लिये अब तैयार होता जाता है। इस समय समाज-सशोधको और जाति-हित चाहनेवालोका यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वे खुले दिलसे रूढियोका विवेचन प्रारम्भ करें, सर्वसाधारणको वतलावे कि किसी व्यक्तिके किसी व्यवहारको कैसे रूढता प्राप्त हुआ करती है, कैसे उसका रिवाज पड जाता है। एक रूढि जो एक देश और एक कालमें लाभदायक होती है वही दूसरे देश और दूसरे कालमे कैसे नुकसान देनेवाली है? रूढ़ियोका धर्मसे क्या सम्वन्ध है? वे धर्मका कोई अग हैं या नही? आम्नाय और प्रवृत्तियाँ देश-कालके अनुसार, धर्मके मूल सिद्धान्तोकी रक्षाका खयाल रखते हुए हमेशा बदला करती हैं या नही? सघ, गच्छ और गण आदिके भेद किस बातको बतला रहे हैं? इत्यादि समस्त वातोका यथार्थ ज्ञान लोगोको करावें और इस प्रकार लोगोका भ्रम दूरकर उनके उत्थानका यत्न करें। उनको रूढियोके इस भारी दलदलसे निकालनेकी कोशिश करे। यही दया, यही धर्म, और यही इस समयका मुख्य कर्त्तव्य—कर्म है। इसीमे जातिका मगल, इसीमें जातिका कल्याण और इसीपर जातिमें फिरसे सच्चे धार्मिक भावोकी सृष्टि होनेका दारमदार है। मैं खयाल करता हूँ कि हमारे विचारशील परोपकारी जरूर इसपर ध्यान देंगे और कदापि इस बहुमूल्य अवसरको नही चूकेगे।

अब मैं कुछ प्रमाण पडितजीकी भेंट करता हूँ। आशा है कि वे निष्पक्ष भावसे उनपर विचार करेगे।

१—भगवज्जिनसेनाचार्यने 'आदिपुराण'में और श्री सोमदेव-सूरिने 'नीतिवाक्यामृत'में लिखा है कि ब्राह्मण चारो वर्णकी, क्षत्रिय (ब्राह्मणको छोडकर शेष) तीन वर्णकी, वैश्य (ब्राह्मण, क्षत्रियको छोडकर शेष) दो वर्णकी और शूद्र केवल अपने ही एक वर्णकी कन्यासे विवाह कर सकता है —

"शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां ता च नैगम ।
वहेत्स्वा ते च राजन्य. स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ता ॥ १६-२४७

(आदिपुराण)

"आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः ।"

(नीतिवाक्यामृत)

इन प्रमाणोसे प्रगट है कि गोट तो गोट, जाति तो जाति, एक वर्णवाला दूसरे वर्णकी कन्यासे भी विवाह कर सकता है ।

२—श्रीसोमदेवसूरिने यशस्तिलकमे लिखा है कि जैनियोको वे समस्त लौकिक-विधियां—लोक-प्रवृत्तियां—लौकिकाचार प्रमाण हैं जिनसे उनके सम्यक्त्वमें हानि वा व्रतमें दूषण न आता हो .—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाण लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न, यत्र न व्रत-दूषणम् ॥"

(यशस्तिलक)

अब आप विचार लेवे कि जिन खंडेलवाल वा परवारादि वर्तमान जातियोके श्रद्धा-विषय और व्रत भिन्न नही हैं, बल्कि एक ही हैं, उनमें विवाह-सम्बन्ध होनेसे सम्यक्त्वादिमें कोई बाधा आवेगी या नही ? साथमें यह भी खयाल रहे कि भरत, शांति, कुन्थु, अरह आदि चक्रवर्तियोने म्लेच्छोकी कन्याओसे भी विवाह किया है और नेमिनाथके चाचा वसुदेवजीने भी एक म्लेच्छ राजा-की कन्यासे, जिसका नाम जरा था, विवाह किया था ।

३—जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमे लिखा है कि चारुदत्त सेठने अपने मामाकी लडकीसे विवाह किया, समुद्रविजयादिने अपनी पॉच कन्याओका विवाह अपने भानजे पाडवोके साथ किया, जरासिधुने अपनी लडकी जीवंयशाकी शादी अपने भानजे कंसके साथ की, महावीरस्वामीके फूफा जितशत्रुने अपनी पुत्री अशोकवती-का विवाह महावीरस्वामीसे करना चाहा। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रन्थोमे सैकडो कथायें मौजूद हैं, जिनसे ऐसे विवाह-सम्बन्धो-का होना पाया जाता है। इससे साफ प्रगट है कि इस प्रकारके विवाह-सम्बन्ध जो आजकल बहुधा गर्हित समझे जाते हैं उनका पहले आम रिवाज था।

४——उक्त हरिवंशपुराणमे यह भी लिखा है कि वसुदेवजी-का विवाह देवकीसे हुआ। देवकी राजा उग्रसेनकी लडकी और महाराजा सुवीरकी पडपोती (प्रपौत्री) थी और वसुदेवजी महा-राजा सूरके पोते थे। सूर और सुवीर दोनो सगे भाई थे अर्थात् श्री नेमिनाथके चाचा वसुदेवजीने अपने चचाजाद भाईकी लड़कीसे विवाह किया। इससे प्रगट है कि उस समय विवाहमे गोत्रका विचार व बचाव नही किया जाता था। नही मालूम परवारोमे आजकल आठ-आठ वा चार-चार सार्के (शाखाएँ) किस आधार-पर मिलायी जाती हैं ?

५——भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणमे लिखते हैं कि प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले ऐसे म्लेच्छोको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिये, जिससे प्रगट है कि म्लेच्छ लोग केवल जैनी ही नही हो सकते, बल्कि उनकी कुलशुद्धि भी हो सकती है। यथा——

"स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥"

उक्त आदिपुराणमें भरतजीके आठवें स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है --

"शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात् ।
प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्म. प्रत्यन्तवासिपु ॥"

अर्थात् मध्यमे सूखा और किनारोपर जल लिये हुए ऐसा तालाब देखनेसे यह फल होगा कि (पचमकालमे) जैनधर्म आर्य देशको छोडकर प्रान्त देशो (Border Countries) मे फैलेगा—म्लेच्छ-देशोके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे । इससे प्रगट है कि अन्य दूर देशोमे जैनधर्मके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है और उसमें कितनी अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है ।

६--उक्त आदिपुराणमे भरतजीके पाँचवे स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है कि पचमकालमे आदिक्षत्रियवशोका उच्छेद हो जायगा और उनसे कुछ हीनवश वा कुलके मनुष्य पृथ्वीका पालन करेंगे । ऐसा नही लिखा कि म्लेच्छ-कुलमे ही राज्य होगा । यथा—

करीन्द्रकन्धरारूढ़शाखामृगविलोकनात् ।
आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां पास्यन्त्यकुलीनका. ॥ (४१-६९)

—जैनमित्र, २४-३-१९१३

म्लेच्छकन्याओंसे विवाह : २ :

मैंने जैनमित्रमे "शुभचिह्न" शीर्षक एक लेख दिया था, जो ता० २४ मार्च सन् १९१३ के अक न० १० के पृष्ठ ९ पर मुद्रित हुआ है। इस लेखमे मैंने एक स्थानपर यह लिखा था कि, "**चक्रवर्तियोने म्लेच्छोकी कन्याओसे भी विवाह किया है।**" मेरे इस लिखनेपर सम्पादक महोदय ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने यह फुटनोट दिया है .—

"**यहाँ प्रकरण म्लेच्छखंडके राजाओंकी कन्याओसे है।**"

इस नोटसे सम्पादक महोदयका ऐसा अभिप्राय मालूम होता है कि वे म्लेच्छखडोमे आर्य राजाओका सद्भाव मानते हैं और उन म्लेच्छखडोमे उत्पन्न हुए आर्य-राजाओकी कन्याओसे ही चक्रवर्त्तियोने विवाह किया—म्लेच्छ राजा व इतर[1] म्लेच्छोकी कन्याओसे उन्होने विवाह नही किया—ऐसा उनका सिद्धान्त है। इसीलिये उन्होने 'राजा' शब्दके पूर्व 'म्लेच्छ' शब्द भी नही लगाया है। यदि ऐसा न होता तो सम्पादक महोदयको इस नोटके देने की ही जरूरत न पडती। क्योकि किसी म्लेच्छके राजा हो जानेसे ही उसका म्लेच्छत्व नष्ट नही हो जाता, जब म्लेच्छत्व बना रहा तब मेरे उस लिखनेमे, जिसपर नोट दिया गया, और उक्त नोटमे वास्तविक भेद ही क्या रहा—जिसके लिये इतना कष्ट उठाया जाता। अस्तु, यदि थोडी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि सम्पादकजीका अभिप्राय इस 'राजा' शब्दसे

---

१ राजा से भिन्न दूसरे।

म्लेच्छ राजा का ही है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या चक्रवर्ती राजा म्लेच्छखडके उन म्लेच्छोकी कन्याओसे विवाह नही करता है जो राजा नही हैं, किन्तु अपने समाजके अन्य प्रतिष्ठित पुरुष वा साधारण म्लेच्छ हैं ?

ऐसी अवस्थामे सम्पादकजीका अभिप्राय स्पष्ट शब्दोमे प्रगट होनेकी बहुत बडी जरूरत है। अत सम्पादकजीसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपने पत्रमे स्पष्ट रूपसे, जैनशास्त्रोके प्रमाणसहित, इस बातको प्रगट करें कि, चक्रवर्ती म्लेच्छोकी कन्याओसे विवाह करते हैं या नही ? यदि करते हैं तो म्लेच्छ राजाओ की ही कन्याओसे विवाह करते हैं वा इतर म्लेच्छोकी कन्याओसे भी करते हैं ? और यदि म्लेच्छोकी कन्याओसे विवाह नही करते तो क्या म्लेच्छखडोमें आर्यराजा व इतर आर्यजन भी निवास करते हैं ?

अब इस विषयमे शास्त्रोके देखनेसे मुझे जो कुछ प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, उनमेसे कुछ प्रमाण नमूनेके तौरपर मैं यहाँ देता हूँ, ताकि सम्पादकजी इन शास्त्र-प्रमाणोको ध्यानमे रखते हुए उत्तर लिखनेकी कृपा करें और अपने उत्तरमे इनका भी स्पष्टीकरण कर देवें —

(१) श्री अमृतचन्द्रसूरिने 'तत्त्वार्थसार' मे मनुष्योके आर्य और म्लेच्छ, ऐसे दो भेदोका वर्णन करते हुए लिखा है—

"आर्यखडोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादय ।
म्लेच्छखडोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥११२॥"

अर्थात्—जो लोग आर्यखडमें उत्पन्न हुए हैं वे आर्य कहलाते हैं, परन्तु उनमें जो कुछ शक, यवनादिक लोग हैं वे म्लेच्छ कहे

जाते हैं और जो लोग म्लेच्छखडोमे उत्पन्न हुए हैं अथवा अन्तरद्वीपोमे उत्पन्न हुए हैं उन सबको म्लेच्छ समझना चाहिये । इससे प्रगट है कि आर्यखडमे जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे तो आर्य और म्लेच्छ दोनो प्रकारके होते हैं, परन्तु म्लेच्छखडोमे एक ही प्रकारके मनुष्य अर्थात् म्लेच्छ ही उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थ---म्लेच्छोके मूल भेद तीन हैं ---आर्यखडोद्भव, म्लेच्छखडोद्भव, अन्तरद्वीपज । और आर्योका मूलभेद एक आर्यखडोद्भव ही है । जब यह बात है तब म्लेच्छखडोमे आर्यराजाओका होना और उनकी कन्याओसे चक्रवर्तीका विवाह करना कैसे बन सकता है ? बल्कि यही बात बन सकती है कि म्लेच्छोकी कन्याओसे ही चक्रवर्त्तियोने विवाह किया है ।

(२) भगवज्जिनसेनाचार्य 'आदिपुराण' मे श्री भरत महाराज आद्य चक्रवर्तीकी दिग्विजयका वर्णन करते हुए पर्व ३१ मे लिखते हैं---

> "इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुज. ।
> तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥ १४१ ॥"
> "धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः ।
> अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः ॥ १४२ ॥"

अर्थात्---भरत चक्रवर्तीके प्रधान सेनापतिने (ऊपरके शास्त्रमे वर्णन किये हुए) अनेक उपायोसे म्लेच्छराजाओको वशमे करके उन म्लेच्छराजाओसे अपने सम्राट्के लिये अनेक कन्याएँ तथा अन्य रत्न ग्रहण किये ॥ १४१ ॥

ये म्लेच्छखडके लोग धर्म-कर्मसे बहिर्भूत हैं इसलिये म्लेच्छ कहलाते हैं । नही तो, और समस्त आचार-व्यवहारोमे ये सब लोग आर्यावर्त्त अर्थात् आर्यखडके ही समान हैं ॥ १४२ ॥

इससे साफ प्रगट है कि चक्रवर्तीके लिए म्लेच्छोकी कन्याएँ ग्रहण की गईं और यह भी प्रगट है कि म्लेच्छखडोके म्लेच्छ, धर्म-कर्मको छोडकर, अन्य समस्त आचार-व्यवहारोमे आर्यखडके मनुष्योके ही समान हैं। धर्म-कर्मसे विमुख होनेके कारण उनकी म्लेच्छ सज्ञा है।

श्रीजिनसेनाचार्यकृत 'हरिवंशपुराण' मे भी, जिसकी कि भाषाटीका प० दौलतरामजीने की है, म्लेच्छराजाओका, दिग्विजयके समय, अपनी कन्याएँ भरत चक्रवर्तीको देनेका विधान पाया जाता है। जैसा कि भाषाटीकाके निम्न वाक्योसे प्रगट है —

"चक्रवर्त्ती उत्तरमे गया। वहाँ हजारो राजा म्लेच्छ सो अपूर्व कटक आया जान युद्धको उद्यमी भये। तब अयोध्य नाम सेनापति दडरत्नका धारक उसने युद्ध कर वे भगाये "

"भयसे वे राजा म्लेच्छ भागकर उनका कुल देवता महाभयकर मेघमुख नामा नागकुमार उनके शरणे गये "(परस्पर युद्ध हुआ अन्तको) "वे म्लेच्छखडके राजा कन्यादिक रत्न भेटकर चक्रवर्तीके सेवक भये।"

(३) उक्त आदिपुराणके पर्व ३७ मे, जहाँ भरत चक्रवर्तीकी विभूतिका वर्णन दिया है वहाँ लिखा है कि म्लेच्छ राजादिकोकी दी हुई जिन कन्याओसे चक्रवर्तीका विवाह हुआ, सम्राट्की उन प्यारी स्त्रियोंकी सख्या मुकुटबद्ध राजाओकी सख्या-प्रमाण थी। इनके सिवाय जाति-कुल-सम्पन्ना आदि स्त्रियोकी सख्या अलग दी है। यथा :—

> "कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमा' स्मृता'।
> रूपलावण्यकान्तीना या शुद्धाऽऽकरभूमय' ॥ ३४ ॥
> म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभा.।
> अप्सर. सकथा. क्षोणी यकाभिरवतारिता: ॥ ३५ ॥

अवरुद्धश्च तावन्त्यस्तन्व्यः कोमलविग्रहाः ।
मदनोद्दीपनैर्यासां दृष्टिवाणैर्जितं जगत् ।। ३६ ।।

इससे साफ प्रगट है कि भरत चक्रवर्त्तीका विवाह म्लेच्छ कन्याओसे हुआ और वे समस्त म्लेच्छकन्याएँ म्लेच्छराजाओ-की ही नही थी, बल्कि इतर म्लेच्छोकी अर्थात् म्लेच्छराजाओसे भिन्न दूसरे म्लेच्छोकी श्रेष्ठ कन्याएँ भी उनमे शामिल थी, ऐसा ''म्लेच्छराजादिभिर्दत्ताः'' इस पदमे दिए हुए 'आदि' शव्द-से सूचित होता है ।

—जैनमित्र, २२-४-१९१३

अर्थ-समर्थन

जैनसमाज रस्म, रिवाज और रूढियोसे कैसा अभिभूत और पददलित है और उसमे रूढियोपर विवेचन प्रारम्भ होनेकी कितनी सख्त जरूरत है, इस बातको प्रगट करते हुए मैंने 'शुभचिह्न' शीर्षक एक लेख २४ मार्च १९१३ के जैनमित्र अक न० १० मे दिया था। इस लेखके अन्तमे कुछ शास्त्रीय प्रमाण पडित रघुनाथ-दासजी सरनऊ निवासीको, उनके **'शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये'** इस वाक्यके अनुसार, भेंटकिये गये थे और प्रार्थना की गयी थी कि वे निष्पक्ष भावसे उनपर विचार करेंगे। हालमे उक्त पडित-जीने एक लेख वही 'शुभचिह्न' शीर्षक देकर, ता० १६ जून सन् १९१३ के जैनगजट अक ३१ मे मुद्रित कराया है। यद्यपि पडितजीका यह लेख मेरे लेखके उत्तररूप नही है और न इसे स्वतत्र लेख ही कह सकते हैं, तथापि दोनोका मिश्रण अवश्य है। इस लेखमे पडितजीने मेरे दिये हुए प्रमाणोमेसे किसीको अप्रमाण नही ठहराया, प्रत्युत् एक स्थानपर यह लिखकर कि **'हम उन श्लोकोको प्रमाण मानते हैं'** अपनी स्वीकारताका भाव प्रदर्शित किया है—यह एक सन्तोषकी बात है। परन्तु मेरे दो श्लोकोके स्पष्ट अर्थको बिना किसी प्रमाणके आपने विपरीत जरूर बतलाया है और साथ ही कुछ और भी खीच-तान की है।

जिन सस्कृतज्ञ विद्वानोने पडित रघुनाथदासजीके उक्त लेख-को पढा होगा उन्हे यह देखकर शायद कुछ आश्चर्य हुआ हो कि पडितजीने किस आधारपर उक्त श्लोकोके अर्थको विपरीत

ठहराया है। परन्तु देश, काल और समाजकी स्थितिसे परिचित अनुभवी विद्वानोने तुरन्त ही समझ लिया होगा कि यह सब रूढि-माहात्म्य है। जिस समाजमे प्रवृत्ति-देवीकी खूब उपासना हो रही हो, रूढियोका प्रबल राज्य हो, रस्म, रिवाज और आम्नायका ही गीत गाया जाता हो, गर्भमे आते ही रूढियोका दासत्व सिखलाया जाता हो और इसलिये रोम-रोमपर रूढियो-का सिक्का जमा हुआ हो, उस समाजमे ऐसा होना कुछ भी आश्चर्यकी बात नही है। रूढियोंके चक्करमे पडकर मनुष्यकी अजीब ही हालत हो जाती है। वह उन्हे नि सार और हानिकारक समझता हुआ भी—उनके कारण अनेक सकट सहता हुआ भी—सस्कारवश उन्हीके प्रेममे बँधा रहता है, उन्हीकी पैरवी करता है अर्थात् उन्हे सत्य-श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है और वीर पुरुषकी तरह एकदम उनका सम्बन्ध छोडकर इस चक्करसे निकलनेके लिये तैयार नही होता है—इसीका नाम रूढि-माहात्म्य है। इसी माहात्म्यके वशवर्ती होकर पडितजीने दो श्लोकोके अर्थको विपरीत बतलाने तथा अन्य खीच-तान करनेकी चेष्टा की है।

पडितजीके इस लेखसे कुछ भोले भाइयो तथा अन्य प्रवृत्ति-भक्तोके हृदयमे कुछ भ्रम होना सभव है। अत. उस भ्रमके निरसन करनेके लिये आज यह 'अर्थ-समर्थन' रूप लेख लिखा जाता है—

"जैनधर्म जैनियोकी पैतृक सम्पत्ति—जैनियोका मौरूसी तरका—नही है। यह जीवात्माका निज धर्म होनेसे प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है। मनुष्यमात्र इस धर्मका धारण कर सकता है—जैनियोको अपनी संकीर्णता और स्वार्थपरता छोडकर भूमंडलके

ऊँच-नीच सभी प्रकारके मनुष्योंको जैनधर्म बतलाना चाहिये, सभी देशोमे जैनधर्मका प्रचार करना चाहिये। श्रीजिनवाणीका (जैनशास्त्रोका) अनेक देशोकी अनेक भाषाओमे उल्था होकर वीर-जिनेन्द्रका शुभ समाचार और उनका पवित्र आदेश उन देश-निवासियो तक पहुँचाना चाहिये"—इस आधुनिक आन्दोलनसे अप्रसन्न और रुष्ट होकर उक्त पडितजीने १७ फरवरी सन् १६१३ के जैन गजट अक १५ मे एक लेख दिया था, जिसका शीर्षक था 'शास्त्रानुकूल प्रवर्त्तना चाहिये।' पडितजीके इसी लेखके शीर्षक-वाक्यका अभिनन्दन करते हुए मैंने उपर्युक्त 'शुभचिह्न' शीर्षकलेख जैनमित्रमे दिया था।

पडितजीने अपने इस १७ फरवरीके लेखमे एक स्थानपर लिखा था कि—

"आगम-विरुद्ध अनुमान नही, अनुमानाभास है। आदि-पुराणमे भरत महाराजने १६ स्वप्न देखे, उनमें एक स्वप्न यह है कि म्लेच्छकुलमे राज्य और बडे कुलके उनकी सेवा करें। दूसरा यह कि वैश्य वर्ण जैनधर्मको धारण करे।"

इस लिखनेसे पडितजीका अभिप्राय यह सिद्ध करनेका था कि जब यह भविष्यद्वाणी हो चुकी है और शास्त्रोमें मौजूद है कि 'पचमकालमें म्लेच्छ कुलमें राज्य रहेगा और वैश्य वर्ण ही जैन-धर्मको धारण करेगा' तब ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिको-को जैनी बनानेका प्रयत्न करना और यूरोपादि देशोमे धर्म-प्रचारके लिये जाना बिलकुल व्यर्थ और फिजूल ही नही, बल्कि आगमके भी विरुद्ध है। इसमे सफलता प्राप्त होना असभव है और यदि इन देशोमे जाकर (जिनको पडितजी कुग्राम लिखते हैं) बहुत कुछ परिश्रम करनेसे दो-चार, दस-बीस, जैनी बन भी गये

तो ऐसा करना अपनेको इष्ट नही है और इसीलिये पडितजीने अपने लेखमे यह प्रेरणा भी की थी कि सहस्र लाभ छोड़कर भी इन देशोमे नहीं जाना चाहिये ।

इसपर मैंने निम्नलिखित रूपसे तीन प्रमाण पडितजीको भेंट किये थे, जिनका स्पष्ट आशय यह था कि पडितजीने आदि-पुराणके हवालेसे भरतजीके जिन दो स्वप्नोका जो फल लिखा है वह बिलकुल गलत है, आदिपुराणमे वैसा नही लिखा है। इस शास्त्रमे कुछ और ही रूपसे भविष्यद्वाणी की गई है और उसके अनुसार म्लेच्छ देशोमे जाकर जैनधर्मके प्रचार करने की खास जरूरत पाई जाती है । साथ ही म्लेच्छोकी कुलशुद्धिका विधान भी दिया गया है । मेरे वे प्रमाण इस प्रकार थे :—

(१) "५—भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणमे लिखते हैं कि, प्रजाको बाधा पहुँचानेवाले ऐसे अनक्षर म्लेच्छोको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेने चाहिये ।" जिससे प्रगट है कि म्लेच्छ लोग केवल जैनी ही नही हो सकते, बल्कि उनकी कुल-शुद्धि भी हो सकती है । यथा :—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः ।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥

(४२–१७९)

(२) ६—उक्त आदिपुराणमें भरतजीके आठवे स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है कि—

शुष्कमध्यतडागस्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात् ।
प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु ॥

(४१–७२)

अर्थात्—मध्यमे सूखा और किनारोपर जल लिये हुए ऐसा

तालाब देखनेसे यह फल होगा कि (पचम कालमें) जैनधर्म आर्यदेशको छोडकर प्रान्तदेशो (Bordering Countries) मे फैलेगा और म्लेच्छ देशोके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे। इससे प्रगट है कि अन्य दूर देशोमें जैनधर्मके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है और उसमें कितनी अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है।

(३) ७—उक्त आदिपुराणमें भरतजीके पाँचवे स्वप्नका फल वर्णन करते हुए लिखा है कि पचमकालमे आदिक्षत्रिय-वशोका उच्छेद हो जायगा और उनसे कुछ हीन वश व कुलके मनुष्य पृथ्वीका पालन करेंगे। ऐसा नही लिखा कि म्लेच्छ कुलमे ही राज्य होगा। यथा :—

करीन्द्रकन्धरारूढशाखामृगविलोकनात्।
आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां पास्यन्त्यकुलीनकाः॥
(४१-६९)"

अब पडितजी अपने १६ जूनके लेखमें इन तीनो प्रमाणोमे से अन्तके दो प्रमाणोके श्लोकोका अर्थ (विपरीत) बतलाते हैं। सबसे पहले आप अन्तिम श्लोकके अर्थके सम्बन्धमे इस प्रकार लिखते हैं :—

"अकुलीन शब्दका अर्थ आपने कुछ हीन वश ग्रहण किया है सो वह कदापि ठीक नही, क्योकि प्रकरणके अनुकूल शब्दके अर्थोंमेसे योग्य अर्थ लेते हैं, "शक्यसम्बन्धो लक्षणा" 'अ' शब्द निषेधवाचक व 'ईषत्' किंचित् अर्थ वाचक है।"

बस, इस श्लोकके अर्थ-सम्बन्धमें पडितजीने इतना ही लिखकर छोड़ दिया है। खडनके लिये इसीको पर्याप्त समझ लिया है और इतने से ही अर्थ विपरीत सिद्ध हो गया।

पडितजीके इन उपर्युक्त खडन-वाक्योसे इतना तो पता चलता है कि आपको केवल 'अकुलीन' शब्दके अर्थपर ही विवाद है। बाकी अर्थको आप ठीक मानते हैं और साथ ही यह भी पता चलता है कि 'अकुलीन' शब्दका जो अर्थ मैने किया है वह भी इस शब्दका अर्थ जरूर है—इससे पडितजीको इन्कार नही है। सिर्फ पडितजीका इतना ही कहना है कि यह प्रकरणके अनुकूल योग्य अर्थ नही है। 'अकुलीन' शब्दके अर्थोमेसे वह दूसरा योग्य अर्थ कौन-सा है जिसको प्रकरणके अनुकूल ग्रहण करना चाहिये था? इसको बतलानेकी पडितजीने कोई कृपा नही की और न यह ही प्रगट किया कि 'अ' शब्दके जो दो अर्थ (निषेध और ईषत्) आपने बतलाये हैं उनमेसे यहाँ कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय? परन्तु पाठकोको खुद ही समझ लेना चाहिये कि पंडितजीका अभिप्राय उसी म्लेच्छ कुलसे है। आप 'अकुलीन' शब्दका अर्थ म्लेच्छ-कुलोत्पन्न ही प्रकरणके अनुकूल समझते हैं, शायद पुनरुक्त दोषके भयसे ही आपने उसे फिर न लिखा हो।

अब देखना इस बातको है कि कौन-सा अर्थ वास्तवमे ठीक और प्रकरणके अनुकूल है? यदि 'अ' का निषेध अर्थ लेकर ही (जो पडितजीको इष्ट मालूम होता है) अकुलीन शब्दका शब्दार्थ किया जाय तब एक अर्थ तो यह होता है कि कुले भवः 'कुलीनः' जो कुलमे उत्पन्न हो वह कुलीन और जो कुलीन नही वह अकुलीन अर्थात् कुलवर्जित। परन्तु यह योग्य अर्थ हो नही सकता। क्योकि ऐसा कोई मनुष्य ही नही है जो कुल-रहितहो। उत्तम, मध्यम, जघन्य वा ऊँच-नीचादि कुल भेदोमेसे कोई न कोई कुल मनुष्यका अवश्य ही होता है। दूसरा अर्थ शब्दकल्पद्रुमके अनुसार रूढिसे 'कुलीन' शब्दका अर्थ 'उत्तम

कुलोद्भवः' या 'प्रशस्तवंशो जातः' स्वीकार करनेसे यह होता है कि जो उत्तम कुल या अतिश्रेष्ठ वशमे उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् जो मध्यम वा जघन्य कुलोमे उत्पन्न हुआ हो। इस अर्थसे भी उसी अर्थका समर्थन होता है जो मैने जैन मित्रमे दिया था, क्योकि इसके अनुसार जो उत्तम कुल या अति श्रेष्ठ वशसे कुछ हीन होगा वह 'कुलीन' नही कहलाएगा, उसे 'अकुलीन' कहेगे। आदि क्षत्रिय वश उत्तम वश थे उनकी अपेक्षा ही दूसरे वशोमे उत्पन्न हुए पुरुषोको 'अकुलीन' कहा गया है।

असल बात यह है कि उत्तम कुलकी अपेक्षा मध्यम और जघन्य दोनोको अकुलीनताकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु जघन्य कुलोत्पन्नकी अपेक्षा मध्यम कुलोत्पन्नको अकुलीन नही कह सकते—उसे तब कुलीन ही कहना होगा। इसी प्रकार मध्यमके बहुतसे भेद हो सकते हैं। उन्हे परस्पर अपेक्षासे ही उच्च और नीच कह सकते हैं। लोकमे भी ऐसा ही व्यवहार है। एक ही जाति और गोत्रके एक मनुष्यको बडे कुल, बडे खान्दान और बडे घरानेका पुकारते हैं और दूसरेको छोटे, मामूली या साधारण कुल, खान्दान और घरानेका कहते हैं। ऊँच-नीच कुल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो ही मे नही, बल्कि शूद्रो और म्लेच्छो तकमे भी पाये जाते हैं। कुलके ये समस्त भेद-प्रभेद अपेक्षाकृत ही होते हैं। आचार्य महोदयने इसी अपेक्षाको लेकर ही 'अकुलीन' शब्दका प्रयोग किया है। उनके इस लिखनेसे कि (आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मा पास्यन्त्यकुलीनकाः) आदिक्षत्रिय वशोका उच्छेद होकर अकुलीन पृथ्वीका पालन करेगे यही आशय व्यक्त होता है कि जब इक्ष्वाकुवश, कुरुवंश, हरिवंश

और नाथवंशादिक प्राचीन क्षत्रिय वशोका जो कि उत्तम और सर्वश्रेष्ठ वश थे, उच्छेद हो जायगा अर्थात् उनका कोई वशधर न रहेगा, तव उनसे दूसरे दर्जेपर घटिया और हीन वशके क्षत्रिय ही पृथ्वीका पालन करेगे, क्षत्रियोका ही धर्म पृथ्वीका पालन करना है। इसलिये यही अर्थ ठीक और प्रकरणके अनुकूल जँचता है कि "पचमकालमे आदि क्षत्रियवंशोका उच्छेद हो जायगा और उनसे कुछ हीन वंश वा कुलके मनुष्य पृथ्वीका पालन करेंगे।" नही मालूम पडितजीने यह कहांसे निर्धारित किया है कि म्लेच्छ कुलमे ही राज्य होगा ? और न यही मालूम होता है कि बड़े कुलके उनको सेवा करें। यह अर्थ पडितजीने कौनसे शब्दोका निकाला है ? अथवा पडितजी किन कुलोको बडे कुल और किनको छोटे कुल समझते हैं ?

यदि पडितजी अपनी इच्छानुसार म्लेच्छकुलमे ही राज्यका होना मानेगे तब उन्हे पचमकालमे होनेवाले महाराजा चामुंडराय, चन्द्रगुप्त, अमोघवर्ष, शिवकोटि, सिन्धुल, भोज, राजकुमार, शुभचन्द्र, राजा कुमारपाल तथा दक्षिण कर्नाटक और महाराष्ट्र देशके अन्य जैन राजा—सभीको म्लेच्छ कुलोत्पन्न कहना पडेगा, परन्तु ऐसा नही है। न ये लोग म्लेच्छ थे और न म्लेच्छ-कुलोत्पन्न, बल्कि श्रेष्ठ वंशोके उत्पन्न हुए राजा थे और इनमेसे कईने जिन-दीक्षा भी धारण की है। अफसोस ! पडितजीने इसका कुछ भी खयाल नही किया और वैसे ही विना सोचे-समझे आँख बन्द करके लिख मारा।

दूसरे श्लोकके अर्थ-सन्बन्धमे पडितजीने जो कुछ लिखा है उससे मालूम होता है कि आप इस श्लोकके अर्थसे बहुत ही विचलित हुए हैं। आपने 'प्रत्यन्त' शब्दका अर्थ नही समझा,

इतना ही नही बल्कि 'प्रत्यन्त' शब्दके अर्थका (म्लेच्छ देशका) अर्थ भी आप नही समझ सके हैं और इसलिये आपको एकदम यहाँ तक जोश आ गया है कि आपने विना प्रयोजन भरतक्षेत्रके खडोकी चौडाई तक लिख डाली और साथ ही योजनोके कोस और गज भी बना डाले। इसी जोशमें आकर पडितजी अपनेको जैन भूगोलका मर्मी समझते हुए एक स्थानपर लिखते हैं कि 'बाबू साहबने जैनका भूगोल नही देखा', अस्तु इसके लिये मुझे कुछ कहने या लिखनेकी जरूरत नही है। सभव है कि मैंने जैनका भूगोल न देखा हो और अब पडितजीके प्रसादसे ही मुझे उसका ज्ञान प्राप्त हो जाय। परन्तु पडितजीसे मेरा इतना निवेदन जरूर है कि वे कृपाकर इस बातको अवश्य बतलाएँ कि मेरे उस लेखमे 'म्लेच्छखंड' शब्द कहाँ पर आया है ? और मैंने उसमे किस स्थानपर किन देशोको म्लेच्छखंड माना है ? जिसके कारण आपको यह लिखनेकी तकलीफ उठानी पडी कि 'जिनको बाबू साहबने म्लेच्छखड मान लिया सो म्लेच्छखड नही, वरन क्षेत्र आर्यखड व जीव-वध करने, मासादि खानेसे कर्मम्लेच्छ है'। प्रत्येक पाठक जैनमित्र अक १० को देखकर मालूम कर सकते हैं कि मेरे उक्त लेखमे कही भी 'म्लेचछखंड' का नाम व निशान नही है और न किसी स्थानपर उसमे यह स्वीकार किया गया है कि अमुक-अमुक देश म्लेच्छखड हैं। फिर नही मालूम पडितजीने किस आधारपर ऐसा असत्य लिखनेका साहस किया है ? शायद पडितजीने यह समझा हो कि म्लेच्छखंडो ही में म्लेच्छदेश होते हैं, आर्यखंडमे म्लेच्छदेश नही होते। और इसीलिये आपने अपनी कल्पनासे म्लेच्छदेशको म्लेच्छखंडमें परिवर्तित (तबदील) कर दिया हो। यदि ऐसा हुआ है तो पडितजीने बडी भारी भूल की

है, आर्यखंडमे आर्य और म्लेच्छ दोनो प्रकारके मनुष्य निवास करते हैं। जिस प्रकार आर्यखंडमे आर्यदेश हैं उसी प्रकार कुछ म्लेच्छदेश भी हैं और कुछ मिश्रदेश ऐसे हैं जिनमे आर्य और म्लेच्छ दोनो निवास करते हैं। शास्त्रोमे म्लेच्छोके मुख्य तीन भेद वर्णन किये हैं —(१) आर्यखडोद्भव, (२) म्लेच्छखडोद्भव* और (३) अन्तरद्वीपज। आर्यखडोद्भव (आर्यखडमे उत्पन्न होनेवाले) म्लेच्छोके भेद शक, यवन, शवर, पुलिन्दादिक हैं। जैसा कि स्वामी अमृतचद्राचार्यके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है .—

"आर्यखडोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखडोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि ॥ २१२ ॥"

(तत्त्वार्थसार)

आर्यखडके जिन देशोमे प्राय आर्यखडोद्भव म्लेच्छ निवास करते हैं उन देशोको म्लेच्छ देश कहते हैं। म्लेच्छ देशोका सद्भाव आर्यखंडमे पहलेही से चला आता है। भगवज्जिनसेनाचार्य-प्रणीत आदिपुराणके देखनेसे मालूम होता है कि जिस समय चतुर्थ कालके आदिमे कोशल आदि महादेशोकी स्थापना हुई थी उसी समय कुछ म्लेच्छ देश भी स्वतन्त्र रूपसे स्थापित किये गये थे। इस ग्रन्थके १६ वे पर्वमे उन कोशलादि देशोका नामादिक देकर उनके अन्तराल देशोका वर्णन इस प्रकार किया है .—

"तदन्तरालदेशाश्च　　बभूवुरनुरक्षिताः।
लुब्धकारण्यक-चरक-पुलिन्द-शवरादिभिः ॥ १६१ ॥

---

* इन दोनोंका एक नाम 'कर्मभूमिज' भी है।

अर्थात्—कोशलादिक देशोके सिवाय उनके अन्तराल[1] देश भी स्थापित हुए थे, जिनमे लुब्धक, आरण्यक, चरक, पुलिन्द और शवरादिक लोग निवास करते थे। शास्त्रोमे पुलिन्द और शवरादिकको म्लेच्छ वर्णन किया है। जैसा कि **स्वामी अकलंकदेव** प्रणीत **राजवार्तिकके** इस वक्यसे प्रगट है कि 'शकयवनशबरपुलिन्दादय म्लेच्छा' अर्थात् शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोग म्लेच्छ होते हैं। जिन देशो मे प्राय ऐसे ही लोग निवास करते हैं वे म्लेच्छ देश कहलाते हैं। इसलिये ये पुलिन्द और शबरादिकके देश भी म्लेच्छ देश थे और इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यखंडमे पहले भी म्लेच्छोके कुछ देश अलग थे।

पडितजीका अपने लेखमे विना किसी प्रमाणके यह लिखना कि 'म्लेच्छोकी शवर, विलाल, भील और चाडाल जातियाँ पचमकालमें ही होती हैं' बिलकुल गलत मालूम होता है। क्योकि ऊपर उद्धृत किये हुए **आदिपुराणके** श्लोकसे यह साफ विदित हो रहा है कि चतुर्थकालके आदिमें भी शवर और पुलिन्दादिक जातियाँ मौजूद थी। इसके सिवाय चतुर्थकाल-सम्बधिनी सैकडो कथाओमे भील और चाडालोका जिक्र पाया जाता है। फिर कैसे कहा जा सकता है कि वे पचमकालमे ही पैदा होती हैं? इसी प्रकार पडितजीका यह लिखना भी गलत मालूम होता है कि 'वर्तमान भूगोलके जितने देश हैं वे आर्य थे, काल-दोपसे धर्मभ्रष्ट होनेसे भीलादि कहलाने लगे।' क्योकि ऊपरके कथनसे प्रगट है कि ये सब देश आर्य नही थे और चतुर्थकालमें भी यहाँ भीलादिक लोग मौजूद थे। इसके सिवाय **आदिपुराणमे**

---

१ सरहदी देश अर्थात् एक देशकी सीमासे दूसरे देशकी सीमा तक दरम्यान देश।

यह भी लिखा है कि 'भरत चक्रवर्तीको दिग्विजयके समय आर्य-खंडमे और महागंगाके इस पारके किनारेपर पहुँचनेसे पहले भी ऐसे नगर मिले थे, जिनमे म्लेच्छ लोग रहते थे और वहाँके म्लेच्छ राजाओने चक्रवर्तीका अनेक प्रकारकी भेट देकर, सम्मान किया था। इस प्रकरणके दो श्लोक इस प्रकार हैं :—

"पुलिन्दकन्यकाः सैन्यसमालोकन-विस्मिताः।
अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः॥ ४१॥
चमरीबालकान् केचित्केचित्कस्तूरिकाण्डकान्।
प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः॥ ४२॥"

(आदि० पर्व २८)

अर्थात्—भरत चक्रवर्तीने दूरसे म्लेच्छोकी उन कन्याओको देखा जो स्वभावसे ही सुन्दराकार थी और चक्रवर्तीकी सेनाको देखकर विस्मित हो रही थीं। इस प्रान्तके म्लेच्छ राजाओमेसे कुछने चमरीबाल और कुछने कस्तूरिका (मुश्कनाफे) भेंटके तौरपर पेश करके चक्रवर्तीके दर्शन किये। इससे प्रगट है कि चतुर्थकालमे भरत चक्रवर्तीके समयमें भी आर्यखंडमे म्लेच्छ देश मौजूद थे और उनमे म्लेच्छ राजा राज्य करते थे।

इन सब प्रमाणोके सिवाय पडितजीको इतना और समझना चाहिये कि यदि आर्यखंडका समस्त क्षेत्र आर्य ही होता (जैसा कि आप लिखते हैं) और उसमे म्लेच्छ देश न होते तो 'क्षेत्रार्याः' का लक्षण वर्णन करते हुए स्वामी अकलंकदेव राजवार्तिकमें सिर्फ इतना ही लिख देते कि 'आर्यखंडे जाताः क्षेत्रार्याः' अर्थात् जो आर्यखंडमे उत्पन्न हो वे क्षेत्रार्य कहलाते हैं। परन्तु आचार्य महोदयने ऐसा लक्षण न लिखकर यह लक्षण लिखा है कि 'काशीकोशलादिषु जाताः क्षेत्रार्याः' अर्थात् जो काशी, कोशला-

दिक देशोमे उत्पन्न हो वे क्षेत्रार्य (क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य) कहलाते हैं। इससे साफ जाहिर है कि आर्यखंडका समस्त क्षेत्र आर्य नही है, बल्कि उसमे काशी, कोशलादिक देशोको ही आर्यदेशत्वकी प्राप्ति है। इनके सिवा आर्यखंडमे जो अन्य देश हैं वे म्लेच्छ देश हैं। उन्ही म्लेच्छ देशोका भगवज्जिनसेनाचार्यने उक्त श्लोकमे 'प्रत्यन्त' शब्द करके ग्रहण किया है। भरत क्षेत्रके जिन पाँच खडोको जैनियोंने म्लेच्छखंड माना है उन खडोके म्लेच्छदेश धर्म-कर्मके अयोग्य हैं, उन्हे शास्त्रोमे धर्म-कर्मकी अभूमि[1] वर्णन किया है, वहाँ धर्मका प्रचार नही हो सकता। इसलिये उनका यहाँ ग्रहण नही है। नही मालूम, पडितजी 'म्लेच्छदेश' का अर्थ लगानेमे अपनी उस लक्षणा और शक्य-सम्बन्ध वगैरहको क्यो भूल गये? जिसका आपने 'अकुलीन' शब्दके अर्थपर विचार करते हुए स्मरण किया था। यदि पडितजीको उनका स्मरण हो आता तो शायद आपको इतनी दूर व्यर्थ ही उन म्लेच्छखंडोंके पीछे न दौडना पडता, जिनके मार्गादिकका आजकल कुछ भी पता नही है। वहाँ जाकर धर्मका प्रचार करना तो कैसे बन सकता है? परन्तु वास्तवमें बात कुछ और ही है। पडितजीको अभी तक यह मालूम नही था कि आर्यखंडमे भी म्लेच्छदेश होते हैं, इसीसे उनको म्लेच्छखंडोका भ्रम हुआ है। अब ऊपरके प्रमाणोसे पडितजीको स्पष्ट हो

---

१. जैसा कि आदिपुराणमें भरतजीकी म्लेच्छखड सम्बन्धिनी दिग्विजयका वर्णन करते हुए लिखा है :—

इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्।
म्लेच्छराजबलैः सार्धं सेनानीर्व्यवृतत्पुनः॥
—पर्व ३१, श्लोक १४२

जायगा कि आर्यखंडमे भी म्लेच्छदेश होते हैं और उन्ही म्लेच्छ-देशोके सम्बन्धमे लिखनेका अभिप्राय था।

अब विवादस्थ श्लोकके अर्थविषयको लीजिये, पडितजी ने स्पष्ट अर्थको छिपाते हुए बडे सकोचके साथ, अपने लेखमे इस श्लोकके उत्तरार्धका अर्थात्—

"प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिपु।"

इस वाक्यका जो अर्थ दिया है वह इस प्रकार है :—

"पचम कालमे जैनधर्म आर्यखडके मध्यस्थलको छोडकर अन्त किनारेपर थोडे क्षेत्रमे रहेगा।"

पडितजीके इस अर्थसे यह मालूम नही होता कि आपने 'आर्यखडके मध्यस्थल' यह अर्थ कौनसे शब्दोका ग्रहण किया है? और इस मध्यस्थलकी व्याप्ति किन देशो तक है? इसी प्रकार यह भी मालूम नही होता कि 'अन्त किनारेपर थोड़े क्षेत्रमे' ऐसा अर्थ कौनसे शब्दोका किया गया है? और किन-किन देशोका इस थोडे क्षेत्रमे अन्तर्भाव है? अथवा 'किनारे' शब्द से पडितजीने आर्यखडके अन्तिम जल-भागको ग्रहण किया है या स्थल-भागको? यदि पडितजी मूल श्लोकके शब्दोका ठीक अर्थ न लिखकर भी अपने अर्थमे इन अन्य समस्त बातोका भी स्पष्टीकरण कर देते, तब भी पाठकोको आपका आशय मालूम पड जाता, परन्तु पडितजीने दूसरेके अर्थका खडन करनेके लिये लेखनी उठाकर भी ऐसा नही किया। इससे मालूम होता है कि पडितजीने जान-बूझकर असलियतको छिपानेकी चेष्टा की है और यह सूचित करना चाहा है कि 'आर्यखडके समस्त देश आर्य ही होते हैं, और इसलिये जब जैनधर्म पचम कालमे आर्यखडके मध्यस्थलको छोड देगा तब किनारेके आर्यदेशोमे ही रहेगा—परन्तु ऐसा नही

है और न इस प्रकार छिपानेसे असलियत छिपा करती है। मूल श्लोकमे साफ तौरपर 'आर्यनिवासात्' पद आया है, जिसका स्पष्ट अर्थ है 'आर्यदेशसे' और 'प्रच्युत्य' शब्दका अर्थ है 'च्युत होकर' दोनोका अर्थ हुआ 'आर्यदेशसे च्युत होकर' अर्थात् 'आर्यदेशको छोडकर। यह अर्थ नही होता कि 'आर्यखंडके मध्यस्थलको छोड़-कर।' यदि पडितजी यह कहे कि हम आर्यखंडके मध्यस्थल ही को आर्यदेश समझते हैं और इसीलिये हमने 'आर्यदेशके' स्थानमे 'आर्यखंडका मध्यस्थल' यह पद प्रयुक्त किया है। तव पडितजीको खुद ही यह मानना पडेगा कि मध्यस्थलके सिवाय जो इतर स्थल (किनारा वगैरह) है वह आर्यदेश नही है, बल्कि अनार्य वा म्लेच्छदेश है और प्राय उसी देशके निवासियोमे जैनधर्म पचम कालमे रहेगा। परन्तु पडितजी चाहे कुछ मानें या न मानें, आचार्य महोदयने मूल श्लोकमे 'स्याद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु' यह पद देकर इस बातको बिलकुल साफ कर दिया है कि म्लेच्छदेशके निवासियोमे जैनधर्म रहेगा अर्थात् पचम कालमे म्लेच्छ देशोके निवासी जैनधर्मको धारण करेगे। 'प्रत्यन्त' शब्दका अर्थ है म्लेच्छदेश। इस अर्थकी यथार्थता जाननेके लिये कही दूर जानेकी जरूरत नही हे, पाठकगण अमरकोश उठाकर ही देख सकते हैं। उसके द्वितीय काण्डके सप्तम श्लोकमे साफ लिखा है :—

"प्रत्यन्तो म्लेच्छदेश. स्यात् ... " अर्थात् 'प्रत्यन्त' म्लेच्छदेशको कहते है या यो कहिये कि 'प्रत्यन्त' और 'म्लेच्छ-देश' दोनो एकार्थवाची हैं। इसके सिवाय शब्दकल्पद्रुम और श्रीहेमचन्द्राचार्य विरचित अभिधानचिंतामणिमे भी ऐसा ही लिखा है। यथा :—

'प्रत्यन्तः म्लेच्छदेशः'

(शब्दकल्पद्रुम)

'प्रत्यन्तो म्लेच्छमंडलम्' ॥९५२॥

(अभिधानचिंतामणिः)

वामन शिवराम आप्टे एम० ए० कृत संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरीमे भी लिखा है कि 'प्रत्यन्त' खास तौरपर उस देशको कहते हैं जिसमे अनार्य या म्लेच्छ लोग रहते हो। यथा —

'प्रत्यन्तः' A bordering country aspecially a country occupied by barbarins or malechchhas.

इन सब प्रमाणोके सिवाय खुद भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमे अन्य स्थलोपर भी 'प्रत्यन्त' शब्दको म्लेच्छदेशोके लिये व्यवहृत किया है। जैसा कि निम्नलिखित श्लोकोसे प्रगट है .—

"इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात्प्रत्यन्तपालकान्।
विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः ॥" (३१-१५५)

"हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यन्तपालान् जयन्।
सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां षट्खण्डभूषां महीम् ॥
(३२-१९८)

"कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः।
प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवात्सुः कृतसंश्रयाः ॥" (३७-७०)

इस प्रकार अनेक प्रमाणोसे यह भली प्रकार सिद्ध है कि 'प्रत्यन्त' शब्दका अर्थ म्लेच्छदेश है। 'प्रत्यन्त' शब्दके साथ 'वासिन्' शब्द लगा हुआ है, जिसका अर्थ है 'निवासी'। दोनोका एक समास होकर सप्तमीके बहुवचनमे 'प्रत्यन्तवासिषु' ऐसा रूप बना है, जिसका अर्थ होता है 'म्लेच्छदेशोके निवासियोमें' और इसलिये पूरे वाक्यका यह अर्थ हुआ कि 'जैनधर्म आर्यदेशसे च्युत होकर म्लेच्छदेशोंके निवासियोमे रहेगा अर्थात् (पचम कालमे) जैनधर्म प्राय. आर्यदेशको छोड़कर प्रान्त देशोमें

फैलेगा—म्लेच्छ देशोके निवासी जैनधर्मको धारण करेंगे'—यही अर्थ ठीक है। पडितजीने असलियतको छिपाकर जो अर्थका गोल-माल किया है और स्पष्ट अर्थको विपरीत बतलानेका जो साहस किया है वह ठीक नही किया। उन्हे खूब समझ लेना चाहिये कि अब जमाना अन्धेरेका नही है और न जबानी जमाखर्चका—इस प्रकारका गोलमाल अब आगे नही चल सकेगा। अब आचार्योंके मूल वाक्योपरसे ही अर्थका विवेचन और अवधारण हुआ करेगा; रूढियाँ या सुनी-सुनाई बाते नही मानी जायँगी। मूल शास्त्रोको देखकर लेख लिखे जाने चाहिये, प्रमाणमे उनके वाक्य उद्धृत करने चाहिये, वैसे ही अपने खयालके मुवाफिक अटकलके तीर मार देना या अनुचित साहस कर बैठना मुनासिब नही है।

—जैनमित्र १७-८-१९१३

विवाह-क्षेत्र-प्रकाश

प्राथमिक निवेदन

सन् १६१८ मे, 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामसे मैंने एक लेख-माला प्रारभ की थी और उस समय सबसे पहले एक छोटा-सा लेख सेठ चारुदत्तके उदाहरणको लेकर लिखा गया था, जो अक्तूबर सन् १६१८ के 'सत्योदय' मे प्रकाशित हुआ और जिसमे जाति-बिरादरीके लोगोको पतित भाइयोंके प्रति अपने-अपने व्यवहार तथा वर्तावमे कुछ शिक्षा ग्रहण करनेकी प्रेरणा की गई थी। उसके बाद, वसुदेवजीके उदाहरणको लेकर, दूसरा लेख लिखा गया और उसमे विवाह-विषयपर कितना ही प्रकाश डाला गया। यह लेख सबसे पहले अप्रैल सन् १६१६ के 'सत्योदय' मे, और बादको सितम्बर सन् १६२० के 'जैनहितैषी' पत्रमे भी प्रकाशित हुआ था। इन्ही दोनो लेखोको आगे-पीछे सग्रह करके, ला० जौहरीमलजी जैन सर्राफ, दरीबाकलाँ, देहलीने 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामसे एक पुस्तक प्रकाशित की और उसे विना मूल्य वितरण किया है। इस पुस्तकपर जैन अनाथाश्रम देहलीके प्रचारक प० मक्खनलालजीने एक समालोचना (!) लिखकर उसे पुस्तककी शकलमे प्रकाशित कराया है, और वे उसका जोरोके साथ प्रचार कर रहे हैं। प्रचारकजीकी वह समालोचना कितनी निःसार, निर्मूल, निर्हेतुक, बेतुकी और समालोचकके कर्त्तव्योसे गिरी हुई है, और उसके द्वारा कितना अधिक भ्रम फैलाने तथा सत्यपर पर्दा डालनेकी जघन्य चेष्टा की गई है, इन सब बातोको अच्छी तरहसे बतलाने

और जनताको मिथ्या तथा अविचारितरम्य समालोचनासे उत्पन्न होनेवाले भ्रमसे सुरक्षित रखनेके लिये ही यह उत्तर-लेख लिखा जाता है। इससे विवाह-विषयपर और भी ज्यादा प्रकाश पडेगा—वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा—और उसे इस उत्तर-का आनुषगिक फल समझना चाहिये ।

सबसे पहले, मैं अपने पाठकोसे यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जिस समय प्रचारकजीकी उक्त समालोचना-पुस्तक मुझे पहले-पहल देखनेको मिली और उसमे समालोच्य पुस्तककी बावत यह पढा गया कि वह "अत्यन्त मिथ्या, शास्त्रविरुद्ध और महापुरुषोको केवल झूठा कलक लगानेवाली" तथा "अस्पृश्य"[१] है और उसमे "बिल्कुल झूठ," "मनगढत," "सर्वथा मिथ्या और शास्त्रविरुद्ध" कथाएँ लिखकर अथवा "सफेद झूठ" या "भारी झूठ" बोलकर "धोखा" दिया गया है, तो मेरे आश्चर्य-की सीमा नही रही। क्योकि, मैं अब तक जो कुछ लिखता रहा हूँ वह यथाशक्ति और यथासाधन बहुत-कुछ जाँच-पडतालके बाद लिखता रहा हूँ। यद्यपि मेरा यह दावा नही है कि मुझसे भूल नही हो सकती, भूल जरूर हो सकती है और मेरा कोई विचार अथवा नतीजा भी गलत हो सकता है, परन्तु यह मुझसे नही हो सकता कि मैं जानबूझकर कोई गलत उल्लेख करूँ अथवा किसी बातके असली रूपको छिपाकर उसे नकली या बनावटी शकलमे पाठकोंके सामने उपस्थित करूँ। अपने लेखोकी ऐसी प्रकृति और परिणतिका मुझे सदा ही गर्व रहता है। मैं सत्य

---

१ समालोचकजी खुद पुस्तकको छूते हैं, दूसरोंको पढ़ने-छूनेके लिये देते हैं, कितनी ही वार श्रीमन्दिरजीमें भी उसे ले गये, परन्तु फिर भी अस्पृश्य बतलाते हैं ! 'किमाश्चर्यमत. परम्' !!

बातको कभी छिपाना नही चाहता—अवसर मिलनेपर उसे बडी निर्भयताके साथ प्रगट कर देता हूँ—और असत्य उल्लेखका सख्त विरोधी हूँ। ऐसी हालतमे उक्त समालोचनाको पढकर मेरा आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था।

मुझे यह खयाल पैदा हुआ कि कही अनजानमे मेरेसे कोई गलत उल्लेख तो नही हो गया, यदि ऐसा हुआ हो तो फौरन अपनी भूलको स्वीकार करना चाहिये, और इसलिये मैंने बडी सावधानी-से अपनी पुस्तकके साथ समालोचनाकी पुस्तकको खूब ही गौरसे पढा और उल्लेखित ग्रन्थो आदिपरसे उसकी यथेष्ट जाँच-पडताल भी की। अन्तको मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि समालोच्य पुस्तकमे एक भी ऐसी बात नही है जो खास तौरपर आपत्तिके योग्य हो। जिनसेनाचार्य-कृत हरिवशपुराणके अनुसार, 'देवकी' अवश्य ही वसुदेवकी 'भतीजी' थी, परन्तु उसे "सगी भतीजी" लिखना यह समालोचकजीकी निजी कल्पना और उनकी अपनी उपज है—लेखकसे उसका कोई सम्बन्ध नही है, 'जरा' जरूर म्लेच्छकन्या थी और म्लेच्छोका वही आचार है जो आदिपुराणमे वर्णित हुआ है, 'प्रियंगुसुन्दरी' एक व्यभिचारजातकी ही पुत्री थी, और 'रोहिणी'के वरमाला डालनेके वक्त तक 'वसुदेव'के कुल और उनकी जातिका वहाँ (स्वयवरमे) किसीको कोई पता नही था। वे एक अपरिचित तथा बाजा बजानेवालेके रूपमे ही उप-स्थित थे। साथ ही, चारुदत्त सेठका वसंतसेना वेश्याको अपनी स्त्री बना लेना भी सत्य है। और इन सब बातोको आगे चलकर खूब स्पष्ट किया जायगा।

अन्यथाकथन और समालोचकके कर्त्तव्यका अनिर्वाह

समालोचनामे पुस्तकपर बड़ी बेरहमीके साथ कुन्दी छुरी ही

नही चलाई गई, बल्कि सत्यका बुरी तरहसे गला घोटा गया है, पुस्तकके उद्देश्यपर एकदम पानी फेर दिया है, उसे समालोचनामे दिखलाया तक भी नही, उसका अपलाप करके अथवा उसको वदल कर अपने ही कल्पित रूपमे उसे पाठकोके सामने रक्खा गया है और इस तरह समालोचकके कर्त्तव्योसे गिरकर, वडी धृष्टताके साथ समालोचनाका रग जमाया गया है। अथवा यो कहिये कि भोले भाइयोको फँसाने और उन्हे पथभ्रष्ट करनेके लिये खासा जाल विछाया गया है। यह सब देखकर, समालोचकजीकी बुद्धि और परिणतिपर वडी ही दया आती है। आपने पुस्तक-लेखकके परिणामोका फोटू खीचनेके लिये समालोचनाके पृष्ठ ३९-४० पर, "जो रूढियोके इतने भक्त हैं" इत्यादि रूपसे कुछ वाक्योको भी उद्धृत किया है, परन्तु वे वाक्य आगे-पीछेके सम्वन्धको छोडकर ऐसे खण्डरूपमें उद्धृत किये गये हैं जिनसे उनका असली मतलब प्राय गुम हो जाता है और वे एक असम्बद्ध प्रलाप-सा जान पडते हैं। यदि समालोचकजीने प्रत्येक लेखके अन्तमे दिये हुए उदाहरणके विवेचन अथवा उसके शिक्षा-भागको ज्यो-का-त्यो उद्धृत किया होता तो वे अपने पाठकोको पुस्तकके आशय तथा उद्देश्यका अच्छा ज्ञान कराते हुए उन्हे लेखकके तज्जन्य विचारोका भी कितना ही परिचय करा सकते थे, परन्तु जान पडता है उन्हे वैसा करना इष्ट नही था, वैसा करनेपर समालोचनाका सारा रग ही फीका पड जाता अथवा उन अधिकाश कल्पित वातोकी सारी कलई ही खुल जाती, जिन्हे प्रकृत पुस्तकके आधारपर लेखकके विचारो या उद्देश्योके रूपमे नामाकित किया गया है। इसीसे उक्त विवेचन अथवा शिक्षा-भागपर, जो आधी पुस्तकके बराबर होते हुए भी सारी

पुस्तककी जान थी, कोई समालोचना नही की गई, सिर्फ उन असम्बद्ध खण्डवाक्योको देकर इतना ही लिख दिया है कि—

"बाबू साहबके उपर्युक्त वाक्योसे आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि उनका हृदय कैसा है और वह समाजमे कैसी प्रवृत्ति चलाना (गोत्र-जाति-पाति, नीच-ऊँच, भगी, चमार, चाडालादि भेद मेटकर हर एकके साथ विवाहकी प्रवृत्ति करना) चाहते हैं"।

इन पक्तियोमे समालोचकने, ब्रैकटके भीतर, जिस प्रवृत्तिका उल्लेख किया है उसे ही लेखककी पुस्तकका ध्येय अथवा उद्देश्य प्रकट करते हुए वे आगे लिखते हैं :—

"उपर्युक्त प्रवृत्तिको चलानेके लिये ही बाबू साहबने वसुदेवजीके विवाहकी चार घटनाओका (जो कि बिलकुल झूठ हैं) उल्लेख करके पुस्तकको समाप्त कर दिया था लेकिन फिर बाबू साहबको खयाल आया कि भतीजीके साथ भी शादी उचित बता दी तथा नीच, भील और व्यभिचारजात दस्सोके साथ भी जायज बता दी किन्तु वेश्या तो रह ही गई, यह सोचकर आपने फिर शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरणका दूसरा हिस्सा लिखा और खूब ही वेश्यागमनकी शिक्षा दी है"।

इसी तरहके और भी कितने ही वाक्य समालोचना-पुस्तकमें जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं, जिनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं —

(१) "लेकिन बाबूजीको लोगोंके लिए यह दिखलाना था कि भतीजीके साथ विवाह करनेमे कोई हानि नही है"। (पृ० ४)

(२) "उन्हे (बाबू साहबको) तो जिस तिस तरह अपना मतलब बनाना है और कामवासनाकी हवस मिटानेके लिये यदि बाहरसे कोई कन्या न मिले तो अपनी ही बहिन, भतीजी आदिके साथ विवाह कर लेनेकी आज्ञा दे देना है।" (पृ० ११)

(३) [देवकीकी कथासे] "यह सिद्ध करना चाहा है कि विवाहमे जाति-गोत्रका पचडा व्यर्थ है। यदि कामवासनाकी हवस पूरी करनेके लिये अन्य गोत्रकी कन्या न मिले तो फिर अपनी ही बहिन, भतीजी आदिसे विवाह कर लेनेमे कोई हानि नही है।" (पृ० ३७)

(४) "जराकी कथासे आप सिद्ध करना चाहते हैं कि भगी, चमार आदि नीच मनुष्य व शूद्रोके साथ ही विवाह कर लेनेमे कोई हानि नही है।" (पृ० ३८)

(५) "बाबू साहबको तो लोगोको भ्रममे डालकर और सबको वेश्यागमनका खुल्लम-खुल्ला उपदेश देकर अपनी हवस पूरी करना है उन्हे इतनी लम्बी समझसे क्या काम।" (पृ० ४५-४६)

(६) "बाबू साहबने जो चारुदत्तकी कथासे वेश्या तकको घरमें डाल लेनेकी प्रवृत्ति चलाना चाहा है, यह प्रवृत्ति सर्वथा धर्म और लोकविरुद्ध है। ऐसी प्रवृत्तिसे पवित्र जैनधर्मको कलङ्क लग जायगा।" (पृ० ४६)

(७) "लाला जौहरीमलजी जैन सर्राफ सरीखे कुछ मनचले लोगोने बाबू जुगलकिशोरजीके लिखे अनुसार "गृहस्थके लिये स्त्रीकी जरूरत होनेके कारण चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये" इसी उद्देश्यको उचित समझा" (भूमिका)

अब देखना चाहिये कि इन सब वाक्योके द्वारा पुस्तकके प्रतिपाद्य विषय, आशय, उद्देश्य और लेखकके तज्जन्य विचारो आदिके सम्बन्धमे जो घोषणा की गई है वह कहाँ तक सत्य है—दोनो लेखोपरसे उसकी कोई उपलब्धि होती है या कि नही—और यह तभी बन सकता है अथवा इस विषयका अच्छा अनुभव पाठकोको तभी हो सकता है जबकि उनके सामने प्रत्येक लेखका

वह अंश मौजूद हो जिसमे उस लेखके उदाहरणका नतीजा निकाला गया या उससे निकलनेवाली शिक्षाको प्रदर्शित किया गया है। अतः यहाँ पर उन दोनो अशोका उद्धृत किया जाना बहुत ही जरूरी जान पड़ता है।

पहले लेखमे, वसुदेवजीके विवाहोकी चार घटनाओका—देवकी, जरा, प्रियंगुसुन्दरी और रोहिणीके साथ होनेवाले विवाहो-का उल्लेख करके और यह बतलाकर कि ये चारो प्रकारके विवाह उस समयके अनुकूल होते हुए भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल है, जो नतीजा निकाला गया अथवा जिस शिक्षाका उल्लेख किया गया है वह निम्न प्रकार है, और लेखके इस अशमे वे सब खड-वाक्य भी आ जाते हैं जिन्हे समालोचकजीने समालोचनाके पृष्ठ ३६-४० पर उद्धृत किया है :—

"इन चारो घटनाओको लिये हुए वसुदेवजीके एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोको[1] आदिपुराणके उपर्युल्लिखित वाक्योके[2] साथ मिलाकर

१. वसुदेवजीके वे वचन, जो पुस्तकके पृष्ठ ८ पर उद्धृत हैं और जिनमें स्वयवर विवाहके नियमको सूचित किया गया है, इस प्रकार हैं :—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयवरगता वरं।
कुलीनमकुलीन वा क्रमो नास्ति स्वयवरे ॥ ११–७१ ॥

—जिनदासकृत हरिवशपुराण

अर्थात्—स्वयवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसद होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन, क्योंकि स्वयवरमे इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नही होता।

२. आदिपुराणके वे पृष्ठ ९ पर उद्धृत हुए वाक्य इस प्रकार हैं—

"सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषित।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवर ॥ ४४–३२ ॥

पढनेसे विवाह-विषयपर बहुत कुछ प्रकाश पडता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुद-ब-खुद (स्वयमेव) हल हो जाती हैं। इस उदाहरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रचलित रीति-रिवाजोको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्तवचन समझे हुए हैं अथवा जो रूढियोके इतने भक्त हैं कि उन्हे गणित-शास्त्रके नियमोकी तरह अटल सिद्धात समझते हैं और इसलिये उनमे जरा भी फेरफार करना जिन्हे रुचिकर नही होता, जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका उल्लघन करना मान बैठे हैं, जिन्हे विवाहमे कुछ सख्या-प्रमाण गोत्रोके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जानेका भय लगा हुआ है, इससे भी अधिक जो एक ही धर्म और एक ही आचार के मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खण्डेल-वाल आदि समान जातियोमे भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते हैं—पातक अथवा पतनकी शङ्कासे

"तथा स्वयवरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पना. ।
क प्रवर्त्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातन ॥ ४५–५४ ॥
मार्गांश्चिरतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्त सद्भि पूज्यास्त एव हि ॥ ४५–५५ ॥

इनमेंसे पहले पद्यमें स्वयवर-विधिको 'सनातन मार्ग' लिखनेके साथ-साथ उसे सम्पूर्ण विवाह-विधानोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है और पिछले दोनो पद्योमें, जो भरत चक्रवर्तीकी ओरसे कहे गये पद्य हैं, यह सूचित किया गया है कि युगके आदिमे राजा अकम्पनद्वारा इस विवाह-विधि (स्वयवर) का सबसे पहले अनुष्ठान होनेपर भरत चक्रवर्त्तीने उसका अभिनन्दन किया था और उन लोगोको सत्पुरुषो-द्वारा पूज्य ठहराया था, जो ऐसे सनातन मार्गोका पुनरु-द्धार करें ।

जिनका हृदय सन्तप्त है—और जो अपनी एक जातिमे भी आठ-आठ गोत्रो तकको टालनेके चक्करमे पड़े हुए हैं ।

ऐसे लोगोको वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बधी वर्तमान रीति-रिवाजोका मिलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमे नही रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ और अटल सिद्धात नही होते, उनमे समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तनकी जरूरत हुआ करती है। इसी जरूरतने वसुदेवजीके समय और वर्तमान समयमें जमीन आसमानका-सा अन्तर डाल दिया है। यदि ऐसा न होता तो वसुदेवजीके समयके विवाहसम्बधी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते, जैसे कि वे उस समय देखे जाते थे। परन्तु ऐसा नही है और इसलिए कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नही थे और न हो सकते हैं। दूसरे शब्दोमे, यो कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोको सर्वज्ञ-प्रणीत, सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त—माना जाय तो यह कहना पड़ेगा कि वसुदेवजीने प्रतिकूल आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लघन किया है। ऐसी हालतमे आचार्योद्वारा उनका यशोगान नही होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलङ्कित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नही हुआ और न होना चाहिये था, क्योकि शास्त्रोद्वारा उस समयके मनुष्योकी प्राय. ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजीपर कोई कलङ्क नही आ सकता।

तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकलके सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित

नही हैं ? ऐसा कहने पर आजकलके रीति-रिवाजोको एकदम उठाकर उनके स्थानमे वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा, बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोको कलङ्कित और दोषी भी ठहराना होगा, जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमे वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तक पहुँचे । परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दु साहस मात्र होगा । वह कभी इष्ट नही हो सकता और न युक्ति-युक्त ही प्रतीत होता है । इसलिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञभाषित नही थे । वास्तवमे गृहस्थोका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है —एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक । लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है[1] । विवाह-कर्म गृहस्थोके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है—लौकिक जनोकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके अधीन है—लौकिक जनोकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमे नही रहा करती । वह देश-कालकी आवश्यकताओके अनुसार, कभी पञ्चायतियोके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोके उदाहरणोको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमे प्राय कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है । यही वजह है कि भिन्न-भिन्न देशो, समयो और जातियोके विवाह-विधानोमे बहुत बडा अन्तर पाया जाता है ।

एक समय था जब इसी भारतभूमिपर सगे भाई-बहिन भी

---

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक पारलौकिक. ।
लोकाश्रयो भवेदाद्य. पर. स्यादागमाश्रय. ॥—सोमदेव. ।

परस्पर स्त्री-पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरनेपर उनके लिये नियमसे देवगतिका विधान किया गया है[1]। फिर वह समय भी आया, जब उक्त प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र-तो-गोत्र एक कुटुम्बमे विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नही किन्तु म्लेच्छो तककी कन्याओसे विवाह करना भी अनुचित नही माना गया। साथ ही, मामा-फूफीकी कन्याओसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके वाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोका भी निषेध प्रारम्भ हुआ, उनमे भी दोष निकलने लगे—पापोकी कल्पनाये होने लगी—और वे सब वदलते-वदलते वर्तमानके ढाँचेमे ढल गई। इस अर्सेमे सैकडो नवीन जातियो, उपजातियो और गोत्रोकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना सङ्कीर्ण वन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता वहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही और क्षतिका अनुभव कर रही है—उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी-कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोके चङ्गुलमे फँसकर ससारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्यापर पडी हुई हैं—इससे अब वर्तमान रीति-रिवाजोके विरुद्ध भी आवाज उठनी शुरू हो गई है। समय उनका भी परिवर्तन चाहता है।

सक्षेपमे यदि सम्पूर्ण जगत्के भिन्न-भिन्न देशो, समयो और जातियोके कुछ थोडे-थोडेसे ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाह-विधानोमे हजारो प्रकारके भेद-उपभेद और परिवर्तन

१. यह कथन उस समयका है जबकि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

दृष्टिगोचर होंगे, और इसलिये कहना होगा कि यह सब समय-समयकी ज़रूरतो, देश-देशकी आवश्यकताओ और जाति-जातिके पारस्परिक व्यवहारोका नतीजा है, अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिको न समझकर एक ही स्थानपर खडे रहते हैं और अपनी पोज़ीशन (Position) को नही बदलते—स्थितिको नही सुधारते—वे नि सन्देह काल-चक्रके आघातसे पीडित होते और कुचले जाते हैं अथवा ससारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इस सब कथनसे अथवा इतने ही सकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोंका बहुत कुछ रहस्य समझमें आ सकता है। साथ ही, यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते हैं। ऐसी हालतमे विवाह जैसे लौकिक धर्मों और सासारिक व्यवहारोंके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूँढ-खोज लगाना कि आगममे किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है। कहा भी है—

"ससार-व्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथाऽऽगमः[1] ।"

अर्थात्—ससारका व्यवहार स्वत सिद्ध होनेसे उसके लिये आगमकी जरूरत नही।

वस्तुत आगम-ग्रन्थोमे इस प्रकारके लौकिक धर्मो और लोकाश्रित विधानोका कोई क्रम निर्द्धारित नही होता। वे सब लोकप्रवृत्तिपर अवलम्बित रहते हैं। हाँ, कुछ त्रिवर्णाचारो जैसे अनार्ष ग्रन्थोमे विवाह-विधानोका वर्णन जरूर पाया जाता है। परन्तु वे आगम ग्रन्थ नही हैं—उन्हे आप्त भगवान्के वचन नही कह सकते और न वे आप्तवचनानुसार लिखे गये हैं—इतनेपर

---

१. यह श्रीसोमदेव आचार्य्यका वचन है।

भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेसे बिलकुल ही जाली और बनावटी हैं, जैसा कि 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' और 'भद्रबाहुसंहिता' के परीक्षा-लेखो से प्रगट हैं[1]। वास्तवमे ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ हैं। इनमे प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीति-रिवाजोका उल्लेख मात्र समझना चाहिये, अथवा यो कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्त्ताओको उस प्रकारके रीति-रिवाजोको प्रचलित करना इष्ट था। इससे अधिक उन्हे और कुछ भी महत्त्व नही दिया जासकता—वे आजकल प्रायः इतने ही कामके हैं—एक-देशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होनेसे उनका शासन सार्व-देशिक और सार्वकालिक नही हो सकता। अर्थात्, सर्व देशो और सर्व समयोके मनुष्योके लिये वे समानरूपसे उपयोगी नही हो सकते। और इसलिये केवल उनके आधारपर चलना कभी युक्ति-संगत नही कहला सकता।

विवाह-विषयमे आगमका मूल विधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थाश्रमका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आमतौरपर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी जरूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन-किन सम्बन्धोसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिये अथवा किस तरहपर और किस प्रकारके विधानोके साथ विवाह-कर लानी चाहिये, इन सब बातोमे आगम प्राय. कुछ भी हस्तक्षेप नही करता। ये सब विधान लोकाश्रित हैं, आगमसे इनका प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नही है। यह दूसरी बात है कि आगममे किसी घटना-विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख

---

१. ये सब लेख 'ग्रन्थपरीक्षा' नामसे पहले जैनहितैषी पत्रमे प्रकाशित हुए थे, बादको अलग पुस्तकाकार भी छप गये हैं।

आजाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हे अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय, परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नही बन जाते--ऐसे कोई नियम नही हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्वदेशो और सर्व समयोके मनुष्यो-के लिये बराबर जरूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना जरूर है कि आगमकी दृष्टिमे सिर्फ वे ही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती हैं जो जैन सिद्धान्तोके विरुद्ध न हो, अथवा जिनके कारण जैनियोकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे बाधा न पडती हो और न उनके व्रतोमे ही कोई दूषण लगता हो। इस दृष्टिको सुरक्षित रखते हुए, जैनी लोग प्राय सभी लौकिक विधियोको खुशीसे स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्तमान रीति-रिवाजोमे देशकालानुसार यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं[1]। उनके लिये इसमे कोई बाधक नही है। अस्तु।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीन कालके विवाह-विधानोकी विभिन्नता, उनका देश-कालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोंका रहस्य, इन सब बातोका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमे आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञ-भाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नही हैं कि जिनका परिवर्त्तन न हो सके अथवा जिनमे कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो। हम, अपने सिद्धान्तोका विरोध न करते हुए, देश-काल और जातिकी आव-श्यकताओके अनुसार उन्हे हर वक्त बदल सकते हैं, वे सब हमारे ही कायम किये हुए नियम हैं और इसलिए हमे उनके बदलनेका

---

१. सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि.।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥—सोमदेव।

स्वत. अधिकार प्राप्त है। इन्ही सब बातोको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमे यह लेख लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और विवाहतत्त्वको समझ कर, जिसके समझनेके लिये 'विवाह-समुद्देश्य' नामक निवन्ध[1] भी साथमे पढना विशेष उपकारी होगा, अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजोमे यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होंगे। और इस तरह कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रक्खेंगे।"

लेखके इस अश अथवा शिक्षा-भागसे स्पष्ट है कि लेखका प्रतिपाद्य विषय, आशय और उद्देश्य वह नहीं है जो समालोचकजीने प्रकट किया है—इसमे कही भी यह प्रतिपादन नही किया गया और न ऐसा कोई विधान किया गया है कि गोत्र, जाति-पाति, नीच-ऊँच, भगी, चमार, चाण्डालादिके भेदोको उठा देना चाहिये, उन्हे मेटकर हरएकके साथ विवाह कर लेना चाहिये, चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये, अथवा भगी, चमार आदि नीच मनुष्योके साथ विवाह कर लेनेमे कोई हानि नही है, और न कहीपर यह दिखलाया गया अथवा ऐसी कोई आज्ञा दी गई है कि आजकल अपनी ही वहिन-भतीजीके साथ विवाह करलेनेमे कोई क्षति नही है, अन्य गोत्रकी कन्या न मिलनेपर उसे कर लेना चाहिये—वल्कि वहुत स्पष्ट शब्दोमे वसुदेवजीके समय और इस समयके रीति-रिवाजो—विवाह-विधानोमे—"जमीन आसमानका-सा अन्तर" बतलाते हुए, उन-पर एक खासा विवेचन उपस्थित किया गया है और उसमे

१ यह निवन्ध अव युगवीर-निवन्धावली प्रथम खण्डमे प्रकाशित हो गया है।

रीति-रिवाजोकी स्थिति, उनके देशकालानुसार परिवर्तन तथा लौकिक धर्मोंके रहस्यको सूचित किया गया है। साथ ही, यह बतलाया गया है कि "वर्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञ-भापित ऐसे अटल सिद्धान्त नही है कि जिनका परिवर्तन न हो सके अथवा जिनमे कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूब जानेका कोई भय हो, हम अपने सिद्धान्तोका विरोध न करते हुए देश-काल और जातिकी आवश्यकताओके अनुसार उन्हे हर वक्त वदल सकते हैं, वे सब हमारे ही कायम किये हुए नियम हैं और इसलिये हमें उनके वदलनेका स्वत. अधिकार प्राप्त है।" परन्तु उनमे क्या कुछ परिवर्तन अथवा तवदीली होनी चाहिये, इसपर लेखकने अपनी कोई राय नही दी। सिर्फ इतना ही सूचित किया है कि वह परिवर्तन (फेरफार) "यथोचित" होना चाहिये, और 'यथोचित' की परिभापा वही हो सकती है जिसे "आगमकी दृष्टि" वतलाया गया है और जिसे सुरक्षित रखते हुए परिवर्तन करनेकी प्रेरणा की गई है।

इसके सिवाय, वसुदेवजीके समयके विवाह-विधानोकी इस समयके लिये कहीपर भी कोई हिमायत नही की गई, वल्कि "ऐसा नही है" इत्यादि शव्दोके द्वारा उनके विपयमे यह स्पष्ट घोपित किया गया है कि वे आजकल स्थिर नही हैं और न उस उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं जिससे कि वे उस समय देखे जाते थे और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नही थे और न हो सकते हैं। जो लोग वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाजोको सर्वज्ञप्रणीत और वर्तमान रीति-रिवाजोको असर्वज्ञभाषित कहते हो और इस तरह अपने उन पूर्वजोको कलकित तथा दोपी ठहराते हो जिनके

कारण वसुदेवजीके समयके वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमे वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए, उन्हे लक्ष्य करके साफ लिखा गया है कि उनका "ऐसा कहना और ठहराना दु साहस मात्र होगा, वह कभी इष्ट नही हो सकता और न युक्ति-युक्त ही प्रतीत होता है ।" इससे लेखमे वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाजोकी कोई खास हिमायत नही की गई, यह और भी स्पष्ट हो जाता है । केवल प्राचीन और अर्वाचीन रीति-रिवाजोमे बहुत वडे अन्तरको दिखलाने, उसे दिखलाकर, रीति-रिवाजोकी असलियत, उनकी परिवर्तनशीलता और लौकिक धर्मोके रहस्यपर एक अच्छा विवेचन उपस्थित करने और उसके द्वारा वर्त्तमान रीति-रिवाजोमे यथोचित परिवर्तनको समुचित ठहरानेके लिये ही वसुदेवजीके उदाहरणमे उनके जीवनकी इन चार घटनाओको चुना गया था । इससे अधिक लेखमे उनका और कुछ भी उपयोग नही था । और इसीसे लेखके अन्तमे लिखा गया था कि—

"इन्ही सब बातोको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमे यह लेख लिखा गया है ।"

लेखकी ऐसी स्पष्ट हालतमे पाठक स्वय समझ सकते हैं कि समालोचकजीने अपने उक्त वाक्यो और उन्ही जैसे दूसरे वाक्यो-द्वारा भी पुस्तकके जिस आशय, उद्देश्य अथवा प्रतिपाद्य विषयकी घोषणा की है वह पुस्तकसे बाहरकी चीज है—प्रकृत लेखसे उसका कोई सम्बन्ध नही है—और इसलिये उसे समालोचक द्वारा परिकल्पित अथवा उन्हीकी मन प्रसूत समझना चाहिये । जान पडता है वे अपनी नासमझीसे अथवा किसी तीव्र कषायके वशवर्ती होकर ही ऐसा करनेमे प्रवृत्त हुए हैं । परन्तु किसी भी

कारणसे सही, इसमे सदेह नही कि उन्होने ऐसा करके समालोचकके कर्त्तव्यका निर्वाह नही किया है। समालोचकका यह धर्म नही है कि वह अपनी तरफसे कुछ वाते खडी करके उन्हे समालोच्य पुस्तककी वाते प्रकट करे, उनके आधारपर अपनी समालोचनाका रग जमाए और इस तरह पाठको तथा सर्वसाधारणको धोखेमे डाले। समालोचकका कर्त्तव्य है कि पुस्तकमे जो वात जिस रूपसे कही गई है उसे प्राय. उसी रूपमे पाठकोके सामने रक्खे और फिर उसके गुण-दोपोपर चाहे जितना विवेचन उपस्थित करे, उसे समालोच्य पुस्तककी सीमाके भीतर रहना चाहिये—उससे वाहर कदापि नही जाना चाहिये—उसका यह अधिकार नही है कि जो वात पुस्तकमे विधि या निपेध रूपसे कही भी नही कही गई उसकी भी समालोचना करे अथवा पुस्तकसे घृणा उत्पन्न करानेके लिये पुस्तकके नामपर उसका स्वय प्रयोग करे—उसे एक हथियार बनाए। भगी, चमार और चाडालका नाम तक भी पुस्तकमे कही नही है, फिर भी पुस्तकके नामपर उनके विवाह की जो वात कही गई है वह ऐसी ही घृणोत्पादक दृष्टि अथवा अनधिकार चेप्टाका फल है। भूमिकामे एक वाक्य "वावू जुगलकिशोरजीके लिखे अनुसार" इन शव्दोके अनन्तर निम्न प्रकारसे डवल कामाजके भीतर दिया है और इस तरह उसे लेखकका वाक्य प्रकट किया है—

"गृहस्थके लिये स्त्रीकी जरूरत होनेके कारण चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये।"

परन्तु समालोच्य पुस्तकमे यह वाक्य कही पर भी नही है, और न लेखककी किसी दूसरी पुस्तक अथवा लेखमे ही पाया जाता है, और इसलिये इसे समालोचकजीकी सत्यवादिता और

अकूटलेखकताका एक दूसरा नमूना समझना चाहिये । जान पड़ता है आप ऐसे ही सत्यके अनुयायी अथवा भक्त हैं । और इसीलिये दूसरोका नग्न सत्य भी आपको सर्वथा मिथ्या और सफेद झूठ नजर आता है ।

यह तो हुई पहले लेखके शिक्षाशकी बात, अब दूसरे लेखके शिक्षाशको लीजिये ।

द्वितीय लेखका उद्देश्य और उसका स्पष्टीकरण

समालोचकजीने पहले लेखके उदाहरणाशोको जिस प्रकार अपनी समालोचनामे उद्धृत किया है उस प्रकारसे दूसरे लेखके उदाहरणाशको उद्धृत नही किया और इसलिये यहाँ पर इस दूसरे छोटे-से लेखको पूरा उद्धृत कर देना ही ज्यादा उचित मालूम होता है, और वह इस प्रकार है :—

"हरिवंशपुराणादि जैनकथाग्रन्थोमे **चारुदत्त** सेठकी एक प्रसिद्ध कथा है । यह सेठ जिस वेश्यापर आसक्त होकर वर्षोंतक उसके घरपर, बिना किसी भोजन-पानादि-सम्बन्धी भेदके, एकत्र रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी सम्पूर्ण धन-सपत्तिको भी गँवा बैठा था उसका नाम **'वसन्तसेना'** था । इस वेश्याकी माताने, जिस समय धनाभावके कारण **चारुदत्त** सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जनके लिये विदेश चला गया उस समय **वसन्तसेनाने**, अपनी माताके बहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना सबध जोडना उचित नही समझा और तब वह अपनी माताके घरका ही परित्याग कर **चारुदत्तके** पीछे उसके घरपर चली गई ।

चारुदत्तके कुटुम्बियोने भी **वसन्तसेनाको** आश्रय देनेमे कोई आना-कानी नही की । **वसन्तसेनाने** उनके समुदार आश्रयमे

रहकर एक आर्यिकाके पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी नीच परिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई, और वह चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई नि सकोच भावसे उनके घरपर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धन-सम्पत्तिका स्वामी बनकर विदेशसे अपने घरपर वापिस आया और उसे वसन्तसेनाके स्वगृहपर रहने आदिका हाल मालूम हुआ तब उसने बडे हर्पके साथ वसन्तसेनाको अपनाया—उसे अपनी स्त्रीरूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्य पर—एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको खुल्लमखुल्ला घरमे डाल लेनेके अपराध-पर—उस समयकी जाति-बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नही किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया। वह श्रीनेमिनाथ भगवानके चचा वसुदेवजी-जैसे प्रतिष्ठित पुरुपोसे भी प्रशसित और सम्मानित रहा। और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह अन्तको उसके दिगम्बर मुनि तक होनेमे भी कुछ बाधक न हो सकी। इस तरह एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्व्यवहारके कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियोको अपने उद्धारका अवसर मिला।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण-कर सकते हैं जो अपने अनुदार विचारोके कारण जरा-जरा-सी बातपर अपने जाति-भाइयोको जातिसे च्युत करके—उनके धार्मिक अधिकारोमे भी हस्तक्षेप करके—उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरह अपनी जातीय तथा सघशक्तिको निर्बल और नि सत्त्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोको सघशक्तिका

रहस्य जानना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकारसे हो सकती है। यदि उस समयकी जाति-बिरादरी उक्त दोनो व्यसनासक्त व्यक्तियोको अपनेमे आश्रय न देकर उन्हे अपनेसे पृथक् कर देती, घृणाकी दृष्टिसे देखती और इस प्रकार उन्हे सुधरनेका कोई अवसर न देती तो अन्तमे उक्त दोनो व्यक्तियोका जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता। अत ऐसे अवसरोपर जाति-बिरादरीके लोगोको सोच-समझकर, बडी दूरदर्शिताके साथ काम करना चाहिये। यदि वे पतितोका स्वय उद्धार नही कर सकते तो उन्हे कम-से-कम पतितोके उद्धारमे बाधक तो न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित-जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ।"

पाठक-जन देखे और खूब गौरसे देखें, यही वह लेख है जिसकी बाबत समालोचकजीने प्रकट किया है कि उसमे खूब ही वेश्यागमनकी शिक्षा दी गई और सबको उसका खुल्लम-खुल्ला उपदेश दिया गया है, अथवा उसके द्वारा वेश्या तकको घरमे डालनेकी प्रवृत्ति चलाना चाहा गया है। वेश्यागमनकी खूब ही शिक्षा और उपदेश देना तो दूर रहा, लेखमे एक भी शब्द ऐसा नही है जिसके द्वारा वेश्यागमनका अनुमोदन या अभिनदन किया गया हो अथवा उसे शुभकर्म बतलाया गया हो। प्रत्युत इसके, चारुदत्त और उस वेश्याको "दो व्यसनासक्त व्यक्ति" तथा "पतित-जन" सूचित किया है, वेश्याको "नीच स्त्री" और उसकी पूर्व परिणतिको (१२ व्रतोके ग्रहणसे पहले वेश्याजीवनकी अवस्थाको) "नीच परिणति" बतलाया है और एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको खुल्लमखुल्ला घरमे डाल लेनेके

कर्मको "अपराध" शब्दसे अभिहित किया है। साथ ही, उदाहरणांश और शिक्षांशमे दिये हुए दो वाक्यो द्वारा यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि उक्त दोनो व्यसनासक्त व्यक्ति अपने उद्धारसे पहले पतित-दशामे थे, बिगडे हुए थे और उनका जीवन अधार्मिक था, एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्-व्यवहारके कारण उन्हे अपने 'उद्धार' तथा 'सुधार' का अवसर मिला और उनका जीवन अन्तमे 'धार्मिक' बन गया।

इतने पर भी समालोचकजी उक्त लेखमे वेश्यागमनके महोपदेशका स्वप्न देख रहे हैं और एक ऐसे व्यक्तिपर वेश्यागमनका उपदेश देकर अपनी हवस पूरी करनेका मिथ्या आरोप (इलजाम) लगा रहे हैं जो २५ वर्षसे भी पहलेसे वेश्याओके नृत्य देखने तकका त्यागी है—उसके लिये प्रतिज्ञाबद्ध है—और ऐसे विवाहोमे शामिल नही होता जिनमे वेश्याएँ नचाई जाती हो। समालोचकजीकी इस बुद्धि, परिणति, सत्यवादिता और समालोचकीय कर्त्तव्य-पालनकी नि सन्देह बलिहारी है। जान पडता है आप एकदम ही बहक उठे हैं और उचितानुचितको भूल गये हैं।

रही वेश्याको घरमे डालनेकी प्रवृत्ति चलानेकी बात। यद्यपि किसी घटनाका केवल उल्लेख करनेसे ही यह लाजिमी नही होता कि उसका लेखक वैसी प्रवृत्ति चलाना चाहता है, तथापि उस उल्लेखमात्रसे ही यदि वैसी प्रवृत्तिकी इच्छाका होना लाजिमी मान लिया जाय तो समालोचकजीको कहना होगा कि श्रीजिनसेनाचार्यने एक मनुष्यके जीते-जी उसकी स्त्रीको घरमे डाल लेनेकी, दूसरेकी कन्याको हर लानेकी और वेश्यासे विवाह कर लेनेकी भी प्रवृत्तिको चलाना चाहा है, क्योकि उन्होने अपने

हरिवंशपुराणमे ऐसा उल्लेख किया है कि राजा सुमुखने वीरक सेठके जीते-जी उसकी स्त्री 'वनमाला' को अपने घरमे डाल लिया था, कृष्णजी रुक्मिणीको हर कर लाये थे, और अमोघदर्शन राजाके पुत्र चारुचन्द्रने 'कामपताका' नामकी वेश्याके साथ अपना विवाह किया था। यदि सचमुच ही इन घटनाओके उल्लेखमात्रसे श्रीजिनसेनाचार्य, समालोचकजीकी समझके अनुसार, वैसी इच्छा-के अपराधी ठहरते हैं तो लेखक भी जरूर अपराधी है और उसे अपने उस अपराधके लिये जरा भी चिन्ता तथा पश्चात्ताप करनेकी जरूरत नही है। और यदि समालोचकजी जिनसेनाचार्य-पर अथवा उन्ही जैसे उल्लेख करनेवाले और भी कितने ही आचार्यों तथा विद्वानोपर वैसी प्रवृत्ति चलानेका आरोप लगानेके लिये तैयार नही हैं—उसे अनुचित समझते हैं—तो लेखकपर उनका वैसा आरोप लगाना किसी तरह भी न्याय-सगत नही हो सकता। वास्तवमे यह लेख न तो वैसे किसी आशय या उद्देश्यसे लिखा गया है और न उसके किसी शब्दपरसे ही वैसा आशय या उद्देश्य व्यक्त होता है जैसा कि समालोचकजीने प्रकट किया है। लेखका स्पष्ट उद्देश्य उसके शिक्षाशमे बहुत थोडे-से जँचे-तुले शब्दो द्वारा सूचित किया गया है, और उनपरसे हर एक विचारशील यह नतीजा निकाल सकता है कि वह जाति-बिरा-दरीके आधुनिक दण्ड-विधानोको लक्ष्य करके लिखा गया है।

जाति-पंचायतोंका दण्ड-विधान

आजकल, हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारोंके कारण जरा-जरा-सी बातपर अपने जाति-भाइयोको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज करके उनके धार्मिक अधिकारोमे भी हस्तक्षेप करके—उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरहसे

अपनी जातीय तथा सघशक्तिको निर्बल और नि सत्त्व बना-कर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोको बुलानेके लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोको **चारुदत्त**के इस उदाहरण-द्वारा यह चेतावनी दी गई है कि वे दण्ड-विधानके ऐसे अवसरोंपर बहुत ही सोच-समझ, गहरे विचार तथा दूरदर्शितासे काम लिया करें। यदि वे पतितोका स्वय उद्धार नही कर सकते तो उन्हे कम-से-कम पतितोके उद्धारमे बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित-जन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायँ। किसी पतित भाईके उद्धारकी चिन्ता न करके उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोको भी छीन लेना ऐसा ही कर्म है जिससे वह पतित भाई, अपने सुधारका अवसर न पाकर, और भी ज्यादा पतित हो जाय, अथवा यो कहिये कि वह डूबतेको ठोकर मार-कर शीघ्र डुबो देनेके समान है। तिरस्कारसे प्राय कभी किसी-का सुधार नही होता, उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ हो जाता हैं और तिरस्कारीके प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ जाती है जो जन्म-जन्मान्तरोमें अनेक दु खो तथा कष्टोका कारण होती हुई दोनोके उन्नति-पथमे बाधा उपस्थित कर देती है।

हाँ, सुधार होता है प्रेम, उपकार और सद्व्यवहार से। यदि **चारुदत्त**के कुटुम्बीजन, अपने इन गुणो और उदार परि-णतिके कारण, **वसन्तसेनाको चारुदत्त**के पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते, बल्कि यह कहकर दुत्कार देते कि 'इस पापिनीने हमारे **चारुदत्त**का सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नही देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वारपर खडे ही होने देना चाहिये,'

तो बहुत सभव था कि वह निराश्रित दशामे अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्तिके लिये मजबूर होती और तब उसका वह सुन्दर श्राविकाका जीवन न बन पाता जो उन लोगोके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका है। इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहारको अपनाना चाहिये, उसकी नितान्त आवश्यकता है। पापी-से-पापीका भी सुधार हो सकता है, परन्तु सुधारक होना चाहिये। ऐसा कोई भी पुरुष नही है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो, परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगानेवाला अथवा उसकी योग्यतासे काम लेनेवाला 'योजक' होना चाहिये। उसीका मिलना कठिन है। इसीसे नीतिकारोने कहा है—

"अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः।"

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह उसके व्यक्तित्वके प्रति भारी घृणा और तिरस्कारके भावको प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये, वह स्वय उसका सुधार करनेके लिये असमर्थ है, अयोग्य है और उसमे योजक-शक्ति नही है। साथ ही, इस कृतिके द्वारा वह सर्व-साधारणमे अपनी उस अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है, इतना ही नही बल्कि अपनी स्वार्थ साधनाको भी प्रकट कर रही है। ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका, जो अपनेको थाम भी नही सकती, क्रमश. पतन होना कुछ भी अस्वाभाविक नही है। पापीका सुधार वही कर सकता है जो पापीके व्यक्तित्व-से घृणा नही करता, बल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करनेवाला पापीके पास नही फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोके बीचमे मीलोकी दूरी हो जाती है, इससे वह

पापीका कभी कुछ सुधार या उपकार नही कर सकता। प्रत्युत इसके, जो पापसे घृणा नही करता है वह सद्वैद्यकी तरह हमेशा पापी (रोगी) के निकट होता है, और बराबर उसके पापरोग-को दूर करनेका यत्न करता रहता है। यही दोनोमे भारी अन्तर है।

आजकल अधिकाश जन पापसे तो घृणा नही करते, परन्तु पापीसे घृणाका भाव जरूर दिखलाते हैं अथवा घृणा करते हैं। इसीसे ससारमे पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और उसकी शाति होनेमें नही आती। बहुधा जाति-बिरादरियो अथवा पचायतोकी प्राय ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति-भाइयोको पापकर्मसे तो नही रोकती और न उनके मार्गमे कोई अर्गला ही उपस्थित करती हैं, बल्कि यह कहती हैं कि 'तुम सिंगिल (इकहरा) पाप मत करो बल्कि डबल (दोहरा) पाप करो—डबल पाप करनेसे तुम्हे कोई दण्ड नही मिलेगा, परन्तु सिंगिल पाप करनेपर तुम जातिसे खारिज कर दिये जाओगे।' अर्थात्, वे अपने व्यवहारसे उन्हे यह शिक्षा दे रही हैं कि 'तुम चाहे जितना बडा पाप करो, हम तुम्हे पाप करनेसे नही रोकती, परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नही किया—पापको छिपाकर करो और उसे छिपानेके लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य भाषणादि दूसरा पाप करना पडे उसकी तुम्हे छूट है—तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो, परन्तु वह स्थूल रूपमे किसीपर जाहिर न हो, भले ही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमे किसी स्त्रीको रख लो, परन्तु उसके साथ विवाह मत करो, और यदि तुम्हारे फेल (कर्म) से किसी विधवाको गर्भ रह जाय तो खुशीसे उसकी भ्रूणहत्या कर डालो

अथवा बालकको प्रसव कराकर उसे कही जगल आदिमे डाल आओ या मार डालो, परन्तु खुले रूपमे जाति-बिरादरीके सामने यह बात न आने दो कि तुमने उस विधवाके साथ सम्बन्ध किया है, इसीमे तुम्हारी खैर है—मुक्ति है—और नही तो जातिसे खारिज कर दिये जाओगे ।' जाति-बिरादरियो अथवा पचायतो-की ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आजकल भारतवर्षका और उसमे भी उच्च कहलानेवाली जातियोका बहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो रहा है । ऐसी हालतमे पापियोका सुधार और पतितोका उद्धार कौन करे, यह एक बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है ।

एक बात और भी नोट किये जानेके योग्य है और वह यह कि यदि कोई मनुष्य ,पाप-कर्म करके पतित होता है तो उसके लिये इस बातकी खास जरूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिये अधिक धर्म करे, उसे ज्यादा धर्मकी ओर लगाया जाय और अधिक धर्म करनेका मौका दिया जाय, परन्तु आजकल कुछ जैन-जातियो और जैन-पचायतोकी ऐसी उलटी रीति पाई जाती हे कि वे ऐसे लोगोको धर्म करनेसे रोकती हैं—उन्हे जिनमन्दिरोमे जाने नही देती अथवा वीतराग भगवानकी पूजा-प्रक्षालन नही करने देती और-और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारोपर खडी कर देती हैं । समझमे नही आता यह कैसी पापोसे घृणा और धर्मसे प्रीति अथवा पतितोके उद्धार-की इच्छा है !! और किसी बिरादरी या पचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोमे हस्तक्षेप करनेका क्या अधिकार है !!

जैनियोमे 'अविरत-सम्यग्दृष्टि' का भी एक दर्जा (चतुर्थ गुणस्थान) है, और अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जो

इद्रियोके विषयों तथा त्रस-स्थावर जीवोकी हिंसासे विरक्त नही होता—अथवा यों कहिये कि इद्रिय-सयम और प्राणि-सयम नामक दोनो सयमोमेसे किसी भी सयमका धारक नही होता—परन्तु जिनेन्द्र भगवानके वचनोमे श्रद्धा जरूर रखता है[1]। ऐसे लोग भी जब जैन होते हैं और सिद्धान्तत जैनमन्दिरोमें जाने तथा जिनपूजनादि करनेके अधिकारी हैं[2] तब एक श्रावकसे, जो जैनधर्मका श्रद्धानी है, चारित्रमोहिनीय कर्मके तीव्र उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत-सम्यग्दृष्टिसे और ज्यादा क्या खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे मन्दिरमे जाने आदिसे रोका जाता है। जान पडता है इस प्रकारके दड-विधान केवल नासमझी और पारस्परिक कषाय भावोसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्यथा, जैनधर्ममे तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चाडालपुत्रको भी 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है—और उसे उस अगारके सदृश प्रतिपादन किया है जो बाह्यमे भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अन्तरगमे तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नही होता[3]। इसीसे बहुत प्राचीन समयमे, जब कि जैनियोका हृदय

---

१. णो इदयेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्त सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥—गोम्मटसार

२ जिनपूजाके कौन-कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजाधिकार मीमांसा' से जानना चाहिये। (देखो, इस निबन्धावलीका प्रथमखण्ड)

३. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्।
देवा देव विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥
—रत्नकरण्डक, स्वामिसमन्तभद्र

सच्ची धर्मभावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रच्छायाके नीचे सभी लोग एकत्र होते थे, मातग (चाण्डाल) भी जैनमदिरोमे जाया करते थे और भगवानका दर्शन-पूजन करके अपना जन्म सफल किया करते थे। इस विषयका एक अच्छा उल्लेख श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणमे पाया जाता है जो इस प्रकार है :

सस्त्रीका. खेचरा याता' सिद्धकूटजिनालयम् ।
एकदा वदितु सोऽपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम् ।
तस्थुः स्तंभानुपाश्रित्य वहुवेपा यथायथम् ॥ ३ ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तभमाश्रितः ।
कृतपूजास्थित. श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृत' ॥ ४ ॥
पृष्ट्या वसुदेवेन ततो मदनवेगया ।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिताः ॥ ५ ॥
अमी विद्याधरा ह्यार्या' समासेन समीरिता' ।
मातगानामपि स्वामिन्निकायान् शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥
नीलांवुदचयश्यामा नीलांवरवरस्रज ।
अमी मातंगनामानो मातगस्तभसंगताः ॥ १५ ॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणुविधूसरा' ।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तंभमाश्रिता' ॥ १६ ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयत्यंवराणि ये ।
पाण्डुरस्तभमेत्यामी स्थिताः पाण्डुकखेचराः ॥ १७ ॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्वरस्रजः ।
कानीलस्तंभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥ १८ ॥
पिंगलैर्मूर्ध्वजैर्युक्तास्तप्तकांचनभूपणाः ।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रितास्तभं श्वपाकिनः ॥ १९ ॥

पत्रपर्णांशुकच्छन्न-विचित्रमुकुटस्रजः ।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वत स्तंभमाश्रिताः ॥ २० ॥

वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वशस्तंभाश्रिताश्चैते खेटा वशालया मताः ॥ २१ ॥

महाभुजगशोभांकसद्दष्टवरभूपणाः ।
वृक्षमूलमहास्तभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः ॥ २२ ॥

स्ववेषकृतसचाराः स्वचिह्नकृतभूषणाः ।
समासेन समाख्याता निकाया खचरोद्गताः ॥ २३ ॥

इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तर. ।
शौरिर्यातो निज स्थानं खेचराश्च यथायथम्" ॥ २४ ॥

—२६ वॉ सर्ग ।

इन पद्योका अनुवाद प० गजाधरलालजीने, अपने भाषा हरिवंशपुराणमे,[1] निम्न प्रकार दिया है

"एकदिन समस्त विद्याधर अपनी-अपनी स्त्रियोके साथ सिद्धकूट चैत्यालयकी वदनार्थ गये। कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदनवेगाके साथ चल दिये ॥२॥ सिद्धकूटपर जाकर चित्र-विचित्र वेपोके धारण करनेवाले विद्याधरोने सानन्द भगवानकी पूजा की, चैत्यालयको नमस्कार किया एव अपने-अपने स्तम्भोका सहारा ले जुदे-जुदे स्थानोपर बैठ गये ॥३॥ कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजा की और अपनी गौरी-विद्याओं-के स्तभका सहारा ले बैठ गये ॥४॥ कुमारको विद्याधरोकी जातिके जाननेकी उत्कठा हुई इसलिये उन्होंने उनके विपयमे

१ देखो, इस हरिवशपुराणका सन् १९१६ का छपा हुआ सस्करण, पृष्ठ २८४, २८५ ।

प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरोकी जातियोका इस प्रकार वर्णन करने लगी—

"प्रभो। ये जितने विद्याधर हैं वे सब आर्यजातिके विद्याधर हैं। अब मैं मातग [अनार्य] जातिके विद्याधरोको बतलाती हूँ। आप ध्यानपूर्वक सुनें—

"नील मेघके समान श्याम नीली माला धारण किये मातग स्तभके सहारे बैठे हुए ये मातग जातिके विद्याधर हैं ॥१४-१५॥ मुर्दोकी हड्डियो के भूषणोसे भूपित भस्म (राख) की रेणुओसे मटमैले और श्मशान [स्तभ] के सहारे बैठे हुए ये श्मशान जातिके विद्याधर हैं ॥१६॥ वैडूर्यमणिके समान नीले-नीले वस्त्रो-को धारण किये पांडुर स्तभके सहारे बैठे हुए ये पाडुक जातिके विद्याधर हैं ॥१७॥ काले-काले मृगचर्मोको ओढ़े, काले चमडेके वस्त्र और मालाओको धारे कालस्तभका आश्रय ले बैठे हुए ये काल-श्वपाकी जातिके विद्याधर हैं ॥१८॥ पीले वर्णके केशोसे भूपित, तप्त-सुवर्णके भूपणोके धारक श्वपाक विद्याओके स्तभके सहारे बैठनेवाले ये श्वपाक जातिके विद्याधर हैं ॥१९॥ वृक्षोके पत्तो-के समान हरे वस्त्रोके धारण करनेवाले, भांति-भांतिके मुकुट और मालाओके धारक, पर्वत-स्तभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्व-तेय जातिके विद्याधर हैं ॥२०॥ जिनके भूपण बाँसके पत्तोके बने हुए हैं, जो सब ऋतुओके फूलोकी माला पहिने हुए हैं और वश-स्तभके सहारे बैठे हुए हैं वे वशालय जातिके विद्याधर हैं ॥२१॥ महासर्पके चिह्नोसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोको धारण करनेवाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलक जातिके विद्याधर हैं ॥२२॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा द्वारा अपने-अपने वेष और चिह्नयुक्त भूषणोसे विद्याधरोका भेद जान

कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थान वापिस चले आये एव अन्य विद्याधर भी अपने-अपने स्थान चले गये ॥२३-२४॥"

इस उल्लेखपरसे इतना ही स्पष्ट मालूम नही होता कि मातग जातियोके चाण्डाल लोग भी जैनमदिरमे जाते और पूजन करते थे, बल्कि यह भी मालूम होता है कि स्मशानभूमिकी हड्डियोके आभूपण पहने हुए, वहाँकी राख बदनसे मले हुए, तथा मृगछाला ओढे, चमडेके वस्त्र पहने और चमडेकी मालाएँ हाथमे लिये हुए भी जैनमदिरमे जा सकते थे[1], और न केवल जा ही सकते थे, बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके लिए स्थान भी नियत थे, जिससे उनका जैनमदिरमे जानेका और भी ज्यादा नियत अधिकार पाया जाता है[2]। जान पड़ता है उस समय सिद्धकूट-जिनालयमे, प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बडा विशाल मडप होगा और उसमे स्तम्भोके विभागसे सभी आर्य-अनार्य जातियोके लोगोके बैठनेके लिए जुदा-जुदा स्थान नियत कर रखा गया होगा। आजकल जैनियोमे उक्त सिद्धकूट-जिनालयके ढगका—

---

१ यहाँ इस उल्लेखपरसे किसीको यह समझनेकी भूल न करनी चाहिये कि लेखक आजकल ऐसे अपवित्र वेषमें जैन-मदिरोंमें जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

२ श्री जिनसेनाचार्य ने, ९ वीं शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी, ऐसे लोगोंका जैनमदिर में जाना आदि आपत्तिके योग्य नही ठहराया और न उससे मदिरके अपवित्र होजानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनदन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा ?

उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला—एक भी जैनमन्दिर नही है[1]। लोगोने बहुधा जैनमन्दिरोको देव-सम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हे अपनी ही चहल-पहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है, वे प्राय: उन महौदार्य-सम्पन्न लोकपिता वीतराग भगवानके मन्दिर नही जान पडते, जिनके समवसरणमे पशु तक भी जाकर बैठते थे, और न वहाँ, मूर्तिको छोडकर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, औदार्य तथा साम्यभावादि गुणोका कही कोई आदर्श ही नजर आता है। इसीसे वे लोग उनमे चाहे जिस जैनीको आने देते हैं और चाहे जिसको नही। कई ऐसे जैनमन्दिर भी देखनेमे आये हैं जिनमे ऊनी वस्त्र पहने हुए जैनियोको घुसने भी नही दिया जाता। इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कही कुछ ठिकाना है। ऐसे सब लोगोको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोके धर्म-साधनमे विघ्न करना—बाधक होना—, उनका मन्दिर जाना बन्द करके उन्हे देवदर्शन आदिसे विमुख रखना, और इस तरहसे उनकी आत्मोन्नतिके कार्यमे रुकावट डालना बडा भारी पाप है।

अजना सुन्दरीने अपने पूर्वजन्ममे थोड़े ही कालके लिए, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन-पूजनमे अन्तराय डाला था, जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको

---

१ चाँदनपुर महावीरजीके मन्दिरमे तो वर्ष भरमें दो-एक दिनके लिये यह हवा आ जाती है कि सभी ऊँच-नीच जातियोके लोग विना किसी रुकावटके अपने प्राकृत वेषमे—जूते पहने और चमडे के डोल आदि चीजें लिये हुए वहाँ चले जाते हैं और अपनी भक्तिके अनुसार दर्शन-पूजन तथा परिक्रमण करके वापिस आते हैं।

अपने इस जन्ममे २२ वर्ष तक पतिका दु सह वियोग सहना पडा और अनेक सकट तथा आपदाओका सामना करना पडा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्यकृत 'पद्मपुराण' के देखनेसे मालूम हो सकता है। 'रयणसार' ग्रन्थके निम्न वाक्यमे यह स्पष्ट वतलाया गया है कि—'दूसरोके पूजन और दान-कार्यमे अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्म-जन्मान्तरमे क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगदर, जलोदर, नेत्रपीडा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत-उष्ण (सरदी-गर्मी) के आताप और (कुयोनियोमे) परिभ्रमण आदि अनेक दु खोकी प्राप्ति होती है—

खयकुट्टसूलमूलो लोयभगदरजलोदरक्खिसिरो-
सीदुण्हवह्यराई पूजादाणतरायकम्मफल ॥३३॥

इसलिए जो कोई जाति-विरादरी अथवा पचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमे न जाने अथवा जिनपूजादि धर्म-कार्योसे वचित रखनेका दण्ड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लघन ही नही करती, बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वय अपराधिनी वनती है। ऐसी जाति-विरादरियोके पचोकी निरकुशताके विरुद्ध आवाज उठानेकी जरूरत है और उसका वातावरण ऐसे ही लेखो-के द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन-पचायतोने 'जाति-वहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको, जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमे ले रक्खा है और बिना उसका प्रयोग जाने तथा अपने वलादिक और देशकालकी स्थितिको समझे, जहाँ-तहाँ, यद्वातद्वा रूपमे उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बडा ही भयकर तथा हानिकारक है। इस विषयमे श्रीसोमदेवसूरि अपने 'यशस्तिलक' ग्रन्थ[1] मे लिखते हैं —

[1] यह ग्रथ शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) में वनकर समाप्त हुआ है।

नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् ।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥
यतः समयकार्यार्थो नानापचजनाश्रयः ।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नरः ।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥

इन पद्योका आशय इस प्रकार है —

'ऐसे-ऐसे नवीन मनुष्योसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये, जो सदिग्धनिर्वाह हैं—जिनके विषयमे यह सदेह है कि वे जातिके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान् जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है? चूँकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्म-कार्योंका प्रयोजन नाना पचजनोंके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है—अत समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमे लगाना चाहिये—जातिसे पृथक् न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वान्की—उपेक्षा की जाती है—उसे जातिमे रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे पृथक् किया जाता है—तो उस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पडता है। तत्त्वसे दूर जा पडनेके कारण उसका ससार बढ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है—अर्थात्, समाजके साथ-साथ धर्मको भी भारी हानि उठानी पडती है, उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नही हो पाता।'

आचार्य महोदयने अपने वाक्यो-द्वारा जैन जातियो और पंचायतोको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। जब-जब इस प्रकारके सदुपदेशो और सत्परामर्शोंपर ध्यान दिया

गया है तव-तव जैन-समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछ-से-कुछ होती रही है—इसमे अच्छे-अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए, और जैनियोने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमे यथेष्ट प्रगति की—'परन्तु जवसे उन उपदेशो तथा परामर्शोंकी उपेक्षाकी गई तभीसे जैन-समाजका पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतितावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धिकी प्राय सभी बातें स्वप्न-जैसी मालूम होती हैं, और यदि कुछ पुरातत्त्वज्ञो अथवा ऐतिहासिक विद्वानो-द्वारा थोडा-सा प्रकाश न डाला जाता तो उनपर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था। ऐसी हालतमे, अव जरूरत है कि जैनियोकी प्रत्येक जातिमे ऐसे वीर पुरुप पैदा हो अथवा खडे हो जो वडे ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पचो तथा मुखियाओको उनके कर्त्तव्यका ज्ञान कराएं और उनकी समाज-हित-विरोधनी निरकुश प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होनेपर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमे फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन वह सकेगा, जिसका वहना अव वद हो रहा है और उसके कारण समाजका सास घुट रहा है।

समाजके दड-विधान और उसके परिणाम-विपयक इन्ही सव वातोको थोडे-से सूत्र-वाक्यो-द्वारा सुझाने अथवा उनका सकेतमात्र करनेके उद्देश्यसे ही यह चारुदत्तवाला लेख लिखा गया था।

समालोचकजीको यदि इन सव वातोका कुछ भी ध्यान होता तो वे ऐसे सदुद्देश्यसे लिखे हुए इस लेखके विरोधमें जरा भी लेखनी न उठाते। आशा है लेखोद्देश्यके इस स्पष्टीकरणसे उनका वहुत कुछ समाधान हो जायगा और उनके-द्वारा सर्वसाधारणमे जो भ्रम फैलाया गया है वह दूर हो सकेगा।

वेश्याओंसे विवाह

पुस्तकके आशय-उद्देश्यका विवेचन और स्पष्टीकरण करने आदिके बाद अब मैं उदाहरणोकी उन बातोपर विचार करता हूँ, जिनपर समालोचनामे आक्षेप किया गया है, और सबसे पहले इस चारुदत्तवाले उदाहरणको ही लेता हूँ। यही पहले लिखा भी गया था, जैसा कि शुरूमे जाहिर किया जा चुका है। समालोचकजीने जो इसे वसुदेवजीवाले उदाहरणके बाद लिखा बतलाया है वह उनकी भूल है।

इस उदाहरणमे सिर्फ दो बातोपर आपत्ति की गई है। एक तो वसतसेना वेश्याको अपनी स्त्रीरूपसे स्वीकृत करने अथवा खुल्लम-खुल्ला घरमे डाल लेनेपर, और दूसरी इस बातपर कि चारुदत्तके साथ कोई घृणाका व्यवहार नही किया गया। इनमेसे दूसरी बातपर जो आपत्ति की गई है वह तो कोई खास महत्त्व नही रखती। उसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि 'सप्तव्यसनोमें वेश्या-सेवन भी एक व्यसन है, इस व्यसनको सेवन करनेवाले बहुतसे मनुष्य हो गये हैं परतु उनमे चारुदत्तका ही नाम जो खास तौरसे प्रसिद्ध चला आता है वह इस बातको सूचित करता है कि इस व्यसनके सेवनमे चारुदत्तका नाम जैसा वदनाम हुआ है वैसा दूसरेका नही। नामकी यह बदनामी ही चारुदत्तके प्रति घृणा और तिरस्कार है, इसलिये उस समयके लोग भी जरूर उसके प्रति घृणा और तिरस्कार किये बिना न रहे होगे।' इस प्रकारके अनुमानको प्रस्तुत करनेके सिवाय, समालोचकजीने दूसरा कोई भी प्रमाण किसी ग्रन्थसे ऐसा पेश नही किया जिससे यह मालूम होता कि उस वक्तकी जाति-बिरादरी अथवा जनताने चारुदत्तके व्यक्तित्वके प्रति घृणा और तिरस्कारका अमुक व्यवहार किया

है। और अनुमान जो आपने बाँधा है वह समुचित नही है। क्योकि एक वेश्या-व्यसनीके रूपमे चारुदत्तका जो कथानक प्रसिद्ध है वह एक रोगीमे व्यक्त होनेवाले रोगके परिणामोको प्रदर्शित करनेकी तरह, चारुदत्तके उस दोषका फल प्रदर्शन अथवा उससे होनेवाली मुसीबतोका उल्लेखमात्र है और उसे ज्यादा-से-ज्यादा उसके उस दोपकी निन्दा कह सकते हैं। परन्तु उससे चारुदत्तके व्यक्तित्व (शखसियत Personality) के प्रति घृणा या तिरस्कारका कोई भाव नही पाया जाता, जिसका निषेध करना उदाहरणमे अभीष्ट था और न किसीके एक दोपकी निन्दासे उसके व्यक्तित्वके प्रति घृणा या तिरस्कारका होना लाजिमी आता है। दोपकी निन्दा और बात है और व्यक्तित्वके प्रति घृणा या तिरस्कारका होना दूसरी बात। श्रीजिनसेनाचार्य-विरचित हरिवशपुराणादि किसी भी प्राचीन ग्रन्थमे ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता जिससे यह पाया जाता हो कि चारुदत्तके व्यक्तित्वके साथ उस वक्त जनताका व्यवहार तिरस्कारमय था। प्रत्युत इसके, यह मालूम होता है कि **चारुदत्त**का काका स्वय वेश्या-व्यसनी था, **चारुदत्तकी** माता **सुभद्राने**, **चारुदत्त**को स्त्री-सभोगसे विरक्त देखकर, इसी काकाके-द्वारा वेश्याव्यसनमे लगाया था[1], वेश्याके घरसे निकाले जानेपर जब **चारुदत्त** अपने घर आया तो उसकी स्त्रीने व्यापारके लिये उसे अपने गहने दिये और वह मामाके साथ विदेश गया, विदेशोमे चारुदत्त अनेक देवो तथा विद्याधरोसे पूजित, प्रशसित और सम्मानित हुआ, उसे प्रामाणिक

---

१. ब्रह्मनेमिदत्तने भी आराधनाकथाकोशमें लिखा है :—

तदा स्वपुत्रस्य मोहेन संगतिं गणिकादिभि ।
सुभद्रा कारयामास तस्योच्चैर्लम्पटैर्जनै. ॥

और धार्मिक पुरुष समझकर 'गंधर्वसेना' नामकी विद्याधर-कन्या उसके समर्थ भाइयों-द्वारा विवाह कर देनेके लिये सौंपी गई और जिसे चारुदत्तने पुत्रीकी तरह रक्खा। चारुदत्तके पीछे वसन्तसेना वेश्या उसकी माताके पास आती रही और माताकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए निःसंकोच भावसे उसके वहाँ रहनेपर कहींसे भी कोई आपत्ति नहीं की गई, चारुदत्तके विदेशसे वापिस आनेपर माता-दिक कुटुम्बीजन और चम्पापुरी नगरीके सभी लोग प्रसन्न हुए और उन्होंने चारुदत्तके साथ महती तथा अद्भुत प्रीतिको धारण किया[1]। चारुदत्तने उस वसंतसेना वेश्याको अंगीकार किया जो उसीको एक पति मानकर उसके घरपर रहने लगी थी, 'किमिच्छक' दान देकर दीनों और अनाथों आदिको संतुष्ट किया, गंधर्वसेनाकी प्रतिज्ञानुसार उसका पति निश्चत करनेके लिये अनेक बार गंधर्वविद्याके जानकार विद्वानोंकी सभाएँ जुटाईं, प्रतिज्ञा पूरी होनेपर वसुदेवके साथ उसका विवाह किया, और बराबर जैनधर्मका पालन करते हुए अन्तको जैनमुनि दीक्षा धारण की[2]। इसके सिवाय, वसुदेवजीने चारुदत्तका वेश्या-

---

१. ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोशमें चम्पापुरीके लोगों आदिकी इस प्रीतिका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

> भानुः श्रेष्ठी सुभद्रा सा चारुदत्तागमे तदा।
> अन्ये चम्पापुरीलोकाः प्रीतिं प्राप्ता महाद्भुताम् ॥

२ चारुदत्तः सुधीश्चापि भुक्त्वा भोगान्स्वपुण्यतः।
> समाराध्य जिनेंद्रोक्तं धर्मं शर्मकरं चिरं ॥९२॥
> ततो वैराग्यमासाद्य सुन्दराख्यसुताय च।
> दत्वा श्रेष्ठिपदं पूतं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥९३॥

—नेमिदत्त-कथाकोश,

व्यसनादि सहित सारा पूर्व वृत्तात सुनकर और उससे सन्तुष्ट होकर चारुदत्तकी प्रशसामे निम्न वाक्य कहे—

चारुदत्तस्य चोत्साह तुष्टस्तुष्टाव यादवः ॥ १८ १॥
अहो चेष्टितमार्यस्य महौदार्यसमन्वितम् ।
अहो पुण्यवलं गण्यमनन्यपुरुपोचितम् ॥ १८२ ॥
न हि पौरुषमीदृक्षं विना दैवबलं तथा ।
ईदृक्षान् विभवान् शक्याः प्राप्तुं ससुरखेचराः ॥ १८३ ॥
—हरिवंशपुराण

इसकी हिन्दी-भापामे प० गजाधरलालजीने इन्ही प्रशसा-वाक्योको निम्न प्रकारसे अनुवादित किया है ·—

"कुमार वसुदेवको परम आनद हुआ, उन्होने चारुदत्तकी इस प्रकार प्रशसा कर [की] कि—आप उत्तम पुरुष हैं, आपकी चेष्टा धन्य है, उदारता भी लोकोत्तर है, अन्य पुरुषोके लिये सर्वथा दुर्लभ यह आपका पुण्यवल भी अचिन्त्य है ॥१८१-१८२॥ विना भाग्यके, ऐसा पौरुप होना अति कठिन है, ऐसे उत्तमोत्तम भोगोको मनुष्योकी तो क्या बात, सामान्य देव विद्याधर भी प्राप्त नही कर सकते"।

और हरिवशपुराण के २१ वे सर्गके अन्तमे श्रीजिनसेनाचार्यने चारुदत्तको भी वसुदेवकी तरह रूप और विज्ञानके सागर तथा धर्म-अर्थ-कामरूपी त्रिवर्गके अनुभवी अथवा उसके अनुभवसे सतुष्टचित्त प्रकट किया है, और इस तरहपर दोनोको एक ही विशेषणो-द्वारा उल्लेखित किया है —

इत्यन्योन्यस्वरूपज्ञा रूपविज्ञानसागरा. ।
त्रिवर्गानुभवप्रीताश्चारुदत्तादयः स्थिता' ॥ १८५ ॥

इन सब बातोसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि चारुदत्त अपने

कुटुम्बीजनो, पुरजनो और इतरजनोमेसे किसीके भी द्वारा उस वक्त तिरस्कृत नही थे और न कोई उनके व्यक्तित्वको घृणाकी दृष्टिसे देखता था। इसीसे लेखकने लिखा था कि "उस समयकी जाति-बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नही किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया।" परन्तु समालोचकजी अपने उक्त दूषित अनुमानके भरोसेपर इसे सफेद झूठ बतलाते हैं और इसलिये पाठक उक्त सपूर्ण कथनपरसे उनके इस सफेद सत्यका स्वय अनुमान कर सकते हैं और उसका मूल्य जाँच सकते हैं।

अब पहली बातपर की गई आपत्तिको लीजिये। समालोचकजीकी यह आपत्ति बडी ही विचित्र मालूम होती है! आप यहाँ तक तो मानते हैं कि चारुदत्तका वसतसेना वेश्याके साथ एक व्यसनी-जैसा सम्बन्ध था, वसन्तसेना भी चारुदत्तपर आसक्त थी और उसके प्रथम दर्शन-दिवससे ही यह प्रतिज्ञा किए हुए थी कि इस जन्ममे मैं दूसरे पुरुषसे सभोग नही करूँगी, चारुदत्त उससे लड-भिडकर या नाराज होकर विदेश नही गया, बल्कि वेश्याकी माताने धनके न रहनेपर जब उसे अपने घरसे निकाल दिया तो वह धन कमानेके लिये ही विदेश गया था, उसके विदेश जानेपर वसन्तसेनाने, अपनी माताके बहुत कुछ कहने-सुननेपर भी, किसी दूसरे धनिक पुरुषसे अपना सम्बन्ध जोडना उचित नही समझा और अपनी माताको यही उत्तर दिया कि चारुदत्त मेरा कुमारकालका पति है, मैं उसे नहीं छोड सकती, उसे छोडकर दूसरे कुबेरके समान धनवान पुरुषसे भी मेरा कोई मतलब नही है, और फिर अपनी माताके घरका ही परित्याग

कर वह चारुदत्तके घरपर जाकर रही और उसकी मातादिककी सेवा करती हुई चारुदत्तके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगी । साथ ही, उसने एक आर्यिकासे श्रावकके व्रत लेकर इस वातकी और भी रजिष्ट्री कर दी कि वह एक पतिव्रता है और भविष्यमे वेश्यावृत्ति करना नही चाहती । इसके वाद चारुदत्तजी विदेशसे विपुल धन-सम्पत्तिके साथ वापस आए और वसन्तसेनाके अपने घरपर रहने आदिका सव हाल मालूम करके उससे मिले और उन्होने उसे वडी खुशीके साथ अपनाया—स्वीकार किया । परन्तु यह सव कुछ मानते हुए भी, आपका कहना है कि इस अपनाने या स्वीकार करनेका यह अर्थ नही है कि चारुदत्तने वसन्तसेनाको स्त्रीरूपसे स्वीकृत किया था या घरमे डाल लिया था वल्कि कुछ दूसरा ही अर्थ है, और उसे आपने निम्न दो वाक्यो द्वारा सूचित किया है —

(१) "चारुदत्तने उपकारी और व्रतधारण करनेवाली समझ कर ही वसन्तसेनाको अपनाया था ।"

(२) "असल वात यह है कि वसन्तसेना सेवा-शुश्रूपा करनेके लिये आई थी, और चारुदत्तने उसे इसी रूपमे अपना लिया था ।"

इनमे पहले वाक्यसे तो अपनानेका कोई विसदृश अर्थ स्पष्ट नही होता है । हाँ, दूसरे वाक्यसे इतना जरूर मालूम होता है कि आपने वसन्तसेनाको स्त्रीसे भिन्न सेवा-शुश्रूपा करनेवालीके रूपमे अपनानेका विधान किया है अथवा यह प्रतिपादन किया है कि चारुदत्तने उसे एक खिदमतगारनी या नौकरनीके तौरपर अपने यहाँ रक्खा था । परन्तु रोटी वनाने, पानी भरने, वर्तन माजने, वुहारी देने, तैलादि मर्दन करने, नहलाने, वच्चोको

खिलाने या पखा झलने आदि किस सेवा-शुश्रूषाके कामपर वह वेश्यापुत्री रक्खी गई थी, इसका आपने कहीपर भी कोई उल्लेख नही किया और न कहीपर यही प्रकट किया कि चारुदत्त अमुक अवसरपर अपनी उस चिरसगिनी और चिरभुक्ता वेश्यासे पुनः सभोग न करने या उससे काम-सेवा न लेनेके लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे अथवा उन्होने अपनी एक स्त्रीका ही व्रत ले लिया था। यही आपकी इस आपत्तिका सारा रहस्य है, और इसके समर्थनमे आपने **जिनसेनाचार्यके** हरिवशपुराणसे सिर्फ एक श्लोक उद्धृत किया है, जो आपके ही अर्थके साथ इस प्रकार है .—

"तां सु [[1]शु] श्रूपाकरी [री] स्वस्रूः [श्वश्रूवाः] आर्यां ते व्रतसंगतां[2]।
श्रुत्वा वसतसेनां च प्रति. [प्रीतः] स्वीकृतवानहम् ॥"

"अर्थ—[3]वेश्या वसन्तसेना अपनी माँका घर परित्याग कर मेरे घर आगई थी। और उसने आर्यिकाके पास जो श्रावकके व्रत धारण कर मेरी माॅ और स्त्रीकी पूर्ण सेवा की थी इसलिए मैं उससे भी मिला उसे सहर्ष अपनाया।"

---

१. ब्रैकटोंमे जो रूप दिये हैं वे समालोचकजीके दिये हुए उन अक्षरों-के शुद्ध पाठ हैं जो उनसे पहले पाये जाते हैं।

२. इसकी जगह "सदणुव्रतसगताम्" ऐसा पाठ देहलीके नये मदिरकी प्रतिमें पाया जाता है।

३. मूल श्लोकके शब्दोंसे उसका स्पष्ट और सगत अर्थ सिर्फ इतना ही होता है :—

'और वसंतसेनाके विषयमे सासकी (मेरी माताकी) सेवा करने तथा आर्यिकाके पाससे व्रत ग्रहण करनेका हाल सुनकर मैंने प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार किया—अगीकार किया।'

प० दौलतरामजीने अपने हरिवशपुराणमे, इस श्लोककी भाषा टीका इस प्रकार दी है —

"और वह कलिगसेना वेश्याकी पुत्री वसतसेना पतिव्रता मेरे विदेश गए, पीछे अपनी माताका घर छोडि आर्यानिके निकट श्रावकव्रत अगीकार करि मेरी मातानिके निकट आय रही। मेरी माताकी अर स्त्रीकी वाने अति सेवा करी। सो दोऊ ही वातै अतिप्रसन्न भईं। अर जगतिमे वहुत वाका जस भया सो मैं हूँ अति प्रसन्न होय वाहि अगीकार करता भया।"

यह श्लोक **चारुदत्तजीने, वसुदेवजीको** अपना पूर्व परिचय देते हुए, उस समय कहा है जब कि गधर्वसेनाका विवाह हो चुका था और चारुदत्तको विदेशसे चम्पापुरी वापिस आए बहुतसे दिन वीत चुके थे—गधर्वविद्याके जानकार विद्वानोकी महीने-दर-महीनेकी कई सभाएँ भी हो चुकी थी।

इस सपूर्ण वस्तुस्थिति, कथनसम्बन्ध और प्रकरणपरसे यद्यपि, यही ध्वनि निकलती है और यही पाया जाता है कि चारुदत्तने वसन्तसेनाको अपनी स्त्री बना लिया था, और कोई भी सहृदय विचारशील इस बातकी कल्पना नही कर सकता कि चारुदत्तने वसतसेनाको, उससे काम-सेवाका कोई काम न लेते हुए, केवल एक खिदमतगारिनी या नौकरनीके तौरपर अपने पास रक्खा होगा—ऐसी कल्पना करना उस सद्विचारसम्पन्नाके साथ न्याय न करके उसका अपमान करना है, फिर भी समालोचकजीकी ऐसी ही विलक्षण कल्पना जान पड़ती है। इसीसे आप अपनी ही बातपर जोर देते हैं और उसका आधार उक्त श्लोकको बतलाते हैं। परन्तु समझमे नही आता, उक्त श्लोकमे ऐसी कौन-सी बात है जिसका आप आधार लेते हो अथवा जिससे आपके अर्थका समर्थन

हो सकता हो। किसी भी विरुद्ध कथनके साथमे न होते हुए, एक स्त्रीको अगीकार करनेका अर्थ उसे स्त्री बनानेके सिवाय और क्या हो सकता है? क्या 'स्वीकृतवान्' पदसे पहले 'स्त्रीरूपेण' ऐसा कोई पद न होनेसे ही आप यह समझ बैठे हैं कि वसतसेनाकी स्त्रीरूपसे स्वीकृति नही हुई थी या उसे स्त्रीरूपसे अगीकार नही किया गया था? यदि ऐसा है तो इस समझपर सहस्र धन्यवाद है। जान पडता है अपनी इस समझके भरोसेपर ही आपने श्लोकमे पडे हुए 'श्वश्र्वा' पदका कोई खयाल नही किया और न 'स्वीकृति' या 'स्वीकार' शब्दके प्रकरणसगत अर्थपर ही ध्यान देनेका कुछ कष्ट उठाया। श्लोकमे **'श्वश्र्वाः'** पद इस बातको स्पष्ट बतला रहा है कि चारुदत्तने वसुदेवसे बाते करते समय अपनी माताको वसन्तसेनाकी 'सास' रूपसे उल्लेखित किया था और इससे यह साफ़ जाहिर है कि वसुदेवके साथ वार्तालाप करनेसे पहले चारुदत्तका वसतसेनाके साथ विवाह हो चुका था। स्वीकरण, स्वीकृति और स्वीकार शब्दोका अर्थ भी विवाह होता है—इसीसे वामन शिवराम आप्टेने अपने कोश मे इन शब्दोका अर्थ Espousal, wedding तथा marriage भी दिया है और इसीलिये उक्त श्लोकमे **'स्वीकृतवान्'** से पहले **'स्त्रीरूपेण'** पदकी या इसी आशयको लिये हुए किसी दूसरे पदके देनेकी कोई जरूरत नही थी—उसका देना व्यर्थ होता। स्वय श्रीजिनसेनाचार्यने अन्यत्र भी, अपने हरिवशपुराणमे, 'स्वीकृत' को 'विवाहित (ऊढ)' अर्थमे प्रयुक्त किया है, जिसका एक स्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है :—

[1]यागकर्मणि निर्वृत्ते सा कन्या राजसूनुना।
स्वीकृता तापसा भूपं भक्तं कन्यार्थमागताः ॥ ३० ॥

---

१. जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवशपुराणमें भी 'स्वीकृत' को 'ऊढ'

कौशिकायात्र तैस्तस्यां याचितायां नृपोऽवदत् ।
कन्या सोढा कुमारेण यातेत्युक्तास्तु ते ययु॰ ॥ ३१ ॥
—२९ वॉ सर्ग ।

ये दोनो पद्य उस यज्ञप्रकरणके हैं जिसमे राजा अमोघ-दर्शनने रगसेना वेश्याकी पुत्री 'कामपताका' वेश्याका नृत्य कराया था और जिसे देखकर कौशिक ऋषि भी क्षुभित हो गये थे । इन पद्योमे वतलाया है कि 'यज्ञकर्मके समाप्त होनेपर उस (कामपताका) कन्याको राजपुत्र (चारुचन्द्र) ने स्वीकार कर लिया । (इसके बाद) कुछ तापस लोग कन्याके लिये भक्त राजाके पास आये और उन्होने 'कौशिक' के लिए उसकी याचना की । इसपर राजाके इस उत्तरको पाकर कि 'वह कन्या तो राजपुत्रने विवाह ली है' वे लोग चले गये ।

इस उल्लेखपरसे स्पष्ट है कि श्रीजिनसेनाचार्यने पहले पद्यमे जिस वातके लिए **'स्वीकृता'** पद्यका प्रयोग किया था, उसी बातको अगले पद्यमे **'ऊढा'** पदसे जाहिर किया है, जिससे **'स्वीकृता'** (स्वीकार करली) और **'ऊढा'** (विवाह ली) दोनो पद एक ही अर्थके वाचक सिद्ध होते हैं । प० दौलतरामजीने **'स्वीकृता'** का अर्थ 'अङ्गीकार करी' और **'ऊढा'** का अर्थ **'वरी'** दिया है । और समालोचकजीके श्रद्धास्पद प० गजाधरलालजीने, उक्त पद्योका

(विवाहित) अर्थमें प्रयुक्त किया है । यथा :—

तत. कदाचित्सा कन्या स्वीकृता राजसूनुना ।
तापसास्तेपि कन्यार्थं नृपपार्श्वं समागता ॥ ३० ॥
प्रार्थितायां नृपोऽवादीत्तस्या सोढा विधानतः ।
कुमारेण ततो यूय यात स्वस्थानमुत्सुका. ॥ ३१ ॥
—१० वॉ सर्ग ।

अर्थ देते हुए, **'स्वीकृता'** की तरह **'ऊढा'** का अर्थ भी 'स्वीकार करली' किया है और इस तरह यह घोषित किया है कि **'ऊढा'** (विवाहिता) और **'स्वीकृता'** दोनो एकार्थवाचक पद हैं।

ऐसी हालतमे यह बात बिलकुल निर्विवाद और नि सन्देह जान पडती है कि चारुदत्तने वसन्तसेना वेश्याके साथ विवाह किया था—उसे अपनी स्त्री बनाया था—और उसी बातका उल्लेख उनकी तरफसे उक्त श्लोकमे किया गया है। और इसलिए उक्त श्लोकमे प्रयुक्त हुए **"स्वीकृतवान्"** पदका स्पष्ट अर्थ **'विवाहितवान्"** समझना चाहिए।

खेद है कि इतना स्पष्ट मामला होते हुए भी, समालोचकजी लेखकके व्यक्तित्वपर आक्षेप करते हुए लिखते हैं—

"चारुदत्तने वसन्तसेनाको घरमे नही डाल लिया था और न उसे स्त्रीरूपसे स्वीकृत किया था, जैसा कि बाबूसाहबने लिखा है। ये दोनो बातें शास्त्रोमे नही हैं। न जाने बाबूसाहबने कहाँसे लिख दी हैं, बाबूसाहबकी यह पुरानी आदत है कि जिस बातसे अपना मतलब निकलता देखते हैं उसी बातको अपनी ओर मिलाकर झट लोगोको धोखेमे डाल देते हैं।"

समालोचकजीके इस लिखनेका क्या मूल्य है, और इसके द्वारा लेखकपर उन्होंने कितना झूठा तथा निन्द्य आक्षेप किया है, इसे पाठक अब स्वय समझ सकते हैं। समझमे नही आता कि एक वेश्यासे विवाह करने या उसे स्त्री बना लेनेकी पुरानी बातको मान लेनेमे उन्हे क्यो सकोच हुआ और उसपर क्यो इतना पाखड रचा गया ? वेश्याओसे विवाह करलेनेके तो और भी कितने ही उदाहरण जैनशास्त्रोमे पाये जाते हैं, जिनमेसे 'कामपताका' वेश्याका उदाहरण ऊपर दिया ही जा चुका है, और 'पुण्यास्रवकथा-

कोश[1] 'मे लिखा है कि 'पंचसुगंधिनी' वेश्याकी 'किन्नरी' और 'मनोहरी' नामकी दो पुत्रियाँ थी, जिनके साथ जयधरके पुत्र प्रतापधर अपरनाम 'नागकुमार' ने, पिताकी आज्ञासे, विवाह किया था[2]। ये नागकुमार जिनपूजन किया करते थे, उन्होने अन्तको जिनदीक्षा ली और वे केवलज्ञानी होकर मोक्ष पधारे[3]। उनकी इस कृतिसे—साक्षात् व्यभिचारजात वेश्या-पुत्रियोको अपनी स्त्री वना लेनेसे—जैनधर्मको कोई कलक नही लगा, जिसके लग जानेकी समालोचकजीने समालोचनाके अन्तमे आशका की है, वे वरावर जिन-पूजा करते रहे और उससे उनकी जिन-दीक्षा तथा आत्मोन्नतिको चरम सीमा तक पहुँचानेके कार्यमे भी कोई वाधा नही आ सकी। इसलिए एक वेश्याको स्त्री वना लेना आजकलकी दृष्टिसे भले ही लोक-विरुद्ध हो, परन्तु वह जैनधर्मके सर्वथा विरुद्ध नही कहला सकता और न पहले जमानेमे सर्वथा लोक-विरुद्ध ही समझा जाता था। आजकल भी वहुधा देशहितैपियोकी यह धारणा पाई जाती है कि भारतकी सभी वेश्याएँ,

---

१. यह पुण्यास्रवकथाकोश केशवनन्दि मुनिके शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षुका वनाया हुआ है। इसका भापानुवाद प० नाथूरामजी प्रेमीने किया है और वह सन् १९०७ में प्रकाशित भी हो चुका है।

२. यथा—"एकदा राजास्थान पचसुगंधिनीनामवेश्या समागत्य भूप विज्ञापयतिस्म देव! मे सुते द्वे किन्नरी मनोहरी च वीणावाद्यमद-गर्विते नागकुमारस्यादेशं देहि तयोर्वाद्य परीक्षितु। .. ते चात्यासक्ते पितृवचनेन परिणीतवान् प्रतापधर सुखमास।"—पुण्यास्रव०।

३. ".. प्रतापधरो मुनिश्चतुःषष्ठिवर्षाणि तपश्चकार कैलासे केवली यज्ञे।"—पुण्यास्रव।

अर्थात्—प्रतापधर (नागकुमार) ने मुनि होकर ६४ वर्प तप किया और फिर कैलास पर्वतपर केवलज्ञानको प्राप्त किया।

वेश्यावृत्तिको छोडकर, यदि अपने-अपने प्रधान प्रेमीके घर वैठ-जायँ—गृहस्थधर्ममे दीक्षित होकर गृहस्थन वन जायँ अथवा ऐसा बननेके लिये उन्हे मजबूर किया जासके और इस तरह भारतसे वेश्यावृत्ति उठ जाय तो इससे भारतका नैतिकपतन रुककर उसका वहुत कुछ कल्याण हो सकता है। वे वेश्यागमन या व्यसनकी अपेक्षा एक वेश्यासे वेश्यावृत्ति छुडाकर, शादी कर लेनेमे कम पाप समझते हैं। और, काम-पिशाचके वशवर्ती होकर, वेश्याके द्वारपर पडे रहने, ठोकरे खाने, अपमानित तथा पददलित होने और अनेक प्रकारकी शारीरिक तथा मानसिक यत्रणाएँ सहते हुए अन्तको पतितावस्थामे ही मर जानेको घोर पाप तथा अधर्म मानते हैं। अस्तु।

कुटुम्बमें विवाह

चारुदत्तके उदाहरणकी सभी आपत्तियोका निरसनकर अब मैं दूसरे—**वसुदेव**जीवाले—उदाहरणकी आपत्तियोको लेता हूँ।

इस उदाहरणमे सबसे बडी आपत्ति '**देवकी**के विवाह' पर की गई है। **देवकी**का **वसुदेव**के साथ विवाह हुआ, इस वातपर, यद्यपि कोई आपत्ति नही है, परन्तु '**देवकी** रिश्तेमे **वसुदेव**की भतीजी थी' यह कथन ही आपत्तिका खास विषय बनाया गया है और इसे लेकर खूब ही कोलाहल मचाया गया तथा जमीन-आसमान एक किया गया है। इस आपत्तिपर विचार करनेसे पहले, यहाँ प्रकृत आपत्ति-विषयक कथनका कुछ थोडा-सा पूर्व इतिहास दे देना उचित मालूम होता है और वह इस प्रकार है —

(१) सन् १९१० मे, लाहौरसे प० दौलतरामजी-कृत भापा हरिवशपुराण प्रकाशित हुआ और उसकी विषय-सूचीमे

देवकी और **वसुदेवके** पूर्वोत्तर सम्बन्धोको निम्न प्रकारसे घोषित किया गया —

"**वसुदेवका** अपने बाबाके भाई राजा **सुवीरकी** (पड) पोती **कंसकी** वहन **देवकीसे** विवाह हुआ ।"

इस घोषणाके किसी भी अशपर उस समय आपत्तिकी कहीसे भी कोई आवाज नही सुन पडी ।

(२) १७ फरवरी सन् १९१३ के **जैनगजटमे** सरनऊ निवासी प० रघुनाथदासजीने, "**शास्त्रानुकूल प्रवर्तना चाहिये**" इस शीर्षकका एक लेख लिखा था और उसमे कुछ रूढियोपर अपने विचार भी प्रगट किये थे। इसपर लेखककी ओरसे "**शुभ चिह्न**" नामका एक लेख लिखा गया और वह २४ मार्च सन् १९१३ के '**जैनमित्र**' मे प्रकाशित हुआ, इस लेखमे पडितजीके उक्त '**शास्त्रानुकूल प्रवर्तना चाहिये**' वाक्यका अभिनदन करते हुए और समाजमे रूढियो तथा रस्म-रिवाजोका विवेचन प्रारम्भ होनेकी आवश्यकता बतलाते हुए, कुछ शास्त्रीय प्रमाण पडितजीको भेट किये गये थे और उनपर निष्पक्षभावसे विचारनेकी प्रेरणा भी की गई थी। उन प्रमाणोमे चौथे नम्बरका प्रमाण इस प्रकार था —

"उक्त (जिनसेनाचार्यकृत) हरिवशपुराणमे यह भी लिखा है कि **वसुदेवजीका** विवाह **देवकीसे** हुआ । **देवकी** राजा **उग्रसेन**-की लडकी और महाराज **सुवीरकी** पडपोती (प्रपौत्री) थी और **वसुदेवजी** महाराजा सूरके पोते थे। **सूर** और **सुवीर** दोनो सगे भाई थे—अर्थात् श्रीनेमिनाथके चचा **वसुदेवजीने** अपने चचाजाद भाईकी लडकीसे विवाह किया। इससे प्रकट

है कि उस समय विवाहमे गोत्रका विचार वा बचाव नही किया जाता था, नही मालूम परवारोमे आजकल आठ-आठ वा चार-चार सार्के (शाखाएँ) किस आधारपर मिलाई जाती हैं।''

इस लेखके उत्तरमे पडितजीने दूसरा लेख, वही **'शुभ चिह्न'** शीर्षक डालकर, १६ जून सन् १९१३ के **जैनगजट**मे प्रकाशित कराया, उसमे इस प्रमाणके किसी भी अशपर कोई आपत्ति नही की गई और न दो श्लोकोके अर्थपर[1] आपत्ति करनेके सिवाय, दूसरे ही किसी प्रमाणको अप्रमाण ठहराया गया। **जैनमित्र**के सम्पादक ब्र०शीतलप्रसादजीने भी उक्त प्रमाणपर कोई आपत्ति नही की, हालाँकि उन्होने लेखपर दो सम्पादकीय नोट भी लगाये थे।

(३) इसके छह वर्ष बाद, **'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण'** न० २ के नामसे **वसुदेव**जीके उदाहरणका यह प्रकृत लेख लिखा गया और अप्रैल सन् १९१९ के **'सत्योदय'**मे प्रकाशित हुआ। उस वक्त इस लेखपर **'पद्मावतीपुरवाल'** के सम्पादक प० गजाधरलालजी न्यायतीर्थने अपना विस्तृत विचार प्रकट किया था और उसमे इस बातको स्वीकार किया था कि **देवकी उग्रसेन**की पुत्री और वसुदेवकी भतीजी थी। उनका वह विचार-लेख श्रावण मासके **'पद्मावतीपुरवाल'** अक न० ५ मे प्रकाशित हुआ था। इसके बाद सितम्बर सन् १९२० के **'जैनहितैषी'** मे यही लेख प्रकाशित हुआ और वहाँसे चार वर्षके बाद अब इस पुस्तकमे उद्धृत किया गया है।

इस तरह देवकी और वसुदेवके सम्बन्धका यह विषय इस

---

१. अर्थ-विषयक इस आपत्तिका उत्तर 'अर्थ-समर्थन' नामके लेख-द्वारा दिया गया, जो १७ सितम्बर सन् १९१३ के 'जैनमित्र' में प्रकाशित हुआ था और जो अब इसी निवन्धावली द्वितीय भाग पृष्ठ ३१ पर मुद्रित है।

पुस्तकमे कोई नया नही है, बल्कि वह समाजके चार प्रसिद्ध पत्रो और एक ग्रन्थमे चर्चा होकर बहुत पहलेसे समाजके विद्वानोंके सामने रक्खा जा चुका है और उसकी सत्यतापर इससे पहले कोई आपत्ति नही की गई। अथवा यो कहिये कि समाजके विद्वानोने उसे आपत्तिके योग्य नही समझा। ऐसी हालतमे समालोचकजीका इस विषयको लेकर व्यर्थका कोलाहल मचाना और लेखकके व्यक्तित्वपर भी आक्रमण करना उनके अकाण्डताण्डव तथा अविचारको सूचित करता है। लेखकने देवकीके विवाहकी घटनाका उल्लेख करते हुए लिखा था—

"**देवकी** राजा **उग्रसेन**की पुत्री, नृप**भोजकवृष्टि**की पौत्री और महाराज **सुवीर**की प्रपौत्री थी। **वसुदेव** राजा **अन्धकवृष्टि**के पुत्र और नृपशूरके पौत्र थे। ये नृप '**शूर**' और **देवकी**के प्रपितामह '**सुवीर**' दोनो सगे भाई थे। दोनोके पिताका नाम 'नरपति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेनाचार्यने अपने हरिवशपुराणमे सूचित किया है और इससे यह प्रकट है कि राजा उग्रसेन और वसुदेवजी दोनो आपसमे चचा-ताऊजाद भाई लगते थे और इसलिये **उग्रसेन**की लडकी '**देवकी**' रिश्तेमे वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका विवाह हुआ, जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमे गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओका टालना तो दूर रहा एक वश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नही रक्खा गया।"

इस कथनसे स्पष्ट है कि इसमे **देवकी** और **वसुदेव**की रिश्तेदारीका—उनके पूर्व सम्बन्धका जो कुछ उल्लेख किया गया है वह सब श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणके आधारपर किया गया है। और इसलिए एक समालोचककी हैसियतसे समालोचकजीको

इसपर यदि कोई आपत्ति करनी थी तो वह या तो जिनसेनाचार्य-को लक्ष्य करके करनी चाहिये थी—उनके कथनको मिथ्या ठहराना अथवा यह बतलाना चाहिए था कि वह अमुक-अमुक जैनाचार्यों तथा विद्वानोके कथनोके विरुद्ध है—और या वह इस रूपमे ही होनी चाहिए थी कि लेखकका उक्त कथन जिनसेनाचार्यके हरि-वशपुराणके विरुद्ध है, और ऐसी हालतमे जिनसेनाचार्यके उन विरोधी वाक्योको दिखलाना चाहिए था। परन्तु समालोचकजीने यह सब कुछ भी न करके उक्त कथनको "सफेद झूठ" लिखा है और उसे वैसा सिद्ध करनेके लिए जिनसेनाचार्यका एक भी वाक्य उनके हरिवशपुराणसे उद्धृत नही किया, यह बडी ही विचित्र बात है। हाँ, अन्य विद्वानोके बनाये हुए पाडवपुराण, नेमिपुराण, हरि-वशपुराण, उत्तरपुराण और आराधनाकथाकोश नामक कुछ दूसरे ग्रन्थोके वाक्य जरूर उद्धृत किये हैं और उन्हीके आधारपर लेखकके कथनको मिथ्या सिद्ध करना चाहा है, यह समालोचनाकी दूसरी विचित्रता है। और इन दोनो विचित्रताओमे समालोचक-जीकी इस आपत्तिका सारा रहस्य आ जाता है। सहृदय पाठक इसपरसे सहजमे ही इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि समालो-चकजी, इस आपत्तिको करते हुए, समालोचकके दायरेसे कितने बाहर निकल गये और उसके कर्त्तव्यसे कितने नीचे गिर गये हैं। उन्हे इतनी भी समझ नही पडी कि लेखक अपने कथनको जिन-सेनाचार्यके हरिवशपुराणके आधारपर स्थित कर रहा है और इसलिए उसके विपक्षमे दूसरे ग्रन्थोके वाक्योको उद्धृत करना व्यर्थ होगा, उनसे वह कथन मिथ्या नही ठहराया जासकता, उसे मिथ्या ठहरानेके लिए जिनसेनाचार्यके वाक्य ही पर्याप्त हो सकते हैं और यदि वैसे कोई विरोधी वाक्य उपलब्ध नही हैं तो या तो

हमे कोई आपत्ति ही न करनी चाहिए और या जिनसेनाचार्यको ही अपनी आपत्तिका विषय बनाना चाहिए।

जैन कथा-ग्रन्थोमे सैकडो बाते एक दूसरेके विरुद्ध पाई जाती हैं, और वह आचार्यों-आचार्योंका परस्पर मतभेद है। पडित टोडरमलजी आदिके सिवाय, प० भागचन्दजीने भी इस भेद-भाव-को लक्षित किया है और नेमिपुराणकी अपनी भाषाटीकाके अन्तमे उसका कुछ उल्लेख भी किया है[1]। परन्तु यहाँपर हम एक बहुत प्रसिद्ध घटनाको लेते हैं, और वह यह है कि सीताको उत्तरपुराणमे रावणकी पुत्री और पद्मपुराणादिकमे राजा जनककी पुत्री बतलाया है। अब यदि कोई पुस्तक-लेखक अपनी पुस्तकमे इस बातका उल्लेख करे कि 'श्रीगुणभद्राचार्य-प्रणीत उत्तरपुराणके अनुसार सीता रावणकी बेटी थी, तो क्या उस पुस्तककी समा-लोचना करते हुए किसी भी समालोचकको ऐसा कहने अथवा इस प्रकारकी आपत्ति करनेका कोई अधिकार है कि पुस्तककारका वह लिखना झूठ है, क्योकि पद्मपुराणादिक दूसरे कितने ही ग्रन्थोमे सीताको राजा जनककी पुत्री लिखा है? कदापि नही। उसे उक्त कथनको झूठा बतलानेसे पहले यह सिद्ध करना चाहिये कि वह उस उत्तरपुराणमे नही है जिसका पुस्तकमे हवाला दिया

---

१ यथाः—"यहाँ इतना और जानना इस पुराणकी कथा [और] हरिवंशपुराणकी कथा कोई-कोई मिलै नाहीं जैसे हरिवंशपुराण विषै तो भगवानका जन्म सौरीपुर कह्या और इहा द्वारिकाका जन्म कह्या, वहुरि हरिवंशमें कृष्ण तीसरे नरक गया कह्या, इहा प्रथम नरक गया कह्या और भी नाम-ग्रामादिकमें फेर है सो इहा भ्रम नाही करना। यह छद्मस्थ आचार्यनके ज्ञानमें फेर पर्‌या है।"—नेमिपुराण भाषा नानौताके एक मदिरकी प्रति।

गया है, अथवा पुस्तककारपर झूठका आरोप न करके, उस विषयमें, सीधा उत्तरपुराणके रचयितापर ही आक्रमण करना चाहिये। यदि वह ऐसा कुछ भी नही करता, बल्कि उस पुस्तक-कारके उक्त कथनको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए पद्मपुराणादि दूसरे ग्रन्थोके अवतरणोको ही उद्धृत करता है, तो विद्वानोकी दृष्टिमे उसकी वह कृति (समालोचना) निरी अनधिकार चर्चाके सिवाय और कुछ भी महत्त्व नही रख सकती और न उसके उन अवतरणोका ही कोई मूल्य हो सकता है। ठीक वही हालत हमारे समालोचकजी और उनके उक्त अवतरणो (उद्धृत वाक्यो) की समझनी चाहिये। उन्हे या तो लेखकके कथनके विरुद्ध जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणसे कोई वाक्य उद्धृत करके बतलाना चाहिए था और या वैसे (चचा-भतीजी-जैसे) सम्बन्ध-विधानके लिये जिनसेनाचार्यपर ही कोई आक्षेप करना चाहिये था, यह दोनो बाते न करके जो आपने, लेखकके कथनको असत्य ठहरानेके लिये, पाण्डवपुराणादि दूसरे ग्रन्थोके वाक्य उद्धृत किये हैं वे सब असगत, गैरमुताल्लिक और आपकी अनधिकार चर्चाका ही परिणाम जान पडते हैं, सद्विचार-सम्पन्न विद्वानोकी दृष्टिमे उनका कुछ भी मूल्य नही है, वे समझ सकते हैं कि ऐसे अप्रस्तुत गैरमुताल्लिक (irrelevant) हजार प्रमाणोसे भी लेखकका वह उल्लेख असत्य नही ठहराया जा सकता। और न ये दूसरे ग्रन्थोके प्रमाण, जिनके लिये समालोचनाके सात पेज रोके गये हैं, कथचित् मतभेद अथवा विशेष कथनको प्रदर्शित करनेके सिवाय, जिनसेनाचार्यके वचनोपर ही कोई आपत्ति करनेके लिए समर्थ हो सकते हैं, क्योकि ये सब ग्रन्थ जिनसेनाचार्य-प्रणीत हरिवशपुराणसे बादके बने हुए हैं—जिनसेनका हरिवशपुराण

शक स० ७०५ मे, उत्तरपुराण शक स० ८२० के लगभग, काष्ठासघी भट्टारक यश कीर्तिका प्राकृत हरिवशपुराण वि० स० १५०० में और शुभचन्द्र भट्टारकका पाण्डवपुराण वि० स० १६०८ मे वनकर समाप्त हुआ, वाकी व्रह्मनेमिदत्तके नेमिपुराण और आराधनाकथाकोश तथा जिनदास व्रह्मचारीका हरिवशपुराण ये सब ग्रन्थ विक्रमकी प्राय १६ वी शताव्दीके वने हुए हैं—ऐसी हालतमे इन ग्रन्थोका जिनसेनके स्पप्ट कथनपर कोई असर नही पड सकता और न प्राचीनताकी दृष्टिसे इन्हे जिनसेनके हरिवशपुराणसे अधिक प्रामाणिक ही माना जा सकता है। इनमे उत्तरपुराणको छोडकर शेप ग्रन्थ तो वहुत कुछ आधुनिक हैं, भट्टारको तथा[1] भट्टारक-शिष्योके रचे हुए हैं और उन्हे जिनसेनके हरिवशपुराणके मुकाबलेमे कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। रहा उत्तरपुराण, उसके कथनसे यह मालूम नही होता कि देवकी और वसुदेवमे चचा-भतीजीका सम्वन्ध नही था—वल्कि उस सम्वन्धका होना ही अधिकतर पाया जाता है, और इस बातको आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। साथ ही, उत्तरपुराण और जिनसेनके हरिवशपुराणकी सम्मिलित रोशनीसे दूसरे प्रमाणोपर भी यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यहॉपर, इस वक्त मैं यह वतला देना चाहता हूँ कि समालोचकजीने लेखकको सम्वोधन करके उसपर यह कटाक्ष किया है कि वह प० गजाधरलालजीके भाषा किये हुए हरिवशपुराणके कुछ अगले पृष्ठोको यदि पलट कर देखता तो उसे पता लग जाता कि उसके ३३६ वे पृष्ठकी २४ वी लाइनमे स्पष्ट लिखा है कि—

---

१. व्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके और जिनदास व्रह्मचारी भट्टारक सकलकीर्त्तिके शिष्य थे।

"रानी नन्दयशा इस दशार्ण नगरमे देवसेनकी धन्या नामक स्त्रीसे यह देवकी उत्पन्न हुई है।"

वेशक, समालोचकजी। लेखकको इस भाषा-हरिवशपुराणके पृष्ठोको पलट कर प्रकृत पृष्ठको देखनेका कोई अवसर नही मिला। परन्तु अव आपकी सूचनाको पाकर जो उसे देखा गया तो उसमे वडी ही विचित्रताका दर्शन हुआ है। वहाँ प० गजाधरलालजीने उक्त वाक्यको लिये हुए, एक श्लोकका जो अनुवाद दिया है वह इस प्रकार है —

"और रानी नन्दयशाने उन्ही पुत्रोकी माता होनेका तथा रेवती धायने उनकी धाय होनेका निदान वाँधा। सो ठीक ही है—पुत्रोका स्नेह छोडना वडा ही कठिन है। इसके वाद वे सब लोग समीचीन तपके प्रभावसे महाशुक्र स्वर्गमे सोलह सागर आयुके भोक्ता देव हुये। वहाँसे आयुके अन्तमे चयकर शखका जीव रोहिणीसे उत्पन्न वलभद्र हुआ है। रानी नन्दयशा श्रेष्ठ इस दशार्ण नगरमे देवसेनकी धन्या नामक स्त्रीसे यह देवकी उत्पन्न हुई है और धाय भद्रिलसा नगरमे सुदृष्टी नामक सेठकी अलका नामकी स्त्री हुई है ॥१६७॥"

यह जिनसेनके जिस मूल श्लोक न० १६७ का अनुवाद किया गया है वह हरिवशपुराणके ३३वें सर्गमे निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

"धात्री मानुष्यक प्राप्ता पुरे भद्रिलसाह्वये।
सुदृष्टिश्रेष्ठिनो भार्या वर्तते ह्यलकाभिधा॥"

कोई भी सस्कृतका विद्वान् इस श्लोकका वह अनुवाद नही कर सकता जो कि प० गजाधरलालजीने किया है और न इसका वह कोई भावार्थ ही हो सकता है। इस श्लोकका सीधा-

सादा आशय सिर्फ इतना ही होता है कि 'वह धाय (रेवती) मनुष्य जन्मको प्राप्त हुई, इस समय भद्रिलसा नामक नगरमे सेठ सुदृष्टिकी अलका नामकी स्त्री है।' और यह आशय उक्त अनुवादके अन्तिम वाक्यमे आ जाता है, इसलिये अनुवादका शेषाश, जिसमे समालोचकजीका बडे दर्पके साथ प्रदर्शित किया हुआ वह वाक्य भी शामिल है, मूलग्रन्थसे बाहरकी चीज जान पडता है। मूलग्रन्थमे, इस श्लोकसे पहले या पीछे, दूसरा कोई भी श्लोक ऐसा नही पाया जाता, जिसका आशय 'रानी नन्दयशा' से प्रारम्भ होनेवाला उक्त वाक्य हो सके[1]। इस श्लोकसे पहले **"कुर्वन्निर्नामकस्तीव्रं"** नामका पद्य और बादको **'गगाद्या देवकीगर्भे'** नामका पद्य पाया जाता है, जिन दोनोका अनुवाद, इसी क्रमसे—उक्त अनुवादसे पहले पीछे—प्राय ठीक किया गया है। परन्तु उक्त पद्यके अनुवादमे बहुत-सी बातें ऊपरसे मिलाई गई हैं, यह स्पष्ट है, और इस प्रकारकी मिलावट और भी सैकडो पद्योके अनुवादमे पाई जाती है। जो न्यायतीर्थ प० गजाधरलालजी, प० दौलतरामजीकी भाषा-टीकापर आक्षेप करते हैं[2] वे स्वय भी ऐसा गलत अथवा मिलावटको लिये हुए अनुवाद प्रस्तुत कर सकते हैं, यह बडे ही खेदका विषय है। प० दौलतरामजीने तो अपनी भाषा-वचनिकामे इतना ही लिखा है कि "राणी नदियसाका जीव यह देवकी भई" और वह भी उक्त पद्यकी टीकामे नही, बल्कि अगले पद्यकी टीकामे वहाँ उल्लेखित 'देवकी' का पूर्व सम्बध

---

१ देखो, देहलीके नये मदिर और पचायती मदिरके हरिवशपुराणकी दोनों प्रतियोंके क्रमशः पत्र न० २०७ और १५१।

२ देखो, गजाधरलालजीके भाषा-हरिवशपुराणकी 'प्रस्तावना' पृष्ठ न० २।

व्यक्त करनेके लिये लिखा है[1]। परन्तु गजाधरलालजीने इसपर अपनी ओरसे देवकीके माता-पिता और उत्पत्ति स्थानके नामोकी मगजी भी चढा दी है, और उसमे दशार्ण नगरसे पहले उनका 'इस' शब्दका प्रयोग और भी ज्यादा खटकता है, क्योकि देवकी और वसुदेवजीसे यह सब कथा कहते हुए अतिमुक्तक मुनि उस समय दशार्ण नगरमे उपस्थित नही थे, बल्कि मथुराके पासके सहकार वनमे उपस्थित थे। इसलिये उनकी ओरसे 'इस' आशयके शब्दका प्रयोग नही बन सकता। परन्तु यहाँपर अनुवादकी भूले प्रकट करना कोई इष्ट नही है, मैं इस कथनपरसे सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि जिस बातको समालोचकजीने बडे दर्पके साथ लेखकको दिखलाना चाहा था, उसमे कुछ भी सार नही है, वह जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणसे बाहरकी चीज है और इसलिये उसके आधारपर कोई आपत्ति नही की जा सकती। समालोचकजीके सामने जिनसेनका हरिवशपुराण मौजूद था—उन्होंने उसके कितने ही वाक्य समालोचनामे दूसरे अवसरोपर उद्धृत किये हैं—वे स्वय इस बातको जानते थे कि प० गजाधरलालजीने जो बात अनुवादमे कही है वह मूलमे नही है—यदि मूलमे होती तो वे सबसे पहले उस मूलको उद्धृत करते और तब कही पीछेसे अनुवादका नाम लेते—फिर भी उन्होने गजाधरलालजीके मिथ्या अनुवादको प्रमाणमे पेश किया, यह बडे ही दु साहसकी बात है। उन्हे इस बातका जरा भी

---

१ यथा:—'तहाँ ते चयकरि रेवती धायका जीव भद्दलपुर विपै सुदृष्टि नामा सेठकै अल्का नामा स्त्री है ॥ ६७ ॥ अर राणी नदियसाका जीव यह देवकी भई ताकै वे गगदेव आदि पूर्वले पुत्र स्वर्गतैं चयकरि याजन्मविपै भी पुत्र होइगे ॥'' १६८ ॥

खयाल नही हुआ कि जिस धोखादेहीका मैं दूसरोपर झूठा इलजाम लगा रहा हूँ उसका अपनी इस कृतिसे स्वय ही सचमुच अपराधी बना जा रहा हूँ और इसलिये मुझे अपने पाठकोके सामने 'उसी हरिवंशपुराण'[1] या जिनसेन[2]के नामपर ऐसी मिथ्या वातको रखते हुए शर्म आनी चाहिये। परन्तु जान पडता है, समालोचकजी सत्य अथवा असलियतपर पर्दा डालनेकी धुनमे इतने मस्त थे कि उन्होने शर्म और सद्विचारको उठाकर एकदम वालाए-ताक रख दिया था, और इसीसे वे ऐसा दु साहस कर सके हैं।

हम समालोचकजीसे पूछते हैं कि, आपने तो प० गजाधर-लालजीके भापा किये हुए हरिवशपुराणके सभी पत्रोको खूव उलट-पलट कर देखा है तब आपको उसके ३६५ वे पृष्ठपर ये पक्तियाँ भी जरूर देखनेको मिली होगी, जिनमे नवजात बालक कृष्णको मथुरासे बाहर लेजाते समय वसुदेवजी और कसके बदी पिता राजा उग्रसेनमे हुई वार्तालापका उल्लेख है —

"पूज्य। इस रहस्यका किसीको भी पता न लगे, इस देवकीके पुत्रसे नियमसे आप बधनसे मुक्त होगे। उत्तरमे उग्र-सेनने कहा—अहा। यह मेरे भाई देवसेनकी पुत्री देवकीका पुत्र है। मैं इसकी बात किसीको नही कह सकता। मेरी अतरग कामना है कि यह दिनोदिन बढे और वैरीको इसका पता तक न लगे।"

इस उल्लेख द्वारा यह स्पष्ट घोपणा की गई है कि **'देवकी'** उन **देवसेन**की पुत्री थी जो कसके पिता **उग्रसेन**के भाई थे और इसलिये **उग्रसेन**की पुत्री होनेसे **देवकी** और **वसुदेवमे** जो चचा-भतीजीका सम्बध घटित होता है वही **देवसेनकी** पुत्री होनेसे भी

१. देखो, समालोचनाका पृष्ठ ३ रा और ६ ठा।

घटित होता है—उसमे रचमात्र भी अन्तर नही पडता—क्योकि **उग्रसेन** और **देवसेन** दोनो सगे भाई थे। फिर **देवकीके** 'भतीजी' होनेसे क्यो इनकार किया गया? और क्यो इस उल्लेखको छिपाया गया? क्या इसीलिये कि इससे हमारे सारे विरोधपर पानी फिर जायगा?

देवसेन राजा **उग्रसेनके** सगे भाई और **वसुदेवके** चचाजाद भाई थे, यह बात श्रीजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्योसे प्रकट है.—

उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले।
यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपतिभास्कर:॥ ६॥
सुतो नरपतिः तस्मादुद्भूद्भूवधूपतिः।
यदुस्तस्मिन्भुवं न्यस्य तपसा त्रिदिव गतः॥ ७॥
सूरश्चापि सुवीरश्च शूरौ वीरौ नरेश्वरौ।
स तौ नरपतिः राज्ये स्थापयित्वा तपोभजत्॥ ८॥
सूरः सुवीरमास्थाप्य मथुरायां स्वयं कृती।
स चकार कुशद्येषु पुरं सौर्य्यपुरं परम्॥ ९॥
शूराश्चान्धकवृष्ट्याद्याः सूराद्भवन्सुताः।
वीरो भोजकवृष्ट्याद्याः सुवीरान्मथुरेश्वरात्॥ १०॥
ज्येष्ठपुत्रे विनिक्षिप्तक्षितिभारो यथायथम्।
सिद्धौ सूरसुवीरौ तौ सुप्रतिष्ठेन दीक्षितौ॥ ११॥
आसीदन्धकवृष्टेश्च सुभद्रा वनितोत्तमा।
पुत्रास्तस्या दशोत्पन्नास्त्रिदशाभा दिवश्च्युताः॥ १२॥
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तथा स्तिमितसागर[१]।
हिमवान्विजयश्चान्योऽचलो धारणपूरणौ॥ १३॥
अभिचद्र इहाख्यातो वसुदेवश्च ते दश।
दशार्हाः सुमहाभागाः सर्वेप्यन्वर्थनामका.॥ १४॥

१. देखो, नया मदिर, देहलीकी प्रति।

कुन्तीमद्री च कन्ये द्वे मान्ये स्त्रीगुणभूषणे।
लक्ष्मीसरस्वतीतुल्ये भगिन्यौ वृष्टिजन्मिनाम् ॥ १५ ॥
राज्ञो भोजकवृष्टेर्या पत्नी पद्मावती सुतान्।
उग्रसेन-महासेन-देवसेनानसूत सा ॥ १६ ॥

—हरिवंशपुराण, १८ वाँ सर्ग।

इन वाक्योंके-द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'हरिवंशमे राजा 'यदु' का उदय हुआ, उसीसे यादव वंशकी उत्पत्ति हुई और वह अपने पुत्र 'नरपति' को पृथ्वीका भार सौंप कर, तपश्चरण करता हुआ, स्वर्ग-लोकको प्राप्त हुआ। नरपतिके 'सूर' और 'सुवीर' नामके दो पुत्र हुए, जिन्हे राज्यपर स्थापित करके उसने तप ले लिया। इसके बाद सूरने अपने भाई सुवीरको मथुरामे स्थापित करके स्वयं सौर्यपुर नगर बसाया, सूरसे 'अन्धकवृष्टि' आदि शूर पुत्र उत्पन्न हुए और मथुराके स्वामी सुवीरसे 'भोजकवृष्टि' आदि वीर पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई, सूर और सुवीर दोनोंने अपने-अपने ज्येष्ठ पुत्र (अन्धकवृष्टि भोजकवृष्टि) को राज्य देकर सुप्रतिष्ठ मुनिसे दीक्षा ली और सिद्धपदको प्राप्त किया, अन्धकवृष्टिकी सुभद्रा स्त्रीसे समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमितसागर, हिमवान, विजय, अचल, धारण, पूरण, अभिचन्द्र, और **वसुदेव** नामके दस महाभाग्यशाली पुत्र उत्पन्न हुए, साथ ही, **कुन्ती** और **मद्री** नामकी दो कन्याएँ भी हुईं, और राजा भोजकवृष्टिकी पद्मावती स्त्रीसे उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामके तीन पुत्र[1] उत्पन्न हुए।'

---

१ समालोचकजीने, तीन पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्रीके भी नामोल्लेखका पृष्ठ ३ पर उल्लेख किया है। परन्तु देहलीके नये मंदिरकी प्रतिमें, यहाँपर, पुत्रीका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। हाँ, उत्तरपुराण

यही वह सब वशावली है जिसका सार लेखकने वसुदेवजी-के उदाहरणको प्रारम्भ करते हुए दिया था। उसमे 'उग्रसेन'की जगह 'देवसेन' बना देनेसे वह उक्त उल्लेखपर भी ज्यो-की-त्यो घटित हो सकती है। इस वशावलीमे आगे समुद्रविजयादि तथा उग्रसेनादिकी सततिका कोई उल्लेख नही है। उसका उल्लेख ग्रन्थमे खड-रूपसे पाया जाता है और उन खड-कथनोपरसे ही देवकी नृप भोजकवृष्टिकी पौत्री तथा राजा सुवीरकी प्रपौत्री और इसलिए वसुदेवकी भतीजी निश्चित होती है।

यहाँ, उन खण्ड-कथनोका उल्लेख करनेसे पहले, मैं अपने पाठकोको इतना और बतला देना चाहता हूँ कि, यद्यपि भाषा हरिवशपुराणके पृष्ठ ३३६ और ३६५ वाले उक्त दोनो उल्लेखो-परसे यह पाया जाता है कि प० गजाधरलालजीने देवकीको राजा उग्रसेनके भाई देवसेन (राजा) की पुत्री बतलाया है और देवसेनकी स्त्रीका नाम 'धन्या' (धनदेवी) तथा उनके वास-स्थानका नाम 'दशार्णपुर' प्रकट किया है। परन्तु उनका यह कथन सन् १९१६ का है, जिस सालमे कि उनका भाषा हरि-वशपुराण प्रकाशित हुआ था। इससे करीब तीन वर्ष बाद—

पर्व ७० मे 'गाधारी' नामकी पुत्रीका उल्लेख जरूर मिलता है। परन्तु वहाँ वसुदेवके पिता और उग्रसेनके पिता दोनोको सगे भाई बतलाया है। और दोनोके पिताका नाम शूरवीर तथा पितामहका सूरसेन दिया है। यथा :—

> अवार्य निजशौर्येण निर्जिताशेषविद्विष ।
> ख्यातशौर्यपुराधीशसूरसेनमहीपते. ॥ ९३ ॥
> सुतस्य शूरवीरस्त्र धरिण्याश्च तनूद्भवौ ।
> विख्याताऽन्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिनरादिवाक् ॥९४॥

सन् १९१९ मे—,'पद्मावती पुरवाल'के द्वितीय वर्षके ५वें अकमे 'शिक्षाप्रद-शास्त्रीय-उदाहरण' नामके प्रकृत लेखपर अपना विचार प्रकट करते हुए, उन्होने स्वय देवकीको राजा उग्रसेनकी पुत्री और वसुदेवकी भतीजी स्वीकार किया है। आपके उस विचार-लेखका एक अश इस प्रकार है —

"जिस समय राजा वसुदेव आदि सरीखे व्यक्तियोका अस्तित्व पृथ्वीपर था, उस समय अयोग्य व्यभिचार नही था। जिस स्त्रीको ये लोग स्वीकार कर लेते थे उसके सिवाय अन्य स्त्रीको माँ, बहिन, पुत्रीके समान मानते थे। इसलिये उस समय देवकी और वसुदेव सरीखे विवाह भी स्वीकार कर लिये जाते थे। अर्थात् यद्यपि कुटुम्बके नाते राजा उग्रसेन वसुदेवके भाई लगते थे, परन्तु किसी अन्य कुटुम्बसे आई हुई स्त्रीसे उत्पन्न उग्रसेनकी पुत्रीका भी वसुदेवने पाणिग्रहण कर लिया था। लेकिन उसके वाद फिर ऐसा जमाना आता गया कि लोगोके हृदयोसे धार्मिक-वासना विदा ही हो गई, लोग खास पुत्री और बहिन आदिको भी स्त्री बनानेमे सकोच न करने लगे, तो गोत्र आदि नियमोकी आवश्यकता समझी गई। लोगोने अपनेमे गोत्र आदिकी स्थापना कर चचा-ताऊजात वहिन-भाईके शादी-सम्बन्धको बद किया। वही प्रथा आजतक वराबर जारी है।"

इस अवतरणसे इतना ही मालूम नही होता कि पण्डित गजाधरलालजीने देवकीको राजा उग्रसेनकी पुत्री तथा वसुदेवको उग्रसेनका कुटुम्बके नाते भाई स्वीकार किया है और दोनोके विवाहको उस समयकी दृष्टिसे उचित प्रतिपादन किया है, वल्कि यह भी स्पष्ट जान पडता है कि उन्होने उस समय चचा-ताऊजाद वहिन-भाईके शादी-सम्बन्धका रिवाज माना है और यह स्वीकार किया

है कि उस समय विवाहमे गोत्रादिके नियमोकी कोई कल्पना नही थी, जरूरत पडनेपर बादको उनकी सृष्टि की गई और तभीसे उस प्रकारके कुटुम्बमे होनेवाले शादी-सम्बन्ध वद किये गये ।

इस अवतरणके बाद पडितजीने, आजकल वैसे विवाहोकी योग्यताका निषेध करते हुए यह विधान किया है कि यदि धर्मके वास्तविक स्वरूपको समझकर लोगोमे धर्मकी स्वाभाविक—(पहले जैसी) प्रवृत्ति हो जाय तो आजकल भी ऐसे विवाहोसे हमारी कोई हानि नही हो सकती । यथा—

"इसलिये यह बात सिद्ध है कि वसुदेव और देवकी कैसे विवाहोकी इस समय योग्यता नही । लेकिन हाँ, यदि हम इस बातकी ओर लीन हो जायँ कि जो कुछ हमारा हितकारी है वह धर्म है । हम वास्तविक धर्मका स्वरूप समझ निकले हिताहितका विवेक हो जाय हमारे धार्मिक कार्य किसी प्रेरणासे न होकर स्वभावत हो निकले, विपय-लालसाको हम अपने सुखका केन्द्र न समझे । उस समय देवकी और वसुदेव कैसे विवाहोसे हमारी कोई हानि नही हो सकती ।"

इस सब कथनसे कोई भी पाठक क्या यह नतीजा निकाल सकता है कि पण्डित गजाधरलालजीने देवकी और वसुदेवके पूर्व-सम्बन्धके विपयमे लेखकसे कोई भिन्न बात कही है अथवा कुटुम्ब-के नाते देवकीको वसुदेवकी भतीजी माननेसे इन्कार किया है ? कभी नही, वल्कि उन्होने तो अपने लेखके अन्तमे इनके विवाहकी बावत लिखा है कि वह "अयुक्त न था, उस समय यह रीति-रिवाज जारी थी ।" और उसकी पुष्टिमे अग्रवालोका दृष्टात दिया है । फिर नही मालूम समालोचकजीने किस बिरतेपर उनका वह 'रानी-

नन्दयशा' वाला वाक्य बडे दर्पके साथ प्रमाणमे पेश किया था ? क्या एक वाक्यके छलसे ही आप अपने पाठकोको ठगना चाहते थे ? भोले भाई भले ही आपके इस जालमे फंस जायँ परन्तु विशेषज्ञोके सामने आपका ऐसा कोई जाल नही चल सकता। समझदारोने जिस समय यह देखा था कि आपने और जगह तो जिनसेनाचार्यकृत हरिवशपुराणके वाक्योको उद्धृत किया है, परन्तु इस मौकेपर, जहाँ जिनसेनके वाक्यको उद्धृत करनेकी खास जरूरत थी, वैसा न करके अनुवादके एक वाक्यसे काम लिया है, वे उसी वक्त ताड गये थे कि जरूर इसमे कोई चाल है—अवश्य यहाँ दालमें कुछ काला है—और वस्तु-स्थिति ऐसी नही जान पडती। खेद है कि जो समालोचकजी, अपनी समालोचनामे पण्डित गजाधरलालजीके वाक्योको वडी श्रद्धा-दृष्टिसे पेश करते हुए नजर आते हैं उन्होने उक्त पण्डितजीकी एक भी वात मानकर न दी—न तो देवकीको राजा उग्रसेनकी लडकी माना और न उग्रसेनके भाई देवसेनकी पुत्री ही स्वीकार किया। प्रत्युत इसके, जिन-सेनाचार्यके कथनको छिपाने और उसपर पर्दा डालनेका भरसक यत्न किया है। इस हठधर्मी और वेहयाईका भी क्या कही कुछ ठिकाना है ? जान पडता है विधर्मीजनोकी कुछ कहा-सुनीके खयालने समालोचकजीको वुरी तरहसे तग किया है और इसीसे समालोचनाके पृष्ठ चारपर वे लेखकपर यह आक्षेप करते हैं कि उसने—"यह नही विचार किया कि इस असत्य लेखके लिखने-से विधर्मीजन पवित्र जैनधर्मको कितनी घृणापूर्ण दृष्टिसे अव-लोकन करेंगे।"

महाशयजी! आप अजैनोकी—अपने विधर्मीजनोकी—चिन्ता न कीजिये, वे सव आप जैसे नासमझ नही हैं जो किसी

रीति-रिवाज अथवा घटना-विशेषको लेकर पवित्र धर्मसे भी घृणा कर बैठे, उनमे बडे-बडे समझदार तथा न्याय-निपुण लोग मौजूद हैं और प्राचीन इतिहासकी खोजका प्राय सारा काम उन्हीके-द्वारा हो रहा है। उनमे भी यह सब हवा निकली हुई है और वे खूब समझते हैं कि पहले जमानेमे विवाह-विषयक क्या, कुछ नियम-उपनियम थे और उनकी शकल बदलकर अब क्या-से-क्या हो गई है। और यदि यह मान लिया जाय कि उनमे भी आप-जैसी समझके कुछ लोग मौजूद हैं तो क्या उनके लिये—उनकी नि सार कहा-सुनीके भयसे—सत्यको छोड दिया जाय ? सत्यपर पर्दा डाल दिया जाय ? अथवाउ से असत्य कह डालनेकी धृष्टता की जाय ? यह कहाँका न्याय है ? क्या यही आपका धर्म है ? ऐसी ही सत्यवादिताके आप प्रेमी हैं ? और उसीका आपने अपनी समालोचनामे ढोल पीटा है ? महाराज। सत्य इस प्रकार छिपायेसे नही छिप सकता, उसपर पर्दा डालना व्यर्थ है, आप जैनधर्मकी चिन्ता छोडिये और अपने हृदयका सुधार कीजिये। जैनधर्म किसी रीति-रिवाजके आश्रित नही है—वह अपने अटल-सिद्धान्तोऔर अनेकान्तात्मक स्वरूपको लिये हुए वस्तु-तत्त्वपर स्थित है—उसे कृपया अपने रीति-रिवाजोकी दलदलमे मत घसीटिये, उसपरसे अपनी कुत्सित प्रवृत्तियो और सकीर्ण विचारोका आवरण हटाकर लोगोको उसके नग्नस्वरूपका दर्शन होने दीजिये, फिर किसीकी ताव नही कि कोई उसे घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन कर सके।

और इस देवकी-वसुदेवके सम्बन्धपर ही आप इतने क्यो उद्विग्न होते हैं ? यह चचा-भतीजीका सम्बन्ध तो कई पीढियोको लिये हुए है—देवकी वसुदेवकी सगी भतीजी नही थी, सगी

भतीजी तब होती जब समुद्रविजयादि वसुदेवके ६ सगे भाइयोमेंसे वह किसीकी लडकी होती—परन्तु आप इससे भी करीबी-सम्बन्धको लीजिये, और वह राजा उग्रसेनके पोते-पोतियोका सम्बन्ध है। कहा जाता है कि अग्रवाल-वशकी जिन राजा अग्रसेनसे उत्पत्ति हुई है, उनके १८ पुत्र थे। इन पुत्रोका विवाह तो राजा अग्रसेनने दूसरे राजाओकी राज-कन्याओसे कर दिया था, परन्तु राजा अग्रसेनकी युद्धमे मृत्यु होनेके साथ उनका राज्य नष्ट हो जानेके कारण जब इन राज्य-भ्रष्ट १८ भाइयोको अपनी-अपनी सततिके लिये योग्य विवाह-सम्बन्धका सकट उपस्थित हुआ तो इन्होने अपने पिताके पूज्य गुरु पतजलि और मत्री-पुत्रोके परामर्शसे अपनेमे १८ (एक प्रकारसे १७॥) गोत्रोकी कल्पना करके आपसमे विवाह-सबध करना स्थिर किया—अर्थात्, यह ठहराव किया कि अपना गोत्र बचाकर दूसरे भाईकी सततिसे विवाह कर लिया जाय—और तदनुसार एक भाईके पुत्र-पुत्रियोका दूसरे भाईके पुत्र-पुत्रियोके साथ विवाह होगया, अथवा यो कहिये कि सगे चचा-ताऊजाद भाई-बहनोका आपसमें विवाह होगया। इसके बाद भी कुटुम्ब तथा वशमे विवाहका सिलसिला जारी रहा—कितने ही भाई-बहनो तथा चचा-भतीजियोका आपसमे विवाह हुआ—और उन्ही विवाहोका परिणाम यह आजकलका विशाल अग्रवाल-वश है, जिसमे जैन और अजैन दोनो प्रकारकी जनता शामिल है। और इससे अजैनोके लिए जैनोके किसी पुराने कौटुम्बिक विवाहपर आपत्ति करने या उसके कारण जैनधर्मसे ही घृणा करनेकी कोई वजह नही हो सकती। आज भी अग्रवाल लोग, उसी गोत्र-पद्धतिको टालकर, अपने उसी एक वशमे—अग्रवालोके ही साथ विवाह-सम्बन्ध करते हैं, यह प्राचीन रीति-रिवाज तथा

घटना-विशेषको प्रदर्शित करनेवाला कितना स्पष्ट उदाहरण है। बाबू विहारीलालजी अग्रवाल जैन बुलन्दशहरीने अपने **'अग्रवाल इतिहास'** मे भी अग्रवालोकी उत्पत्तिका यह सब इतिहास दिया है। इतनेपर भी समालोचकजी प्राचीन कालके ऐसे विवाह-सम्बन्धोपर, जिनके कारण वहुत-सी श्रेष्ठ जनताका इस समय अग्रवाल वशमे अस्तित्व है, घृणा प्रकाशित करते हैं और उनपर पर्दा डालना चाहते हैं, यह कितने बडे आश्चर्यकी वात है ॥

पाठकजन, यह वात मानी हुई है और इसमे किसीको आपत्ति नही कि **'कस'** उन यदुवशी राजा **उग्रसेन**का पुत्र था, जिनका उल्लेख ऊपर उद्धृत की हुई वशावलीमे भोजक-वृष्टिके पुत्ररूपसे पाया जाता है। यह **कंस** गर्भमे आते ही माता-पिताको अतिकष्टका कारण हुआ और अपनी आकृतिसे अत्युग्र जान पडता था, इसलिये पैदा होते ही एक मजूषामे वन्द करके इसे यमुनामे वहा दिया गया था। दैवयोगसे, **कौशाम्बीमे** यह एक कलाली (मद्यकारिणी) के घर पला, शस्त्र-विद्यामे **वसुदेव**का शिष्य वना और **वसुदेव**की सहायतासे इसने महाराज **जरासंध**के एक शत्रुको वाँधकर उनके सामने उपस्थित किया। इसपर **जरासध**ने अपनी **कालिन्दसेना** रानीसे उत्पन्न **'जीवद्यशा'** पुत्रीका विवाह **कंस**से करना चाहा। उस वक्त **कस**का वश-परिचय पानेके लिये जब वह मद्यकारिणी वुलाई गई और वह मजूषा सहित आई तो उस मजूषाके लेखपरसे **जरासंध**को यह मालूम हुआ कि **कंस** मेरा भानजा है—मेरी वहन **पद्मावतीसे** **उग्रसेन**-द्वारा उत्पन्न हुआ है—और इसलिये उसने वडी खुशीके साथ अपनी पुत्रीका विवाह उसके साथ कर दिया। इस विवाहके अवसरपर **कस**को अपने पिता **उग्रसेन**की इस निर्दयताका हाल मालूम करके—कि उसने

पैदा होते ही उसे नदीमे वहा दिया—वडा क्रोध आया और इसलिए उसने जरासंधसे मथुराका राज्य माँगकर सेना आदि साथ ले मथुराको जा घेरा। और वहाँ पिताको युद्धमे जीतकर बाँध लिया तथा अपना बदी बनाकर उसे मथुराके द्वारपर रक्खा। इस पिछली बातको जिनसेनाचार्यने नीचे लिखे तीन पद्योमे जाहिर किया है —

सद्योजात पिता नद्या मुक्तवानिति च क्रुधा।
वरीत्वा मथुरां लब्ध्वा सर्वसाधनसगतः॥ २५॥
कस. कालिन्दसेनाया. सुतया सह निर्घृण।
गत्वा युद्धे विनिर्जित्य ववन्ध पितर द्रुत॥ २६॥
महोग्रो भग्नसंचार उग्रसेन निगृह्य सः।
अतिष्ठिपत्कनिष्ठः स. स्वपुरद्वारगोचरे॥ २७॥

—हरिवशपुराण, ३३वाँ सर्ग।

इसके बाद कंसने सोचा कि यह सब (जीवद्यशासे विवाहका होना और मथुराका राज्य पाना) वसुदेवका उपकार है, मुझे भी उनके साथ कुछ प्रत्युपकार करना चाहिये और इसलिये उसने प्रार्थना-पूर्वक अपने गुरु वसुदेवको बडी भक्तिके साथ मथुरामे लाकर उन्हे गुरुदक्षिणाके तौरपर अपनी बहन 'देवकी' प्रदान की—अर्थात्, अपनी बहन देवकीका उनके साथ विवाह कर दिया।

विवाहके पश्चात् वसुदेवजी कंसके अनुरोधसे देवकीसहित मथुरामे रहने लगे। एक दिन कसके बडे भाई 'अतिमुक्तक' मुनि[1]

---

१ ये 'अतिमुक्तक' मुनि राजा उग्रसेनके वडे पुत्र थे और पिताके साथ किये हुए कसके व्यवहारको देखकर ससारसे विरक्त हो गये थे, ऐसा

आहारके लिये कंसके घरपर आए। उस समय कंसकी रानी जीवद्यशा उन्हे प्रणाम कर वडे विभ्रमके साथ उनके सामने खडी हो गयी और उसने देवकीका रजस्वल वस्त्र मुनिके समीप डालकर हँसी-दिल्लगी उडाते हुए उनसे कहा 'देखो! यह तुम्हारी वहन देवकीका आनन्द वस्त्र है'।

इसपर ससारकी स्थितिके जाननेवाले मुनिराजने अपनी वचन-गुप्तिको भेदकर खेद प्रकट करते हुए, कहा 'अरी क्रीडन-शीले! तू शोकके स्थानमे क्या आनद मना रही है, इस देवकीके गर्भसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होनेवाला है जो तेरे पति और पिता दोनोके लिये काल होगा, इसे भवितव्यता समझना।' मुनिके इस कथनसे जीवद्यशाको वडा भय मालूम हुआ और उसने अश्रुभरे लोचनोसे जाकर वह सव हाल अपने पतिसे निवेदन किया। कंस भी मुनि-भापणको सुनकर डर गया और उसने शीघ्र ही वसुदेवके पास जाकर यह वर माँगा कि 'प्रसूतिके समय देवकी मेरे घरपर रहे'। वसुदेवको इस सव वृत्तान्तकी कोई खवर नही थी और इसलिये उन्होने कंसकी वर-याचनाके गुप्त रहस्यको न समझकर वह वर उसे दे दिया। सो ठीक है 'सहो-दरके घर वहनके किसी नाशकी कोई आशका भी नही की

जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणसे मालूम होता है, जिसका एक पद्य इस प्रकार है:—

उग्रसेनात्मजो ज्येष्ठोऽतिमुक्तक इतीरितः।
भवस्थितिमिमा वीक्ष्य दध्याविति निजे हृदि ॥१२–६१॥

परन्तु ब्रह्मनेमिदत्त अपने कथाकोशमे इन्हे कसका छोटा भाई लिखते हैं। यथा—

"तदा कसलघुभ्राता दृष्ट्वा ससारचेष्टितम्।
अतिमुक्तकनामासौ सजातो मुनिसत्तम ॥

जाती'—**कंस देवकीका** सहोदर (सगा भाई) था, उसके घरपर **देवकीके** किसी अहितकी आशकाके लिये **वसुदेवके** पास कोई कारण नही था, जिससे वे किसी प्रकार उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार करनेके लिये बाध्य हो सकते, और इसलिये उन्होने खुशीसे **कंसकी** प्रार्थनाको स्वीकार करके उसे वचन दे दिया ।

यह सब कथन जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणसे लिया गया है । इस प्रकरणके कुछ प्रयोजनीय पद्य प० दौलतरामजीकी भापा-टीका सहित इस प्रकार है —

> वसुदेवोपकारेण ह्रत· प्रत्युपकारधीः ।
> न वेत्ति कि करोमीति किंकरत्वमुपागतः ॥ २८ ॥
> अभ्यर्थ्य गुरुमानीय मथुरां पृथुभक्तित· ।
> स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकी गुरुदक्षिणाम् ॥ २९ ॥

टीका—"कस मथुराका राज पाय अर विचारी यह सब उपगार वसुदेवका है । सो मैं हू याकी कुछ सेवा करूँ ॥२८॥ तब प्रार्थना करि **वसुदेव** कू महाभक्तिते (सू) मथुराविपै लाया अर अपनी वहन देवकी वसुदेवकू परनाई ॥२९॥"

> "जातुचिन्मुनिवेलायामतिमुक्तकमागतम् ।
> कसज्येष्ठं मुनिं नत्वा पुरः स्थित्वा सविभ्रमम् ॥ ३२ ॥
> हसती नर्मभावेन जगौ जीवद्यशा इति ।
> आनन्दवस्त्रमेतत्ते देवक्या. स्वसुरीक्षताम् ॥ ३३ ॥

टीका—"एक दिन आहारके समै कसके बडे भाई अतिमुक्तक नामा मुनि कसके घर आहारकू आए ॥ ३२ ॥ तब नमस्कार करि जीवयशा चचल भावकरि हँसती थकी देवकीके रजस्वलापनेके वस्त्र स्वामीके समीप डारे अर कहती भई । ए तिहारी वहनके आनन्दके वस्त्र हैं सो देषहु ॥ ३३ ॥"

"भविता यो हि देवक्या गर्भेऽवश्यमसौ शिशुः ।
पत्युः पितुश्च ते मृत्युरितीय भवितव्यता ॥ ३६ ॥
ततो भीतमतिर्मुक्त्वा मुनिं साश्रुनिरीक्षणा ।
गत्वा न्यवेदयत्सैतत्सत्य यतिभाषितम् ॥ ३७ ॥
श्रुत्वा कसोपि शकावानाशु गत्वा पदानत ।
वसुदेवं वरं वव्रे तीव्रधी. सत्यवाग्व्रतम् ॥ ३८ ॥
स्वामिन्वरप्रसादो मे दातव्यो भवता ध्रुवम् ।
प्रसूतिसमये वासो देवक्या मद्गृहेऽस्त्विति ॥ ३९ ॥
सोऽप्यविज्ञातवृत्तान्तो दत्तवान्वरमस्तधीः ।
नापायः शक्यते कश्चित्सोदरस्य गृहे स्वसुः ॥ ४० ॥"

टीका—" (मुनिने कहा) या देवकीके गर्भ विषै ऐसा पुत्र होयगा जो तेरे पतिकूँ अर पिताकूँ मारेगा ॥ ३६ ॥ तब यह जीवजशा अश्रुपात करि भरे हैं नेत्र जाके सो जायकरि अपने पतिकूँ मुनिके कहे हुए वचन कहती भई ॥ ३७ ॥ तब कस ए वचन सुनकरि शकावान होय तत्काल वसुदेव पै गया अर वर माग्या ॥ ३८ ॥ कही हे स्वामी, मोहि यह वर देहु जो देवकीकी प्रसूति मेरे घर होय । सो वसुदेव तो यह वृत्तान्त जानें नाही ॥ ३९ ॥ विना जाने कही तिहारे ही घर प्रसूतिके समै वह निवास करहु । यामे दोष कहा । वहन का जापा भाईके घर होय यह तो उचित ही है । या भाँति वचन दिया ॥ ४० ॥"

इन पद्योमेसे २९वे, ३३वे और ४०वें पद्यमे यह स्पष्टरूपसे घोषित किया गया है कि देवकी कंसकी वहन थी, कसके वडे भाई अतिमुक्तककी बहन थी और कस उसका **'सोदर'** था । **'सोदर'** शब्दको यहाँ आचार्य महाराजने खासतौरपर अपनी ओरसे प्रयुक्त किया है और उसके-द्वारा देवकी और कंसमे बहन-भाईके अत्यन्त निकट सम्बन्धको घोषित किया है । **'सोदर'** कहते

हैं 'सहोदर' को—सगे भाईको—जिनका उदर तथा गर्भाशय समान है—एक है—अथवा जो एक ही माताके पेटसे उत्पन्न हुए हैं वे सब **'सोदर'** कहलाते हैं। और इसलिए सोदर, समानोदर, सहोदर, सगर्भ, सनाभि और सोदर्य ये सब एकार्थ-वाचक शब्द हैं। 'शब्द कल्पद्रुम' मे भी सोदरका यही अर्थ दिया है। यथा —

"सोदर, (सह समान उदर यस्य। सहस्य स ।) सहोदर इति शब्दरत्नावली।" "सहोदर, एकमातृगर्भजातभ्राता। तत्पर्याय —, सहज, सोदर, भ्राता, सगर्भ, समानोदर्य, सोदर्य इति जटाधर ।"

वामन शिवराम आप्टेने भी अपने कोशमे इसी अर्थका विधान किया है। यथा —

"सोदर a [समानमुदर यस्य समानस्य स] Born from the same womb (गर्भ, गर्भाशय), uterine —र a uterine brother"

"Uterine, सहोदर, सोदर, समानोदर, सनाभि "

ऐसी हालतमे, **देवकी कसकी** वहन ही नही, किन्तु सगी वहन हुई और इसलिये उसे राजा **उग्रसेनकी** पुत्री, नृप **भोजक-वृष्टिकी** पौत्री, महाराजा **सुवीरकी** प्रपौत्री और (सुवीरके सगे भाई सूरके पोते) **वसुदेवकी** भतीजी कहना कुछ भी अनुचित मालूम नही होता।

वशावलीके बादके इन्ही सब खण्ड-उल्लेखोको लेकर **देवकीको** राजा **उग्रसेनकी** पुत्री लिखा गया था। परन्तु हालमे जिनसेना-चार्यके हरिवशपुराणसे एक ऐसा वाक्य उपलब्ध हुआ है जिससे

मालूम होता है कि देवकी खास उग्रसेनकी पुत्री नही, किन्तु उग्रसेनके भाईकी पुत्री थी और वह वाक्य इस प्रकार है —

प्रवर्द्धतां भ्रातृशरीरजायाः सुतोऽयमज्ञेयमरेरितीष्टाम्।
तदोग्रसेनीमभिनंद्य वाचममू विनिर्जग्मतुराशु पुर्याः ॥ ३६ ॥
—३५ वॉ सर्ग।

यह वाक्य उस अवसरका है जब कि नवजात बालक कृष्णको लिये हुए वसुदेव और बलभद्र दोनो मथुराके मुख्य-द्वार-पर पहुँच गये थे, बालककी छीकका गभीर नाद होनेपर द्वारके ऊपरसे राजा उग्रसेन उसे यह आशीर्वाद दे चुके थे कि 'तू चिरकाल तक इस ससारमे निर्विघ्न रूपसे जीता रहो' और इस प्रिय आशीर्वादसे सतुष्ट होकर वसुदेवजी उनसे यह निवेदन कर चुके थे कि 'कृपया इस रहस्यको गुप्त रखना, 'देवकीके इस पुत्र-द्वारा आप बधनसे छूटोगे (विमुक्तिरस्मात्तव देवकेयात्)।' इस कथनके अनन्तरका ही उक्त पद्य है। इसके पूर्वार्धमे राजा उग्रसेनजी वसुदेवजीकी प्रार्थनाके उत्तरमे पुन आशीर्वाद देते हुए कहते है—'यह मेरे भाईकी पुत्रीका पुत्र शत्रुसे अज्ञात रहकर वृद्धिको प्राप्त होओ' और उत्तरार्धमे ग्रन्थकर्त्ता आचार्य बतलाते है कि 'तब उग्रसेनकी इस इष्ट वाणीका अभिनन्दन करके—उसकी सराहना करके—वे दोनो—वसुदेव और बलभद्र—नगरी (मथुरा) से बाहर निकल गये।'

इस वाक्यसे जहाँ इस विषयमे कोई सदेह नही रहता कि देवकी राजा उग्रसेनके भाईकी पुत्री थी वहाँ यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वह वसुदेवकी भतीजी थी, क्योकि उग्रसेन आदि वसुदेवके चचाजाद भाई थे और इसलिये उग्रसेनकी पुत्री न होकर उग्रसेनके भाईकी पुत्री होनेसे देवकीके उस सम्बन्धमे रचमात्र भी अन्तर नही पडता।

राजा **उग्रसेन**के दो सगे भाई थे—**देवसेन** और **महासेन**—जैसा कि पहले उद्धृत की हुई वंशावलीसे प्रकट है। उनमेसे, यद्यपि, यहाँपर किसीका नाम नही दिया, परन्तु पं० दौलतरामजी-ने अपनी भाषा-टीकामे **उग्रसेन**के इस भाईका नाम '**देवसेन**' सूचित किया है। यथा —

"हे पूज्य यह रहस्य गोप्य राखियो। या देवकीके पुत्र तैं तिहारा बंदिगृह तैं, छूटना होयगा। तब उग्रसेन कही यह मेरे भाई देवसेनकी पुत्रीका पुत्र वैरीकी बिना जानमे सुखतैं रहियो।"

पं० गजाधरलालजीने भी इस प्रसंगपर, अपने अनुवादमे, '**देवसेन**' का ही नाम दिया है जिसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है और उनकी, पं० दौलतरामजी वाली इन पंक्तियोंके आशयसे मिलती-जुलती, पंक्तियां भी ऊपर उद्धृत की जा चुकी हैं। हो सकता है कि उनका यह नामोल्लेख पं० दौलतरामजीके कथनका अनुकरण मात्र हो, क्योंकि तीन साल बादके अपने विचार-लेखमे, जिसका एक अंश '**पद्मावतीपुरवाल**' से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, उन्होंने स्वयं **देवकी**को राजा **उग्रसेन**की पुत्री स्वीकार किया है। परन्तु कुछ भी हो, पं० दौलतरामजीने **उग्रसेन**के उस भाईका नाम जो **देवसेन** सूचित किया है वह ठीक जान पडता है और उसका समर्थन उत्तरपुराण (पर्व ७०) के निम्न वाक्योंसे होता है —

अथ स्वपुरमानीय वसुदेवमहीपतिम्।
देवसेनसुतामस्मै देवकीमनुजां निजाम् ॥३६९॥"
विभूतिमद्वितीर्यैव काले कंसस्य गच्छति।
अन्येद्युरतिमुक्ताख्यमुनिर्भिक्षार्थमागमत् ॥३७०॥"
राजगेहं समीक्ष्यैनं हासाज्जीवद्यशा मुदा।
देवकीपुष्पजानन्दवस्त्रमेतत्तवानुजा ॥३७१॥

स्वस्याश्चेष्टितमेतेन प्रकाशयति ते मुने।
इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सकोप' सोऽपि गुप्तिभित् ॥३७२॥

इन वाक्यो-द्वारा यह बतलाया गया है कि—'कंसने नृप **वसुदेव**को अपने नगरमे लाकर उन्हे **देवसेन**की पुत्री अपनी छोटी वहन **'देवकी'** प्रदान की (विवाह दी)। इसके बाद कुछ काल वीतनेपर एक दिन 'अतिमुक्त' नामके मुनि भिक्षाके लिये कसके राजभवनपर आए। उन्हे देखकर (कसकी रानी) जीवद्यशा प्रसन्न हो हँसीसे कहने लगी देखो! यह देवकीका रजस्वल आनन्द वस्त्र है और इसके-द्वारा तुम्हारी छोटी बहन (देवकी) अपनी चेष्टाको तुमपर प्रकट कर रही है।' इसे सुनकर मुनिको क्रोध आ गया और वे अपनी वचनगुप्तिको भग करके कहने लगे, क्या कहने लगे, यह अगले पद्योमे वतलाया गया है।

यहाँ देवकीके लिये दो जगहपर **'अनुजा'** विशेषणका जो प्रयोग किया गया है वह खासतौरसे ध्यान देने योग्य है। अनुजा कहते हैं कनिष्ठा भगिनी[1] को—younger sister[2]को—जो अपने बाद पैदा हुई हो (अनु पश्चात् जाता इति अनुजा।) और यह शब्द प्राय अपनी सगी बहन अथवा अपने सगे ताऊ-चचाकी लडकीके लिये प्रयुक्त होता है। **कंस उग्रसेन**का पुत्र था और **उग्रसेन, देवसेन** दोनो सगे भाई थे, यह बात इस ग्रन्थ (उत्तर-पुराण) मे भी इससे पहले मानी गई है[3] और इसलिये कसने

---

१. देखो 'शब्दकल्पद्रुम' कोश। २ देखो वामन शिवराम आप्टेकी सस्कृत-इग्लिश डिक्शनरी।

३. पद्मावत्या द्वितीयस्य वृष्टेश्च तनयास्त्रय ।
उग्र देव-महाद्युक्तिसेनान्ताश्च गुणान्विता. ॥ १०० ॥

× × ×

देवसेनकी पुत्री अपनी छोटी बहन देवकी (देवसेनसुता निजा अनुजा देवकी) वसुदेवको प्रदान की, इसका स्पष्ट अर्थ यही होता है कि कंसने अपने चचा देवसेनकी पुत्री देवकी वसुदेवसे ब्याही। भावनगरकी एक पुरानी जीर्ण प्रतिमे, प्रथम पद्यमे आए हुए 'देवसेन' नामपर टिप्पणी देते हुए, लिखा है—

"उग्रसेन-देवसेनमहासेनास्त्रयो नरवृष्णे पुत्रा ज्ञातव्या" अर्थात्—उग्रसेन, देवसेन और महासेन ये तीन नरवृष्णि[1] (भोजकवृष्टि) के पुत्र जानने चाहिये। इससे उक्त अर्थका और भी ज्यादा समर्थन हो जाता है और किसी सदेहको स्थान नही रहता। अस्तु, यह देवसेन मृगावती देशके अन्तर्गत दशार्णपुरके राजा थे, 'धनदेवी' इनकी स्त्री थी और इसी धनदेवीसे देवकी उत्पन्न हुई थी, ऐसा उत्तरपुराणके निम्नवाक्यसे प्रकट है —

मृगावत्याख्यविषये दशार्णपुरभूपते ।
देवसेनस्य चोत्पन्ना धनदेव्याश्च देवकी ॥

७१ वॉ पर्व।

और इसलिये ब्रह्मनेमिदत्तके नेमिपुराण, जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवशपुराण, भट्टारक शुभचन्द्रके पाण्डवपुराण और भ० यश कीर्तिके प्राकृत हरिवशपुराणमे देवकीके पिता, धनदेवीके

इति तद्वचन श्रुत्वा मजूषान्तस्थपत्रक ।
गृहीत्वा वाचयित्वोच्चैरुग्रसेनमहीपते ॥ ३६५ ॥
पद्मावत्याश्च पुत्रोयमिति ज्ञात्वा महीपति ।
वितातार सुता तस्मै राज्यार्धं च प्रतुष्टवान् ॥ ३६६ ॥
व सोऽप्युत्पत्तिमात्रेण स्वस्य नद्या विसर्जनात् ।

—उत्तरपुराण, ७० वॉ पर्व।

१ उत्तरपुराणमें भोजकवृष्टि (वृष्णि) की जगह नरवृष्णि या नरवृष्टि ऐसा नाम दिया है।

पति और दशार्णपुरके राजा रूपसे जिन देवसेनका उल्लेख पाया जाता है और जिनके उल्लेखोको, इन ग्रथोसे, समालोचनामे उद्धृत किया गया है वे ये ही राजा **उग्रसेन**के भाई देवसेन हैं—उनसे भिन्न दूसरे कोई नही हैं। नेमिपुराणमे तो उत्तरपुराणकी उक्त दोनो पक्तियाँ भी ज्यो-की-त्यो उद्धृत पाई जाती है बल्कि इनके बादकी "रवसा नन्दयशा स्त्रीत्वमुपगम्य निदानत" यह तीसरी पक्ति भी उद्धृत है और ग्रन्थके प्रारभमे अपने पुराण-कथनको प्रधानत गुणभद्रके पुराण (उत्तरपुराण) के आश्रित सूचित किया है। यथा .—

> यत्पुराण पुरोक्तं गुणभद्रादिसूरिभिः।
> तद्वक्ष्ये तुच्छबोधोऽहं किमाश्चर्यमतः पर ॥ २८ ॥

पाण्डवपुराणमे, गुणभद्रकी स्तुतिके बाद स्पष्ट लिखा ही है कि उनके पुराणार्थका अवलोकन करके यह पुराण रचा जाता है। यथा .—

> गुणभद्रभदंतोऽत्र भगवान् भातु भूतले।
> पुराणाद्रौ प्रकाशार्थ येन सूर्यायित लघु ॥ १९ ॥
> तत्पुराणार्थमालोक्य धृत्वा सारस्वत श्रुतम्।
> मानसे पाण्डवानां हि पुराण भारत ब्रुवे ॥ २० ॥

जिनदास ब्रह्मचारीका हरिवशपुराण प्राय जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणको सामने रखकर लिखा गया है और उसमे जिनसेनके वाक्योका बहुत कुछ शब्दानुसरण पाया जाता है। जिनदासने स्वय लिखा भी है कि गौतमगणधरादिके बाद हरिवशके चरित्रको जिनसेनाचार्यने पृथ्वीपर प्रसिद्ध किया है। और उन्हीके वाक्योपरसे यह चरित्र अपने तथा दूसरोके सुख-बोधार्थ यहाँ उद्धृत किया गया है। यथा —

तत· क्रमाच्छ्रीजिनसेननाम्नाचार्येण जैनागमकोविदेन ।
सत्काव्यकेलीसदनेन पृथ्व्यां नीत प्रसिद्धिं चरित हरेश्च ॥३५॥
श्रीनेमिनाथस्य चरित्रमेतदाननं (?) नीत्वा जिनसेनसूरे: ।
समुद्धृत स्वान्यसुखप्रबोधहेतोश्चिर नन्दतु भूमिपीठे ॥४१॥"

—४० वॉ सर्ग ।

और यश कीर्तिने भी अपने प्राकृत हरिवशपुराणको जिनसेन-के आधारपर लिखा है । वे उसके शब्द-अर्थका सम्वध जिन-सेनके शास्त्र (हरिवशपुराण) से वतलाते हैं । यथा —

अइ महंत पिक्खि वि जणु सकिउ । ता हरिवसु मइमिउंहिकिउ ।
सद्द-अत्थसवधु फुरंतउ । जिणसेणहो सत्तहो यहु पयडिउ ॥

इन उल्लेखोसे स्पष्ट है कि उक्त नेमिपुराणादि चारो ग्रथ जिनसेनके हरिवशपुराण और गुणभद्रके उत्तरपुराणके आधार-पर लिखे गये हैं और इसलिये इनमेसे यदि किसीमे देवकीको कसकी या कसके भाई अतिमुक्तककी वहन (स्वसा), छोटी बहन (अनुजा) अथवा राजा **उग्रसेनके** भाईकी पुत्री (भ्रातृ-शरीरजा, इत्यादि) नही लिखा हो तो इतने परसे ही वह किसी दूसरे देवसेनकी पुत्री नही ठहराई जा सकती, जवतक कि कोई स्पष्ट कथन ग्रथमे इसके विरुद्ध न पाया जाता हो । और यदि इन ग्रथोमेंसे किसीमें ऐसा कोई विरोधी कथन हो भी तो वह उस ग्रन्थकारका अपना तथा अर्वाचीन कथन समझना चाहिये, उसे जिनसेनके हरिवशपुराण और गुणभद्रके उत्तरपुराणपर कोई महत्त्व नही दिया जा सकता । परन्तु इन ग्रन्थोमे ऐसा कोई भी विरोधी कथन मालूम नही पडता, जिससे देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेनसे भिन्न किसी दूसरे देवसेनकी पुत्री ठहराई जा सके[1] ।

---

१ जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणमें तो उन तीनो अवसरोंपर

फिर भी समालोचकजी नेमिपुराणमे यह स्वप्न देख रहे हैं कि उसमे देवकीको कसके मामाकी पुत्री लिखा है और उसीके निम्न वाक्योके आधारपर यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि देवकी कसके मामाकी लडकी थी, इसलिये कस उसे बहन कहता था और इसीसे जिनसेनाचार्यने, हरिवशपुराणमे, उसे कसकी वहन रूपसे उल्लेखित किया है —

तत स्वय समादाय पितुः राज्यं स कसवाक्।
गौरवेण समानीय वसुदेव स्वपत्तनम् ॥ ८६ ॥
तदा मृगावतीदेशे भूर्भुजादेशनं (?) पुण्त्।
कसमातुलजानीता[¹ता]धनदेव्या[व्यां]समुद्भवा[वां] ॥८७॥
देवकी[की]नामतां[तः]कन्यां कांचिदन्य[न्यां]सुरांगना[नां]।
महोत्सवैर्ददौ तस्मै सोऽपि सार्धं तया स्थितः ॥ ८८ ॥

इन पद्योमेसे मध्यका पद्य न० ८७, यद्यपि, ग्रन्थकी सब प्रतियोमे नही पाया जाता—देहलीके नये मदिरकी एक प्रतिमे भी वह नही है—और न इसके अभावसे ग्रन्थके कथन सम्बधमे ही कोई अन्तर पडता है, हो सकता है कि यह 'क्षेपक' हो। फिर भी

देवकीको कस तथा अतिमुक्तककी वहन ही लिखा है जिनपर जिनसेनके हरिवशपुराणमें वैसा लिखा गया है। यथा.—

"आनीय मथुरा भक्त्याऽभ्यचर्यार्थ प्रददौ निजां।
स्वसार देवकीं तस्मै सम्मान्य मृदुभाषया ॥ ६८ ॥
"सविभ्रमा हसतीति प्राह जीवद्यशा स्वसु ।
देवक्या वीक्ष त्व वस्त्रमृतुकालविडवितम् ॥ ७१ ॥
"वरमज्ञातवृत्तान्त प्रददौ स्वच्छधी स्वय।
तथेत्युक्त्वा स्वसुर्भ्रातृगेहे किं च न कुत्सितं ॥ ८० ॥"

—१२ वॉ सर्ग।

१. इस प्रकारकी ब्रैकटोके भीतर जो पाठ दिया है वह शुद्ध पाठ है और ग्रथकी दूसरी प्रतियोमें पाया जाता है।

हमे इस पद्यके अस्तित्वपर आपत्ति करनेकी कोई जरूरत नही है। इसमे 'कंसमातुलाजानीतां' नामका जो विशेषण पद है उससे यह वात नही निकलती कि देवकी कसके मामाकी लडकी थी, वल्कि कसके मातुलपुत्र द्वारा वह लाई गई थी (कसमातुलजेन आनीता ता=कसमातुलजानीता), यह उसका अर्थ होता है। कसका मामा जरासध था। जरासधके किसी पुत्र-द्वारा देवकी दशार्णपुरसे मथुरा लाई गई होगी, उसीका यहाँपर उल्लेख किया गया है। पिछले दोनो पद्योमे 'कन्या' पदके जितने भी विशेपण पद हैं वे सव द्वितीया विभक्तिके एकवचन हैं और इसलिये "कंसमातुल-जानीता" पद[१]का दूसरा कोई अर्थ नही होता, जिससे देवकीको कसके मामाकी पुत्री ठहराया जा सके। इस नेमिपुराणकी भापा-टीका पडित भागचन्दजीने की है। उन्होने भी इन पद्योकी टीकामे देवकीको कसके मामाकी पुत्री अथवा दशार्णपुरके देवसेन राजाको कसका मामा नही वतलाया, जैसा कि उक्त टीकाके निम्न अशसे प्रकट है —

"मृगावती देशविषै दशार्णपुर तहाँ देवसैन राजा अर धनदेवी रानी तिनकी देवकीनामा पुत्री मँगाय मानों दूसरी देवाँगनाही है ताहि महोत्सवकर सहित वसुदेवके अर्थ देता भया। वसुदेव ता सहित तिष्ठै।"

—नानौताके एक जैनमदिरकी प्रति।

---

१. देहलीके नये मदिरकी दूसरी प्रति और पचायती मदिरकी प्रतिमे भी मध्यका श्लोक जरूर है परन्तु उनमें इस पदकी जगह "कसमातुल आनीता [ता]" ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ होता है 'कसके मामा द्वारा लाई हुई'। परन्तु वह मामा द्वारा लाई गई हो या मामाके पुत्र द्वारा, किन्तु मामाकी पुत्री नहीं थी, यह स्पष्ट है।

जान पडता है समालोचकजीने वैसे ही बिना समझे उक्त पद-परसे देवकीको कसके मामाकी पुत्री और देवसेनको कसका मामा कल्पित कर लिया है और अपनी इस नि सार कल्पनाके आधारपर ही आप अपने पाठकोंका यह सदेह दूर करनेके लिये तैय्यार हो गये हैं कि जिनसेनने हरिवशपुराणमे देवकीको कसकी बहन क्योकर लिखा है। यह कितने साहसकी बात हैं! आपने यह नही सोचा कि जिनसेनाचार्य तो स्वय देवकीको राजा उग्रसेनके भाईकी पुत्री बतला रहे हैं और देवसेन उग्रसेनका सगा भाई था, फिर वह कसके मामाकी लडकी कैसे हो सकती है? वह तो कसके सगे चचाकी लडकी हुई। परन्तु आप तो सत्य पर पर्दा डालनेकी धुनमे मस्त थे आपको इतनी समझ-बूझसे क्या काम?

यहाँपर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि पहले जमानेमे मामाकी लडकीसे विवाह करनेका आम रिवाज था और इसलिये मामाकी लडकीको उस वक्त कोई बहन नही कहता था। और न शास्त्रोमे बहन रूपसे उसका उल्लेख पाया जाता है। समालोचकजी लिखनेको तो लिख गये कि देवकी कसके मामाकी लडकी थी और इसलिये कंस उसे बहन कहता था, परन्तु पीछेसे यह बात उन्हे भी खटकी जरूर है और इसलिये आप समालोचनाके पृष्ठ ११ पर लिखते हैं :—

"देवकी कसके मामाकी बेटी थी। आजकल मामाकी बेटीको भी बहन मानते हैं। शायद इसपर बाबूसाहब यह कह सकते हैं पहले मामाकी बेटी बहन नही मानी जाती थी, क्योकि लोग मामाकी बेटीके साथ विवाह करते थे और दक्षिणदेशमे अब भी करते हैं, परन्तु इस सन्देहको आराधनाकथाकोशके श्लोक अच्छी तरह दूर कर देते हैं साथमे बाबूसाहबके खास गाँव देवबदमे जो

आराधनाकथाकोश छपा है उससे भी यह सदेह साफ तौरसे काफूर हो जाता है।"

इससे जाहिर है कि समालोचकजीने देवकीको यदुवशसे पृथक् करने और उसे भोजकवृष्टिकी पौत्री न माननेका अपना अन्तिम आधार आराधनाकथाकोशके कुछ श्लोको और उनके भाषापद्यानुवाद पर रक्खा है। आपके वे श्लोक इस प्रकार हैं —

अथेह मृत्तिकावत्यां पुर्यां देवकि[क]भूपतेः।
भार्याया धनदेव्यास्तु देवकीं चारुका[क]न्यकाम् ॥८५॥
प्रतिपन्नस्वभगिनीं [श्रीन्द्रां] तां विवाहप्रयुक्तितः।
कंसोऽसौ वा[व]सुदेवाय कुरुवंशो[श्यो]द्भवां ददौ ॥८६॥

ये दोनो जिस आराधना-कथाकोशके श्लोक हैं वह उन्ही नेमिदत्त ब्रह्मचारीका बनाया हुआ है जो नेमिपुराणके भी कर्ता हैं और जिन्होने नेमिपुराणमें देवकीको न तो कुरुवशमे उत्पन्न हुई लिखा और न इस बातका ही विधान किया कि कसने उसे वैसे ही वहन मान लिया था—वह उसके कुटुम्बकी बहन नही थी। परन्तु समालोचकजी उनके इन्ही पद्योपरसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि देवकी कुरुवशमे उत्पन्न हुई थी और कस उसे वैसे ही बहन करके मानता था। इसीसे आपने इन पद्योका यह अर्थ किया है —

"मृतिकापुरीके राजा देवकी [?] की रानी धनदेवीके एक देवकी नामकी सुन्दर कन्या थी। वह कुरुवशमे उत्पन्न हुई थी। और कस उसे वहन करके मानता था। उसने वह कन्या वसुदेवको ब्याह दी।"

परन्तु "वह कुरुवशमे उत्पन्न हुई थी और कस उसे वहन करके मानता था" यह जिन दो विशेषण पदोका अर्थ किया

गया है उन्हे समालोचकजीने ठीक तौरसे समझा मालूम नही होता। आपने यह भी नही खयाल किया कि इन श्लोकोका पाठ कितना अशुद्ध हो रहा है और इसलिये मुझे उनका शुद्ध पाठ मालूम करके प्रस्तुत करना चाहिये—वैसे ही अशुद्धरूपमे आराधनाकथाकोशकी छपी हुई प्रतिपरसे नकल करके उसे पाठकोंके सामने रख दिया है। "**देवकभूपतेः**" की जगह "**देवकिभूपतेः**" पाठ देकर आपने देवकीके पिताका नाम 'देवकी' बतलाया है परन्तु वह 'देवक' है—देवकी नही। हिन्दुओके यहाँ भी देवकीके पिताका नाम 'देवक' दिया है और **कंसके** पिता उग्रसेनका सगा भाई बतलानेसे यदुवशी भी सूचित किया है, जैसा कि उनके महाभारतान्तर्गत हरिवशपुराणके निम्न वाक्योसे प्रकट है —

आहुकस्य तु काश्यायां द्वौ पुत्रौ संबभूवतुः ॥ २६ ॥
देवकश्चोग्रसेनश्च देवपुत्रसमावुभौ ।
देवकस्याभवन्पुत्राश्चत्वारस्त्रिदशोपमाः ॥ २७ ॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देवरक्षितः ।
कुमार्यः सप्त चाप्यासन्वसुदेवाय ता ददौ ॥ २८ ॥
देवकी शांतिदेवा च सुदेवा देवरक्षिता ।
वृकदेव्युपदेवी च सुनाम्नी चैव सप्तमी ॥ २९ ॥
नवोग्रसेनस्य सुतास्तेषां कंसस्तु पूर्वजः ।
न्यग्रोधश्च सुनामा च कंकः शकुः सुभूमिपः ॥ ३० ॥

—३७ वॉ अध्याय।

और इसलिये देवक देवसेनका ही लघुरूप है। उसी लघु नामसे यहाँ उसका उल्लेख किया गया था, जिसे समालोचकजीने नही समझा और देवकीके पिताको भी देवकी बना दिया। "**वासुदेवाय**" पाठ भी अशुद्ध है, उसका शुद्ध रूप है "**वसुदेवाय**"

तभी **'वसुदेवको'** देवकीके दिये जानेका अर्थ वन सकता है अन्यथा, **'वासुदेवाय'** पाठसे तो यह अर्थ हो जाता है कि देवकी 'वासुदेव'को—वसुदेवके पुत्र श्रीकृष्णको—व्याही गई, और यह कितना अनर्थकारी अर्थ है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। इसी तरह **"प्रतिपन्नस्वभगिनीं"** पाठ भी अशुद्ध है। श्लोकमे छठा अक्षर गुरु और पहले तथा तीसरे चरणका सातवाँ अक्षर भी गुरु होता है[1], परन्तु यहाँ उक्त पहले चरणमे छठा और सातवाँ दोनो ही अक्षर लघु पाये जाते हैं और इसलिये वे इस पदके अशुद्ध होनेका खासा सदेह उत्पन्न करते हैं। लेखकके पुस्त-कालयमे इस ग्रन्थकी एक जीर्ण प्रति सं० १७६५ की लिखी हुई है, उसमे **"प्रतिपन्नस्वभग्नीभ्रा"** ऐसा पाठ पाया जाता है। इस पाठमे **"भगिनी"** की जगह **"भग्नी"** शव्दका जो प्रयोग है वह ठीक है और उससे उक्त दोनो अक्षर, छन्द शास्त्रकी दृष्टिमे, गुरु हो जाते हैं परन्तु अन्तका "भ्रा" अक्षर कुछ अशुद्ध जान पडता है और उसे अधिक अक्षर नही कहा जा सकता। क्योकि उसे पृथक् करके यदि **"भग्नी"** का **"भग्नीं"** पाठ माना जावे तो उससे छद-भग हो जाता है—आठकी जगह सात ही अक्षर रह जाते हैं—इसलिये **"भग्नी"** के बाद आठवाँ अक्षर पदकी विभक्तिको लिये हुए जरूर होना चाहिये। मालूम होता है वह अक्षर **"न्द्रा"** था, प्रति लेखककी कृपासे "भ्रा" बन गया है। और इसलिये उक्त पदका शुद्ध रूप **"प्रतिपन्नस्वभग्नीन्द्रा"** होना चाहिए, जिसका अर्थ होता है 'अपनी वहनोमे इन्द्रा पदको प्राप्त'—अर्थात् इन्द्राणी जैसी। नेमिदत्तने अपने 'नेमिपुराणमे

---

१. **श्लोके षष्ठ गुरु ज्ञेय सर्वत्र लघु पचमम्।**
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्व सप्तमं दीर्घमन्ययो.॥ १०॥ —**श्रुतबोध।**

भी देवकीको 'सुरागणा' लिखा है जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए उसके पद्य न० ८८ मे प्रकट है। उसी बातको उन्होंने यहाँ-पर इस पदके-द्वारा व्यक्त किया है और उसे अपनी बहनोंमे इन्द्रा (शची) जैसी बतलाया है। वह कंसकी वैसे ही मानी हुई—कल्पित की हुई—बहन थी, यह अर्थ नही बनता और न उसका कहीसे कोई समर्थन होता है।

देवकी यदि कसकी कल्पित भगिनी थी तो उससे यह लाजिमी नही आता कि वह कंसके भाई अतिमुक्तककी भी कल्पित भगिनी थी—क्योकि अतिमुक्तकजीने उसी वक्त जिनदीक्षा धारण करली थी जब कि कसने मथुरा आकर अपने पिताको बदीगृहमे डाला था—और इसलिए कंसने देवकीको अपनी बहन बनाया तो वह उसके बादका कार्य हुआ। फिर अतिमुक्तकके भिक्षार्थ आनेपर कसकी स्त्रीने उनसे यह क्यो कहा कि यह तुम्हारी बहन (स्वसा अथवा अनुजा) देवकीका आनन्द वस्त्र है? इस वाक्यप्रयोगसे तो यही जाना जाता है कि अतिमुक्तकका देवकीके साथ भाई-बहनका कौटुम्बिक सम्बन्ध था और इसीसे जीवद्यशा नि सकोच-भावसे उस सम्बन्धका उनके सामने उल्लेख कर सकी है अथवा उक्त वाक्यके कहनेमे उसकी प्रवृत्ति हो सकी है। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार दूसरेके पुत्रको गोद (दत्तक) लेकर अपना पुत्र बना लिया जाता है और तब कुटुम्बवालोपर भी उस सम्बन्धकी पाबन्दी होती है—वे उसके साथ गोद लेनेवाले व्यक्तिके सगे पुत्र जैसा ही व्यवहार करते हैं—उसी प्रकारसे कसने भी देवकीको अपनी बहन बना लिया था, तो प्रथम तो इस प्रकारसे बहन बनानेका कही कोई उल्लेख नही मिलता—हरिवश-पुराण (जिनसेनकृत) और उत्तरपुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थोसे यही

पाया जाता है कि देवकी उन राजा देवसेनकी पुत्री थी जो कंसके पिता उग्रसेनके सगे भाई थे—दूसरे, यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो कसकी ऐसी दत्तकतुल्य वहन वसुदेवकी भतीजी ही हुई—उसमे तथा कसकी सगी वहनमे सम्वन्धकी दृष्टिसे कोई अन्तर नही होता—और इसलिये भी यह नही कहा जा सकता कि वसुदेवने अपनी भतीजीसे विवाह नही किया। ऐसा कहना मानो यह प्रतिपादन करना है कि 'एक भाईके दत्तकपुत्रसे दूसरा भाई अपनी लडकी व्याह सकता है अथवा उस दत्तकपुत्रकी लडकीसे अपना या अपने पुत्रका विवाह कर सकता है'। क्योकि वह दत्तक (गोद लिया हुआ) पुत्र उस भाईका असली पुत्र नही है किन्तु माना हुआ पुत्र है। परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं समालोचकजीको यह भी इष्ट नही हो सकता, फिर नही मालूम उन्होंने क्यो—इतने स्पष्ट प्रमाणोकी मौजदगीमे भी—यह सव व्यर्थका आडम्बर रचा है ?

रही कुरुवशमे उत्पन्न होनेकी वात, वह भी ठीक नही है। '**कुरुवंशोद्भवा**' का शुद्ध रूप है '**कुरुवंश्योद्भवां**', जिसका अर्थ होता है '**कुरुवंश्या** स्त्रीमे उत्पन्न' (कुरुवश्याया उद्भवा या ता कुरुवश्योद्भवा)—अर्थात्, देवकीकी माता धनदेवी कुरुवश्या थी—कुरुवशमे उत्पन्न हुई थी—न कि देवकी कुरुवशमे उत्पन्न हुई थी। समालोचकजीने भापाके जो निम्न छद उद्धृत किये हैं उनसे भी आपके इस सब कथनका कोई समर्थन नही होता —

अव नगरी मृतिकावती, देवसेन महाराज।
धनदेवी ताके तिया, कुरुवशन सिरताज॥
ताके पुत्री देवकी, उपजी सुन्दर काय।
सो वसुदेव कुमार सग, दीनी कंस सु व्याह॥

यहाँ '**कुरुवंशन सिरताज**' यह स्पष्ट रूपसे '**धनदेवी**' का विशेषण जाना जाता है और इसको धनदेवीके अनन्तर प्रयुक्त करके कविने यह साफ सूचित किया है कि धनदेवी कुरुवशमे उत्पन्न हुई स्त्रियोमे प्रधान थी। बाकी देवकी कसकी मानी हुई बहन थी, इस बातका यहाँ कोई उल्लेख ही नही है। इतनेपर भी समालोचकजी इन भाषा-छदोपरसे सदेहका काफूर होना मानते हैं और लिखते हैं —

"यह सब कोई जानता है कि वसुदेव यदुवशी थे, और देवकी कुरुवशकी थी। परन्तु बाबू साहबने तो उसे सगी भतीजी बना ही दी।"

परन्तु महाराज! सब लोग तो देवकीको कुरुवशकी नही जानते, और न हरिवशपुराण तथा उत्तरापुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थोसे ही उसका कुरुवशी होना पाया जाता है—यह तो आपके ही दिमाग शरीफसे नई बात उतरी अथवा आपकी ही नई ईजाद मालूम होती है। और आपकी ही कदाग्रह तथा बेहयाईका चश्मा चढी हुई आँखे इस बातको देख सकती हैं कि बाबू साहब (लेखक) ने कहाँ अपने लेखमे देवकी वसुदेव की 'सगी' भतीजी लिख दिया है, लेखमे दी हुई वशावलीपरसे तो कोई भी नेत्रवान उसमे सगी भतीजीका दर्शन नही कर सकता। सच है 'हठग्राही मनुष्य युक्तिको खीच खाचकर वही लेजाता है जहाँ पहलेसे उसकी मति ठहरी हुई होती है, परन्तु जो लोग पक्षपात रहित होते हैं वे अपनी मतिको वहाँ ठहराते हैं जहाँतक युक्ति पहुँचती है।' इसीसे एक आचार्य महाराजने, ऐसे हठ-ग्राहियोकी बुद्धिपर खेद प्रकट करते हुए, लिखा है :—

"आग्रही बत ! निनीषति युक्तिं यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशन् ॥"

हाँ, समालोचकजीकी एक दूसरी, बिलकुल नई, ईजादका उल्लेख करना तो रह ही गया, और वह यह है कि उन्होंने लेखक-पर इस बातका आक्षेप करते हुए कि उसने भाषाके छंदोबद्ध 'आराधना' कथाकोशके कथनपर जानबूझकर ध्यान नही दिया, यह विधान किया है कि उसने उक्त ग्रंथका स्वाध्याय अवश्य किया होगा, क्योंकि वह उसके खास गाँव (!) देवबन्द-का छपा हुआ है[1]। और इस तरहपर यह घोषणा की है कि जिस नगर या ग्राममे कोई ग्रंथ छपता है वहाँका प्रत्येक पढा लिखा निवासी इस बातका जिम्मेवार है कि वह ग्रंथ उसने पढ लिया है और वह उसके सारे कथनको जानता है। और इसलिये बम्बई, कलकत्ता आदि सभी नगर ग्रामोके पढे लिखोको अपनी इस जिम्मेदारीके लिये सावधान हो जाना चाहिये। और यदि किसीको यह मालूम करनेकी जरूरत पडे कि बम्बईमे कौन-कौन ग्रन्थ छपे हैं और उनमे क्या कुछ लिखा है तो वहाँके किसी एक ही पढे-लिखेको बुलाकर अथवा उससे मिलकर सारा हाल मालूम कर लेना चाहिये। यह कितना भारी आविष्कार समालोचकजीने कर डाला है। और इससे पाठकोको कितना लाभ पहुँचेगा !! परन्तु खेद है लेखक तो कई बार अपने अनेक स्थानोके मित्रोको वहाँके छपे हुए ग्रंथोकी बाबत कुछ हाल दर्याफ्त करके ही रह गया और उसे यही उत्तर मिला कि 'हमे

---

१ "बाबू साहबके खास गाँव देवबन्दमें जो 'आराधनाकथाकोश' छपा है उससे भी यह संदेह साफ तौरसे काफूर हो जाता है क्या बाबू साहबने अपने यहाँसे प्रकाशित हुए ग्रन्थोंका भी स्वाध्याय न किया होगा ? किया अवश्य होगा। परन्तु उन्हें तो जिस-तिस तरह अपना मतलब बनाना है।"

उन ग्रथोका कुछ हाल मालूम नही है।' शायद समालोचकजी ही एक ऐसे विचित्र व्यक्ति होगे जिन्होने कम-से-कम देहलीसे, जहाँ आपका अक्सर निवास रहता है, प्रकाशित होने वाली सभी पुस्तको तथा ग्रन्थोको—परिचय, इच्छा, और सप्राप्ति आदिके न होते हुए भी पढा होगा और आपको उनका पूर्ण विषय भी कण्ठस्थ होगा। रही लेखककी ग्रथोके पढनेकी बात, यद्यपि उसका अधिकाश समय ग्रन्थोके पढने और उनमेसे अनेक तत्त्वो तथा तथ्योका अनुसधान करनेमे ही व्यतीत होता है, फिर भी वह देववन्दसे प्रकाशित हुए ऐसे साधारण सभी ग्रन्थोको तो क्या पढता, स्वयं उसकी लाइब्रेरीमे पचासो अच्छे ग्रन्थ इस वक्त भी मौजूद हैं जिन्हे पूरी तौरपर अथवा कुछको अधूरी तौरपर भी पढने-देखनेका अभीतक उसे अवसर नही मिल सका। इसलिये समालोचकजीका उक्त आक्षेप व्यर्थ है और वह उनके दुराग्रहको सूचित करता है।

यहाँ तकके इस सव कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि देवकी न तो कुरुवशमे उत्पन्न हुई थी, न कसके मामाकी लडकी थी और न वैसे ही कस-द्वारा कल्पना की हुई वहन थी, वल्कि वह **कंस**के पिता **उग्रसेन**के सगे भाई अथवा **कंस**के सगे चाचा **देवसेन**की पुत्री थी—यदुवशमे उत्पन्न हुई थी—और इसीलिये नृप भोजकवृष्टि (या नरवृष्णि) तथा भोजकवृष्टिके भाई अधकवृष्टि (वृष्णि) की पौत्री थी और उसे अधकवृष्टिके पुत्र वसुदेवकी भतीजी समझना चाहिये। इसी **देवकी**के साथ वसुदेवका विवाह होनेसे साफ जाहिर है कि उस वक्त एक कुटुम्वमे भी विवाह हो जाता था और उसके मार्गमे आजकल-जैसी गोत्रोकी परिकल्पना कोई बाधक नही थी।

अग्रवाल जैसी समृद्ध जाति भी इन्ही कौटुम्बिक विवाहोका परिणाम है। उसके आदिपुरुष राजा **अग्रसेनके** सगे पोते पोतियो का—अथवा यो कहिये कि उसके एक पुत्रकी सततिका दूसरे पुत्रकी संततिके साथ—आपसमे विवाह हुआ था। आजकल भी अग्रवाल-अग्रवालोमे ही विवाह करके अपने एक ही वशमे विवाहकी प्रथाको चरितार्थ कर रहे हैं और राजा **अग्रसेनकी** दृष्टिसे सब अग्रवाल उन्हीके एक गोत्री हैं। समालोचकजीने विरोधके लिये जिन प्रमाणोको उपस्थित किया था उनमेसे एक भी विरोधके लिए स्थिर नही रह सका, प्रत्युत इसके सभी लेखकके कथनकी अनुकूलतामे परिणत हो गये और इस बातको जतला गये कि समालोचकजी सत्यपर पर्दा डालनेकी धुनमे समालोचनाकी हदसे कितने बाहर निकल गये—समालोचकके कर्तव्यसे कितने गिर गये—उन्होने सत्यको छिपाने तथा असलियतपर पर्दा डालनेकी कितनी कोशिश की, परन्तु फिर भी वे उसमे सफल नही हो सके। साथ ही, उनके शास्त्र-ज्ञान और दभ-विधानकी भी सारी कलई खुल गई। अस्तु।

यह तो हुई उदाहरणके प्रथम अश—**'देवकीसे विवाह'**—के आक्षेपोकी बात, अब उदाहरणके दूसरे अश—**'जरासे विवाह'**—को लीजिये।

म्लेच्छोंसे विवाह

लेखकने लिखा था कि—"जरा किसी म्लेच्छराजाकी कन्या थी, जिसने गगा-तटपर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था। प० दौलतरामजीने, अपने हरिवशपुराणमे, इस राजाको 'म्लेच्छखण्डका राजा' बतलाया है और प० गजाधरलालजी

'उसे भीलोका राजा' सूचित करते हैं। वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छराजा, और चाहे उसे भीलोका राजा कहिये, परन्तु इसमे सन्देह नही कि वह आर्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नही था। और इसलिये उसे अनार्य तथा म्लेच्छ कहना कुछ भी अनुचित नही होगा। म्लेच्छोका आचार आमतौरपर हिंसामे रति, मासभक्षणमे प्रीति और जबरदस्ती दूसरोकी धनसम्पत्तिका हरना, इत्यादिक होता है, जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रकट हैं —

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतम्॥ ४२–१८४॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानते हुए भी, बिना किसी झिझक और रुकावटके बडी खुशीके साथ इस म्लेच्छराजाकी उक्त कन्यासे विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नही समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकारके विवाहोका आम दस्तूर था। अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोंने म्लेच्छ राजाओकी कन्याओसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोसे जैन-साहित्य परिपूर्ण है।''

उदाहरणके इस अशसे प्रकट है कि लेखकने जितनी बार अपनी ओरसे जराके पिताका उल्लेख किया है वह ''म्लेच्छराजा'' पदके-द्वारा किया है, जिसमे 'म्लेच्छ' विशेषण और 'राजा' विशेष्य है (म्लेच्छ राजा म्लेक्छराजा) और उसका अर्थ होता है 'म्लेच्छ-जाति-विशिष्ट-राजा—अर्थात् म्लेच्छ जातिका राजा, वह राजा जिसकी जाति म्लेच्छ है, न कि वह राजा जो

आर्य जातिका होते हुए म्लेच्छोपर शासन करता है। परन्तु समालोचकजीने दूसरे विद्वानोके अवतरणोको लेकर और उन्हे भी न समझ कर उनके शब्द-छलसे लेखकपर यह आपत्ति की है कि उसने म्लेच्छखडोपर शासन करनेवाले आर्य जातिके चक्रवर्ती राजाओको भी म्लेच्छ ठहरा दिया है। आप लिखते हैं —

"खूब [।] क्या मलेक्षोका राजा भी मलेक्ष ही होगा ? और भीलोका राजा भी भील ही हो, इसका क्या प्रमाण ? यदि कोई हिन्दुस्तानका राजा हो तो हिन्दू ही हो सकता है क्या ? और जरमनका जरमनी तथा मुसलमानोका मुसलमान ही हो सकता है क्या ? यदि ऐसा ही नियम होता तो चक्रवर्ती जो कि मलेक्षखण्डके भी राजा होते हैं, लेखक महोदयके विचारानुसार वे भी मलेक्ष कहे जाने चाहिये। इस नियमानुसार पूज्य तीर्थंकर श्री शातिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जो कि चक्रवर्ती थे, लेखक महोदयकी सम्मति अनुसार वे भी इसी कोटिमें आसकेंगे ? अत॰ इसका कोई नियम नही है कि किसी जाति या देशका राजा भी उसी जातिका हो अत इस लेखसे यह सिद्ध होता है कि जरा कन्या भील जातिकी नही थी।"

पाठकजन देखा। समालोचकजी कितनी भारी समझ और अनन्य साधारण बुद्धिके आदमी हैं। उन्होने लेखकके कथनकी कितनी बढिया समालोचना कर डाली। और कितनी आसानीसे यह सिद्ध कर दिखाया कि **'जरा'** भील जातिकी कन्या नही थी। हम पूछते हैं यह कौन कहता है और किसने कहाँपर विधान किया कि म्लेच्छोका राजा म्लेच्छ ही होता है, भीलोका राजा भील ही होता है, हिन्दुस्तानका राजा हिन्दू ही होता है और मुसलमानोका

राजा मुसलमान ही हुआ करता है ? फिर क्या अपनी ही कल्पना-की समालोचना करके आप खुश होते हैं ? क्या जिस राजाकी बावत यह कहा जाता हो कि यह 'हिन्दूराजा' है आप उसे 'मुसलमान' समझते ? और जिसे '**मुसलमान राजा**' के नामसे पुकारा अथवा उल्लेखित किया जाता हो उसे 'हिन्दू' खयाल करते हैं ? यदि नही तो फिर एक 'म्लेच्छराजा' को म्लेच्छ न मानकर आप '**आर्य**' कैसे कह सकते हैं ? 'हिन्दू' और 'मुसलमान' जिस प्रकार जातिवाचक शब्द हैं उसी प्रकारसे '**मलेच्छ**' भी एक जाति-वाचक शब्द है। और ये तीनो ही राजा शब्दके पूर्ववर्ती होनेपर अपने-अपने उत्तरवर्ती राजाकी जातिको सूचित करते हैं। स्वय श्रीजिनसेनाचार्यने, अपने हरिवशपुराणमे, इस राजाको स्पष्टरूपसे 'मलेच्छराज' लिखा है। यथा .—

> चपा-सरसि, संप्राप्य तस्यां सोऽमात्यदेहजाम् ॥ ४ ॥
> तोयक्रीडारतस्तत्र स हृतः सूर्पकाऽरिणा ।
> विमुक्तश्च पपातासौ भागीरथ्यां मनोरथी ॥ ५ ॥
> पर्य्यटन्नटवी तत्र म्लेच्छराजेन वीक्षितः ।
> परिणीय सुतां तस्य जराख्यां तत्र चावसत् ॥ ६ ॥
> जरत्कुमारमुत्पाद्य तस्यामुन्नतविक्रमः ।

इन पद्योमे यह बतलाया गया है कि—'चपापुरीमे वहाँके मत्रीकी पुत्रीसे विवाह करके, एक दिन **वसुदेव** चपा नगरीके सरोवरमे जलक्रीडा कर रहे थे, उनका शत्रु सूर्पक उन्हे हर कर लेगया और ऊपरसे छोड दिया। वे भागीरथी (गगा) नदीमे गिरे और उसमेसे निकल कर एक वनमे घूमने लगे। वहाँ एक म्लेच्छराजासे उनका परिचय हुआ, जिसकी '**जरा**' नामकी कन्यासे विवाह करके वे वहाँ रहने लगे और उस स्त्रीसे उन्होंने '**जरत्कुमार**' नामका पुत्र उत्पन्न किया।'

'म्लेच्छराज'से श्रीजिनसेनाचार्यका अभिप्राय 'म्लेच्छजाति' विशिष्ट राजा'का है, यह बात उनके इसी ग्रन्थके दूसरे उल्लेखो-से भी पाई जाती है। यथा —

म्लेच्छराजसहस्राणि वीक्ष्य पूर्ववरूथिनीम्।
क्षुभितान्यभिगम्याशु योधयामासुरश्रमात्॥ ३० ॥
ततः क्रुद्धो युधि म्लेच्छैरयोध्यो दण्डनायकः।
युध्वा निर्धूय तानाशु दध्रे नामार्थसंगतम्॥ ३१ ॥
भयान्म्लेच्छास्ततो याताः शरणं कुलदेवताः।
घोरान्मेघमुखान्नागान्दर्भशय्याधिशायिनः॥ ३२ ॥
ततो मेघमुखैर्म्लेच्छाः प्रोक्ताः सहृतवृष्टिभिः।
चक्रिणं शरणं जग्मुरादाय वरकन्यकाः॥ ३८ ॥

—११वाँ सर्ग।

यहाँ, उत्तर भारतखण्डके म्लेच्छोके साथ भरत चक्रवर्ती-के सेनापति जयकुमारके युद्धका वर्णन करते हुए, पहले पद्यमें जिन सहस्रो म्लेच्छ राजाओका "म्लेचछराजसहस्राणि" पदके द्वारा उल्लेख किया है उन्हे ही अगले पद्योमे "म्लेच्छै" और "म्लेच्छाः" पदोंके-द्वारा स्पष्टरूपसे 'म्लेच्छ' सूचित किया है। और इससे साफ जाहिर है कि 'म्लेच्छराजा' का अर्थ म्लेच्छ जातिके राजासे है। और इसलिये जराका पिता म्लेच्छ था। प० दौलतरामजीने इस राजाको जो म्लेच्छखण्डका राजा[1] बतलाया है उसका अभिप्राय 'म्लेच्छखंडोद्भव' (म्लेच्छखण्डमे उत्पन्न हुए) राजासे है—म्लेच्छखण्डोको जीतकर उनपर अपना आधिपत्य रखनेवाले चक्रवर्ती राजासे नही जान पडता

---

१. "सो गगाके तीर एक म्लेच्छखडका राजा तानें देखो। सो अपनी जरा नामा पुत्री वसुदेवको परनाई।"

है। 'म्लेछराज' शब्दपरसे ही उन्होने उसे म्लेच्छखण्डका राजा समझ लिया है। और प० गजाधरलालजीने जो उसे 'भीलोका राजा'[१] लिखा है उसका आशय भील जातिके राजा (भिल्लराज) से—सर्दारसे—है जो म्लेच्छोकी एक जाति[२] है—भीलोपर शासन करनेवाले किसी आर्यराजासे नही। जरासे उत्पन्न हुए जरत्कुमारका आचरण एक वार भील जैसा हो गया था, इसीपरसे शायद उन्होने जराको भील कन्या माना है। आप 'पद्मावती-पुरवाल' (वर्ष २रा अक ५वॉ) मे प्रकाशित अपने उसी विचार-लेखमे लिखते भी हैं —

"वास्तवमे उस समय भी सतानपर मातृपक्षका सस्कार पहुँचता था। आपने हरिवशपुराणमे पढा होगा कि जिस समय कृष्णकी मृत्युकी वात मुनिराजके मुखसे सुन जरत्कुमार वनमे रहने लगा था उस समय उसके आचार-विचार भील सरीखे हो गये थे, वह शिकारी हो गया था। पीछे, युधिष्ठिर आदिके समझानेसे उसने भीलके वेषका परित्याग किया था।"

इससे स्पष्ट है कि प० गजाधरलालजीने जराके पिताको आर्य जातिका राजा नही समझा, वल्कि 'भील' समझा है और

---

१. यथा —"नदीको पार कर कुमार किसी वनमें पहुँचे वहॉपर घूमते हुए उन्हे किसी भीलोंके राजाने देखा उनके सौंदर्यपर मुग्ध हो वह वड़े आदरसे उन्हें अपने घर ले गया और उसने अपनी जरा नामकी कन्या प्रदान की।"

२. भिल्ल, म्लेच्छजातिविशेषः। भील इति भाषा। यथा हेमचन्द्रे—माला भिल्लाः, किराताश्च सर्वाऽपि म्लेच्छजातय।

—इति शब्दकल्पद्रुम।

इसलिये उनके 'भीलोका राजा' शब्दोंके छलको लेकर समालोचकजीने जो आपत्ति की है वह विलकुल नि सार है। प० गजाधरलालजी तो अपने उक्त लेखमे स्वय स्वीकार करते हैं कि उस समय म्लेच्छ किवा भीलो आदिकी कन्यासे भी विवाह होता था। यथा —

"उस समय राजा लोग यद्यपि म्लेच्छ किवा भील आदिकी कन्याओसे भी पाणिग्रहण कर लेते थे तथापि उनके समान स्वय म्लेच्छ तथा धर्म-कर्मसे विमुख न वन जाते थे, किन्तु उन कन्याओको अपने पथपर ले आते थे। और वे प्राय पति-द्वारा स्वीकृत धर्मका ही पालन करती थी। इसलिये **वसुदेवने** जो **जरा** आदि म्लेच्छ कन्याओके साथ विवाह किया था उसमे उनसे धार्मिक रीति-रिवाजोमे जरा भी फर्क न पडा था।"

इस उल्लेख-द्वारा प० गजाधरलालजीने **जराको** साफ तौरसे 'म्लेच्छ कन्या' भी स्वीकार किया है और उसके वाद 'आदि' शब्दका प्रयोग करके यह भी घोपित किया है कि **वसुदेवने 'जरा'** के सिवाय और भी म्लेच्छ कन्याओसे विवाह किया था। समालोचकजीके पास यदि लज्जादेवी हो तो उन्हे, इन सव उल्लेखोको देखकर, उसके आँचलमे अपना मुँह छुपा लेना चाहिये और फिर कभी यह दिखलानेका साहस न करना चाहिये कि पडितजीके उक्त शब्दोका वाच्य 'भील' राजासे भिन्न कोई 'आर्य' राजा है।

मालूम होता है समालोचकजीको इस खयालने बडा परेशान किया है कि भील लोग बडे काले, 'डरावने और बदसूरत होते हैं, उनकी कन्यासे '**वसुदेव**' जैसे रूपवान और अनेक रूपवती स्त्रियोके पति पुरुप क्यो विवाह करते। और इसीसे आप यहाँ-

तक कल्पना करनेके लिये मजबूर हुये हैं कि यदि वह कन्या (जरा) भीलोने ही वसुदेवको दी हो तो वह जरूर किसी दूसरी जातिके राजाकी लडकी होगी और भील उसे छीन लाये होगे। यथा —

" भील लोग जगलोमे रहने वाले जिनके विषयमे शास्त्रोमे लिखा है कि वे वडे काले, वदसूरत डरावने होते हैं। तो वसुदेवजी ऐसे पराक्रमी और सुन्दर कामदेवके समान जिनके रूपके सामने देवाङ्गनाये भी लज्जित हो जावे, ऐसी राजाओकी अनेक रूपवती और गुणवती कन्याओके साथ विवाह किया। उनको क्या जरूरत थी कि ऐसे वदसूरत भीलकी लडकीके साथ शादी करते। हाँ, यह जरूर हो सकता है कि भील किसी राजाकी लडकीको छीन लाये हो और उसे सुन्दर खूवसूरत समझ कर वसुदेवको दे दी हो। इससे सिद्ध है कि वह भीलकी कन्या तो थी नही।"

परन्तु सभी भील वडे काले, वदसूरत और डरावने होते हैं, यह कौनसे शास्त्रमे लिखा है और कहाँसे आपने यह नियम निर्धारित किया है कि भीलोकी सभी कन्याएँ काली, वदसूरत तथा डरावनी ही होती हैं? क्या रूप और कुलके साथ कोई अविनाभाव सम्वन्ध है? हम तो यह देखते हैं कि अच्छे-अच्छे उच्च कुलोमे वदसूरत भी पैदा होते हैं और नीचातिनीच कुलोमे खूवसूरत वच्चे भी जन्म लेते हैं। कुलका सुभग, दुर्भग और सौभाग्यके साथ कोई नियम नही है। इसी वातको श्रीजिनसेनाचार्यने वसुदेवके मुखसे, रोहिणीके स्वयवरके अवसरपर कहलाया है। यथा —

कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः सुभगोऽपरः।
कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिवन्धोऽस्ति कश्चन ॥ ५५ ॥

हरिवंशपुराण ३१वॉ सर्ग।

प० गजधरलालजीने इस पद्यका अनुवाद यो किया है —

"कोई-कोई महाकुलीन होनेपर भी बदसूरत होता है, दूसरा अकुलीन होनेपर भी वडा सुन्दर होता हे, इसलिये कुलीन और सौभाग्यकी आपसमे कोई व्याप्ति नही, अर्थात् जो कुलीन हो वह सुन्दर ही हो और अकुलीन बदसूरत ही हो, यह कोई नियम नही ॥ ५५ ॥"

इसके सिवाय, जैनशास्त्रोमे भील कन्याओसे विवाहके स्पष्ट उदाहरण भी पाये जाते हैं, जिनमेसे एक उदाहरण राजा उप-श्रेणिकका लीजिये। ये राजा श्रेणिकके पिता थे। इन्हे एक वार किसी दुष्ट अश्वने ले जाकर भीलोकी पल्लीमे पटक दिया था। उस पल्लीके भील राजाने जब इन्हे दु खितावस्थामे देखा तो वह इन्हे अपने घर ले गया और उसने दवाई, भोजन पानादि-द्वारा सब तरहसे इनका उपचार किया। वहाँ ये उसकी 'तिलक-सुन्दरी' नामकी पुत्रीपर आसक्त हो गये और उसके लिये इन्होंने याचना की। भील राजाने उपश्रेणिकसे अपनी पुत्रीके पुत्रको राज्य दिये जानेका वचन लेकर उसका विवाह उनके साथ कर दिया और फिर उन्हे राजगृह पहुँचा दिया। यथा —

उपश्रेणिको (क ?) वैरिनृपसोमदेवप्रेषितदुष्टाऽश्वेनोपश्रेणिको नीत्वा भिल्लपल्यां क्षिप्तो दु खितो भिल्लराजेन दृष्टो गृहमानीत उपचरित । तत्सुतां तिलकसुन्दरीमीक्षित्वा तां त ययाचे। एतस्या. सुत राजान करिष्यामीति भाषा नीत्वा परिणाय्य तेन राजगृहं प्रापित:।

—गद्यश्रेणिकचरित्र (देहलीके नयेमन्दिरकी पुरानी जीर्ण प्रति)

इसी भील कन्यासे 'चिलातीय' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसे 'चिलातिपुत्र' भी कहते हैं। प्रतिज्ञानुसार इसीको राज्य दिया गया और इसने अन्तको जिन-दीक्षा भी धारण की थी।

इसलिये समालोचकजीका यह कोरा भ्रम है कि सभी भील-कन्याएँ काली, बदसूरत तथा डरावनी होती हैं अथवा उनके साथ उच्च-कुलीनोका विवाह नही होता था। परन्तु जरा भील-कन्या थी, यह बात जिनसेनाचार्यके उक्त वाक्योको लेकर निश्चितरूपसे नही कही जा सकती। उनपरसे जराके सिर्फ म्लेच्छ कन्या होनेका ही पता चलता है, म्लेच्छोकी किसी जाति विशेपका नही। हो सकता है कि प० गजाधर-लालके कथनानुसार वह भील-कन्या ही हो। परन्तु प० दौलतरामके कथनानुसार वह म्लेच्छखडके किसी म्लेच्छराजा-की कन्या मालूम नही होती, क्योकि जिनसेनाचार्यने साफ तौरसे वसुदेवके चपापुरीसे उठाये जाने और भागीरथी गगा नदीमे पटके जानेका उल्लेख किया है और यह वही गगा नदी है जो युक्तप्रात और वगालमे बहती है—वह महागगा नही है जो जैन शास्त्रानुसार आर्यखण्डका म्लेच्छखण्डसे अथवा, उत्तरभारतमे, म्लेच्छखण्डका म्लेच्छखडसे विभाग करती—इसका 'भागीरथी' नाम ही इसे उस महागगासे पृथक् करता है, वह 'अकृत्रिम' ओर यह, 'भागीरथ'-द्वारा लाई हुई है (भगीरथेन सानीता तेन भागीरथी स्मृता)। चपा नगरी भी इसके पास है। अत 'जरा' इसी भागीरथी गगाके किनारेके किसी म्लेच्छ राजाकी पुत्री थी और इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पहले म्लेच्छ-खण्डोके म्लेच्छोकी कन्याओसे ही नही, किंतु यहाँके आर्य-खण्डोद्भव म्लेच्छोकी कन्याओसे भी विवाह होता था। उपश्रेणिक-का भील-कन्यासे विवाह भी उसे पुष्ट करता है। इसके सिवाय यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि सम्राट् चद्रगुप्त मौर्यने सीरिया-के म्लेच्छराजा **'सिल्यूकस'** की कन्यासे विवाह किया था। ये

सम्राट् 'चंद्रगुप्त' 'भद्रबाहु' श्रुतकेवलीके शिष्य थे, इन्होंने जैन मुनिदीक्षा भी धारण की थी, जिसका उल्लेख कितने ही जैनशास्त्रो तथा शिलालेखोमे पाया जाता है। और जैनियोकी क्षेत्रगणना-के अनुसार सीरिया भी आर्यखण्डका ही एक प्रदेश है। ऐसी हालतमे यह बात और भी निर्विवाद तथा नि सन्देह हो जाती है कि पहले आर्यखण्डके म्लेच्छोके साथ भी आर्यों अथवा उच्च कुलीनोका विवाह-सम्बध होता था।

हमारे समालोचकजीका चित्त 'जरा' के विषयमे बहुत ही डाँवाडोल मालूम होता है—वे स्वय इस बातका कोई निश्चय नही कर सके कि जरा किसकी पुत्री थी—कभी उनका यह खयाल होता है कि जराका पिता म्लेच्छ या भील न होकर म्लेच्छो अथवा भीलोपर शासन करनेवाला कोई आर्य राजा होगा और उसीने अपनी कन्या 'वसुदेव' को दी होगी, कभी वे सोचते हैं कि यह कन्या 'वसुदेव' को दी तो होगी भीलने ही परन्तु वह कहीसे उसे छीन लाया होगा—उसकी वह अपनी कन्या नही होगी—, और फिर कभी उनके चित्तमे यह खयाल भी चक्कर लगाता है कि शायद जरा हो तो म्लेच्छकन्या ही, परन्तु वह क्षेत्र-म्लेच्छकी—म्लेच्छखडके म्लेच्छकी—कन्या होगी, उसका कुलाचार बुरा नही होगा अथवा उसके आचरणमे कोई नीचता नही होगी! खेद है कि ऐसे अनिश्चित और सदिग्ध चित्तवृत्तिवाले व्यक्ति भी सुनिश्चित बातोकी समा-लोचना करके उनपर आक्षेप करनेके लिये तैयार हो जाते हैं और उन्हे मिथ्या तक कह डालनेकी धृष्टता कर बैठते हैं। अस्तु, समालोचकजी, उक्त अवतरणके बाद, अपने खयालोकी इसी उधेडबुनमे लिखते हैं —

"यदि थोडी देरके लिये यह मान लिया जाय कि किसी मलेक्षकी ही कन्या होगी तो मलेक्ष भी कितने ही प्रकारके शास्त्रो-मे कहे हैं। जिनमे एक क्षेत्र-मलेक्ष भी हैं जो कि देश अपेक्षा मलेक्ष कहाते हैं। लेकिन कुलाचार वुरा ही होता है, ऐसा नियम नही। जैसे पजावमे रहनेवाले हर एक कौमके पजावी कहाते हैं, और बगालमे रहनेवालोको वगाली तथा मदरासमे रहनेवालो-को मदरासी कहते हैं किन्तु उन सबका आचरण एक-सा नहीं होता। इन देशोमे सब ही ऊँच-नीच जातियोके मनुष्य रहते हैं फिर यह कहना कि अमुक मनुष्य एक मदरासी या पजावी लडकीके साथ शादी कर लाया, यदि उसीकी जातिकी ऊँच खानदानकी लडकी हो तो क्या हर्ज है। इसलिये बावू साहव जो लिखते हैं कि वह कन्या नीच थी, यह वात सिद्ध नही हो सकती नीच हम जब ही मान सकते हैं जव कि कन्याके जीवनचरित्रमे कुछ नीचता दिखलाई हो।"

अपने इन वाक्यो-द्वारा समालोचकजीने यह सूचित किया है कि वे म्लेच्छखडो (म्लेच्छक्षेत्रो) को पजाव, वगाल तथा मदरास जैसी स्थितिके देश समझते हैं, उनमे सब ही ऊँच-नीच जातियोके आर्य-अनार्य मनुष्योका निवास मानते हैं और यह जानते हैं कि वहाँ ऐसे लोग भी रहते हैं जिनका कुलाचार वुरा नही है। इसीलिये सभव है कि **'वसुदेव'** वहीसे अपनी ही जातिकी और किसी ऊँचे वशकी यह कन्या (जरा) विवाह कर ले आए हो। परन्तु समालोचकजीका यह कोरा भ्रम है और जैनशास्त्रोसे उनकी अनभिज्ञताको प्रकट करता है। **'वसुदेव'** **'जरा'** को किसी म्लेच्छ-खडसे विवाह कर नही लाए, बल्कि वह चपापुरीके निकट प्रदेशमे भागीरथी गंगाके आसपास रहने-

वाले किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, यह बात तो ऊपर श्रीजिनसेनाचार्यके वाक्योसे सिद्धकी जा चुकी है। अव मैं इस भ्रमको भी दूरकर देना चाहता हूँ कि जैनियोके-द्वारा माने हुए[1] म्लेच्छखण्डोमे आर्य जनताका भी निवास है —

श्रीअमृतचन्द्राचार्य, तत्त्वार्थसारमे, मनुष्योके आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेदोका वर्णन करते हुए, लिखते हैं '—

> आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छा' केचिच्छकादय' ।
> म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तर्द्वीपजा अपि ॥२१२॥

अर्थात्—आर्य खण्डमे जो लोग उत्पन्न होते हैं वे 'आर्य' कहलाते हैं परन्तु उनमे जो कुछ शकादिक[2] (शक, यवन, शबर, पुलिन्दादिक) लोग होते हैं वे म्लेच्छ कहे जाते हैं और जो लोग म्लेच्छखण्डोमे तथा अन्तर्द्वीपोमे उत्पन्न होते हैं उन सवको 'म्लेच्छ' समझना चाहिये।

इससे प्रकट है कि आर्य-खण्डमे जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे तो आर्य और म्लेच्छ दोनो प्रकारके होते हैं, परन्तु म्लेच्छखण्डोमे एक ही प्रकारके मनुष्य होते हैं और वे म्लेच्छ ही होते हैं। भावार्थ—म्लेच्छोके मूल भेद तीन हैं —(१) आर्यखण्डोद्भव, (२) म्लेच्छखण्डोद्भव[3] और (३) अन्तर्द्वीपज। और आर्योंका मूलभेद एक आर्यखण्डोद्भव ही है। जब यह बात है तब म्लेच्छखण्डोमे

---

१ आधुनिक भूगोलवादियोंको इन म्लेच्छखण्डोंका अभी तक कोई पता नहीं चला। अव तक जितनी पृथ्वीकी खोज हुई है वह सव, जैनियोंकी क्षेत्र-गणनाके अनुसार अथवा उनके मापकी दृष्टिसे, आर्यखण्डके ही भीतर आ जाती है।

२. "शकयवनशवरपुलिंदादयः म्लेच्छाः"।

३. इन पहले दो भेदोंका नाम 'कर्मभूमिज' भी है।

आर्य राजाओका होना और उनकी कन्याओसे चक्रवर्ती आदिका विवाह करना अथवा वसुदेवका वहाँसे अपनी ही जातिकी कन्याका ले आना कैसे वन सकता है? कदापि नही। और इसलिये यह समझना चाहिए कि जिन लोगोंने—चाहे वे कोई भी क्यो न हो—म्लेच्छखडोकी कन्याओसे विवाह किया है उन्होने म्लेच्छोकी म्लेच्छ-कन्याओमे विवाह किया है। म्लेच्छत्व-की दृष्टिसे कर्मभूमिके सभी म्लेच्छ ममान हैं और उनका प्राय वही समान आचार है जिसका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने उस पद्यमें किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणाशमे दिया हुआ है। समालोचकजीको वह म्लेच्छाचार देखकर वहुत ही क्षोभ हुआ मालूम होता है। आपने जराके पिताको किसी तरह पर उस म्लेच्छाचारमे सुरक्षित रखनेके लिये जो प्रपच रचा है उसे देखकर वडा ही आश्चर्य तथा खेद होता है। आप सवसे पहले लेखकपर इस वातका आक्षेप करते हैं कि उसने उक्त पद्यके आगे-पीछेके दो-चार श्लोकोको लिखकर यह नही दिख-लाया कि उसमे कैसे म्लेच्छोका आचार दिया हुआ है। परन्तु स्वय उन श्लोकोको उद्धृत करके और सवका अर्थ देकर भी आप उक्त पद्यके प्रतिपाद्य विपय अथवा अर्थ-सवधमें किसी भी विशे-षताका उल्लेख करनेके लिये समर्थ नही होसके—यह नही वतला सके कि वह—हिंसामे रति, मांसभक्षणमे प्रीति और जवरदस्ती दूसरोकी धनसम्पत्तिका हरना, इत्यादि—म्लेच्छोका प्राय. साधारण आचरण न होकर अमुक जातिके म्लेच्छोका आचार है। और न यह ही दिखला सके कि लेखकके उद्धृत किये हुए उक्त पद्यका अर्थ किसी दूसरे पद्यपर अवलम्वित है, जिसकी वजहसे उस दूसरे पद्यको भी उद्धृत करना

जरूरी था और उसे उद्धृत न करनेसे उसके अर्थमे अमुक बाधा आ गई। वास्तवमे वह अपने विपयका एक स्वतत्र पद्य है और उसमे **'म्लेच्छाचारो हि'** और **'इति स्मृतम्'** ये शब्द साफ बतला रहे हैं कि उसमे **'हिंसाया रतिः'** (हिंसामे रति) आदि रूपसे जिस आचारका कथन है वह निश्चयसे म्लेच्छाचार है— म्लेच्छोका सर्व सामान्याचार है। **'इति स्मृतम्'** शब्दोका अर्थ होता है ऐसा कहा गया, प्रतिपादन किया गया अथवा स्मृति-शास्त्र-द्वारा विधान किया गया। हाँ, अगले पद्यका अर्थ इस पद्यपर अवलम्बित जरूर है और वह अगला पद्य, जिसे समालोचकजीने भी उद्धृत किया है, इस प्रकार है —

> सोऽस्त्यमीषा च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः।
> तादृश बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपत. ॥ ४२-१८५ ॥

इस पद्यमे बतलाया गया है कि 'वह (पूर्व पद्यमे कहा हुआ) म्लेच्छाचार इन (अक्षर-म्लेच्छो) मे भी पाया जाता है, क्योकि ये अधमद्विज अपनी जातिके घमडमे आकर वेदशास्त्रोके अर्थको उस रूपमे बहुत मानते हैं जो उक्त म्लेच्छाचारका प्रतिपादक है।' और इस तरहपर जो लोग वेदार्थका सहारा लेकर यज्ञो तथा देवताओकी बलिके नामसे बेचारे मूक पशुओकी घोर हिंसा करते तथा मास खाते हैं उनके उस आचारको म्लेच्छाचारकी उपमा दी गई है और उन्हे कथचित् अक्षर-म्लेच्छ[1] ठहराया गया है। इससे अधिक इस कथनका ग्रन्थमे कोई दूसरा प्रयोजन नही है। इस पद्यके **"सोस्त्यमीषा च"** शब्द साफ बतला रहे हैं कि इससे पहले म्लेच्छोके सर्वसाधा-

---

१. ऐसे लोगोको, किसी भी रूपमें उनकी जातिको सूचित किये विना, केवल म्लेच्छ नामसे उल्लेखित नहीं किया जाता।

रण आचारका उल्लेख किया गया है और उसी म्लेच्छाचारसे इन अधम द्विजोके आचारकी तुलना की गई है—न कि इन्ही-का उक्त पद्यमे आचार बतलाया गया है। इसी प्रकरणके एक दूसरे पद्यमे भी इन लोगोके आचारको म्लेच्छाचारकी उपमा दी गई है। लिखा है कि 'तुम निर्व्रत हो (अहिंसादिव्रतोके पालनसे रहित हो), निर्नमस्कार हो, निर्दय हो, पशुघाती हो और (इसी तरहके और भी) म्लेच्छाचारमे परायण हो, तुम्हे धार्मिक द्विज नही कह सकते। यथा —

> निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः।
> म्लेच्छाचारपरा यूय न स्थाने धार्मिका द्विजाः ॥ १९० ॥

इससे भी 'हिंसामे रति' आदि म्लेच्छोके साधारण आचरणका पता चलता है। परन्तु इतनेपर भी समालोचकजी लेखककी इस बातको स्वीकार करते हुए कि "अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित, उच्च कुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोने म्लेच्छराजाओ-की कन्याओसे विवाह किया है", लिखते हैं —

"ठीक है हम भी इस बातको मानते हैं कि चक्रवर्ती म्लेच्छ-खडके राजाओकी कन्याओसे विवाह कर लाते थे लेकिन वे क्षेत्रकी अपेक्षासे म्लेच्छ राजा कहाते थे। यह बात नही है कि उनके आचरण भी नीच हो या वे मॉसखोर व शराबखोर हो अथवा आपके लिखे अनुसार हिंसामे रति, मॉसभक्षणमे प्रीति रखने वाले और जबरदस्ती दूसरोका धन हरण करने वाले हो। बाबू साहब, आपकी लिखी हुई यह बातें उन म्लेच्छ राजाओमें कभी नही थी। आपने जो म्लेच्छोके आचरण सबन्धी श्लोक दिया है वह केवल जनतामे भ्रम फैलानेके लिये ऊपर-नीचेका सबन्ध छोडकर दिया है"।

इसके वाद म्लेच्छोके इस आचारकी कुछ सफाई पेश करके, आप फिर लिखते हैं —

"उन मलेक्षोमे हिसा, माँसभक्षण आदिकी प्रवृत्ति सर्वथा नही थी।"

"वहुतसे लोग जो म्लेच्छोको नीच और कदाचरणी समझ रहे हैं उनकी वह समझ बिलकुल मिथ्या है।"

"इन मलेक्ष राजाओको नीच, हिंसक, मासखोर आदि कहना सर्वथा मिथ्या और शास्त्र-विरुद्ध है।"

पाठकजन, देखा! समालोचकजीने म्लेच्छखण्डके म्लेच्छोको किस टाइपके म्लेच्छ समझा है। कैसी विचित्र सृष्टिका अनुसधान किया है! आपको तो शायद स्वप्नमे भी उसका कभी खयाल न आया हो। अच्छा होता यदि समालोचकजी उन म्लेच्छोका एक सर्वांगपूर्ण लक्षण भी दे देते। समझमे नही आता जब वे लोग हिंसा नही करते, मॉस नही खाते, शराव नही पीते, जवरदस्ती दूसरोका धन नही हरते, अन्याय नही करते, ये सव वाते उनमे कभी थी नही, वे इनकी प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं और साथ ही नीच तथा कदाचरणी भी नही हैं, तो फिर उन्हे 'म्लेच्छ' क्यो कहा गया? उनकी पवित्र भूमिको 'म्लेच्छखण्ड' की सज्ञा क्यो दी गई? क्या उनसे किसी आचार्यका कोई अपराध वन गया था या वैसे ही किसी आचार्यका सिर फिर गया था जो ऐसे हिंसादि पापोसे अस्पृष्ट पूज्य मनुष्योको भी 'म्लेच्छ' लिख दिया? उनसे अधिक आर्योंके और क्या कोई सीग होते हैं, जिससे मनुष्य जातिके आर्य और म्लेच्छ दो खास विभाग किये गये हैं? महाराज! आपकी यह सव कल्पना किसी भी समझदारको मान्य नही हो सकती। म्लेच्छ प्राय

मलिन और दूषित आचार वाले मनुष्यो का ही नाम है, जिन लोगोमे कुल-परम्परासे ऐसे कदाचार रुढ हो जाते हैं उन्हीकी म्लेच्छ सज्ञा पड जाती है। श्रीविद्यानदाचार्य, कर्मभूमिज म्लेच्छोका वर्णन करते हुए, जिनमे आर्यखडोद्भव और म्लेच्छ-खण्डोद्भव दोनो प्रकारके म्लेच्छ शामिल हैं, साफ लिखते हैं —

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचार-पालनाद्बहुधा जना ॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक।

अर्थात्—कर्मभूमियोमे उत्पन्न हुए जो म्लेच्छ हैं उनमे यवनादिक तो प्रसिद्ध ही हैं बाकी यवनादिकसे भिन्न जो दूसरे बहुतसे म्लेच्छ हैं वे सब यवनादिको (यवन, शवर, पुलिदादिको) के आचारका ही पालन करते हैं और इसीसे म्लेच्छ कहलाते हैं।

इससे साफ जाहिर है कि म्लेच्छखण्डोके म्लेच्छोका आचार यहाँके शक, यवन, शवरादि म्लेच्छोके आचारसे भिन्न नही है और इसलिये यह कहना कि 'म्लेच्छखडोके म्लेच्छोमे हिंसा तथा मासभक्षणादिको सर्वथा प्रवृत्ति नही', आगमे बाग लगाना है। श्रीविद्यानदाचार्य म्लेच्छोके नीचगोत्रादिकी उदय भी बतलाते हैं—लिखते हैं 'उच्च-गोत्रादिकके उदयसे आर्य और नीच-गोत्रादिके उदयसे म्लेच्छ होते हैं।' यथा —

"उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्या नीचैर्गोत्रादेश्च म्लेच्छाः।"

तब, क्या समालोचकजी इन विधानोके कारण, अपने उक्त वाक्योंके अनुसार, श्री विद्यानदाचार्यकी समझको "बिलकुल मिथ्या" और उनके इस नीच आदि कथनको "सर्वथा मिथ्या और शास्त्र-विरुद्ध" कहनेका साहस करते हैं ? यदि नही तो उन्हे अपने उक्त निरर्गल और नि सार वाक्योके लिये पश्चात्ताप

होना चाहिये। और खेद है कि समालोचकजीने विना सोचे समझे, जहाँ जो जीमे आया, लिख मारा है। लेखकके शास्त्रीय वर्णनोको इसी तरह 'सर्वथा मिथ्या' और 'शास्त्रविरुद्ध' वतलाया गया है, और यह उनके सर्वथा मिथ्या और शास्त्रविरुद्ध कथन-टाइपका एक नमूना है—उसकी खास वानगी है। खाली इस वातको छिपानेके लिये कि 'जरा' ऐसे मनुष्यकी कन्या थी जो म्लेच्छ होनेसे हिंसक और मास-भक्षक कहा जा सकता है, आपने म्लेच्छाचारको ही उलट देना चाहा है, यह कितना दु साहस है। म्लेच्छोका आचार तो हिन्दू ग्रन्थोसे भी मासभक्षणादिकरूप पाया जाता है, जैसा कि 'प्रायश्चित्ततत्त्व' मे कहे हुए उनके वोधायन आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

गोमांसखादको यस्तु विरुद्ध बहु भापते।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥

अर्थात्—जो गो-मास भक्षण करता है, बहुत कुछ विरुद्ध बोलता है और सर्व धर्माचारसे रहित है उसे म्लेच्छ कहते हैं।

अब समालोचकजीकी उस सफाईको भी लीजिये, जो आपने उस म्लेच्छोंके आचार-विषयमे पेश की है, और वह आदिपुराणके वे दो श्लोक हैं, जिनमे म्लेच्छखण्डोके उन म्लेच्छोका उल्लेख किया गया है जिन्हे भरत चक्रवर्तीके सेनापतिने जीतकर उनसे अपने स्वामीके भोग-योग्य कन्यादि रत्नोका ग्रहण किया था .—

इत्युपायैरुपायज्ञ' साधयन्म्लेच्छभूभुज ।
तेभ्य' कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥१४१
धर्म-कर्म वहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मता. ।
अन्यथान्यैः समाचारैरार्यावर्त्तेन ते समाः ॥१४२

इन पद्योमेसे पहले पद्यमे तो म्लेक्छ राजाओको जीतने और

उनसे कन्यादि रत्नोके ग्रहण करनेका वही हाल है जो ऊपर बतलाया गया है और दूसरे पद्यमे लिखा है कि ये लोग धर्म (अहिसादि) और कर्म (निरामिष-भोजनादिरूप सदाचार) से बहिर्भूत हैं—भ्रष्ट हैं—इसलिये इन्हे 'म्लेच्छ' कहते हैं, अन्यथा, दूसरे आचरणो (असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प और विवाहादि कर्मो) की दृष्टिसे आर्यावर्त्तकी जनताके समान हैं, (अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोके समान नही) ।

बस, इस एक श्लोकपरसे ही समालोचकजी अपने उस सब कथनको सिद्ध समझते हैं जिसका विधान उन्होने अपने उक्त वाक्योमे किया है । परन्तु उस श्लोकमे तो साफ तौरपर उन म्लेच्छोको धर्म-कर्मसे बहिर्भूत ठहराया है, और इससे अगले ही निम्न पद्यमे उनके निवासस्थान म्लेच्छखण्डको 'धर्म-कर्मकी अभूमि' प्रतिपादन किया है । अर्थात्, यह बतलाया है कि वह भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है—वहाँ अहिसादि धर्मोका पालन और सत्कर्मोका अनुष्ठान नही बनता —

इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमि धर्मकर्मणाम् ।
म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृतत्पुनः ॥१४३॥

—आदिपुराण, ३१ वॉ पर्व ।

फिर समालोचकजी किस आधारपर यह सिद्ध समझते हैं कि उन म्लेच्छोमे हिंसा तथा मासभक्षणादिककी प्रवृत्ति सर्वथा नही है ? हिंसा तो अधर्मका ही नाम है और मासभक्षणादिकको असत्कर्म कहते हैं, ये दोनो ही जब वहा नही और वे लोग नीच तथा कदाचरणी भी नही तब तो वे खासे धर्मात्मा, सत्कर्मी और आर्यखण्डके मनुष्योसे भी श्रेष्ठ ठहरे, उन्हे धर्म-कर्मसे बहिर्भूत कैसे कहा जा सकता है ? क्या धर्म-कर्मके और कोई सीग-पूँछ

होते हैं जो उनमे नही हैं और इसलिए वे धर्म-कर्मसे बहिर्भूत करार दिये गये हैं ? जान पडता है यह सब समालोचकजीकी विलक्षण समझका परिणाम है, जो आप उन्हे म्लेच्छ भी मानते हैं, धर्म-कर्मसे बहिर्भूत भी बतलाते हैं और फिर यह भी कहते हैं कि वे हिंसा तथा मासभक्षणादिकसे अलिप्त हैं—उनमे ऐसे पापो तथा कदाचरणोकी प्रवृत्ति ही नही। समालोचकजीकी इस समझ-पर एक फार्सी कविका यह वाक्य बिलकुल चरितार्थ होता है —

"बरी अक्लोदानिश ब-बायद गरीस्त।"

अर्थात्—ऐसी बुद्धि और समझपर रोना चाहिये।

आप लिखते हैं "यदि वे (म्लेच्छ) नीच होते तो 'उनके अन्य सब आचरण आर्यखण्डके समान होते हैं' ऐसा आचार्य कभी नही लिखते।" परन्तु खेद हैं आपने यह समझनेकी जरा भी कोशिश नही की कि वे आचरण कौन-से हैं और उनकी समानतासे क्या वह नीचता दूर हो सकती है। इसी देशमे भी जिन्हे आप नीच समझते हैं उनके कुछ आचरणोको छोडकर शेप सब आचरण ऊँच-से-ऊँच कहलानेवाली जातियोके समान हैं, तब क्या इस समानतापरसे ही वे ऊँच हो गये और आप उन्हे माननेके लिये तैयार हैं ? यदि समानताका ऐसा नियम हो तब तो फिर कोई भी नीच नही रह सकता और श्रीविद्यानन्दाचार्य-ने गलतीकी जो म्लेच्छोके नीच-गोत्रादिका उदय बतला दिया। परन्तु ऐसा नही है, वास्तवमे ऊँचता और नीचता खास-खास गुण-दोषोपर अवलम्बित होती है—दूसरे आचरणोकी समानतासे उसपर प्राय कोई असर नही पडता।

लेखकने, यद्यपि अपने लेखमे यह कही नही लिखा था कि 'जरा नीच थी,' जैसा कि समालोचकजीने अपने पाठकोको

सुझाया है किन्तु उसके पिताकी बाबत सिर्फ इतना ही लिखा था कि 'वह आर्य तथा उच्च जातिका मनुष्य नही था', फिर भी समालोचकजीने, जराकी नीचताका निषेध करते हुए, जो यह लिखनेका कष्ट उठाया है कि "नीच हम (उसे) तब ही मान सकते हैं जब कि उस कन्याके जीवन-चरितमें कुछ नीचता दिखलाई हो," इसका क्या अर्थ है वह कुछ समझमे नही आता! क्या समालोचकजी इसके द्वारा यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि 'किसी तरहपर अच्छे सस्कारोमे रहनेके कारण नीचजातिमे उत्पन्न हुई कन्याओके जीवनचरितमे यदि नीचताकी कोई बात न दिखलाई पडती हो तो हम उन्हे ऊँच मानने, उनसे ऊँच जातियोकी कन्याओ जैसा व्यवहार करने और ऊँच जातिवालोके साथ उनके विवाह-सम्बन्धको उचित ठहरानेके लिये तैयार हैं ? यदि ऐसा है तब तो आपका यह विचार कितनी ही दृष्टियोसे अभिनन्दनीय हो सकता है, और यदि वैसा कुछ आप प्रतिपादन करना नही चाहते तो आपका यह लिखना विलकुल निरर्थक और अप्रासगिक जान पडता है।

हमारे समालोचकजीको एक बडे फिक्रने और भी घेरा है और वह है भरत-चक्रवर्तीका म्लेच्छ कन्याओसे माना हुआ (admitted) विवाह। आपकी समझमे, म्लेच्छोको उच्च-जातिके न माननेपर यह नामुमकिन (असम्भव) है कि भरतजी नीचजातिकी कन्याओसे विवाह करते, और इसीलिये आप लिखते हैं —

"यह कभी सम्भव नही हो सकता कि जो भरत गृहस्था-वस्थामे अपने परिणाम ऐसे निर्मल रखते थे कि जिन्हे दीक्षा लेते ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और जिनके लिये "भरत

घरमे ही वैरागी'' आदि अनेक प्रकारकी स्तुतिये प्रसिद्ध हैं, वे भरत नीच-कन्याओसे विवाह करे। ऐसे महापुरुषोके लिये नीच-कन्याओके साथ विवाहकी बात कहना केवल उनका अपमान करना है, उन्हे कलक लगाना है।''

इसके उत्तरमे हम सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि **भरतजी** किसी वक्त घरमे वैरागी जरूर थे, परन्तु वे उस वक्त वैरागी नही थे जब कि दिग्विजय कर रहे थे, युद्धमे लाखो जीवोका विध्वस कर रहे थे और हजारो स्त्रियोसे विवाह कर रहे थे। यदि उस समय, यह सब कुछ करते हुए, भी वे वैरागी थे तो उनके उस सुदृढ वैराग्यमे एक नीच-जातिकी कन्यासे विवाह कर लेनेपर कौन-सा फर्क पड जाता है और वह किधरसे बिगड जाता है ? महाराज! आप भरतजीकी चिन्ताको छोडिये, वे आप जैसे अनुदार विचारके नही थे। उन्होने राजाओको क्षात्र-धर्मका उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है —

> स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
> कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥१७९॥
>
> —आदिपुराण, पर्व ४२ वाँ।

अर्थात्—अपने देशमे जो अज्ञानी म्लेच्छ हो और प्रजाको बाधा पहुँचाते हो—लूटमार करते हो—उन्हे कुलशुद्धि-प्रदानादिकके द्वारा क्रमश अपने बना लेने चाहिये।

यहाँ कुल-शुद्धिके-द्वारा अपने बना लेनेका स्पष्ट अर्थ म्लेच्छोके साथ विवाह-सबध स्थापित करने और उन्हे अपने धर्ममे दीक्षित करके अपनी जातिमे शामिल कर लेनेका है। साथ ही यह भी जाहिर होता है कि म्लेच्छोका कुल शुद्ध नही। और

जब कुल ही शुद्ध नही तब जाति-शुद्धिकी कल्पना तो बहुत दूरकी बात है।

भरतजीने, अपने ऐसे ही विचारोके अनुसार, यह जानते हुए भी कि म्लेच्छोका कुल शुद्ध नही है, उनकी बहुत-सी कन्याओसे विवाह किया, जिनकी सख्या आदिपुराणमे, मुकुटबद्ध राजाओकी सख्या जितनी बतलाई है। साथ ही, भरतजीकी कुलजातिसपन्ना स्त्रियोकी सख्या उससे अलग दी है। यथा :—

> कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः।
> रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥३४॥
> म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः।
> अप्सरःसकथाः क्षोणी यकाभिरवतारिताः ॥३५॥

—३७ वॉ पर्व।

इनमेसे पहले पद्यमे आर्य-जातिकी स्त्रियोका उल्लेख है और उन्हे '**कुलजात्यभिसंपन्ना**' लिखा है। और दूसरे पद्यमे म्लेच्छ-जातिके राजादिकोकी दी हुई स्त्रियोका वर्णन है। इससे जाहिर है कि भरत-चक्रवर्तीने म्लेच्छोकी जिन कन्याओसे विवाह किया वे कुल-जातिसे सपन्न नही थी—अर्थात्, उच्च कुल-जातिकी नही थी। साथ ही, '**म्लेच्छराजादिभिः**' पदमे आए हुए '**आदि**' शब्दसे यह भी मालूम होता है कि वे म्लेक्छ-कन्याएँ केवल म्लेच्छ-राजाओकी ही नहो थी, बल्कि दूसरे म्लेच्छोकी भी थी। ऐसी हालतमे समालोचकजीकी उक्त समझ कहाँ तक ठीक है और उनके उस लिखनेका क्या मूल्य है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। लेखक तो यहॉपर सिर्फ इतना और बतला देना चाहता है कि पहले जमानेमे दुष्कुलोसे भी उत्तम कन्याएँ ले ली जाती थी और उन्हे अपने सस्कारो द्वारा उसी तरहपर ठीक कर

लिया जाता था जिस तरह कि एक रत्न सस्कारके योगसें उत्कर्षको प्राप्त होता हैं अथवा सुवर्ण-धातु सस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है। इसीसे यह प्रसिद्धि चली आती है—"**कन्यारत्नं दुष्कुलादपि**"। अर्थात् दुष्कुलसे भी कन्यारतन ले लेना चाहिए। उस समय पितृकुल और मातृकुलकी शुद्धिको लिये हुए 'सज्जाति' दो प्रकारकी मानी जाती थी—एक शरीर-जन्मसे और दूसरी सस्कार-जन्मसे। शरीर-जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जातिका सद्भाव प्राय आर्यखण्डोमे माना जाता था[1]—म्लेच्छखण्डोमे नही। म्लेच्छखण्डोमें तो सस्कार-जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जातिका भी सद्भाव नही वनता, क्योकि वहाँकी भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है—उसका वातावरण ही बिगडा हुआ है। हाँ, वहाँके जो लोग यहाँ आ जाते थे वे सस्कारके बलसे सज्जातिमे परिणत किये जा सकते थे और तब उनकी म्लेच्छसज्ञा नही रहती थी। यहाँकी जो व्यक्तियाँ शरीर-जन्मसे अशुद्ध होती थी उन्हे भी अपने धर्ममे दीक्षित करके, सस्कार-जन्मके योगसे सज्जातिमें परिणत कर लिया जाता था और इस तरहपर नीचो-को ऊँच बना लिया जाता था। ऐसे लोगोका वह सस्कार-जन्म

1. सज्जन्मप्रतिलंभोऽयमार्यावर्त्ते विशेषत ।
सता देहादिसामग्र्यां श्रेय सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता ।
एतन्मूला यतः सर्वा. पुंसामिष्टार्थसिद्धय. ॥८८॥
सस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते ।
यामासाद्य द्विजन्मत्व भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९॥
—आदिपुराण, ३८वाँ पर्व ।

'अयोनिसम्भव' कहलाता था[1]। म्लेच्छोके त्रास अथवा दुर्भिक्षादि किसी भी कारणसे यदि किसीके सत्कुलमे कोई वट्टा लग जाता था—दोप आ जाता था—तो राजा अथवा पचो आदिकी सम्मतिसे उसकी कुल-शुद्धि हो सकती थी और उस कुलके व्यक्ति तव उपनयन (यज्ञोपवीत) सस्कारके योग्य समझे जाते थे। इस कुल-शुद्धिका विधान भी आदिपुराणमे पाया जाता है। यथा —

> कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुल सम्प्राप्तदूपणम्।
> सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदा कुलं ॥१६८॥
> तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ।
> न निषिद्ध हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९॥
>
> —४०वॉ सर्ग।

शुद्धिका यह उपदेश भी भरत चक्रवर्तीका दिया हुआ आदि-पुराणमे वतलाया गया है और इससे दस्सो तथा हिन्दूमे मुसलमान वने हुए मनुष्योकी शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। ऐसी हालतमे समालोचकजी भरत महाराजके अपमान और कलककी वातका क्या खयाल करते हैं, वे उनके उदार विचारोको नही पहुँच सकते, उन्हे अपनी ही सँभाल करनी चाहिये। जिसे वे अपमान और दूपण (कलक) की वात समझते हैं वह भरतजीके लिये अभिमान और भूपणकी वात थी। वे समर्थ थे, योजक थे, उनमे योजनाशक्ति थी और अपनी उस शक्तिके अनुसार वे प्राय किसी भी मनुष्यको अयोग्य नही समझते थे—सभी भव्यपुरुषोको योग्यतामे परिणत करने अथवा

---

१. अयोनिसभवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भव।
सोऽधिगम्य पर जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥९८॥
—आदिपुराण, पर्व ३९वां।

उनकी योग्यतासे काम लेनेके लिये सदा तैयार रहते थे। और यह उन्ही जैसे उदारहृदय योजकोके उपदेशादिका परिणाम है जो प्राचीन-कालमे कितनी ही म्लेच्छजातियोके लोग इस भारतवर्षमे आए और यहाँके जैन, बौद्ध, अथवा हिन्दू धर्मोमे दीक्षित होकर आर्य जनतामे परिणत हो गये। और इतने मखलूत हुए (मिल गये) कि आज उनके वशके पूर्व पुरुषोका पता चलाना भी मुश्किल हो रहा है। समालोचकजीको भारतके प्राचीन इतिहास-का यदि कुछ भी पता होता तो वे एक म्लेच्छकन्याके विवाह-पर इतना न चौंकते और न सत्यपर पर्दा डालनेकी जघन्य चेष्टा ही करते। अस्तु।

इन सब कथनसे साफ जाहिर होता है कि—जिस जराका वसुदेवके साथ विवाह हुआ, जिसके पुत्र जरत्कुमारने राजपाट छोडकर जैन मुनि-दीक्षा तक धारण की और जिसकी सन्ततिमे होनेवाले **जितशत्रु** राजासे भगवान **महावीर**की बुआ व्याही गई वह एक म्लेच्छ-राजाकी कन्या थी, भील भी म्लेच्छोकी एक जाति होनेसे वह भील कन्या भी हो सकती है, परन्तु वह म्लेच्छ-खडके किसी म्लेच्छ-राजाकी कन्या नही थी किन्तु आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ-राजाकी कन्या थी, जो चम्पापुरीके पासके इलाकेमे रहता था। म्लेच्छ-खडोमे आर्योका उद्भव नही। म्लेच्छोका सर्व सामान्याचार वही हिंसा करना और मासभक्षणादिक है। म्लेच्छखडोके म्लेच्छ भी उस आचारसे खाली नही हैं, वे खास तौरपर धर्म-कर्मसे वहिर्भूत हैं और उनका क्षेत्र धर्म-कर्मके अयोग्य माना गया है वहाँ सज्जातिका उत्पाद भी प्राय नही वनता। म्लेच्छोमे नीचगोत्रादिकका उदय भी वतलाया गया है और इससे यह नही कहा जा सकता कि वे उच्चजातिके होते

हैं। भरत चक्रवर्तीने (तदनुसार और भी चक्रवर्तियोंने) म्लेच्छ-राजादिकोकी बहुत-सी कन्याओसे विवाह किया है, वे हीन-कुल-जातिकी कन्याओसे विवाह कर लेना अनुचित नही समझते थे, उन्होने म्लेच्छोकी कुलशुद्धि करने और जिनके कुलमे किसी वजहसे कोई दोप लग गया हो उन्हे भी शुद्ध कर लेनेका विधान किया है। उस वक्तसे न मालूम कितने म्लेच्छ शुद्ध होकर आर्य-जनतामे परिणत हुए। इतिहाससे कितने ही म्लेच्छ-राजादिकोका आर्य-जनतामे शामिल होनेका पता चलता है। पहले जमानेमे दुष्कुलोसे भी उत्तम कन्याएँ ले ली जाती थी, राजा श्रोणिकके पिताने भील कन्यासे विवाह किया और सम्राट् चन्द्रगुप्तने एक म्लेच्छ-राजाकी कन्यासे शादी की। ऐसी हालतमे समालोचकजीने उदाहरणके इस अशपर जो कुछ भी आक्षेप किये हैं वे सब मिथ्या तथा व्यर्थ हैं और उनकी पूरी नासमझी प्रकट करते हैं।

अब उदाहरणके तृतीय अश—'प्रियगुसुन्दरीसे विवाह'—को लीजिये।

व्यभिचारजातों और दस्सोंसे विवाह

लेखकने लिखा था कि "**प्रियंगुसुन्दरीके** पिताका नाम **'एणीपुत्र'** था। यह एणीपुत्र **'ऋषिदत्ता'** नामकी एक अविवाहिता तापस-कन्यासे व्यभिचारद्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसव-समय उक्त ऋपिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जगलमे अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पाल-पोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सपुर्द कर दिया। इससे **प्रियंगुसुन्दरीका** पिता **'एणीपुत्र'** व्यभिचारजात था, जिसको आजकलकी भाषामें

'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिये । वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्र-सम्मत नही समझा और इसलिये उन्होने बडी खुशीके साथ **प्रियंगुसुन्दरी**का भी पाणिग्रहण किया ।"

उदाहरणके इस अशपर जो कुछ भी आपत्ति की गई है उसका साराश सिर्फ इतना ही है कि एणीपुत्र व्यभिचारजात नही था, किन्तु गन्धर्व-विवाहसे उत्पन्न हुआ था । परन्तु **ऋषि-दत्ता**का **शीलायुध**से गन्धर्व-विवाह हुआ था, ऐसा उल्लेख जिन-सेनाचार्यने अपने हरिवशपुराणमे कहाँ किया है, इस बातको समालोचकजी नही बतला सके । आपने उक्त हरिवशपुराणके आधारपर कई पृष्ठोमे ऋषिदत्ताकी कुछ विस्तृत कथा देते हुए भी, जिनसेनाचार्यका एक भी वाक्य ऐसा उद्धृत नही किया जिससे गधर्व-विवाहका पता चलता । सारी कथामेसे नीचे लिखे कुल दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं जो दो पद्योके दो चरण हैं —

'ऋतुमत्यार्यपुत्राह यदि स्यां गर्भधारिणी ।"

"पृष्टस्तथा [तः] सतामाह या [मा] कुलाभू' प्रिये शृणु"

इनमेसे पहले चरणमे ऋषिदत्ताके प्रश्नका एक अश और दूसरेमे शीलायुधके उत्तरका एक अश है । समालोचकजी कहते हैं कि कामक्रीडाके अनन्तरकी बातचीतमे जब **ऋषिदत्ताने शीलायुधको** 'आर्यपुत्र' कहकर और **शीलायुधने ऋषिदत्ताको** 'प्रिये' कहकर सबोधन किया तो इससे उनके गधर्व-विवाहका पता चलता है—यह मालूम होता है कि उन्होने आपसमे पति-पत्नी होनेका ठहराव कर लिया था और तभी भोग किया था, क्योकि "आर्यपुत्र जो विशेषण है यह पतिके लिये ही होता है" और "जो प्रिये विशेषण है यह पत्नीके लिये ही होता है ।" इसी

प्रकार जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवशपुराणसे सिर्फ एक वाक्य ("इति पृष्ठः सतामूचे मा भैषी श्रृणु वल्लभे") उद्धृत करके उसमे आए हुए 'वल्लभे' विशेपणकी वावत लिखा है—"ये भी पत्नीके लिये ही होता हैं।" परन्तु ये विशेपण पति-पत्नीके लिये ही प्रयुक्त होते है–अन्यके लिये नही—ऐसा कही भी कोई नियम नही देखा जाता। शब्दकोषके देखनेसे मालूम होता है कि आर्य-पुत्र "आर्यस्य पुत्र"—आर्यके पुत्रको, "मान्यस्य पुत्र"—मान्यके पुत्रको और "गुरुपुत्र"—गुरुके पुत्रको भी कहते हैं (देखो 'शब्दकल्पद्रुम')। 'आर्य' शब्द पूज्य, स्वामी, मित्र, श्रेष्ठ, आदि कितने ही अर्थोमे व्यवहृत होता हे और इसलिये 'आर्यपुत्र' के और भी कितने ही अर्थ तथा वाच्य होते हैं। वामन शिवराम आप्टेने, अपने कोशमे, यह भी वतलाया है कि आर्यपुत्र 'बडे भाईके पुत्र' और 'राजा' के लिये भी एक गौरवान्वित विशेपणके तौरपर प्रयुक्त होता है। यथा :—आर्यपुत्र —honorrific designation of the son of the elder brother, or of a prince by his general &c.

ऐसी हालतमे एक मान्य और प्रतिष्ठित जन तथा राजा समझकर भी उक्त सम्वोधन पदका प्रयोग हो सकता है और उससे यह लाजिमी नही आता कि उनका विवाह होकर पति-पत्नी सवध स्थापित हो गया था। इसी तरह पर **'प्रिया'** और **'वल्लभा'** शब्दोके लिये भी, जो दोनो एक ही अर्थके वाचक हैं, ऐसा नियम नही है कि वे अपनी विवाहिता स्त्रीके लिये ही प्रयुक्त होते हो—वे साधारण स्त्रीमात्रके लिये भी व्यवहृत होते हैं, जो अपनेको प्यारी हो। इसीसे उक्त आप्टे साहबने 'प्रिया' का अर्थ a woman in general और वल्लभा

a beloved female भी दिया है। कामीजन तो अपनी कामुकियो अथवा प्रेमिकाओको इन्ही शब्दोमे क्या इनसे भी अधिक प्रेम-व्यजक शब्दोमे सम्बोधन करते हैं। ऐसी हालतमे ऋषिदत्ताके प्रेमपाशमे वँधे हुए उस कामाध शीलायुधने यदि उसे 'प्रिये' अथवा 'वल्लभे' कहकर सम्बोधन किया तो इसमे कौन आश्चर्यकी बात है ? इन सम्बोधन-पदोसे ही क्या दोनोका विवाह सिद्ध होता है ? कभी नही। केवल भोग करनेसे भी गधर्व-विवाह सिद्ध नही हो जाता, जब तक कि उससे पहले दोनोमे पति-पत्नी वननेका दृढ सकल्प और ठहराव न हो गया हो। अन्यथा, कितनी ही कन्याएँ कुमारावस्थामे भोग कर लेती हैं और वे फिर दूसरे पुरुषोसे व्याही जाती हैं। इसलिए गधर्व विवाहके लिये भोगसे पहले उक्त सकल्प तथा ठहरावका होना जरूरी और लाजिमी है। समालोचकजी कहते भी हैं कि उन दोनोने ऐसा निश्चय करके ही भोग किया था, परन्तु जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणमे उस सकल्प, ठहराव अथवा निश्चयका कही भी कोई उल्लेख नही है। भोगके पश्चात भी ऋषिदत्ताकी ऐसी कोई प्रतिज्ञा नही पाई जाती जिससे यह मालूम होता हो कि उसने आजन्मके लिये शीलायुधको अपना पति वनाया था।

समालोचकजी एक वात और भी प्रकट करते हैं और वह यह कि ऋषिदत्ता पचाणुव्रतधारिणी थी और 'सम्यक्त्वसहित' मरी थी "इसीलिये यह विना किसीको पति वनाये कभी कामसेवन नही कर सकती थी।" परन्तु सकने और न सकनेका सवाल तो वहुत टेढा हे। हम सिर्फ इतना ही पूछना चाहते हैं कि यह कहाँका और कौनसे शास्त्रका नियम है कि जो सम्यक्त्व-

सहित मरण करे उसका सम्पूर्ण जीवन पवित्र ही रहा हो—उसने कभी व्यभिचार न किया हो ? किसी भी शास्त्रमे ऐसा नियम नही पाया जाता। और न यही देखनेमे आता है कि जिसने एक वार अणुव्रत धारण कर लिये वह कभी उनसे भ्रष्ट न हो सकता हो। अणुव्रतीकी तो वात ही क्या अच्छे-अच्छे महाव्रती भी काम-पिशाचके वशवर्ती होकर कभी-कभी भ्रष्ट हो गये हैं। चारुदत्त भी तो अणुव्रती थे और श्रावकके इन व्रतोको लेनेके वाद ही वेश्यासक्त हुए थे। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ऋषिदत्तासे व्यभिचार नही वन सकता था। श्रीजिनसेनाचार्यने तो साफ लिखा है कि उन दोनोके पारस्परिक प्रेमने चिरकालकी मर्यादाको तोड दिया था। यथा —

[1]शातायुधसुत: श्रीमांश्रावस्तीपतिरेकदा।
शीलायुध इति ख्यात: सयातस्तापसाश्रमम्॥ ३६॥
एकयैव कृतातिथ्यस्तया तापसकन्यया।
रुच्याहारैर्मनोहारि-सवल्कलकुचश्रिया॥३७॥
अतिविश्रभत: प्रेम तयोरप्रतिरूपयो:।
विभेद निजमर्यादां चिर समनुपालिताम्॥३८॥

---

१. जिनदास ब्रह्मचारीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इन चारों पद्योंकी जगह नीचे लिखे तीन पद्य दिये हैं :—

शातायुधात्मजो जातु श्रावस्तीनगरीपति:।
शीलायुधाभिधोऽयासीत्त तापसजनाश्रमं ॥३६॥
तयैकयैव विहितातिथ्यस्तापसकन्यया।
वन्याहारै. परां प्रीतिं स तया सह संगत. ॥३७॥
ततो रहसि नि:शकस्तामसौ तापसात्मजां।
बुभुजे कामनाराचवशात्पीकृतविग्रहाम् ॥३८॥

गते रहसि निःशंकं निःशंकस्तामसौ युवा ।
अरीरमद्यथाकाम कामपाशवशो वशां ॥३९॥

—हरिवंशपुराण ।

अर्थात्—एक दिन शातायुधका पुत्र **शीलायुध**, जो श्रावस्ती नगरीका राजा था, तापसाश्रममें गया। वहाँ वह तापसकन्या **ऋषिदत्ता** अकेली थी और उसने ही सुन्दर भोजनसे राजाका अतिथि-सत्कार किया। ये दोनो अति रूपवान् थे, इनके परस्पर केलिकलह उपस्थित होने—अथवा स्नेहके बढनेसे—दोनोके प्रेमने चिरकालसे पालन की हुई मर्यादाको तोड डाला। और वह कामपाशके वश हुआ युवा **शीलायुध** उस कामपाशवशवर्तिनी **ऋषिदत्ता**को एकान्तमे लेजाकर उससे नि शक हुआ यथेष्ट काम-क्रीडा करने लगा।

पं० दौलतरामजी भी अपनी टीकामे लिखते हैं—"**ऋषि-दत्ता** तापसकी कन्या अकेली हुती तानै **शीलायुध**को मनोहर आहार कराया, ए दोऊ ही अतुल रूप, सो इनके प्रेम वढा, सो चिरकालकी मर्यादा हुती सो भेदी गई। एकात विपै दोऊ नि शक भये यथेष्ट रमते भये।" और प० गजाधरलालजी ३८ वे पद्यके अनुवादमे लिखते है—"वे दोनो गाढ प्रेम-वधनमें वँध गये, उनके उस प्रेम-वधनने यहाँ तक दोनोपर प्रभाव जमा दिया कि न तो ऋपिदत्ताको अपनी तपस्विमर्यादाका ध्यान रहा और न राजा **शीलायुध**को ही अपनी वशमर्यादा सोचनेका अवसर मिला।" और इसके बाद आपने यह भी जाहिर किया है कि "**ऋषिदत्ता**को अपने अविचारित कामपर वडा पश्चात्ताप हुआ, मारे भयके उसका शरीर थरथर काँपने लगा।"

श्रीजिनसेनाचार्यके वाक्यो और उक्त टीका-वचनोसे यह

स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि ऋषिदत्ता और शीलायुधने विवाह न करके व्यभिचार किया था। हरिवशपुराणके उक्त चारो-पद्योमे शीलायुधके आश्रममे जाने और भोग करने तकका पूरा वर्णन है। परन्तु उसमे कही भी पति-पत्नीके सवध-विषयक किसी ठहराव, सकल्प, प्रतिज्ञा या विवाहका कोई उल्लेख नही है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इन दोनोका गधर्व-विवाह हुआ था? समालोचकजी, कथाका पूर्णाश (?) देते हुए लिखते हैं:—

"चूँकि राजपुत्र भी तरुण तथा रूपवान था और कन्या भी सुन्दरी व लावण्यवती थी। इनका आपसमे एक दूसरेपर विश्वास हो गया। (पति-पत्नी बननेकी वार्ता हो गई) जो कि गन्धर्व-विवाहसे भली-भाँति घटित होता है। और इन्होने परस्परमे काम-क्रीडा की।"

मालूम होता है यह आपने उक्त ३८ वे और ३९ वें पद्योका पूर्णाश नही किन्तु साराश दिया है और इसमे चिरपालित मर्यादाको तोडनेकी बात आप कतई छिपा गये। अथवा यो कहिये कि, कथाका उपयुक्त साराश देनेपर भी, कथाके अशको छिपानेका जो इलजाम आपने लेखकपर लगाया था उसके स्वय मुलजिम और मुजरिम (अपराधी) बन गये। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि ३८ वे पद्यमे आए हुए "अतिविश्रंभत" पदका अर्थ आपने 'विश्वास हो गया' समझा उसे ही पति-पत्नी बननेकी वार्ता होना मान लिया। और फिर उसीको गधर्व-विवाहमे घटित कर लिया!! वाह! क्या ही अच्छा आसान नुसखा आपने निकाला! कुछ भी करना धरना न पडे और मुफ्तमे पाठकोको गधर्व-विवाहका पाठ पढा दिया जाय!! महाराज! इस प्रकारकी कपट-कलासे कोई नतीजा नही है।

मूलग्रन्थमे **'अतिविश्रंभतः'** यह स्पष्ट पद है, इसमे पति-पत्नी वननेकी कोई वार्ता छिपी हुई नही है और न गधर्व-विवाह ही अपना मुँह ढाँपे हुए बैठा है। **'विश्रंभ'** शब्दका अर्थ, यद्यपि, विश्वास भी होता है परन्तु 'केलिकलह' (Love quarrel) और 'प्रणय' (स्नेह) भी उसके अर्थ हैं ([1]**विश्रंभ. केलिकलहे, विश्वासे प्रणये वधे**)। और ये ही अर्थ यहाँपर प्रकरण-सगत जान पडते हैं। 'अतिविश्वाससे प्रेमने मर्यादा तोड दी' यह अर्थ कुछ ठीक नही बैठता। हाँ, स्नेहके अतिरेकसे अथवा केलिकलहके बढनेसे—प्रेम-प्रस्तावके लिये अधिक छेड-छाड, हँसी-मजाक और हाथापाईके होनेसे—प्रेमने उनकी चिरपालित मर्यादा तोड दी', यह अर्थ सगत मालूम होता है।

परन्तु कुछ भी सही, आप अपने 'विश्वास' अर्थपर ही विश्वास रक्खे, फिर भी तो उसमेसे पति-पत्नी होनेकी कोई बात-चीत सुनाई नही पडती और न गन्धर्व-विवाहके ही मुखका कहीसे दर्शन होता है। यदि दोनोका गन्धर्व-विवाह हुआ होता तो कोई वजह नही थी कि क्यो ऋषिदत्ता प्रसवसे पहले ही शीलायुधके घरपर न पहुँच गई होती—खासकर ऐसी हालतमे जब कि उसने शीलायुध-द्वारा भोगे जानेका हाल अपने माता-पितासे भी उसी दिन कह दिया था। साथ ही, समालोचकजीके शब्दोमे (मूलग्रन्थके शब्दोमे नही) यह भी कह दिया था कि "मैं एकान्तमे राजा **शीलायुधकी** पत्नी हो चुकी हूँ।" ऐसी दशामे तो जितना भी शीघ्र बनता वे प्रकट रूपसे उसका बाकायदा (नियमानुसार) विवाह **शीलायुधके** साथ कर देते और उसके

---

१ यह श्री हेमचन्द्र और श्रीधरसेनाचार्योंका वाक्य है। मेदिनी-कोशमे भी 'केलिकलह' और 'प्रणय' दोनों अर्थ दिये हैं।

घर भेज देते। ऋषिदत्ताको तब क्या जरूरत थी वह डरती और घबराती हुई यह प्रश्न करती कि ऋतुमती होनेसे यदि मेरे गर्भ रह गया हो तो मैं उसका क्या करूँगी ? एक विवाहिता स्त्री गर्भ रह जानेपर क्या किया करती है ? जब वह खुद बालिग (प्राप्तवयस्क) थी, अपनी खुशीसे उसने विवाह किया था और एक ऐसे समर्थ पुरुषके साथ विवाह किया था जो कि राजा था तो फिर उसके लिये डरने, घबराने और थर-थर कापनेकी क्या जरूरत थी ? प्रियंगुसुन्दरीका भी तो वसुदेवके साथ पहले गन्धर्व विवाह ही हुआ था। वह तो तभीसे उनके साथ रहने लगी थीं। और बादको उसका बाजाब्ता विवाह भी हो गया था। हो सकता है कि ऋषिदत्ता अपने तापसी जीवनमे ही रहना चाहती हो और इसीलिये केवल पुत्रके वास्ते उसने पूछ लिया हो कि उसके होनेपर क्या किया जाय ? ऐसी हालत-मे उसका वह कर्म गन्धर्व-विवाह नही कहला सकता। शीलायुधने उसके प्रश्नका जो उत्तर दिया उससे भी यह बात नही पाई जाती कि उनका परस्पर विवाह हो गया था। वह कहता है 'प्रिये! डरो मत, मैं श्रावस्ती नगरीका इक्ष्वाकुवशी राजा हूँ और शीलायुध मेरा नाम है, जब तेरे पुत्र हो तब तू पुत्र-सहित मेरे पास आइयो—अथवा मुझसे मिलियो।' वाह! क्या अच्छा उत्तर है! क्या अपनी पत्नीको ऐसा ही उत्तर दिया जाता है ? यदि विवाह हो चुका था तो क्यो नही उसने दृढताके साथ कहा कि मैं तुझे अभी अपने घरपर बुलाये लिये लेता हू ? क्यो तापसाश्रममे ही अपने पुत्रका जन्म होने दिया ? और क्यो उसने फिर अन्त तक उसकी कोई खबर नही ली ? वह तो उसे यहाँ तक भूल गया कि जब वह मरकर देवी हुई और उसी तापसी

वेपमे पुत्रको लेकर शीलायुधके पास गई तो उसने उसे पहिचाना तक भी नही। क्या इन्ही लक्षणोसे यह जाना जाता है कि दोनोका विवाह हो गया था। और भोगसे पहले पति-पत्नी वननेकी सब वातचीत तै हो गई थी ? कभी नही। उत्तरसे तो यह मालूम होता है कि भोगसे पहले शीलायुधने अपना इतना भी परिचय उसे नही दिया कि वह कौनसे वशका और कहाँका राजा है,—इस परिचयके देनेकी भी उसे वादको ही जरूरत पडी—उसने तो अपने वीर्यसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रकी रक्षा आदिके प्रबन्धके लिये ही यह कह दिया मालूम होता है कि तुम उसे लेकर मेरे पास आ जाइयो। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि दोनोका परिचय और विवाहकी वातचीत होकर भोग हुआ था ? यदि दोनोका गन्धर्व-विवाह हुआ होता तो श्रीजिनसेनाचार्य उसका उसी तरहसे स्पष्ट उल्लेख करते जिस तरहसे कि उन्होने इसी प्रकरणमे प्रियंगुसुन्दरीके गधर्व-विवाहका उल्लेख किया है[1]। अस्तु, उक्त प्रश्नोत्तरके श्लोक निम्न प्रकार हैं और वे ऊपर उद्धृत किये हुए पद्योंके ठीक वाद पाये जाते हैं :—

> व्यजिज्ञपत्ततस्त सा साध्वी साध्वसपूरिता।
> ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदि स्यां गर्भधारिणी॥ ४०॥
> तदा वद विधेयं मे किमिहाकुलचेतसः।
> पृष्टस्ततः सतामाह माकुलाभूः प्रिये शृणु॥ ४१॥
> इक्ष्वाकुकुलजो राजा श्रावस्त्यामस्तशात्रवः।
> शीलायुधस्त्वयावश्यं द्रष्टव्योह सपुत्रया॥ ४२॥

---

1. प्रियगुसुन्दरी सौरिं रहसि प्रत्यपद्यत।
   सा गधर्वविवाहादिसहसन्मुखपकजा॥६८॥

यशःकीर्ति भट्टारकके बनाये हुए अपभ्रंशभाषात्मक प्राकृत हरिवंशपुराणमें यही प्रश्नोत्तर इस प्रकारसे दिया हुआ है :—

रिउसपण्णी काइं करेसमि ।
हउसो गब्भु का सुयउ देसमि ।
सीलाउहु णिउ हउ साविच्छिहिं ।
सो णंदणु महु आणिवि दिज्जहि ।

अर्थात्—(ऋषिदत्ताने पूछा) मैं ऋतुसम्पन्ना हूँ, यदि मेरे गर्भ रह गया तो मैं क्या करूँगी और उस पुत्रको किसे दूँगी ? (उत्तरमें शीलायुधने कहा) मैं श्रावस्ती (नगरी) में शीलायुध (नामका) राजा हूँ सो यह पुत्र तुम मुझे आकर दे देना ।

इसके बाद लिखा है कि 'राजा अपने नगर चला गया और ऋषिदत्ताने वह सब वृत्तांत अपने माता-पितासे कह दिया ।' यथा—

यस कहेवि सो गउ णिय णयरहो ।
थिउ वित्तंतु कहिउ तिणि पियरहो ॥

इस प्रश्नोत्तरसे, यद्यपि, यह बात और भी साफ जाहिर होती है कि ऋषिदत्ता और शीलायुधका आपसमें विवाह नहीं हुआ था, किन्तु भोग हुआ था और उस भोगसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रका ही इस प्रश्नोत्तर-द्वारा निपटारा किया गया है कि उसका क्या बनेगा । अन्यथा—विवाहकी हालतमें—ऐसे विलक्षण प्रश्नोत्तरका अवतार ही नहीं बन सकता । परन्तु इस प्रश्नोत्तरसे ठीक पहले शीलायुधके तापसाश्रममें जाने आदिका जो वर्णन दिया है उसमें 'विवाहिय' पद खटकता है और वह वर्णन इस प्रकार है —

सीलाउहणरवइ तहिं पत्तउ ।
वनकीलइ सो ताए विदिट्ठिउ ।

अतिहिं धरि विहुय तहो अणुराइय।
तेंसि हि सक्खि करेवि विवाहिय।

समालोचकजीने इस पद्यके अर्थमे लिखा है कि—"किसी समय शीलायुध राजा वहाँ वन-क्रीडाके लिये आया वह [उसे] ऋषिदत्ताने देखा। उन दोनोमे परस्पर अनुराग हो गया और उन्होने तेसिको साक्षीकर विवाह कर लिया।" साथ ही, यह प्रकट किया है कि 'तेंसि' का अर्थ हमे मिला नही, यह नि सन्देह कोई अचेतन पदार्थ जान पडता है जिसको साक्षी करके विवाह किया गया है।

यहाँ, मैं अपने पाठकोको यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त प्रश्नोत्तरवाला पद्य इस वातको प्रकट कर रहा अथवा माँग रहा है कि उससे पहले पद्यमे भोगका उल्लेख होना चाहिये, तव ही गर्भकी शका और तद्विषयक प्रश्न बन सकता है। परतु इस पद्यमे भोगका कोई उल्लेख न होकर केवल विवाहका उल्लेख है और विवाहमात्रसे यह लाजिमी नही आता कि भोग भी उसी वक्त हुआ हो। मात्र विवाहके अनन्तर ही उक्त प्रश्नोत्तरका होना वेढगा मालूम होता है। ऐसी हालतमे यहाँ 'विवाहिय' पदका जो प्रयोग पाया जाता है वह सदिग्ध जान पडता है। वहुत-सम्भव है कि यह पद अशुद्ध हो और भोग किया, काम-क्रीडा की अथवा रमण किया, ऐसे ही किसी अर्थके वाचक शब्दकी जगह लिखा गया हो। 'तेंसिहि सक्खि' पाठ भी अशुद्ध मालूम होता है—उसके अर्थका कहीसे भी कोई समर्थन नही होता। ऋषिदत्ताकी कथाको लिये हुए सबसे प्राचीन ग्रन्थ, जो अभी तक उपलब्ध हुआ है वह, जिनसेनाचार्य-का हरिवशपुराण ही है—काष्ठासघी यश कीर्ति भट्टारकका

प्राकृत हरिवंशपुराण उससे ६६० वर्ष बादका बना हुआ है—परन्तु उसमे तेसि (?) की साक्षीसे तो क्या वैसे भी विवाह करनेका कोई उल्लेख नही है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। इसके सिवाय, भट्टारकजीने स्वय यह सूचित किया है कि मेरे इस ग्रन्थके शब्द-अर्थका सम्बन्ध जिनसेनाचार्यके शास्त्र (हरिवंशपुराण) से है। यथा —

सद्द अत्थ संबंध फुरंतउ।
जिणसेणहो सुत्तहो यहु पयडिउ।

और जिनसेनाचार्यने साफ तौरपर विवाहका कोई उल्लेख न करके उक्त अवसरपर भोगका उल्लेख किया है और "अरीरमत्" पद दिया है। जिनसेनाचार्यके अनुसार अपने हरिवंशपुराणकी रचना करते हुए, ब्रह्मचारी जिनदासने भी वहाँ "बुभुजे" पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है 'भोग किया' अथवा भोगा और इसलिये वह जिनसेनके 'अरीरमत्' पदके अर्थका ही द्योतक है। परन्तु यहाँ "करेवि विवाहिय" शब्दोसे वह अर्थ नही निकलता, जिससे पाठके अशुद्ध होनेका खयाल और भी ज्यादा दृढ होता है। यदि वास्तवमे पाठ अशुद्ध नही है, बल्कि भट्टारकजीने इसे इसी रूपमे लिखा है और वह ग्रंथकी प्राचीन प्रतियोमे भी ऐसे ही पाया जाता है तो मुझे इस कहनेमे कोई सकोच नही होता कि भट्टारकजीने जिनसेनाचार्यके शब्दोका अर्थ समझनेमे गलती की और वे अपने ग्रन्थमे शब्द-अर्थके सम्बन्धको ठीक तौरसे व्यवस्थित नही कर सके—यह भी नही समझ सके कि विवाहके अनन्तर उक्त प्रश्नोत्तर कितना बेढगा और अप्राकृतिक जान पडता है। आपका ग्रन्थ है भी बहुत कुछ साधारण।

इसके सिवाय, जब हमारे सामने मूलग्रथ मौजूद है तब उसके आधारपर लिखे हुए साराशो, आशयो, अनुवादो अथवा सक्षिप्त ग्रथोपर ध्यान देनेकी ऐसी कोई जरूरत भी नही है, वे उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं जहाँ तक कि वे मूल-ग्रथोके विरुद्ध नही है। उनके कथनोको मूलग्रथोपर कोई महत्त्व नही दिया जा सकता। जिनसेनाचार्यने साफ सूचित किया है कि उन दोनोके प्रेमने चिरपालित मर्यादाको भी तोड दिया था, वे एकान्तमे जाकर रमने लगे, भोगके अनन्तर **ऋषिदत्ता**को बडा भय मालूम हुआ, वह घबराई और उसे अपने गर्भकी फिकर पडी। **शीलायुध**के वशादिकका परिचय भी उसे बादको ही मालूम पडा। ऐसी हालतमें विवाह होनेका तो खयाल भी नही आ सकता। अस्तु।

इस सब कथन और विवेचनसे साफ जाहिर है कि ऋषि-दत्ता और शीलायुधका कोई विवाह नही हुआ था, उन्होंने वैसे ही काम-पिशाचके वशवर्ती होकर भोग किया और इसलिये वह भोग व्यभिचार था। उससे उत्पन्न हुआ **एणीपुत्र** एक दृष्टिसे **शीलायुध**का पुत्र होते हुए भी, **ऋषिदत्ता**के साथ **शीला-युध**का विवाह न होनेसे, व्यभिचारजात था। उसकी दशा उस जारज पुत्र-जैसी थी जो किसी जारसे उत्पन्न होकर कालान्तरमे उसीको मिल जाय। अविवाहिता कन्यासे जो पुत्र पैदा होता है उसे "कानीन" कहते हैं (**कानीनः कन्यकाजात; कन्याया अनूढायां जातो वा**), 'अनूढा-पुत्र' भी उसका नाम है और वह व्यभिचारजातोंमे परिगणित है।

'एणीपुत्र' भी ऐसा ही 'कानीन' पुत्र था और इसलिये उसकी पुत्री **'प्रियंगुसुन्दरी'** एक व्यभिचारजातकी, अनूढा-पुत्रकी

अथवा कानीनकी पुत्री थी, जिसे आजकलकी भाषामे दस्सा या गाटा भी कह सकते हैं। मालूम नही समालोचकजीको एक व्यभिचारजात या दस्सेकी पुत्रीसे विवाहकी वातपर क्यो इतना क्षोभ आया, जिसके लिये वहुत कुछ यद्वा-तद्वा लिखकर समालोचना-के वहुत-से पेज रगे गये हैं—जव कि साक्षात् व्यभिचारजात वेश्या-पुत्रियो तकसे विवाहके उदाहरण जैनशास्त्रोमे पाये जाते हैं और जिनके कुछ नमूने ऊपर दिये जा चुके हैं। क्या जो लोग म्लेच्छ-कन्याओ तकसे विवाह कर लेते थे उनके लिये एक दस्से या व्यभिचारजातकी आर्य-कन्या भी कुछ गई-बीती हो सकती है? कदापि नही। आजकल यदि कोई वेश्यापुत्रीसे विवाह कर ले तो वह उसी दम जातिसे खारिज किया जाकर दस्सा या गाटा वना दिया जाय। साथमे उसके साथी और सहायक भी यदि दस्से बना दिये जायँ तो कुछ आश्चर्य नही। अत आजकलकी दृष्टिमे जिन लोगोंने पहले वेश्याओसे विवाह किये वे सब दस्से[1] होने चाहिये।

ऋषिदत्ताके पिता अमोघदर्शनने भी अपने पुत्र **चारुचंद्र**का विवाह '**कामपताका**' नामकी वेश्या-पुत्रीसे किया था, जिसके कथनको भी समालोचकजी कथाका पूर्णांश देते हुए छिपा गये। और इसलिये **ऋषिदत्ता** दस्सेकी पुत्री और दस्सेकी वहन भी हुई। तव उसकी उक्त प्रकारसे उत्पन्न हुई सतानको आजकलकी

---

१. दस्सा केवल व्यभिचारजातका ही नाम नहीं है बल्कि और भी कितने ही कारणोंसे 'दस्सा' संज्ञाका प्रयोग किया जाता है, और न सर्व व्यभिचारजात ही दस्सा कहलाते हैं, क्योंकि कुंड संतान जो भर्तारके जीते-जी और पास मौजूद होते हुए जारसे पैदा होती हैं वह व्यभिचारजात होते हुए भी दस्सा नहीं कहलाती।

भापामे दस्सेके सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? परन्तु पहले जमानेमे 'दस्से-बीसे' का कोई भेद नही था और न जैन-शास्त्रोमे इस भेदका कही कोई उल्लेख मिलता है। यह सब कल्पना बहुत पीछेकी है जब कि जनताके विचार बहुत कुछ सकीर्ण, स्वार्थमूलक और ईर्पा-द्वेप-परायण हो गये थे। प्राचीन समयमे तो दो-दो वेश्या-पुत्रियोसे भी विवाह करने वाले 'नागकुमार' जैसे पुरुप समाजमे अच्छी दृष्टिसे देखे जाते थे, नित्य भगवानका पूजन करते थे और जिनदीक्षाको धारण करके केवलज्ञान भी उत्पन्न कर सकते थे। परन्तु आज इससे भी बहुत कम हीन विवाह कर लेने वालोको जातिसे खारिज करके उनके धर्म-साधनके मार्गोंको भी बन्द किया जाता है, यह कितना भारी परिवर्तन है। समयका कितना अधिक उलटफेर है। और इससे समाजके भविष्यका चिन्तवन कर एक सहृदय व्यक्तिको कितना महान् दु ख तथा कष्ट होता है।

यहाँपर मैं समालोचकजीको इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि दस्सो और बीसोमे परस्पर विवाहकी प्रथा सर्वथा बन्द नही है। हूमड आदि कई जैन जातियोमे वह अब भी जारी है और उसका बराबर विस्तार होता जाता है। बम्बईके सुप्रसिद्ध 'जैनकुल भूपण' सेठ मणिकचन्दजी जे० पी० के भाई पानाचन्दका विवाह भी एक दस्सेकी पुत्रीसे हुआ था। इसलिये आपको इस चितासे मुक्त हो जाना चाहिये कि यदि जैनजातिमे इस प्रथाका प्रवेश हुआ तो वह रसातलको चली जायगी। दस्सोसे विवाह करना आत्मपतनका अथवा आत्मो-न्नतिमे बाधा पहुँचानेका कोई कारण नही हो सकता। दस्सो-मे अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित और धर्मात्मा जन मौजूद हैं—वे बीसोसे

किसी बातमे भी कम नही हैं—उन्हे हीन-दृष्टिसे देखना अथवा उनके प्रति असद्भाव रखना अपनी क्षुद्रता प्रकट करना है। अस्तु।

यह तो हुई तृतीय अशके आक्षेपोकी बात, अब उदाहरण का शेप चौथा अश—'रोहिणीका स्वयंवर' भी लीजिये।

स्वयंवर-विवाह

उदाहरणका यह चौथा अश इस प्रकार लिखा गया था :—

"रोहिणी" अरिष्टपुरके राजाकी लडकी और एक सुप्रतिष्ठित घरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयवर रचाया गया था, जिसमे जरासन्धादिक बडे-बडे प्रतापी राजा दूर देशान्तरोसे एकत्र हुए थे। स्वयवरमण्डपमे वसुदेवजी, किसी कारणविशेपसे अपना वेप बदल कर 'पणव' नामका वादित्र हाथमे लिये हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन बाजन्त्री (बाजा बजाने वाला) के रूपमे उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहा उनके वास्तविक कुल, जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नही था। रोहिणीने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओ तथा राजकुमारोको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेसे किसीको भी अपने योग्य वर पसद नही किया, तब उसने सब लोगोको आश्चर्यमें डालते हुए, बडे ही नि सकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञात कुल-जाति नामा व्यक्ति (वसुदेव) के गलेमे ही अपनी वरमाला डाल दी। रोहिणीके इस कृत्यपर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके पिता तथा वसुदेवसे लडनेके लिये तैयार हो गये। उस समय विवाह नीतिका उल्लघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओको

सम्बोधन करके, वसुदेवजीने वडी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेसे स्वयवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं —

> कन्या वृणीते रुचित स्वयवरगता वरम्।
> कुलीनमकुलीन वा क्रमो नास्ति स्वयवरे ॥
>
> —सर्ग ११, श्लोक ७१।

अर्थात्—स्वयवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योकि स्वयवरमे इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नही होता। ये वाक्य सकलकीर्त्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवशपुराणमे उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्य-कृत हरिवशपुराणमे भी प्राय इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं। वसुदेवजीके इन वचनोसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयवर-विवाहकी नीतिका भी वहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वयवर-विवाह, जिसमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमे 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह-विधानोमे सवसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है[1]। युगकी आदिमे सवसे पहले जव राजा अकम्पन-द्वारा इस (स्वयवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तव भरत चक्रवर्तीने भी इसका वहुत कुछ अभिनन्दन

---

१ सनातनोऽस्ति मार्गोऽय श्रुतिस्मृतिषु भाषित।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयवर ॥४४-३२॥

किया था। साथ ही, उन्होंने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धार-कर्त्ताओंको सत्पुरुषों-द्वारा पूज्य भी ठहराया था'।"

उदाहरणके इस अंशपर सिर्फ तीन खास आपत्तियाँ की गई हैं जिनका साराश इस प्रकार है —

(१) एक बाजन्त्रीके रूपमें उपस्थित होनेपर वसुदेवको "रक तथा अकुलीन" क्यो लिखा गया। "क्या बाजे बजानेवाले सब अकुलीन ही होते हैं ? बडे-बडे राजे और महाराजे तक भी बाजे बजाया करते हैं।" ये रक तथा अकुलीनके शब्द अपनी तरफसे जोडे गये हैं। वसुदेवजी अपने वेषको छिपाये हुए जरूर थे "किन्तु इस वेषके छिपानेसे उनपर कगाल या अकुलीनपना लागू नही होता।"

(२) "यह बाबूजीका लिखना कि "रोहिणीने बडे ही नि सकोच भावसे बाजत्री रूपके धारक अज्ञात कुल-जाति रङ्क व्यक्तिके गलेमे माला डाल दी" सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है"।

(३) "जो श्लोकका प्रमाण दिया वह वसुदेवजीने क्रोधमें कहा है किसी आचार्यने आज्ञारूप नही कहा जो प्रमाण हो,"।

इसमेसे पहली आपत्तिकी बावत तो सिर्फ इतना ही निवेदन है कि लेखकने कही भी वसुदेवको रक तथा अकुलीन नही लिखा और न यही प्रतिपादन किया कि उनपर कगाल या अकुलीनपना लागू होता है। 'कगाल' शब्दका तो प्रयोग भी उदाहरणभरमे कही नही है और इसलिये उसे समालोचकजीकी

---

१. तथा स्वयवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पना।
क प्रवर्त्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातन ॥ ४५ ॥
मार्गांश्चिरतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्त सद्भि पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥
—आ० पु० पर्व ४५।

अपनी कर्तूत समझना चाहिये। लेखकने जिसके लिये रक तथा अकुलीन शब्दोका प्रयोग किया है वह वसुदेवजीका तात्कालीन वेप था, न कि स्वय वसुदेवजी, और यह वात ऊपरके उदाहरणाशसे स्पष्ट जाहिर है। वेपकी बातको व्यक्तित्वमें घटा लेना कोरी भूल है। यह ठीक है कि कभी-कभी कोई राजा-महाराजा भी अपने दिल-बहलावके लिये वाजा वजा लेते हैं। परन्तु उनका वह विनोदकर्म प्राय एकान्तमे होता है—सर्व-साधारण सभा-सोसाइटियो अथवा महोत्सवोके अवसरपर नही—और उससे वे **'पाणविक'**—बाजत्री—नही कहलाते। **वसुदेवजी**, अपना वेष वदल कर **'पणव'** नामका वादित्र हाथमे लिये हुए, साफ तौरपर एक पाणविकके रूपमे वहाँ (स्वयवर मडपमे) उपस्थित थे—राजाके रूपमे नही—और पाणविको-की—वाजत्रियोकी—श्रेणीके भी अन्तमे बैठे हुए थे, जैसा कि जिनसेनके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

[1]वसुदेवोऽपि तत्रैव भ्रात्रलक्षितवेपभृत्।
तस्थौ पाणविकातस्थो गृहीतपणवो गृही. (?) ॥

---

१ इसी पद्यको जिनदास ब्रह्मचारीने निम्न प्रकारसे वदलकर रक्खा है :—

भ्रात्रलक्षितवेषोऽपि तत्रैव यदुनन्दन ।
गृहीतपणवस्तस्थौ मध्ये सर्वकलाविदाम् ॥

यहाँ 'सर्वकलाविदाम्' पद वादित्र-विद्याकी सर्व कलाओके जानने-वाले पाणविकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। जिनदासने वसुदेवको उन पाणविकों—बाजत्रियोंके अन्तमें न विठलाकर मध्यमें विठलाया है, यही भेद है और वह कुछ उचित मालूम न होता। उस वक्तकी स्थितिको देखते हुए एक अपरिचित और अनिमत्रित व्यक्तिके रूपमे वसुदेवका पाणविकोंके अन्तमें—पीछेकी ओर—वैठ जाना या खडे रहना ही उचित जान पडता है।

उनके इस वेषके कारण ही बहुतसे राजा उन्हे 'पाणविकवर' कहनेके लिये समर्थ होसके थे और यह कह सके थे कि 'कन्याने बडा अन्याय किया जो एक बाजत्रीको वर बनाया। यथा —

मात्सर्योपहताश्चान्ये जगुः पाणविकं वरम्।
कुर्वत्या पश्यतात्यन्तमन्यायः कन्यया कृतः ॥४८॥

वाजत्रीके रूपमे उपस्थित होनेकी वजहसे ही उन ईर्षालु राजाओको यह कहनेका भी मौका मिला कि यह अकुलीन है, कोई नीच वशी (कोऽपि नीचान्वयोद्भव) है, अन्यथा यह अपना कुल प्रकट करे, क्योकि उस समय बाजा बजानेका काम या पेशा करनेवाले शूद्र तथा अकुलीन समझे जाते थे। ऐसी हालतमे वसुदेवके उक्त वेषको रक तथा अकुलीन कहना कुछ भी अनुचित नही जान पडता। समालोचकजी स्वय इस बातको स्वीकार करते हैं कि प्रतिस्पर्धी राजाओने वसुदेवको रक तथा अकुलीन कहा था[1]। और उनके इस कथनका जैनशास्त्रोमे उल्लेख भी मानते हैं, फिर उनका यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है कि लेखकने इन शब्दोको अपनी तरफसे जोड दिया, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। साथ ही, इस बातका भी अनुभव कर सकते हैं कि समालोचकजीने जो यह कल्पना की है कि स्वयवर-मडपमे राजाओके सिवाय कोई दूसरा प्रवेश नही कर सकता था और इसलिये वाजा बजानेवाले भी वहाँ राजा ही होते थे, वसुदेवजी उन्ही बाजा बजानेवाले राजाओमे जाकर वैठ गये थे[2]

---

१. "रङ्क और अकुलीन तो केवल प्रतिस्पर्धी राजाओंने स्पर्धावश बतौर अपशब्दोके कहा है"।

२ यथाः—"स्वयवरमडपमें सब राजा ही लोग आया करते थे और जो इस योग्य हुआ करते थे उन्हींको स्वयंवरमडपमे प्रवेश किया जाता

वह कितनी विलक्षण तथा नि सार मालूम होती है। आपने राजाओको अच्छा 'पाणविक' बनाया और उन्हे खूब बाजत्रीका काम दिया। और एक बाजत्रीका ही काम क्या, जब स्वयवरमे राजाओ तथा राजकुमारोके सिवाय दूसरेका प्रवेश ही नही होता था तब तो यह कहना चाहिये कि पानी पिलाने, जूठे वर्तन उठाने और पखा झोलने आदि दूसरे सेवा-चाकरीके कामोमे भी वहाँ राजा लोग ही नियुक्त थे। यह आगन्तुक राजाओका अच्छा सम्मान हुआ। मालूम नही, रोहणीके पिताके पास ऐसी कौन-सी सत्ता थी, जिससे वह कन्याका पाणिग्रहण करनेकी इच्छासे आए हुए राजाओको ऐसे शूद्र कर्मोमे लगा सकता। जान पडता है यह सब समालोचकजीकी कोरी कल्पना ही कल्पना है, वास्तविकतासे इसका कोई सम्बध नही। ऐसे महोत्सवके अवसरपर आगन्तुकजनोके विनोदार्थ और मागलिक कार्योंके सम्पादनार्थ गाने-बजानेका काम प्राय दूसरे लोग ही किया करते हैं, जिनका वह पेशा होता है—स्वयवरोत्सवकी रीति-नीति, इस विपयमे, उनसे कोई भिन्न नही होती। इसके सिवाय, समालोचकजी एक स्थानपर लिखते हैं —

"रोहिणीने जिस समय स्वयवरमण्डपमे किसी राजाको नही वरा और धायसे बातचीत कर रही थी उस समय मनोहर वीणाका शब्द सुनाई पडा"।

इससे यह भी साफ जाहिर होता है कि स्वयवरमडपमे वसुदेवजी एक राजाकी हैसियतसे अथवा राजाके वेपमे पस्थित

था।" "उन्होंने [वसुदेवने] स्वयवरमडपमें प्रवेश किया और जहाँ ऐसे राजा वैठे हुए थे जो कि वादित्र-विद्याविशारद थे उन्हींमें जाकर वैठ गए।"

नही थे और इसीसे 'रोहिणीने स्वयवरमडपमे किसी राजाको नही वरा' इन शब्दोका प्रयोग हो सका है। स्वयवरमडपमे स्थित जब सब राजाओका परिचय दिया जा चुका था और रोहिणीने उनमेसे किसीको भी अपना वर पसद नही किया था तभी **वसुदेवजीने** वीणा बजाकर **रोहिणीकी** चित्तवृत्तिको अपनी ओर आकर्षित किया था। अत. समालोचकजीकी इस कल्पना और आपत्तिमे कुछ भी दम मालूम नही होता।

दूसरी आपत्तिके विषयमे, यद्यपि, अब कुछ विशेष लिखनेकी जरूरत बाकी नही रहती, फिर भी यहाँपर इतना प्रकट कर देना उचित मालूम होता है कि समालोचकजीने उसमे लेखकका जो वाक्य दिया है वह कुछ बदल कर रक्खा है उस मे 'अज्ञातकुलजाति' के बाद 'रङ्क' शब्द अपनी ओरसे बढाया है और उससे पहले 'एक अपरिचित' आदि शब्दोको निकाल दिया है। इसी प्रकारका और भी कुछ उलटफेर किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणाँशपरसे सहजमे ही जाना जा सकता है। मालूम नही, इस उलटा-पलटीसे समालोचकजीने क्या नतीजा निकाला है। शायद इस प्रकारके प्रयत्न-द्वारा ही आप लेखकके लिखनेको "सर्वथा शास्त्रविरुद्ध" सिद्ध करना चाहते हो! परन्तु ऐसे प्रयत्नोसे क्या हो सकता है? समालोचकजीने कही भी यह सिद्ध करके नही बतलाया कि वरमाला डालनेके वक्त **वसुदेवजी** एक अपरिचित और अज्ञातकूल-जाति व्यक्ति नही थे। जिनसेनाचार्यने तो वरमाला डालनेके बाद भी आपको "**कोऽपि गुप्तकुलः**" विशेषणके-द्वारा उल्लेखित किया है और तदनुसार जिनदास ब्रह्मचारीने भी आपके लिये "**कोऽपि गूढकुलः**" विशेषणका प्रयोग किया है, जिससे जाहिर है कि उनका

कुल वहाँ किसीको मालूम नही था। **वसुदेवजीके** कुलीन या अकुलीन होनेका राजाओमे विवाद भी उपस्थित हुआ था और उसका निर्णय उस वक्तसे पहले नही हो सका जब तक कि युद्धमे **वसुदेवने** समुद्रविजयको अपना परिचय नही दिया। इससे स्पष्ट है कि वरमाला डालनेके वक्त **वसुदेवसे** कोई परिचित नही था, न वहाँ उनके कुल-जातिका किसीको कुछ हाल मालूम था, और वे एक बाजत्री (पाणविक) के वेषमे उपस्थित थे, यह बात उपर बतलाई ही जा चुकी है। उसी बाजंत्री वेषमे उनके गलेमे वरमाला डाली गई और वरमालाको डाल कर **रोहिणी**, सबोको आश्चर्यमे डालते हुए, उन्हीके पास बैठ गई। ऐसी हालतमे लेखकका उक्त लिखना किधरसे सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। हाँ, समालोचकजीने इतना जरूर प्रकट किया है कि **वसुदेवने** वीणा बजाकर **रोहिणीको** यह सकेत किया था कि "तेरे मनको हरण करनेवाला राजहस यहाँ बैठा हुआ है" इस सकेतमात्रका अर्थ ज्यादा-से-ज्यादा इतना ही हो सकता है कि **रोहिणीके** दिलमे यह खयाल पैदा हो गया हो कि वह कोई राजा अथवा राजपुत्र है। परन्तु राजा तो म्लेच्छ भी होते हैं, अकुलीन भी होते हैं, सगोत्र भी होते हैं, विजातीय भी होते हैं और असवर्ण भी होते हैं। जब इन सब बातोका कोई निर्णय नही किया गया और वरमाला एक अपरिचित तथा अज्ञात-कुल-जाति व्यक्तिके ही गलेमें—चाहे वह राजलक्षणोसे मडित या अपने मुखमडलपरसे अनुमानित होने वाला राजा ही क्यो न हो—डाल दी गई तब तो यही कहना चाहिये कि स्वयवरमे एक अकुलीन, सगोत्र, विजातीय अथवा असवर्णको भी वरा जा सकता है। फिर

समालोचकजीकी जिनदास ब्रह्मचारीके उक्त श्लोकपर आपत्ति कैसी ? उसमे तो यही बतलाया गया है कि स्वयवरमे कन्या अपनी इच्छानुसार वर पसद करती है, उसमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता और इसका समर्थन ऊपर-की घटनासे भले प्रकार हो जाता है ।

परन्तु तीसरी आपत्तिमे समालोचकजी उक्त श्लोकको क्रोधमे कहा हुआ ठहरा कर अप्रामाणिक बतलाते हैं और आप स्वय, दूसरे स्थानपर, एक कामीजन-द्वारा अपनी कामुकीके प्रति, काम-पिशाचके वश-वर्ती होकर, कहा हुआ वाक्य प्रमाणमे पेश करते हैं और उसमे आए हुए 'प्रिये' पदपरसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उन दोनोमे पति-पत्नीका सम्बन्ध स्थापित हो गया था—उनका विवाह हो चुका था—,यह कितने आश्चर्य-की बात है । अस्तु, मैं अपने पाठकोको यह भी बतला देना चाहता हूँ कि उक्त श्लोक क्रोधमे नही कहा गया, किन्तु क्षुभित राजाओको शात करते हुए उन्हे स्वयम्वरकी नीतिका स्मरण करानेके लिये कहा गया है । जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवश-पुराणमे उक्त श्लोकसे पहले यह श्लोक पाया जाता है —

> वसुदेवस्ततो धीरो जगाद क्षुभितान्नृपान् ।
> मद्वचः श्रूयता यूय दृप्ताहकारकारिण ॥ ७० ॥

इसमे वसुदेवका 'धीर' विशेषण दिया है और उसके-द्वारा यह सूचित किया गया है कि वे क्षुभित तथा अहकारी राजाओको स्वयवरकी नीतिको सुनाते हुए स्वय धीर थे—क्षुभित अथवा कुपित नही थे । श्री जिनसेनाचार्यने तो इस विषयमे और भी स्पष्ट लिखा है । यथा :—

> वसुदेवस्ततो धीरः प्रोवाच क्षुभितान्नृपान् ।
> श्रूयतां क्षत्रियैर्दृप्तैः साधुभिश्च वचो मम ॥ ५२ ॥

स्वयवरगता[1] कन्या वृणीते रुचित वरम् ।
कुलीनमकुलीन वा न क्रमोऽस्ति स्वयंवरे ॥ ५३ ॥
अक्षान्तिरत्र नो युक्ता पितुर्भ्रातुर्निजस्य वा ।
स्वयवरगतिज्ञस्य परस्येह विशेपतः ॥ ५४ ॥
कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भग' सुभगोऽपरः ।
कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिबन्धोस्ति कश्चन ॥ ५५ ॥
तदत्र यदि सौभाग्यमविज्ञातस्य मेऽनया ।
अभिव्यक्त न वक्तव्यं भवद्भिरिह किचन ॥ ५६ ॥

हरिवशपुराण ।

अर्थात्—क्षुभित राजाओको अनेक प्रकारसे कोलाहल करते हुए देखकर, धीर-वीर वसुदेवजीने, गर्वित क्षत्रियो और साधुजनो दोनोको अपनी बात सुननेकी प्रेरणा करते हुए कहा—'स्वयवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण करती—स्वीकार करती—है जो उसे पसद होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन, क्योकि स्वयवरमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता । (अत) इस समय कन्याके पिता तथा भाईको, अपने सम्बन्धी या दूसरे किसी व्यक्तिका और खासकर ऐसे शख्सोको, जो स्वयवरकी गति—उसकी रीति-नीति-—से परिचित हैं, कुछ भी अशान्ति करनी उचित नही है । कोई महाकुलीन होते हुए भी दुर्भग होता है और दूसरा महा अकुलीन होनेपर भी सुभग हो जाता है, इससे कुल और सौभाग्यका यहाँ कोई प्रतिवध नही है । और इसलिये स्वयवरमे मुझ अविज्ञात (अज्ञातकुल-जाति अथवा अपरिचित) व्यक्तिका इस कन्याने यदि केवल सौभाग्य ही अनुभव किया है, कुलादिक नही—(और उसीको लक्ष्य करके

---

१ जिनदास ब्रह्मचारीने इसी श्लोकको, कुछ अक्षरोको आगे पीछे करके, अपने हरिवशपुराणमे उद्धृत किया है ।

वरमाला डाली गई है) तो उसकी इस कृतिमे आप लोगोको कुछ भी बोलने—या दखल देनेका जरा भी अधिकार नही है ।

इससे साफ जाहिर है कि वसुदेवने इन वाक्योको, जिनमे उक्त श्लोक भी अपने असली रूपमे शामिल हैं, ¹क्रोधके किसी आवेशमे नही कहा, बल्कि बडी शातिके साथ, दूसरोको शात करते हुए, इनमे स्वयवर-विवाहकी नीतिका उल्लेख किया है। उन्होने ये वाक्य साधुजनोको भी लक्ष्य करके कहे हैं जिनके प्रति क्रोधकी कोई वजह नही हो सकती, और ५४ वे पद्यमे आया हुआ "**स्वयंवरगतिज्ञस्य**" पद इस बातको और भी साफ बतला रहा है कि इन वाक्यो-द्वारा स्वयवरकी गति, विधि अथवा नीतिका ही निर्देश किया गया है । यदि ऐसा न होता तो आचार्य-महोदय आगे चलकर किसी-न-किसी रूपमे उसका निषेध जरूर करते, परन्तु ऐसा नही किया गया और इसलिये यह कहना चाहिये कि श्रीजिनसेनाचार्यने स्वयवर-विवाहकी रीति-नीतिका ऐसा ही विधान किया है कि उसमे वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नही होता और न कुल-सौभाग्यका कोई प्रति-बध ही रहता है । अत उक्त श्लोकको अप्रमाण कहना अपनी नासमझी प्रकट करना है ।

विज्ञ पाठकजन, जब स्वयवर-विवाहकी ऐसी उदार नीति है और वह सपूर्ण विवाह-विधानोमे श्रेष्ठ तथा सनातनमार्ग माना गया है, तब यह कहना शायद कुछ अनुचित न होगा कि बहुत

---

१. यदि क्रोधके आवेशमें कहा होता तो जिनसेनाचार्य वसुदेवको 'धीर' न लिखकर 'क्रुद्ध' प्रकट करते, जैसा कि ५८ वें पद्यमे उन्होंने जरासधको प्रकट किया है । यथा :—

"तच्छ्रुत्वाशु जरासध क्रुद्ध प्राह नृपान्नृ ।"

प्राचीनकालमे विवाहके लिये कुल, गोत्र अथवा जतिका ऐसा कोई खास नियम नही था जो हर हालतमे सबपर काबिल पाबदी हो—अथवा सबको समान रूपसे तदनुसार चलनेके लिये बाध्य कर सके—और उसका उल्लघन करनेपर कोई व्यक्ति जाति-बिरादरीसे पृथक अथवा धर्मसे च्युत किया जा सकता हो। ऐसी हालतमे, आजकल एक विवाहके लिये कुल-गोत्र अथवा जाति-वर्णको जो महत्त्व दिया जाता है वह कहाँ तक उचित है और उसमे कोई योग्य फेरफार बन सकता है या कि नही, इसका आप स्वय अनुभव कर सकते हैं।

प्रथमावृत्ति, अगस्त १९२५

दण्डविधान-विषयक समाधान : ५ :

श्री मोहनलालजी बडजात्याका 'धर्म और दण्ड' शीर्षक लेख[1] पढकर मुझे प्रसन्नता हुई और साथ ही, खेद भी। प्रसन्नता इसलिये कि लेख सद्भावको लिये हुए है—उसमे शिष्ट तथा सभ्य शब्दो-द्वारा मेरे लेखपर आपत्ति की गई है—और इसीसे वह मेरी विचार-प्रवृत्तिको अपनी ओर खीच सका है। और खेद इसलिये कि, लेखक महाशयने मेरे लेखको अच्छी तरहसे समझा नही। मालूम होता है, बडजात्याजीको मेरे लेखपरसे कही यह गलत खयाल पैदा हो गया है कि मैं दण्ड-विधानको विलकुल ही उठा देना चाहता हूँ। इसीसे आप लिखते हैं—"ऐसा तो नही कि आप दण्ड-विधानको विलकुल उडाना चाहते हो।" और जान पडता है, इसीलिये आपको अपने लेखकी भूमिकामे व्यर्थ ही यह दिखलानेका परिश्रम उठाना पडा कि, दण्ड-विधान प्राचीनकालसे चला आता है और वह मुनियोमे भी होता आया है। अन्यथा, उसकी कोई जरूरत नही थी। मैंने अपने लेखमे कही भी यह जाहिर नही किया कि पहले कोई दण्ड-विधान नही होता था, किन्तु हालके जैनियो अथवा जैन-पचायतोने उसकी नई ईजाद की है, फिर नही मालूम दण्डमात्रकी प्रथाको प्राचीन सिद्ध करनेका कष्ट क्यो उठाया गया। मेरे लेखसे कोई भी सहृदय अथवा समझदार मानव यह नतीजा निकाल सकता है कि वह आज-कलकी कुछ जाति-पचायतोके ऐसे दण्ड-विधानोको लक्ष्य करके लिखा गया है जो अनुचित हैं। अथवा यो कहिये कि उसमें ऐसी

---

१. यह लेख ६ अप्रैल १९२६ के जैन जगतमे प्रकाशित हुआ है।

जाति-पचायतोके अनुचित दण्ड-विधानोकी जनरल (व्यापक) समालोचना है—उनपर टीका-टिप्पणी की गई है—किसी एक ही व्यक्ति-विशेष या खास पचायतसे उसका सम्बन्ध नही है। मेरे लेखका जो वाक्य वडजात्याजीने उद्धृत किया है उससे भी यही स्पष्ट ध्वनि निकलती है। उसमें 'जरा-जरा-सी वातपर' ये शब्द अपराधकी लघुताको और 'जातिमे च्युत तथा विरादरीसे खारिज करके—उनके धार्मिक अधिकारोमे भी हस्तक्षेप करके—उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं' ये शब्द दण्डकी गुरुता एव अनुचितताको प्रकट कर रहे हैं। साथ ही, जातीय तथा सघशक्तिको निर्वल और नि सत्व वनानेकी जो उसमे वात कही गई है वह भी दण्डकी अनुचितताको घोपित करती है, क्योकि उचित अथवा सम्यक्दडका वैसा परिणाम नही होता। और अनुचित दण्ड अवश्य ही अवहेलना किये जानेके योग्य है। उसपर हमेशासे आपत्ति होती आई है, होती रहेगी और होनी चाहिये। अत उस आपत्तिसे विचलित होनेकी अथवा 'दडको ही उडाया जाता है' या 'दोपीको दड देना उसे सन्मार्गसे पीछे हटाना वताया जाता है' इस प्रकारकी दुहाई देनेकी जरूरत नही है। हाँ, उस दडकी उपयुक्तता और समुचितताके पक्षमे यदि कोई युक्ति-वल हो तो उसे प्रकट करना चाहिए। वडजात्याजीने ऐसा कुछ भी नही किया—कोरी सिद्धान्तकी वाते की हैं। उनका सारा लेख योग्य दडकी उपयोगिताके उल्लेखोसे भरा हुआ हो तो भला, योग्य-दडकी उपयोगितासे किसीको कव इनकार हो सकता है ? अथवा इसमे किसीको क्या आपत्ति हो सकती है कि, दण्ड यथादोप, यथोचित, समुचित और सम्यक् होना चाहिए, उसके प्रणयनमें तिलका ताड और ताडका तिल न करना चाहिए, दडदाताको

उसमे निजका कुछ भी स्वार्थ न रखना चाहिए और न उसके द्वारा अपने अनुचित राग-द्वेषादिको पुष्ट करना चाहिए, उसे पच-परमेश्वरकी गद्दीपर बैठकर न्याय ही करना चाहिये, और वह न्याय अथवा दड दोषकी विशुद्धि तथा क्षेमादिकका साधक होना चाहिए और इसी दृष्टिसे उसका विधान किया जाना चाहिए। समझमे नही आता, इन सब सिद्धान्तोको लिखकर मेरे लेखपर कौन-सी आपत्ति की गई है ? मेरे लेखके किस अशसे इनका विरोध पाया जाता था। मैं इस बातको मानता हूँ कि दण्ड ऐसा ही होना चाहिये और दण्ड-विधाताको इसी रूपसे प्रवर्त्तना चाहिये अथवा ऐसा ही करना चाहिए। परन्तु प्रश्न तो यह है कि समाजमे हो क्या रहा है, अधिकाश पच-जन कर क्या रहे हैं, उनकी प्रवृत्ति किस ओर जा रही है, वे बहुधा व्यक्तिगत राग-द्वेष, ईर्षा-घृणा, पक्षपात और अज्ञानादिके वशवर्ती होकर दड-विधान करते हैं या कि नही और वह दड-विधान समुचित, सम्यक् अथवा यथादोष कहलाये जानेके योग्य है या कि नही ? खेद है कि बडजात्याजीने इन सब लोक-व्यवहारकी बातोपर कोई ध्यान नही दिया, जिनपर ध्यान देनेकी जरूरत थी, और न यही सोचा कि आजकल लोकमे नैतिकदृष्टिसे दड-पात्रो और दड-विधायकोकी पारस्परिक क्या स्थिति है। यदि वे ऐसा करते तो उन्हे उक्त लेखके लिखनेकी नौवत ही न आती और न व्यर्थका परिश्रम उठाना पडता।

यह ठीक है कि शरीरका कोई अग यदि गल जाय या अन्य प्रकारसे किसी भयकर स्थितिको प्राप्त हो जाय और वह किसी तरह भी बहाल (स्वस्थ) न किया जा सकता हो, साथ ही, उसके कायम रखनेसे दूसरे अगोको भी गलने, सडने, विगडने

अथवा पीडितकी जानके ही खतरेमे पडनेका अदेशा हो तो उसका काट डालना कथचित् न्याय्य है। परन्तु एक अनाडी डाक्टर—वैद्य या जर्राह—जरासे विकारके कारण किसी स्वस्थ होने योग्य अगको यदि काट डाले तो उसका वह कृत्य न्याय्य अथवा उचित नही कहला सकता और न यही कहा जा सकता है कि उसने यथादोष शस्त्रका प्रयोग किया है। साथ ही, यदि यह मालूम पडे कि वह डाक्टर आदि अपने आत्मीयजनो तथा इष्ट-मित्रादिके शरीरकी वैसी ही हालत होते हुए उनके शरीरपर वह क्रूर कर्म (अनुचित शस्त्र-प्रयोग) नही करता और न करना उचित समझता है तो उसकी निर्दोपता और भी ज्यादा आपत्तिके योग्य हो जाती है, और यदि कही यह पता चल जाय कि उसने जान-बूझकर, अपने किसी कपायभावको पूरा करनेके लिए, उसे नुकसान पहुँचानेकी नीयतसे वैसा किया है तव तो उसकी सदोषताका फिर कुछ ठिकाना ही नही रहता और वह महानिन्दा तथा अवज्ञाका पात्र ठहरता है। ठीक ऐसी ही हालत समाजके बहिष्कार-सम्बन्धी दण्ड-विधानोकी है। वे उचित और अनुचित दोनो प्रकारके हो सकते हैं। परन्तु आजकल अधिकाशमे वे अनुचित ही पाये जाते हैं और उनकी हालत प्राय ऐसी है जैसी कि उपायान्तरसे निर्विष होने योग्य सर्पडसी अगुलीको सहसा काट डालना, या वर्र-मक्खी आदिसे काटी हुई अगुलीको भी सर्पडसी अगुलीकी तरह काट डालना, अथवा मूषक आदि किसी अविषैले जन्तुद्वारा काटी हुई अगुलीको सर्पडसी समझकर काट डालना और या सर्पडसी अगुलीको न काटकर उसकी जगह या उसके अतिरिक्त नाक काट डालना। इस प्रकारके दण्डविधानोको '**समुचित**' अथवा '**यथादोष दण्डप्रणयन**' नही कह सकते।

कल्पना कीजिये, हमारा एक भाई धार्मिक भावोको लेकर नित्य मन्दिरजीमे जाता है और बडी विनय-भक्तिके साथ भगवान्‌की पूजा-वन्दना करता है, वह वहाँ जाकर कभी देवताका अविनय अथवा देवमूर्तिको कोई प्रकारका उपद्रव नही करता, दूसरोकी पूजा-भक्तिमे वाधक नही होता और न किसीके साथ वलात्कार या व्यभिचार ही करता है और इसलिये इस योग्य नही कि उसका मन्दिरजीमे आना-जाना बन्द किया जाय, परन्तु वही भाई एक दिन विरादरीकी किसी ऐसी जोनारमे शामिल नही होता जिसमे वेटीवालेने कई हजार रुपये लेकर अपनी सुकुमार कन्याको एक वूढेके साथ व्याहनेकी योजना की हो, उसे ऐसी जोनारमे जीमना अधर्म तथा अन्यायका पोषण मालूम होता है और इसलिये अपने अन्त करणकी आवाज या प्रतिज्ञाके विरुद्ध पचोके कहनेको भी नही मानता। इसपर पचलोग, अपना अपमान समझकर नाराज हो जाते हैं और उसका मन्दिर जाना बन्द कर देते हैं। अब बतलाइये कि क्या ऐसा दण्ड-विधान **'समुचित'** अथवा **'यथादोष'** कहला सकता है ? कदापि नही। उसे अगुलीकी जगह नाक काट डालने जैसा ही कहना चाहिये, क्योकि उस भाईने मन्दिर-सम्वन्धी कोई अपराध नही किया था। मन्दिर-बहिष्कारके दड प्राय ऐसी ही नीतिका अनुसरण करने-वाले देखे जाते हैं और उनमे कुछ भी तथ्य तथा सार मालूम नही होता। दूसरे बहिष्कारोकी भी प्राय ऐसी ही हालत है। जो लोग जरा-सी वातपर आगबगूला होकर और अपनी पोजीसन (Position) तथा पदस्थकी जिम्मेदारी आदिका कोई खयाल न करके इस प्रकारके कठोर दण्ड दे डालते हैं वे कदापि पच-परमेश्वर कहलाये जानेके योग्य नही हो सकते और न उनकी

दण्डाज्ञा मान्य किये जानेकी क्षमता ही रख सकती है। ऐसे अविचारित दण्ड-विधानोसे समाजको कोई लाभ नही पहुँच सकता, उलटा शक्तिका दुरुपयोग होता है और उससे हानि ही होती है। इसीलिये मैंने अपने लेखमें ऐसे पचोकी इस प्रकारकी निरकुश प्रवृत्तिके विरुद्ध आवाज उठानेकी प्रेरणा की थी और लिखा था कि—

"आजकल जैन पचायतोने 'जातिवहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमे ले रक्खा है और विना उसका प्रयोग जाने तथा अपने वलादिक और देश-कालकी स्थितिको समझे, जहा-तहाँ यद्वा-तद्वा रूपमे, उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिए वडा ही भयकर तथा हानिकारक हैं।" · "ऐसी हालतमें, अव जरूरत है कि जैनियोकी प्रत्येक जातिमें वीर पुरुप पैदा हो अथवा खडे हो जो वडे ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पचो तथा मुखियाओको उनके कर्त्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित विरोधिनी निरकुश प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होनेपर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमें फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद, जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन वह सकेगा, जिसका वहना अव वन्द हो रहा हैं और उसके कारण समाजका साँस घुट रहा है।"

मेरे इन शव्दोसे मेरे लेखका शुद्ध आशय विलकुल स्पष्ट हे और उससे यह सहजमें ही जाना जाता है कि वह अनुचित दड-विधानोंके विरोधमे लिखा गया हैं, जो दड समुचित और यथा-दोप हो उनसे उसका कोई सम्वन्ध नही है, और इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि लेखक दोषीकी हिमायत नही करता,

वल्कि दोषीको अनुचित और अयथादोष दड दिये जानेके विरोधकी हिमायत करता है।

अनुचित दड-विधानोके मूलमे हमेशा अज्ञान, अविवेक, व्यक्तिगत राग-द्वेष, पक्षपात और ईर्षा-घृणाका भाव भरा रहता है और जिस हृदयमे इस प्रकारका भाव भरा होता है वह उदार न रहकर अनुदार बन जाता है—क्षुद्र हो जाता है—और उसमे एकान्तताकी तूती बोलने लगती है। अनुदार हृदय मानव कभी गभीर नही होता, उसे जल्दी ही क्षोभ तथा कोप हो आता है, न्यायासनपर बैठे हुए उसे, यदि अपराधीने कोई अप्रिय शब्द कह दिया तो इतनेपरसे ही वह अपना सतुलन खोकर विगड बैठता है और सारे न्यायको उलट देता है, ककडीके चोरको कटार भी मार देता है और अपने थोथे खयालोके विरुद्ध कोई कृत्य करने वालो—यथा छपे ग्रन्थ पढनेवालोको जातिसे बहिष्कृत किये जानेका दड भी दे डालता है, वह बाह्य प्रभावोसे अभिभूत होता है, दुसरोकी सिफारिश सुनता है और उनका दवाव भी मानता है, उसकी दृष्टि सकुचित और तुला-निरपेक्ष होती है और इसलिये वह किसी भी विषयका ठीक तथा गहरा विचार नही कर सकता अथवा यो कहिये कि उससे सम्यक् न्याय नही वन सकता। सम्यक् दड-प्रणयनके लिए उदार हृदय अथवा उदार विचारोकी बडी जरूरत है—उनके साथमे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है—और इसीलिये अनुचित दण्ड-विधानोका कारण अनुदार विचारोको बतलाया गया था। बडजात्याजी इस कारणको ठीक समझ नही सके, इसका मुझे खेद है। लेखमे तो एक जगह **'उदार'** का एक अर्थ कोष्ठके भीतर **'अनेकान्तात्मक'** दिया गया था। उसपरसे यदि **'अनुदार'** का अर्थ **'एकान्त विचार'** समझ

लिया जाता तो इतनेसे भी काम चल सकता था, क्योकि एकान्त विचार मिथ्या होते हैं और इसलिये उनके आधारपर किया हुआ दड-विधान सम्यक् अथवा समुचित नही हो सकता। परन्तु बडजात्याजीने इसपर भी कुछ ध्यान दिया मालूम नही होता। अस्तु, अब आशा है कि इस विवेचनसे उनकी समझमे यह वात भले प्रकार आ जायगी कि किसीको दड देनेमे दडदाताके हृदयकी उदारता या अनुदारताका क्या सम्वन्ध है और उसका कितना अर्थ है।

दण्ड दोषकी शुद्धि एव दोषी तथा समाजकी हित-वृद्धिके लिये दिया जाता है। उसके इस उद्देश्यकी रक्षा तथा सफलताके लिये इस बातकी खास जरूरत है कि दण्ड-विधाता स्वय शुद्ध तथा निर्दोष हो—कम-से-कम उसी अपराधका अथवा उसी कोटि या उतने ही महत्त्वके किसी दूसरे अपराधका, गुप्त या प्रकट रीतिसे, अपराधी न होना चाहिये और न उसका हृदय उस समय व्यक्तिगत राग-द्वेष, पक्षपात, तिरस्कार या किसी दूसरे अनुचित प्रभावसे अभिभूत ही होना चाहिए। इसके सिवाय, दोषका सच्चा ज्ञान, देश-कालकी स्थिति तथा दडके परिणामका विवेक, समाज-की हित-साधनाका भाव और दोषीके व्यक्तित्वके प्रति प्रेमका होना भी उसके लिये अनिवार्य है। वहिष्कारकी हालतमे वह खासतौरसे समाजका सच्चा प्रतिनिधि भी होना चाहिए। 'विना इन सब गुणोके दण्डका विधान करना कोरी विडम्वना है और उससे समाजमे सन्तोप तथा क्षेमकी वृद्धि नही हो सकती। जो लोग स्वय अनेक प्रकारके अन्याय, अत्याचार, अनाचार, व्यभि-चार, छल-कपट, झूठ, फरेव, धोखादेही, वेईमानी, दगाबाजी, जालसाजी और भ्रूण तथा वाल-हत्याएँ तक करते-कराते हो

उन्हे न्यायासनपर विठलाना अथवा उनसे वैसे ही किसी विपयका न्याय कराना कभी शोभा नही दे सकता। एक चोरका दूसरेके चौर-कर्मका विचारक वनना और उसे दण्ड देना नि सन्देह दण्ड-नीतिका उपहास करना है। समाजका अधिकाश वातावरण आजकल ऐसे ही दोषोसे दूपित और कलुषित है। जाति-पचायतो-की वह आधुनिक नीति भी, जिसका मैंने अपने लेखमे उल्लेख किया था और जो प्राय. सर्वत्र पाई जाती है, इसी विपयको पुष्ट करती है। ऐसी हालतमे वहिष्कार जैसे तीक्ष्ण-शस्त्रके प्रयोगकी किसीको सत्ता देना भय तथा अनिष्टकी सभावनासे खाली नही है। इसके लिए सबसे पहले समाजके वातावरणको शुद्ध करनेकी जरूरत है, जिसका प्रारम्भ मुखियाओके सुधारसे होना चाहिए और वह तव ही हो सकता है जव कि, मेरे सूचित क्रमानुसार, ऐसे पचोकी निरकुश प्रवृत्तिका घोर विरोध किया जाय और उनके अन्यायको चुपचाप सहन न करके उन्हे सन्मार्गपर लाया जाय। आशा है समाजके दृढप्रतिज्ञ वीर-पुरुष मेरी उस सूचना अथवा प्रेरणापर ध्यान देकर जरूर मैदानमे आयेगे और समाजमे जो दण्ड-विपयक गोलमाल तथा अत्याचार चल रहा है उसे अव और आगे न चलने देंगे। ऐसा करनेपर वे समाजमे शुद्ध न्याय और शुद्ध दण्ड-विधानकी व्यवस्था ही नही कर सकेंगे वल्कि असख्य दु खित और पीडित प्राणियोंके आशीर्वाद ग्रहण करनेमे भी समर्थ हो सकेंगे।

—जैन जगत, १६–४–१९२६

जय जिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार : ६ :

दूसरे लोगोमे जिस प्रकार परस्पर जयगोपाल, जयश्रीकृष्ण, जयसीताराम और जयरामजी, इत्यादि वचन-व्यवहार चलता है उसी तरह जैनियोमे 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार प्रचलित है। परन्तु कुछ लोगोको इस व्यवहारमे अर्वाचीनताकी गन्ध आती है और इसलिये वे इस सुन्दर, सारगर्भित तथा सद्भाव-द्योतक वचन-व्यवहारको उठाकर उसकी जगह 'जुहारु' तथा 'इच्छाकार'का प्रचार करना चाहते हैं। पॉच महीनेके करीब हुए, भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजीने अपना ऐसा ही मतव्य प्रकट किया था, जो १७ दिसम्वर सन् १६२५ के **जैन मित्र** अक न० ८ मे, 'अवश्य वॉचने योग्य' शीर्पकके साथमे प्रकाशित हुआ है, और ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने उसे पढकर 'जुहारु' पर प्राचीनताकी अपनी मुहर भी लगाई थी। मैं चाहता था कि उस समय उसपर कुछ लिखूँ, परन्तु अनवकाशने वैसा नही करने दिया। हालके **जैन मित्र** अक न० २७ मे इसी विपयका प्रश्न रामपुर स्टेटके भाई लक्ष्मीप्रसादजीकी ओरसे उपस्थित किया गया है और उससे मालूम होता है कि ऐलक पन्नालालजी भी 'जयजिनेन्द्र' का निपेध करते हैं और उसकी जगह 'जुहारु' का उपदेश देते हैं। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने उक्त प्रश्नके उत्तरमे लिखा है कि "परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है" और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि आप भी 'जयजिनेन्द्र' का निषेध और उसके स्थान पर 'जुहारु' का विधान चाहते हैं। अत आज इस विपयपर कुछ विचार करना ही उचित मालूम होता है और नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है।

रामपुरवाले भाईका वह प्रश्न इस प्रकार है —'जैन समाजमे जो 'जयजिनेन्द्र' का शव्द प्रचलित है और हर एक व्यक्ति एक दूसरेसे समागमके समय 'जयजिनेन्द्र' करता है। यहाँ पर जव श्री १०५ पूज्य ऐलक पन्नालालजी महाराज पधारे तो उन्होने इसका निषेध किया कि इस तरह जिससे जयजिनेन्द्र कहा जाय वह जिनेन्द्र हो जाता है। इसलिये वजाय जयजिनेन्द्रके जुहारु करना चाहिये। क्योकि यहाँकी समाजकी समझमें यह वात न ठीक आई है और न इसका अर्थ यह समझमे आता है इसलिये विद्वान महोदय इसका जवाव दे।'

इस प्रश्नमे ऐलकजीके जिस हेतुका उल्लेख किया गया है, उसमे कुछ भी सार मालूम नही होता। समझमे नही आता कि जिसे 'जयजिनेन्द्र' कहा जाता है वह कैसे जिनेन्द्र हो जाता है। क्योकि लोकमे किसीको 'राम राम' या 'जय रामजी' कहनेसे वह 'राम' हो जाता है अथवा समझा जाता है? और पारस्परिक अभिवादनमे जय गोपाल' या 'जय श्रीकृष्ण' शव्दोके उच्चारणसे क्या कोई गोपाल या श्रीकृष्ण वन जाता अथवा उस पदको प्राप्त हो जाता है? यदि ऐसा कुछ नही है तो फिर परस्परमे 'जय जिनेन्द्र' कहनेसे ही कोई कैसे जिनेन्द्र हो जाता है, यह एक वहुत ही मोटी-सी बात है। कहनेवालेका अभिप्राय भी उस व्यक्तिविशेष-को जिनेन्द्ररूपसे सम्बोधन करनेका नही होता, वल्कि उसके सम्वोधनका पद यदि होता है तो वह अलग होता है—जैसे, भाई साहव! जयजिनेन्द्र!, प्रेमीजी! जयजिनेन्द्र, महाशय! जयजिनेन्द्र, 'जयजिनेन्द्र' साहव! जयजिनेन्द्रजी! अजी जयजिनेन्द्र इत्यादि। ऐसी हालतमे रामपुरके जैन समाजकी समझमे यदि ऐलकजीकी उक्त वात नही आई और न 'जयजिनेन्द्र' शव्दोपरसे उन्हे वैसे अर्थका

कुछ बोध ही हुआ तो इसमे कुछ भी आश्चर्य नही है। नि सन्देह ऐलकजीकी उक्त बात निरी बच्चोको बहकाने जैसी जान पडती है—युक्ति और आगमसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नही है। मालूम नही ब्रह्मचारीजीने उक्त प्रश्नके उत्तरमे जो सिर्फ इतना ही लिख दिया कि "परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है।" उसमे उन्होने ऐलकजीके हेतुको भी स्वीकार किया या कि नही। जहाँ तक मैं समझता हूँ ब्रह्मचारीजीके इस उत्तरमे उक्त हेतुका कोई आधार नही है बल्कि उसका मूल कुछ दूसरा ही है जो आगे चलकर मालूम होगा। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि उनका यह सक्षिप्त उत्तर प्रश्नका समाधान करनेके लिये पर्याप्त नही है।

'जयरामजी' और 'जयश्रीकृष्ण' का अर्थ जिस प्रकार 'रामजीकी जय' और 'कृष्णजीकी जय' होता है। उसी प्रकार 'जयजिनेन्द्र' का भी एक अर्थ 'जिनेन्द्रकी जय' होता है।' इसीसे कुछ भाई कभी-कभी 'जयजिनेन्द्रदेवकी' ऐसा भी बोलते हुए देखे जाते हैं। हिन्दुओमे भी 'जयरामजीकी' ऐसा बोला जाता है। सिक्ख-भाइयोंने भी इसी आशयको लेकर अपने व्यवहारका सामान्य मन्त्र 'वाह गुरुकी फतह' रक्खा हैं। इस अर्थ मे, 'जयजिनेन्द्र' यह 'जयोऽस्तु जिनेन्द्रस्य' शब्दोका हिन्दी रूप है। दूसरा अर्थ होता है 'जिनेन्द्र जयवन्त हो' और इस अर्थ-मे जयजिनेन्द्रको 'जयतु जिनेन्द्र' का हिन्दी रूपान्तर समझना चाहिये। प्राय इन्ही दोनो अर्थोंमे 'जयजिनेन्द्र' वाक्यका व्यवहार होता है, और ये दोनो अर्थ एक ही आशयके द्योतक हैं। इनके सिवाय, एक तीसरा, अर्थ भी हो सकता है जो पारस्परिक व्यवहारमें अभिप्रेत नही होता किन्तु विशेष रूपसे जिनेन्द्र

स्तुति आदिके समय ग्राह्य होता है और वह यह कि 'हे जिनेन्द्र आप जयवन्त हो'। इस अर्थमे जयजिनेन्द्रको 'जय त्व जिनेन्द्र' इन शब्दोका सक्षिप्त रूप कह सकते हैं। इस अर्थका भी वही आशय है जो ऊपरके दोनो अर्थोका है। भेद केवल इतना ही है कि इसमे जिनेन्द्रदेवको सम्बोधन करके उनका जयघोष किया गया है और पहले दोनो अर्थो-द्वारा विना सम्बोधनके ही उनकी जय मनाई गई है। बात असलमे एक ही है। इस तरह 'जय-जिनेन्द्र' का उच्चारण बहुत कुछ सार्थक है। वह जिनेन्द्रकी स्मृतिको लिए हुए हैं—उनकी यादको ताजा करा देता है और जिनेन्द्रकी स्मृतिको स्वामी समन्तभद्रने क्लेशाम्बुधिसे—दुख समुद्रसे—पार करनेके लिये नौकाके समान बताया है[1]। इससे 'जयजिनेन्द्र' का उच्चारण मगलमय होनेसे उपयोगी भी है। हम जितनी बार भी जिनेन्द्रका स्मरण करे उतना ही अच्छा है। हमे प्रत्येक सत्कार्यकी आदिमे, सुव्यवस्था लाने अथवा सफलता प्राप्त करनेके लिये, जिनेन्द्रका—उस देवताका—स्मरण करना चाहिये जो सम्पूर्ण दोषोसे विमुक्त और गुणोसे परिपूर्ण है। परस्परमे 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार इसका एक बहुत बडा साधन है। एक भाई जब दूसरे भाईको 'जयजिनेन्द्र' कहता है तो वह उसके द्वारा केवल जिनेन्द्र भगवानका स्मरण ही नही करता बल्कि दूसरे भाईको अपने साथ प्रेमके एक सूत्रमे बाधता है—उसे अपना बन्धु मानता है। कितने ही अशोमे उसे अभय प्रदान करता और अपनी सहायताका आश्वासन देता है, वह अपने और उसके मध्यकी खाईको एक प्रकारसे पाट देता है अथवा उसपर एक सुन्दर पुल खडा कर देता है। उसके जयघोषका यह अर्थ

---

1. '(येषा) स्मृतिरपि क्लेशाम्बुधेर्नौ'—स्तुतिविद्या

नही होता कि वह जिनेन्द्रका कुछ हित चाहता है या उनकी किसी अधूरी जयको पूरा करनेकी भावना करता है। जिनेन्द्र भगवान तो स्वय कृतकृत्य हैं, विजयी और जयवन्त हैं, वे अपने सपूर्ण कर्मशत्रुओको जीत चुके, उनका कोई शत्रु नही और न विश्वभरमे उन्हे कुछ जीतना या करना बाकी रहा है, वे राग-द्वेषसे बिलकुल रहित हैं और यह भी इच्छा नही रखते कि कोई उनका जयघोप करे, फिर भी उनका जो जयघोप किया जाता है वह दूसरे ही सदाशयको लिये हुए है और उसके द्वारा जयघोप करने वाला वह भाई, व्यक्त अथवा अव्यक्त रूपसे यह सूचित करता है कि तुम्हारे, मेरे अथवा विश्वभरके हृदयमे जिनेन्द्र व्याप्त हो जायँ, उनके निर्मल गुण हमारे अन्त करणको जीत लेवें, सवो-पर उनका प्रभाव अकित हो जाय अथवा सिक्का वैठ जाय, और इस तरह सव लोग जिनेन्द्रके गुणोमे अनुरक्त होकर अपना आत्म-कल्याण करने और अपने जीवन-मार्गको सुगम तथा प्रशस्त वनाने-मे समर्थ हो जायँ। इससे 'जयजिनेन्द्र' मे कितना सुन्दर भाव भरा है, कितनी उच्च कोटिका उत्तम भावना सनिहित है और कैसी ललित विश्व-प्रेमकी धारा उसमेसे वह रही है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। ऐसी हालतमे क्या जयजिनेन्द्रका पारस्परिक व्यवहार उत्थापन किये जाने अथवा उठा देनेके योग्य हो सकता है ? कदापि नही। मुझे तो सच्चे हृदयसे उच्चारित होनेपर यह अपनी तथा दूसरोकी शुद्धिका प्यारा मत्र मालूम होता है और इसीलिये सवोंके-द्वारा अच्छी तरहसे आराधन किये जानेके योग्य जान पडता है।

वास्तवमे जयघोप करना जैनियोकी प्रकृतिमे दाखिल है। उनका जन्म ही जयके लिये हुआ है, उनकी जन्मघुटीमे जयका

समावेश है, वे जयके उपासक हैं और जय ही उनका लक्ष्य है।

इसीसे वे अपनी नित्य-क्रियाओ—भक्तिपाठोमें कहते हैं।

जिय-भय-जिय-उवसग्गे जिय-इंदिय-परिसहे जिय-कसाए।
जिय-राय-दोस-मोहे जिय सुह-दुक्खे णमसामि॥

अर्थात्—जिन्होने भयोको जीत लिया, उपसर्गोको जीत लिया, इन्द्रियोको जीत लिया, परीषहोको जीत लिया, कषायोको जीत लिया, राग-द्वेषको जीत लिया, मोहको जीत लिया और सुख-दु खको जीत लिया उन योगि-प्रवरोको नमस्कार है।

इसके सिवाय, जिस पूज्य देवताके नामपर उनका "जैन" ऐसा नाम-सस्कार हुआ है वह भी "जिन" है, और 'जिन' कहते हैं जीतनेवाले (विजेता) अथवा जयशीलको—जो कर्म-शत्रुओको निर्मूल करके पूर्णरूपसे अपना आध्यात्मिक विकास करता है वही 'जिन' कहलाता है। जिनके उपासक होने अथवा जिन-पदको प्राप्त करना सबोको इष्ट होनेसे जैनियोका भी लक्ष्य वही जय—आध्यात्मिक विजय—पाना है अथवा उसी जयके उन्हे उपासक कहना चाहिये जो भौतिक विषयसे बहुत ऊँचे दर्जे-पर है और जिसके आगे भौतिक विजय हाथ बाँधे खडी रहती है। और इसलिये जय-पूर्वक जिनेन्द्र शब्दका व्यवहार करना जैनियोके लिये बहुत ही अनुकूल जान पडता है। परन्तु खेद है कि आज जैनियोने अपनी इस प्रकृतिको भुला दिया, वे अपने स्वरूपको भुलाकर सिंहसे गीदड बन गये, उन्हे अपने लक्ष्यका ध्यान नही रहा और इसीसे वे विजेता न रह कर विजित, पराजित और गुलाम बने हुए हैं। वे इन्द्रिय-विषयोके गुलाम हैं कषायोंके गुलाम हैं, परिस्थितियोके गुलाम हैं, रूढियोके गुलाम हैं, अथवा अज्ञानके वशवर्ती होकर बाह्य पदार्थोंके गुलाम हैं। उनमे कोई

राजा तक नही और न परिस्थितियो तथा रूढियोको बदलने या उनपर विजय प्राप्त करनेकी ही किसीकी इच्छा है। उनके हृदय भय-विह्वल और आशाएँ दुर्बल हैं। ऐसी हालतमे उनसे 'जयजिनेन्द्र' के व्यवहारका छुडाना उन्हे और भी अपने कर्त्तव्यसे च्युत करना है। क्या आश्चर्य है जो इस 'जयजिनेन्द्र'के घोपमे ही जैनियोको कभी अपनी जयशीलताका बोध हो जाय और वे अपनी अकर्मण्यताको छोडकर सच्चे हृदयसे जिनेन्द्रका महान् जयघोष करते हुए अपने कर्त्तव्य-पथपर आरूढ हो जायें—अपनी आत्म-निधिको प्राप्त करनेके यत्नमे लग जायँ। ऐसा होनेपर जैनी आज भी अपने आध्यात्मिक बलसे ससारको विजित करके जिनेन्द्रकी तरफ उसका हित-साधन कर सकते हैं। और इसीलिये 'जयजिनेन्द्र' के इस पारस्परिक व्यवहारको उठा देना किसी तरह भी युक्तिसगत मालूम नही होता।

अव मैं भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिजीके वक्तव्यको लेता हूँ। उन्होंने इस विषयमे जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—
"आजकल विशेपतर जैनजाति पुरुष व स्त्रियोमे परस्पर और चिट्ठी-पत्रीमे जयजिनेन्द्र बोलने-लिखनेका रिवाज वहुत प्रचलित हुआ है। उसका कारण यह है कि कौन-सी जगह कौन-सा नमस्कार करना, व रूढी न समझकर जयजिनेन्द्र बोलनेका रिवाज पड गया है। सो यह रिवाज पूर्वके अनुसार और शास्त्रके वचनके अनुसार नही है। शास्त्रोमे ऐसा कहा है —

नमोस्तु गुरुवे कुर्याद्वदना ब्रह्मचारिणे।
इच्छाकार सधर्मिभ्यो वन्दामीत्यर्जिकादिषु ॥ १ ॥

अर्थ --गुरुओको नमोस्तु कहना, ब्रह्मचारियोको वन्दना कहना, साधर्मियोको परस्पर इच्छाकार कहना और आर्यिकाओको

बंदामि कहना चाहिये। गृहस्थियोको एव साधर्मियोको परस्पर जुहारु शब्द भी कहा है।

> जिणवरधम्म गहियं हणेइ दुट्ठट्ठ-कम्माणं।
> रुधइ आसवद्वार जुहारो जिणवरो भणीयं॥ १॥
> जुगादि ऋषभं देवं हारिण सर्वसंकटान्।
> रक्षन्ति सर्वजीवानां तस्माज्जुहारुरुच्यते॥ २॥
> श्राद्धाः परस्पर कुर्युरिच्छाकारं स्वभावतः।
> जुहारुरिति लोकेस्मिन्नमस्कारं स्वसज्जनाः॥ ३॥

अर्थ—श्रावकगण परस्परमे एक दूसरेसे इच्छाकार करे तथा लोक-व्यवहारमे सज्जनवर्गको 'जुहारु' इस तरहका नमस्कार करना शास्त्रोमे वतलाया है। सो वोलने, चिठि्ठये तथा पाठ-शाला, वोडिंग, कन्याशाला, श्राविकाश्रम हर जगह यह पद्धति प्रचलित होनी चाहिये। हम बार-बार कहते हैं कि इसका प्रचार होना चाहिये।"

भट्टारकजीके इस सपूर्ण वक्तव्यका सार सिर्फ इतना ही है कि 'जैनियोमे परस्पर जयजिनेन्द्र बोलनेका जो रिवाज है वह पहले-के रिवाजके अनुसार नही है और न शास्त्र-वचनोके ही अनुसार है। उसका कारण नासमझी है। पहले उनमे इच्छाकार तथा जुहारु बोलनेका रिवाज था, शास्त्रोमे भी उसका विधान मिलता है और इसलिये अब भी उसीका सर्वत्र प्रचार होना चाहिये।' आपने प्रमाणमे शास्त्रोके चार पद्य भी उद्धृत किये हैं, परन्तु उनकी बावत यह बतलानेकी कृपा नही की कि वे कौन-से शास्त्र-के वाक्य हैं अथवा किसके द्वारा रचे गये हैं, और न यही बत-लाया कि 'जयजिनेन्द्र'का रिवाज कबसे प्रचलित हुआ और किस आधारपर वे उसके प्रचलित होनेके समयको निश्चित करनेमें

समर्थ हो सके हैं, जिससे किसी रिवाजके पहले या पीछे प्रचलित होनेकी बातकी जाँच की जा सकती अथवा यही निश्चय किया जा सकता कि वे वाक्य कहाँ तक मान्य किये जानेके योग्य हैं। आपने यह भी नही बतलाया कि 'जुहारु'का रिवाज 'इच्छाकार' से पहले हुआ या पीछे। यदि पीछे हुआ तो वह पहले रिवाजके मौजूद होते हुए क्यो मान्य किया गया ? यदि पहले हुआ तो उसकी मौजूदगीमे इच्छाकारके विधानकी क्या जरूरत पैदा हुई और वह क्यो स्वीकार किया गया ? और यदि दोनोका विधान युगपत् आरम्भ हुआ और युगपत् ही चलता है तो फिर उस ग्रन्थमे जुहारुका विधान क्यो नही, जिसका 'नमोस्तु' पद्य उद्धृत किया गया है ? यदि एकके वाद दूसरा अच्छा रिवाज भी पहले-के स्थानपर प्रचलित हुआ करता है और वह आपत्तिके योग्य नही होता तो फिर 'जयजिनेन्द्र'के रिवाजपर ही आपत्ति कैसी ? उसमे कौन-सी वुराई है ? साथ ही, इस वातका भी कोई अच्छा स्पष्टीकरण नही किया कि दोनोमेंसे जुहारुका किस जगह और इच्छाकारका कहाँपर व्यवहार होना चाहिये, जिससे यहाँ तो उस नासमझीको अवसर न रहता, जिसकी आप जय-जिनेन्द्रके सम्वन्धमे शिकायत करते हैं।

जुहारुकी वावत जो तीन पद्य आपने उद्धृत किये हैं उनसे भी प्रकृत विपयका कोई स्पष्टीकरण नही होता। उनकी स्वय स्थिति वहुत कुछ सदिग्ध जान पडती है। तीसरे पद्यका जो अर्थ भट्टारकजीने किया है वह ठीक नही है। उससे यह पाया जाता है कि श्रावकजन परस्परमे तो 'इच्छाकार' करे और दूसरे (अजैनादि) सज्जनोंके प्रति उन्हे 'जुहारु' नामका नमस्कार करना चाहिए। परन्तु मूलमे 'सज्जना.' पद प्रथमान्त पडा है

और 'श्राद्धा' पदके समकक्ष है। इससे श्रावकगण सज्जन-वर्गको जुहारु करे, यह अर्थ नही बनता बल्कि सज्जनजन परस्पर-मे जुहारु करे, ऐसा अर्थ निकलता है। परन्तु श्रावकजनोसे भिन्न दूसरे वे सज्जन-जन कौन-से हैं जिनके लिये परस्परमे जुहारु-का यह पृथक् विधान किया गया है, यह बात कुछ समझमे नही आती और न इससे श्रावकोमे परस्पर या दूसरोके प्रति जुहारुकी बात ही कायम रहती है। अत इस पद्यकी हालत सदिग्ध है और वह प्रकृत विषयका समर्थन करनेके लिये समर्थ नही हो सकता।

रहे शेष दो पद्य, उनकी हालत और भी ज्यादा खराब है। वे किसी ग्रन्थ-विशेषके पद्य भी मालूम नही होते, बल्कि 'जुहारु' की सार्थकता सिद्ध करनेके लिये किसी अनाडीके-द्वारा खडरूप-मे गढे गये जान पडते हैं। इसीसे उनके शब्द-अर्थका सम्बन्ध कुछ ठीक नही बैठता—कहाँ **'जुगादि'**, कहाँ **'ऋषभं देवं हारिणं'** ये द्वितीयाके एकवचनान्त पद, कहाँ **'रक्षन्ति'** बहुवचनान्त क्रिया और कहाँ **'जुहारः उच्यते'** पदोकी **'जुहाररुच्यते'** यह विचित्र सृष्टि (सधि)। व्याकरणकी रीतिसे इन सबकी परस्पर कोई सगति नही बैठती। इसी तरह गाथाके **'जुहारो जिणवरो भणीयम्'** और **'धम्मं गहियं'** पद भी दूषित जान पडते हैं। और इसलिये **'जुहारु'** शब्दकी जिस निरुक्ति-कल्पनाके लिये इन पद्यो-की रचना हुई है उसकी भी इनसे यथेष्ट रूपमे कोई सिद्धि नही होती। बाकी जुहारुके परस्पर व्यवहारका इनमे कोई विधान नही, यह स्पष्ट ही है। यदि ये दोनो पद्य किसी ग्रन्थ-विशेषके होते और उसमे जुहारुका विधान किया गया होता तो भट्टारक-जी उन पद्योको भी जरूर साथमे उद्धृत करते। इससे भी ये

पद्य किसी ग्रन्थ-विशेषके अश मालूम नही होते। भट्टारकजी ने इन दोनो पद्योका कोई अर्थ भी नही दिया। नही मालूम, इसका क्या कारण है और इस तरह क्या बात सिद्ध करनेके लिये इन्हे उद्धृत किया गया है ? हाँ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने, अपने सम्पादकीय नोटमे, इनका अर्थ जरूर दिया है और यो भट्टारकजीके लेखकी कमीको पूरा करनेका प्रयत्न किया है। आपका वह नोट इस प्रकार है —

"जुहारुका अर्थ ऊपरकी गाथा तथा श्लोकमे यह है कि जिनवर-धर्मको ग्रहण करो, अष्ट कर्मोका नाश करो तथा आस्रव-के द्वारको रोको। और 'जु' से युगकी आदि ऋषभदेव, 'हा' से जो सर्व कष्टोको हरने वाले हैं, 'र' से जो सवकी रक्षा करते हैं। जुहारुका प्राचीन रिवाज मालूम होता है।"

इस नोटमे अन्तका एक वाक्य तो ब्रह्मचारीजीकी सम्मति-का है, बाकी सब गाथा तथा श्लोकका क्रमश अर्थ है, परन्तु ब्रह्मचारीजीने गाथाका जो अर्थ किया है वह ठीक नही है। गाथामे ऐसा कोई क्रिया-पद नही, जिसका अर्थ 'ग्रहण करो', 'नाश करो' अथवा 'रोको' होवे। जान पडता है गाथामे **'धम्मो'** को **'धम्मं'** लिख देनेसे ही आपको क्रिया-पदोका अर्थ समझनेमे गलती हुई है। और इससे आपने **'धम्मो'** के अशुद्ध विशेषण पद **'गहियं'** को भी क्रियापद समझ लिया है। अस्तु, इस गाथाका आशय यह होता है कि 'ग्रहण किया हुआ जिनवर-धर्म आठ दुष्ट-कर्मोको हनता है और आस्रवके द्वारको रुद्ध (बन्द) करता है। (इस तरहपर यह) 'जुहारु' जिनवरका कहा हुआ है। गाथाके इस आशयपरसे **'जुहारु'** शब्दकी कोई निष्पत्ति नही होती। यदि **'जिनवरधम्मो'** का **'जि'**, **'हणेइ'** का 'ह' और

'रुंघइ' का 'रु' ऐसे तीनो पदोके आद्य अक्षरोका सग्रह किया जावे तो उससे '**जिहरु**' होता है—'जुहारु' नही और इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा साधारण-बुद्धिके किसी अनाडीकी बनाई हुई है, जिसने वैसे ही उसके-द्वारा जुहारुके विषयमे अपना मन-समझौता कर लिया है। इसी तरहका मन-समझौता अगले '**जुगादि ऋषभं**' नामके पद्यमे भी किया गया है, जो व्याकरणकी त्रुटियोसे बहुत कुछ परिपूर्ण है और जिसमे 'जुहारु' की जगह 'जुहार' शब्दका ही प्रतिपादन किया गया है। इन्ही अस्त-व्यस्त, सदिग्ध और ग्रन्थादिके प्रमाण-रहित पद्योके आधारपर ब्रह्मचारीजीने "जुहारुको प्राचीन रिवाज" समझा है और उक्त प्रश्नके उत्तरमे यह कहनेके लिये भी वे समर्थ हो सके हैं कि "परस्पर जुहारु करनेका ही कथन ठीक है", यह सब देखकर बडा आश्चर्य होता है ? समझमे नही आता इन पद्योके किस अशपरसे आपने जुहारुके रिवाजका और 'जय जिनेन्द्र' की अपेक्षा उसकी प्राचीनताका अनुभव किया है। क्या भगवान महावीर अथवा किसी दूसरे तीर्थंकरने 'जुहारु' का उपदेश दिया है और उसकी उक्त प्रकारसे दो भिन्न व्याख्याएँ की हैं, ऐसा किसी मान्य आचार्य-द्वारा निर्मित प्राचीन ग्रन्थमे कोई उल्लेख मिलता है ? क्या इतिहाससे यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि भगवान महावीरके समयमे भी जुहारुका प्रचार था ? अथवा केवल सस्कृत-प्राकृतके पद्योमे निबद्ध हो जानेसे ही 'जुहारु' को प्राचीनताकी पदवी प्राप्त हो गई है ? यदि ऐसा है तब तो 'जय जिनेन्द्र' के लिये बहुत बडा द्वार खुला हैं। और सैकडो अच्छे-से-अच्छे पद्य पेश किये जा सकते हैं। इसके सिवाय, यदि मान भी लिया जाय कि 'जय जिनेन्द्र' का रिवाज

जुहारुकी अपेक्षा प्राचीन न होकर अर्वाचीन है तो इतनेपरसे ही क्या हो गया ? क्या प्राचीन न होनेपर उसकी समीचीनता नष्ट हो गई ? वह अच्छा, श्रेष्ठ, सच्चा और समुचित व्यवहार नही रहा ? और क्या प्राचीन सभी प्रवृत्तियाँ उपादेय होती हैं ? ससारी जीवोकी प्रवृत्तियाँ अनादि कालसे मिथ्यात्वकी ओर हैं—सम्यक्त्वकी प्राप्ति उन्हे वादको होती है। क्या मिथ्यात्व-प्रवृत्तिके प्राचीन होनेसे ही उसे नही छोडना चाहिये अथवा सम्यक्त्वको नही ग्रहण करना चाहिये ? यदि ऐसा कुछ नही है, वल्कि प्राचीनतापर समीचीनताको अधिक महत्त्व प्राप्त है, पुरानी प्रवृत्ति उपयुक्त न होने अथवा देश-कालानुसार उपयुक्त न रहनेपर, छोडी जा सकती है, और उसकी जगह दूसरी अनुकूल तथा हितरूप-प्रवृत्ति ग्रहण की जा सकती है—रिवाज कोई अटल सिद्धान्त नही होता—तो फिर 'जयजिनेन्द्र'पर आपत्ति कैसी ? और यह कोरी तथा कल्पित प्राचीनताका मोह कैसा ? जैनियोके लिये 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार एक समीचीन व्यवहार है, वर्तमान देश-काल भी उसे चाहता है और इसलिये उसका विरोध करना अनुचित है। इस व्यवहारसे जैनियोके सम्यक्त्वमें कोई वाधा नही आती, उनके व्रतोमे भी कोई दूपण नही लगता। और जैनियोके लिये वे सपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण कही गई हैं जिनसे उनके सम्यकत्वको हानि न पहुँचती हो या उनके व्रतोमे कोई प्रकारका दोप न लगता हो। जैसा कि श्रीसोमदेव-सूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न यत्र न व्रत-दूपणम्॥

—यशस्तिलक।

इस दृष्टिसे भी जयजिनेन्द्र' का व्यवहार उत्थापन किये जानेके योग्य नही है—अर्वाचीन मानलेनेपर भी उसका निषेध नही किया जा सकता। वह जैनियोके लिए एक सुन्दर, श्रेष्ठ और समाचीन व्यवहार होनेकी क्षमता रखता है। 'जुहारु' की अपेक्षा 'जयजिनेन्द्र' का अर्थ भी बहुत कुछ स्पष्ट तथा व्यक्त है। मेरी रायमे 'जुहारु' का युग यदि किसी समय था तो वह चला गया, अब 'जयजिनेन्द्र' का युग है। और इसलिए सबोको सच्चे हृदयसे परस्परमे 'जयजिनेन्द्र'का व्यवहार करना चाहिये।

रही 'इच्छाकार' की बात, इच्छाकार '**इच्छामि**' ऐसा उच्चारण करनेको कहते हैं[1]। और '**इच्छामि**' का अर्थ होता है—इच्छा करता हूँ या चाहता हूँ। परन्तु किस बातकी इच्छा करता हूँ अथवा क्या चाहता हूँ यह इस शब्दोच्चारणपरसे कुछ मालूम नही होता। हो सकता है कि जिस व्यक्ति-विशेषके प्रति यह शब्दोच्चारण किया जाय उसके व्यक्तित्वकी इच्छा करना, उसके पदस्थ या धार्मिक जीवनको चाहना, सराहना अथवा वैसे होनेकी वाछा करना ही उसके-द्वारा अभीष्ट हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि यह शब्द समाजके पारस्परिक व्यवहार-

---

१. इच्छाकार इच्छामीत्येवंविधोच्चारणलक्षणम्।
—सागारधर्मामृत टीका।

प० मनोहरलाल शास्त्रीने माणिकचन्द्रग्रन्थमालाके त्रयोदशवें ग्रन्थ (पृष्ठ ६३) में इच्छाकारपर टिप्पणी देते हुये लिखा है—"स्वेच्छया 'जयजिनेन्द्र' 'जुहारु' इत्यादि अर्थात् अपनी इच्छासे जयजिनेन्द्र, जुहारु इत्यादिका व्यवहार करना 'इच्छाकार' कहलाता है।" परन्तु इच्छाकारका ऐसा आशय नहीं है। यदि यह आशय मान लिया जाय तब तो जय-जिनेन्द्रके विरोधके लिये फिर कोई बात ही नहीं रह सकती।

मे इतना अधिक अप्रचलित है कि उसकी इस स्थितिपरसे यह शका पैदा हुए बिना नही रहती कि वह कभी सर्वसाधारण जैनियोके पारस्परिक व्यवहारका एक सामान्य मत्र रहा है या कि नही। अस्तु, इस विषयमे जब प्राचीन साहित्यको टटोला जाता है तो सोमदेवसुरिके 'यशस्तिलक' ग्रन्थपरसे, जो कि शक सम्वत् ८८१ का बना हुआ है, यह मालूम होता है कि 'इच्छाकार' का विधान क्षुल्लक-क्षुल्लकके लिए है—अर्थात् एक क्षुल्लक (११ वी प्रतिमाधारक श्रावक) दूसरे क्षुल्लकको 'इच्छामि' कहे—दूसरे व्रती श्रावकोंके लिए उसका विधान नही, उनके लिए मात्र विनय-क्रिया कही गई है। यथा —

> अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया।
> अन्योऽन्यक्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥

इन्द्रनन्दि-आचार्य-प्रणीत 'नीतिसार' के निम्न वाक्यसे भी इसी आशयकी अभिव्यक्ति तथा पुष्टि होती है —

> निर्ग्रन्थानां नमोऽस्तु स्यादार्यिकाणां च वन्दना।
> श्रावकस्योत्तमस्योच्चैरिच्छाकारोऽभिधीयते ॥

इसमें 'क्षुल्लक' शब्दका प्रयोग न करके उसे 'उत्तम श्रावक' तथा 'उच्च श्रावक' ऐसे पर्याय-नामोसे उल्लेखित किया गया है। बात एक ही है, क्योकि रत्नकरण्डश्रावकाचारादि ग्रन्थोमे 'उत्कृष्ट' तथा 'उत्तम' श्रावककी सज्ञा ११ वी प्रतिमावाले श्रावकको दी गई है। जिसके आजकल 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' ऐसे दो भेद किये जाते हैं और इसलिए क्षुल्लक-ऐलक दोनोंके लिए इच्छाकारका विधान है—दूसरे श्रावकोके लिए नही, यह इस पदसे स्पष्ट जाना जाता है।

अमितगति-आचार्यके 'उपासकाचार' में, जो कि विक्रमकी

११ वी शताब्दीका बना हुआ है, एक पद्य निम्नप्रकारसे पाया जाता है :—

इच्छाकार समाचारं संयमाऽसंयमस्थित·।
विशुद्धवृत्तिभिः सार्द्धम विदधाति प्रियवदः ॥ ८-''२

यह पद्य उत्कृष्ट श्रावककी चर्याका कथन करते हुए मध्यमे दिया गया है—इससे पहले तथा पिछले दोनो पद्योमे 'उत्कृष्ट श्रावक'का[1] उल्लेख है—और इसलिए इस पद्यमे प्रयुक्त हुए 'संयमासंयमस्थित.' पदका वाच्य 'उत्कृष्ट श्रावक' जान पडता है। उसीके लिए इस पद्यमे यह बतलाया गया है कि वह विशुद्ध-वृत्तिवालोके साथ 'इच्छाकार' नामके समाचारका व्यवहार करे। उत्कृष्टश्रावककी दृष्टिमे विशुद्ध-वृत्तिवाले मुनि हो सकते हैं। प० कल्लप्पा भरमप्पा निटवेने भी, इस पद्यके मराठी अनुवादमें 'विशुद्ध-वृत्तिभि.' पद्यमे उन्हीका आशय व्यक्त किया है[2]। ज्यादा-से-ज्यादा इस पदके-द्वारा क्षुल्लक-ऐलकका भी ग्रहण किया जा सकता है और इस तरहपर यह कहा जा सकता है कि अमित-गति-आचार्यने इस पद्यके-द्वारा उत्कृष्ट श्रावकोके लिए मुनियो-के प्रति, अथवा परस्परमे भी, 'इच्छामि' कहनेका विधान किया है। परन्तु यह नही कहा जा सकता है कि जो लोग विशुद्ध-वृत्ति-के धारक न होकर साधारण गृहस्थ जैनी हैं—अव्रती अथवा पाक्षिक श्रावक हैं—उनके साथ भी इच्छाकारके व्यवहारका

---

१. यथा—उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्या. प्रयत्नत.।
उत्कृष्ट कारयत्येष मुण्डन तुण्ड-मुण्डयो. ॥ ७१,७३ ॥

२ यथा—शुद्धाचारसम्पन्न अशा मुनीसर इच्छाकार ना वाचा समाचारकरितो'।

वैसा होनेकी इच्छा आदिको व्यक्त करनेका विधान किया गया है।

इस तरहपर तीन आचार्योंके वाक्योसे यह स्पष्ट है कि 'इच्छाकार नामके समाचारका विधान प्राय क्षुल्लको अथवा ११ वी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकोके लिए है—साधारण गृहस्थ उसके अधिकारी तथा पात्र नही हैं।' जान पडता है यही वजह है, जो समाजमे इच्छाकारका व्यवहार इतना अधिक अप्रचलित है अथवा यो कहिये कि समाज अपने व्यवहारमे उससे परिचित नही है और इसीलिये सर्वसाधारण जैनियोमे अब इच्छाकारके सर्वत्र व्यवहारकी प्रेरणा करना कहाँ तक युक्तिसगत तथा अभिवाछनीय हो सकता है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। हाँ, उत्कृष्ट श्रावक परस्परमे इच्छाकारका व्यहार करें तो वह ठीक है, उसमे हमे कोई आपत्ति नही और न उससे जयजिनेन्द्रकी सर्वमान्यतामे कोई अन्तर पडता है।

यहाँपर मैं एक वाक्य और भी प्रकट कर देना उचित समझता हूँ और वह १३ वी शताव्दीके विद्वान प० आशाधरजीके सागारधर्मामृतका निम्न वाक्य है —

> स्वपाणिपात्र एवात्ति, सशोध्यान्येन योजितम्।
> इच्छाकार समाचार मिथ सर्वे तु कुर्वते ॥ ७-४९ ॥

यह पद्य ११वी प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट-श्रावककी चर्याका कथन करते हुये दिया गया है और इसके उत्तरार्धमे यह वतलाया गया है कि सव आपसमे 'इच्छाकार' नामका समाचारका व्यवहार करते हैं।' परन्तु वे 'सव' कौन ? ग्यारह प्रतिमाओके धारक सपूर्ण श्रावक या ग्यारहवी प्रतिमाके धारक वे तीनो प्रकारके

उत्कृष्ट-श्रावक, जिनके आशाधरजीने 'एकभिक्षानियम', 'अनेक-भिक्षानियम' और 'आर्य' ऐसे नाम दिये हैं ? प्रकरणको देखते तथा उक्त आचार्य-वाक्योकी रोशनीमे इस पद्यके उत्तरार्धको पढते हुए यह मालूम होता है कि 'सर्वे' पदका वाच्य ११वी प्रतिमा-धारक उत्कृष्ट-श्रावक-समूह होना चाहिये। परन्तु आशा-धरजीने इस ग्रन्थपर स्वय टीका भी लिखी है और इसलिये उन्होने इस पदका जो अर्थ दिया हो वही मान्य हो सकता है। माणिकचन्द्रग्रन्थमालामे वह टीका जिस रूपसे मुद्रित हुई है उसमें इस पदका अर्थ। '**एकादशाऽपि श्रावका**' दिया है—अर्थात्, ग्यारह प्रतिमाओके धारक श्रावकोको 'सर्वे' पदका वाच्य ठहराया है। हो सकता है कि यह पाठ कुछ अशुद्ध हो और '**एकादश-मस्थाः**' आदि ऐसे ही किसी पाठकी जगह लिख गया अथवा छप गया हो, जिसका अर्थ ग्यारह प्रतिमा न होकर ग्यारहवी प्रतिमा होता हो। परन्तु यदि यही पाठ ठीक है और प० आशाधरजीने अपने पदका ऐसा ही अर्थ किया है तो कहना होगा कि प० आशाधरजीने प्रतिमाधारी सभी नैष्ठिक श्रावकोके लिये परस्पर इच्छाकारका विधान किया है और उनके इस कथनसे एक क्षुल्लक तथा ऐलकको भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकोके लिए परस्पर इच्छाकारका विधान किया है और उनके इस कथनसे एक क्षुल्लक तथा ऐलकको भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावकको '**इच्छामि**' कहना चाहिये। ऐसी हालतमे आपका यह विधान कौन-से आचार्य-वाक्यके अनुसार है यह कुछ मालूम नही होता। परन्तु वह किसी आचार्य-वाक्यके अनुसार हो या-न-हो, इसमे सन्देह नही कि आपका यह विधान नैष्ठिक (प्रतिमाधारी) श्रावकोंके लिये है—अव्रती आदि साधारण

गृहस्थो अथवा पाक्षिक श्रावकोके लिये नही ।' और समाजमे अधिकाश सख्या साधारण गृहस्थो तथा पाक्षिक श्रावकोकी ही पाई जाती है, प्रतिमाधारी श्रावक बहुत ही थोडे हैं, उनकी सख्या इनी-गिनी हैं और इसलिये सर्वसाधारण जैनियोको परस्परमे **'इच्छामि'** कहनेके लिये प्रेरित करना आशाधरजीके इस वाक्यके भी अनुकूल मालूम नही होता । उनके कथनानुसार प्रतिमाधारी श्रावकोके लिये ही यह विधि होनी चाहिये—दूसरे गृहस्थ इसके अधिकारी नही हैं ।

इस सब कथनसे सर्वसाधारण जैनियोके लिए 'जुहारु' तथा 'इच्छाकार' मे आजकल कोई उपयुक्तता मालूम नही होती । प्रत्युत इसके, जयजिनेन्द्रका व्यवहार उनके लिये बहुत ही उपयोगी तथा समयानुकूल जान पडता है । युक्ति अथवा आगमसे भी उसमे कोई विरोध नही आता । और इसलिए सबोको आम-तौरपर हृदयसे 'जयजिनेन्द्र' का व्यवहार करना चाहिये और उसे अपने लोक-व्यवहारका एक ऐसा सामान्य जातीय-मत्र बना लेना चाहिये जो सबोको एक सूत्रमे बाँध सके । उनके जयघोषमे परस्पर प्रेमका सचार तथा बन्धुत्वका विकास होना चाहिए और साथ ही जगतको उसके हितका आश्वासन मिलना चाहिये । एक भट्टारक, क्षुल्लक, ऐलक या ब्रह्मचारीको यदि कोई गृहस्थ 'जयजिनेन्द्र' कहता है तो इससे उनके अप्रसन्न होनेकी कोई वजह नही हो सकती । उन्हे अपने उपास्य देव 'जिनेन्द्र' का जयघोष सुनकर खुश होना चाहिए और उत्तरमे बिना किसी सकोचके जिनेन्द्रका जयघोष करके अपने उस आनन्दको व्यक्त करना चाहिये अथवा उस जयघोष-द्वारा अपनी जातीयताकी

प्रतिध्वनि करनी चाहिए। आशा है सभी सहृदय जैनी 'जयजिनेन्द्र' की इस उपयोगिताको समझेगे और उसे, अपने व्यवहार-द्वारा दृढताके साथ अपनाकर, अपना एक जातीय-मत्र बना लेनेमे भरसक यत्न करेंगे।

—जैन जगत, २१-५-१९२९

उपासना-विषयक समाधान : ७ :

कुछ समय हुआ "उपासनाका ढग" नामक एक लेख मैंने १६ अगस्त सन् १९२६ के "जैन-जगत" मे प्रकाशित कराया था। हालमे उसके विरुद्ध सेठ मोहनलालजी वडजात्याका एक लेख "जैन-जगत" के गताङ्क न० ८ मे प्रकट हुआ है। इस लेखपरसे मुझे यह देखकर खेद हुआ कि, लेख लिखते समय वडजात्याजी अपने उस सद्भावको खो वैठे हैं, जिसकी मैंने दण्डविधान-विपयक आपके एक पहले लेखका समाधान करते हुए प्रशंसा की थी। मालूम होता है मेरे लेखको पढकर और उसमे अपने चिर-सस्कारोके विरुद्ध कोई वात देखकर आप एकदम क्षोभमे आ गये हैं और उसी क्षोभकी हालतमे आपके लेखका अवतार हुआ है। इसीसे उसमे प्राय अविचारिता और कुछ उद्धतता पाई जाती है—वह किसी विचारक दृष्टि अथवा निर्णय-वुद्धिसे लिखा हुआ मालूम नही होता—और यही वजह है कि वह व्यक्तिगत आक्षेपोको भी लिये हुए है—उसमे लेखककी मशा और नीयत आदिपर अनुचित आक्षेप किये गए हैं, जिनको सम्पादक "जैन जगत" ने भी महसूस किया है और इसीसे उन्हे ऐसी लेख-प्रणालीके विरुद्ध एक नोट भी साथमे देना पडा।

दूसरा विरोधी लेख "खण्डेलवाल जैन हितेच्छु" के २ री सितम्बर १९२६ वाले अङ्कमें प्रकट हुआ है। यह छोटा-सा लेख पंडित वनारसीदासजी शास्त्रीका लिखा हुआ है और वहुत ही साधारण है। इसमे प्राय ऐसी कोई विशेष वात नही, जो वडजात्याजीवाले लेखमे न आ गई हो। दोनोमे ही बिना

समझे '**पात्रकेसरी स्तोत्र**' के कुछ श्लोकोकी दुहाई दी गई है। हाँ, एक बात नोट किये जाने योग्य जरूर है और वह यह कि शास्त्रीजी जैन-शास्त्रोके वाक्योको छापनेके विरोधी थे, इसीसे उन्होने अपने एक लेखमे शास्त्रीय प्रमाणोको न देते हुए लिखा था कि—"आर्प-वाक्य होनेके कारण मैं यहाँपर शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत करनेके लिये असमर्थ हूँ। जिन्हे जाननेकी इच्छा हो उन्हे मैं सहर्ष बतला सकता हूँ या लिखकर भेज सकता हूँ।" परन्तु इस लेखमे आपने "**पात्रकेसरी स्तोत्र**" के तीन पद्योको देकर आर्ष-वाक्यो अथवा शास्त्रीय प्रमाणोको उद्धृत किया है और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि अब आपको शास्त्र-वाक्योके न छपाने सम्बन्धी अपनी पिछली भूल मालूम पड गई है अथवा आपके सिरपरसे वह अकुश उठ गया है जिसके कारण आप शास्त्रीय प्रमाणोको न छपानेके लिये मजबूर थे। परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि भूल जिस वक्त भी मालूम पड जाय और सुधार ली जाय उसी वक्त अच्छा है और अनुचित अंकुशका उठ जाना सदा ही अभिनन्दनीय होता है। अस्तु।

ये ही दो लेख हैं जो मेरे लेखके विरोधमे अभीतक मुझे उपलब्ध हुए हैं। मैं नही चाहता था कि ऐसे व्यर्थके नि.सार लेखोपर कुछ लिखा पढी करके अपने उस कीमती वक्तको खराब किया जाय जो दूसरे अधिक उपयोगी किसी स्वतन्त्र लेखके लिखने या उसकी तैयारी करनेमे खर्च होता। परन्तु कुछ मित्रोका आग्रह है कि इन लेखोसे उत्पन्न होनेवाले भ्रमको जरूर दूर कर देना चाहिए, जिससे भोली जनता फिजूलके धोखेमे न पडे। अत नीचे उसीका यत्न किया जाता है।

सबसे पहले मैं अपने पाठकोको यह बतला देना चाहता हूँ

कि उस लेखमे मैंने पूजा, भक्ति और आराधना तीनोंको एक 'उपासना' नामसे उल्लेखित करते हुए, यह प्रकट किया था कि—"आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष हो रही है और इसलिये समाजमे उपासनाके जितने अग और ढग प्रचलित हैं उन सबके गुण-दोषोपर विचार करनेकी बडी जरूरत है।" साथ ही, उपासनाके ढगके सम्बन्धमे यह भी बतलाया था कि—"उपासनाका वही सब ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमे —उसके मूल उद्देश्योमे—कुछ भी बाधा न आती हो। उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता।" इसके बाद यह नतीजा निकालते हुए कि "उपासनाके जो विधि-विधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमे भी प्रचलित थे, ऐसा नही कहा जा सकता" उनमे देश-कालानुसार होनेवाले परिवर्तनोमेसे कुछका दिग्दर्शन भी कराया गया था, और इसी दिग्दर्शनमे वर्तमान उपासना-विधिके कुछ दोषोका भी उल्लेख किया गया था—जैसे कि, नौकरोसे पूजन कराना, मदिरोके निर्माणमे 'लोक-सग्रह' का जो गहरा तत्त्व छिपा हुआ था उसे भुलाकर अपनी-अपनी मान-कषाय, नामवरीकी इच्छा या कुछ सुभीते आदिके खयालसे विना जरूरत भी एक स्थानपर बहुतसे मदिरोका निर्माण करना और उसके-द्वारा सघ-शक्तिको बाँट कर उक्त तत्त्वकी उपयोगिता अथवा उसकी यथेष्ट लाभ पहुँचानेकी शक्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर देना, मन्दिरोकी छोटी-छोटी मूर्तियोकी समूह-वृद्धिके कारण मूर्तिपरसे परमात्माके ध्यान और चिन्तवनकी बातका प्राय जाते रहना, मूर्तियोकी निर्माण-विधिमे शिथिलता आदिके कारण भद्दी, बेडौल तथा अशास्त्र-सम्मत मूर्तियोका पाया जाना, मदिरोमे उपासनाके उद्देश्योकी सहायक तथा साम्य

पोपक सामग्रीकी जगह व्यर्थके आडम्बरोकी वृद्धि होनेसे उपासनाके भावका दिन-पर-दिन कम होते जाना, पूजन-साहित्यका अवनतिकी ओर वदल जाना अथवा भावादिककी दृष्टिसे घटिया हो जाना, और पूजा करने-करानेवालोका अर्थाविवोधके द्वारा परमात्माके गुणोमे अनुराग वढानेकी ओर दृष्टि न रखते हुए, अनाप-सनाप ऐसे अशुद्ध पाठोका उच्चारण करना जिनसे बिलकुल ही अर्थका अनर्थ हो जाता हो अथवा स्तुतिकी जगह भगवानकी निन्दा ठहरती हो, इत्यादि। और इस सबके अनन्तर, लेखको समाप्त करते हुए, लिखा था—

"विज्ञ पाठक इतनेपरसे ही समझ सकते हैं कि हमारी उपासनाका ढग समय-समयकी हवाके झकोरोसे कितना वदलता गया है। उसके वदलनेमे कोई हानि न थी यदि वह उपासना तत्त्वके अनुकूल वना रहता। परन्तु ऐसा नही है, वह कितने ही अंशोमे उपासनाके मूलसिद्धान्तो तथा उद्देश्योसे गिर गया है, जिसका अच्छा अनुभव **'उपासना तत्त्व'** (नामक पुस्तक) के अध्ययनसे हो सकता है। और इसलिए इस समय उसको सँभालने, उठाने तथा उद्देश्यानुकूल वनाकर उसमे फिरसे नव-जीवनका सचार करनेकी वडी जरूरत है। समाज-हितैपियोको चाहिए कि वे इस विषयमे अपना मौन भग करे, अपनी लेखनी उठाएँ, जनताको उपासना-तत्त्वका अच्छा वोध कराते हुए उसकी उपासना-विधिके गुणदोषोको वतलाएँ—सम्यक् आलोचना द्वारा उन्हे अच्छी तरहसे व्यक्त और स्पष्ट करें—और इस तरहपर उपासनाके वर्तमान ढगमे समुचित सुधारको प्रतिष्ठित करनेके लिए जी-जानसे प्रयत्न करें। ऐसा होनेपर समाजके उत्थानमे बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी।"

लेखकके इस सब कथनपरसे कोई भी सहृदय पाठक अथवा विचारक लेखककी मशा, नीयत, अभिप्राय, मन्तव्य, तात्पर्य अथवा आशय-शुद्धिका भले प्रकार अनुभव कर सकता है और यह जान सकता है कि उसके हृदयमे समाजकी विकृत तथा दूषित उपासनाको सुधारने, ऊँचा उठाने और उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करनेके लिये कितनी अधिक उत्कठा, चिन्ता तथा तडफ पाई जाती है, वह मदिर-मूर्तियो अथवा चैत्य-चैत्यालयोके निर्माणका विरोधी नही—वैसे विरोधकी तो लेख भरमे कही गध भी नही आती—हाँ, उनको वेढगे तरीकेसे अथवा ऐसे तरीकोसे निर्माण करनेका विरोधी जरूर है जो उनके या उपासनाके उद्देश्यकी सिद्धिमे वाधक हो, और इस विरोधके-द्वारा ही वह उनमे सुव्य-वस्था लाना चाहता है जो किसी तरह भी अनुचित नही कहा जा सकता। जिन विचारशील पाठकोने लेखकके लिखे हुए 'उपासना-तत्त्व' को पढा है, और जिसे पढने तथा पढकर उपासनाके वर्तमान ढगकी कितनी ही गिरावटको महसूस करनेकी उक्त लेखमे प्रेरणा भी की गई है, वे खूब जानते हैं कि उसमे उपा-सनाके विषयको—उसके सिद्धान्त, रहस्य, उद्देश्य, जरूरत और वर्तमान हालतको—सक्षेपमे, कितनी अच्छी तरहसे दर्शाया गया और साथमे, मूर्तिपूजाका कितना हृदयग्राही मडन तथा स्पष्टी-करण किया गया है। परन्तु इतनेपर भी वडजात्याजी उक्त लेखमे मदिर-मूर्तियोके विरोधका स्वप्न देखते हैं, लेखकको उनका निषेधक अथवा खडनकर्ता ठहराते हैं और उससे यह पूछनेकी धृष्टता करते हैं कि "क्या आपका विचार हमारेमे ढूंढ्या पथ चला देनेसे है।" यह सब कितना दु साहस, अर्थका अनर्थ अथवा बुद्धिका विपर्यास है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं और इस

वातकी कल्पना कर सकते हैं कि वडजात्याजीकी इस मन-परिणतिको किस नामसे उल्लेखित किया जाय। मैं तो क्षोभकी हालतमे चित्तकी अस्थिरताके सिवाय इसे और कुछ भी नही समझता।

यह सव चित्तकी उस अस्थिरताका ही परिणाम है जो वडजात्याजी अपने लेखके शुरूमें तो यह प्रकट करते हैं कि उनकी समझमे मेरे लेखका तात्पर्य (अभिप्राय) ही नही आया—वह उनपर स्पष्ट ही नही हुआ—और फिर जगह-जगह खुद ही उस अभिप्राय अथवा तात्पर्यका उल्लेख करते हुए उसपर इस ढगसे कटाक्ष करते हैं, मानो वही मेरा अभिप्राय है और वह उन्हे विलकुल ही सुनिश्चित रूपसे परिज्ञात है। अन्यथा, मेरे अभिप्रायको विलकुल ही सुनिश्चितरूपसे समझनेकी हालतमे उनके इस लिखनेका कि वह "स्पष्ट समझमे नही आया" कुछ भी अर्थ नही हो सकता, और न वैसा न समझनेकी हालतमे उन्हे विना उसका स्पष्टीकरण कराए या उसमे विकल्प उठाए उसपर सीधा कटाक्ष करनेका कोई अधिकार था। परन्तु क्षोभकी हालतमे इन सव वातोको सोचे-समझे कौन ? चित्तकी अस्थिरता सव कुछ अनर्थ करा देती है—उसमे विचार अथवा विवेकको स्थान ही नही रहता।

वडजात्याजी यह तो स्वीकार करते हैं कि हमारी वर्तमान उपासना सदोष हो सकती है, परन्तु मैंने उसमे जिन दोषोका उल्लेख किया है उन्हे वे दोष नही मानते, वल्कि "प्राचीन शास्त्रोक्त-क्रियाओ, पूजा आदिपर अनुचित आक्षेप" वतलाते हैं। और इसलिये यह कहना चाहिये कि वडजात्याजी नौकरोसे पूजन कराने, मूर्त्तियोकी निर्माण-विधिमे शिथिलता लाकर वेढगी तथा

अशास्त्रसम्मत मूर्तियाँ वनवाने और अनाप-शनाप अशुद्ध पाठोका उच्चारण कराने आदि उन सभी वातोका अभिनन्दन करते हैं—उन्हे अच्छी, जरूरी, शास्त्रोक्त और उपासनाकी उद्देश्य-सिद्धिके लिए आवश्यक समझते हैं—जो समाजमे प्रचलित हैं और जिनको मैंने अपने लेखमे दोपरूपसे उल्लेखित किया है। परन्तु आपने उन्हे निर्दोप अथवा उपयोगी सिद्ध करनेका कोई यत्न नही किया—कोई ऐसा आगम-प्रमाण भी पेश नही किया, जो नौकरोसे पूजन कराने आदिका विधायक हो—और न लेखकके-द्वारा सूचित किए हुए दोपो अथवा स्थिति-प्रदर्शनको आप किसी तरहपर गलत ही सावित कर सके हैं, तव केवल आपके न माननेमात्रसे ही वे गलत नही हो जाते, न समाजकी स्थिति कुछ अन्यथा हो सकती है और न सदोप उपासना ही कही निर्दोष ठहर सकती है।

इसी तरहपर वडजात्याजीने यह तो स्वीकार किया कि हमारे देव वुलानेसे आते, बिठलानेसे वैठते और ठहरानेसे ठहरते नही हैं, परन्तु फिर उन्हे क्यो वुलाया जाता है, क्यो उनकी आह्वानादिक किया जाता है और क्यो उनसे यह कहा जाता है कि तुम अपना यज्ञभाग लेकर अव अपने-अपने स्थानपर जाओ। इस शकाका आपने कोई समाधान नही किया—केवल इतना लिख दिया है कि 'ये आह्वानादिक पूजाके पाँच अग हैं, इनमे कुछ दोप नही है।' परन्तु इस लिख देने मात्रसे ही वे पूजाके कोई शाश्वत अग नही वन जाते और न जैन सिद्धान्तोकी प्रतिकूलताका आरोपित दोप ही उनपरसे दूर हो जाता है। वे किसी समय पूजनके अग वन गये हैं, यह वात मैंने स्वय ही अपने लेखमें प्रकट की थी, वडजात्याजीको यदि इसका विरोध इष्ट था तो उन्हे इस

विपयपर काफी प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध करना चाहिए था कि वे किसी समय जैन-उपासनाके अग नही वने, वल्कि उसके शाश्वत अंग हैं, अथवा कम-से-कम भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट हुए हैं और उनसे किसी भी जैन-सिद्धान्तका कोई विरोध नही आता। परन्तु आपने ऐसा नही किया। अस्तु, मैं तो यह समझता हूँ कि जव जैन-सिद्धान्तानुसार हमारे कर्म-विमुक्ति देवता आह्वानादिक करनेपर कही आते-जाते नही हैं और न पूजाका कोई भाव ग्रहण करके प्रसन्न ही होते हैं तव उनके विपयमे वुलाने, विठलाने आदिका यह सव व्यवहार जैन-सिद्धान्तोकी प्रकृतिके कुछ अनुकूल मालूम नही होता, वल्कि हिन्दू-धर्मके सिद्धान्तानुसार देवता वुलानेमे आते, विठलानेसे वैठते और पूजनके वाद रुखसत करनेपर खुशी-खुशी अपना यज्ञभाग लेकर चले जाते हैं। इसलिये ये वाते हिन्दू-धर्मसे, उसके प्रावल्य-कालमे, उधार ली हुई जान पडती हैं। और इसीसे इस विपयमें हिन्दुओके अनुकरणकी वात कही गई थी। वडजात्याजीको यह चिन्ता करनेकी जरूरत नही कि विना सिद्धान्तोकी अनु-कूलता-प्रतिकूलतापर दृष्टि रक्खे वैसे ही कोई वात कह दी जायगी। हिन्दुओने भी विभिन्नरूपसे अहिंसा आदिकी कितनी ही वाते जैनियोमे, उनके प्रावल्य-कालमे, उधार ली हैं—ससार-मे यह लेन-देनका व्यवहार प्राय चला ही करता है। रही भक्त-द्वारा देवताको हृदयमे स्थापित करनेकी वात, वह ध्यानका एक जुदा ही विपय तथा मार्ग है और उसका उक्त पचाग पूजा अथवा अक्षतादिकमे देवताके आवाहन, स्थापन आदिकसे कोई सम्वन्ध-विशेप नही है। वहाँ ध्यानमे देवताके गुणोकी मूर्ति स्थापित की जाती है, उसका चित्र खीचा जाता है, अथवा देवताको मानस

प्रत्यक्ष-द्वारा साक्षात्-सा करके उसके गुणोका चिन्तवन किया जाता है, और इसीसे उसके साथमे विसर्जनकी कोई क्रिया नही होती। ध्यानाहूत देवता अविसर्जित ही रहते हैं—उनसे कोई नही कहता कि आप अपना यज्ञभाग लेकर अब तशरीफ ले जाईये—वे भक्तके चले जाने अथवा यो कहिये कि अनुपयुक्त हो जानेपर स्वय ही जहा-के-तहा हृदयमे विलीन या अन्तर्धान हो जाते हैं। अत इस विषयकी भी चिन्ताको छोडकर बडजात्या-जीको मेरे कथनके विपक्षमे कोई ऐसा प्रमाण पेश करना चाहिए था जिसमे उनकी पचाग पूजाको शाश्वत पदकी प्राप्ति होती। परन्तु अफसोस है कि उन्होने ऐसा कुछ भी नही किया। उनका यह लिख देना कि "यो तो हमारे देव किसीका कोई सङ्कट मेटते नही न किसीको सुख-दु ख ही देते हैं, पर हम सब उनसे विनती आदिमे इस तरहकी प्रार्थना करते रहते हैं" प्रकृत विषयका कोई हेतु नही हो सकता, बल्कि उलटा इस बातको सूचित करता है कि वे अपनी उस उपासनाका अथवा स्तुति-प्रार्थनादि क्रियाओका रहस्य भी नही जानते—वैसे ही एक दूसरेकी देखा-देखी किया करते हैं—और इसलिये उससे यथेष्ट लाभ भी नही उठा सकते। हाँ, उन्होने पूजाके इन अगो तथा द्रव्यादिको गृहस्थके लिये अव-लम्बन बतलाते हुए, देव-शास्त्र-गुरु-पूजासे **'द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य'** नामका एक पद्य जरूर उदधृत किया है। परन्तु इससे मेरे उस कथनका कोई विरोध नही होता जो उपासनाके ढगमे क्रमिक परिवर्तनसे सम्बन्ध रखता है और जिसके समर्थनमे अमितगति-आचार्यका—

वचोविग्रहसकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः॥

यह पद्य भी दिया गया था, और न उसमे आवाहन, विसर्जना-दिकको गृहस्थके लिए कोई आलम्बन ही बतलाया है, बल्कि इनका नामोल्लेख तक नही, केवल **'आलम्बनानि विविधानि'** ऐसे सामान्य पदोका प्रयोग किया गया है। जिनसे उन आवाहनादिक पाँचो अगोका ग्रहण कोई लाजिमी नही आता। अच्छे आलम्बन तो मूर्ति और विविध-स्तुति-स्तोत्रादिक हैं, उनका ग्रहण उक्त पदोसे क्यो न समझ लिया जाय ? और इसी तरहपर **'द्रव्यस्य शुद्धि'** पदोका वाच्य उस शरीर तथा वचनकी शुद्धिको क्यो न मान लिया जाय, जिसका अमितगति-आचार्य-द्वारा उल्लेखित प्राचीन द्रव्यपूजासे खास सम्बन्ध है ? इसका बडजात्याजीने कोई स्पष्टीकरण नही किया। तब उन्होने उक्त श्लोकको पेश करके क्या नतीजा निकाला और क्या सिद्ध किया, यह कुछ समझमे नही आता। इसके सिवाय, मैंने अपने लेखमे प्रचलित द्रव्यपूजाका कोई खास विरोध भी नही किया था जिसके विपक्षमे ही किसी तरहपर उक्त श्लोकको पेश किया जा सकता, बल्कि अमितगति-आचार्यके उक्त पद्यके वाद जो एक वाक्य दिया है, उसमें "पूजाने जोर पकडा" इन शब्दोका व्यवहार करके यह साफ ध्वनित किया है कि नैवेद्य-दीप-धूपवाली पूजाके जोर पकडनेसे पहले भी उसका किसी-न-किसी रूपमे कुछ अस्तित्व जरूर था, तभी उसके लिये "जोर पकडा" ऐसे शब्दोका प्रयोग किया गया है। और यदि विरोध किया भी होता तब भी उक्त श्लोक उसके विपक्षमे उस वक्ततक कार्यकारी नही हो सकता था जबतक कि यह सिद्ध न कर दिया जाता कि जिस पूजा-पुस्तकका यह श्लोक है वह अमितगति-आचार्य (विक्रमकी ११ वी शताब्दी) से बहुत पहलेकी अथवा अग-पूर्वादिके पाठी पुरातन

आचार्योंके समयकी बनी हुई है। परन्तु ऐसा कुछ भी सिद्ध नही किया और न वह पूजा उतनी अधिक प्राचीन है। अत. उक्त श्लोकका उद्धृत करना किसी तरह भी उपयुक्त अथवा वडजात्याजीके साध्यकी सिद्धि करनेवाला मालूम नही होता।

एक वात यहाँपर और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि मैने अपने लेखमे कही भी यह नही लिखा था कि पूजनकी पुस्तके नाना छदो अथवा कवितामे न होना चाहिए और न यही प्रतिपादन किया था कि गाने-वजानेके साथमे पूजा-भक्ति नही वन सकती या पूजा-भक्तिके साथमे गाने-वजानेका सर्वथा निपेध है, वल्कि वर्तमान लोक-रुचि और लोक-प्रवृत्तिका उल्लेख करते हुए इतना लिखा था कि—

"आजकल वे ही पूजा-पुस्तके ज्यादा पसद की जाती हैं जो अपनी छद सृष्टिकी दृष्टिसे गाने-वजानेमे अधिक उपयोगी होती हैं, चाहे, उनका साहित्य और उसमे उपासनाका भाव कितना ही घटिया क्यो न हो। लोगोका ध्यान प्राय स्वर, ताल और लयकी ओर ही विशेष रहता है—अर्थाववोधके-द्वारा परमात्माके गुणोमे अनुराग वढानेकी ओर नही। इसीसे कितनी ही वार पूजकोको—पूजा करने-करानेवालोको—अनाप-सनाप ऐसे अशुद्ध पाठोका उच्चारण करते हुए देखा गया है जिनसे अर्थका विलकुल ही अनर्थ हो जाता है अथवा स्तुतिके स्थानमे भगवान्की निन्दा ठहरती है। परन्तु उन स्वर, तालमे मस्त वुद्धुओको उसका कुछ भी भान नही होता। उपासनाके ढगकी यह कितनी विचित्र स्थिति है।"

और इसपरसे सहृदय पाठक स्वय समझ सकते हैं कि इसमे दोनो वातोका कोई निपेध नही है और न हो सकता है, क्योकि जिन छदोमे घटिया साहित्य लिखा जाता है उन्हीमे अच्छा

भावपूर्ण बढिया साहित्य भी लिखा जा सकता है और जिन पूजा-पाठोको बिना समझे-बूझे और बिना परमात्मामे अनुराग बढाए अशुद्धरूपसे महज जाब्तापूरीके तौरपर अनाप-सनाप उच्चारण किया जाता है उन्हीको उनका अर्थ समझते और परमात्माके गुणोमे अनुराग बढाते हुए शुद्धरूपसे गाजे-बाजेके साथ भी उच्चारण किया जा सकता है—गाना, बजाना उसमे कोई खास तौरपर कोई बाधक नही हो सकता, बशर्ते कि पूजकका ध्यान परमात्माके गुणोमे अनुराग बढानेकी ओर विशेष हो—और इसलिये लेखकका उक्त लिखना पूजा-साहित्यको ऊँचा उठाने तथा पूजकोकी वर्तमान प्रवृत्तिमे सत्सुधारको प्रतिष्ठित कराकर उन्हे सच्चा पूजक बनानेकी सत्कामनाको लिये हुए है। परन्तु बडजात्याजीकी समझ विलक्षण है। आप उक्त लिखनेको "पूजाके समय गायन वादित्र आदिपर तथा पूजनके छद, कविता आदि-पर आक्षेप" समझते हैं।। और फिर इस स्वत कल्पित आक्षेप अथवा निषेधका इस तरहपर निराकरण करते हैं कि छंद आदिकी बात तो रुचिके अनुसार होती है उसमे क्या दोष आता है? सस्कृतमे भी तो भाँति-भाँतिके श्लोक हैं, और इसी तरह गीत-वादित्र होनेमे भी कोई दोष नही आता।' साथ ही, गीत-वादित्रके समर्थनमे 'त्रिलोकसार'की एक गाथा (**दिव्वफलपुप्फहत्था**) और 'सिद्धान्तसार'के कुछ श्लोक ('**अभिषेकमहं**' आदि) भी पेश करते हैं, जिनमे देवताओ-द्वारा भगवान्के अभिषेक-पूजनका कुछ वर्णन है। यह सब देखकर मुझे बडजात्याजीकी बुद्धिपर बडा ही आश्चर्य होता है। मैं पूछता हूँ इन सब श्लोकोमे यह कहाँ लिखा है कि वह गाना-बजाना बिना अर्थावबोधके और बिना परमात्माके गुणोमे अनुराग बढाए होता था अथवा देवतालोग अनाप-सनाप

अशुद्ध पाठोका उच्चारण करते थे या उनके पूजा-पाठोका भाव घटिया होता था ? यदि ऐसा कुछ नही लिखा तो फिर इन श्लोकोके पेश करनेसे नतीजा ? मेरा आक्षेप कोई गाने-वजानेपर नही था, वल्कि अर्थाववोधके-द्वारा परमात्माके गुणोमे अनुराग न वढानेपर अथवा अर्थका अनर्थ करनेवाले या स्तुतिको निन्दा वना देनेवाले अशुद्ध पाठोके उच्चारणपर था, जिसका उक्त श्लोकोसे कोई निराकरण नही होता। खेद है जिन लोगोको इतनी भी खवर नही पडती कि आक्षेप किधर है और हम उसका विरोध किधरसे कर रहे हैं वे भी ऐसे लेखोपर आपत्ति करने वैठ जाते हैं जो वहुत कुछ जाँच-तोलके वाद लिखे होते हैं।

रही 'बुद्धुओ' शब्दके प्रयोगकी बात, बडजात्याजीको शिकायत है कि 'स्वर-तालमे मस्त होनेवालोके लिए' इस शब्दका व्यवहार ठीक नहीं हुआ—वह असभ्यताका द्योतक है—परन्तु मैं कहता हूँ कि यह शब्द सभी स्वर-तालमे मस्त होनेवालेके लिए व्यवहृत नही हुआ, वल्कि उन स्वर-तालमे मस्त होनेवालोके लिए, व्यवहृत किया गया है 'जो परमात्माके गुणोमे अनुरक्त न होकर बिना समझे-बूझे अनाप-सनाप ऐसे अशुद्ध पाठोका उच्चारण करते हुए देखे गये हैं जिनसे अर्थका बिलकुल ही अनर्थ हो जाता है अथवा स्तुतिके स्थानमे भगवान्‌की निन्दा ठहरती है'[1] और इसीसे 'स्वर-तालमे मस्त' से पहले 'उन' शब्दका प्रयोग किया गया था जिसे वडजात्याजीने अपने लेखमे न

१. एक वार एक पूजक महाशय भगवान्‌की स्तुति पढते हुए उन्हें कह रहे थे—'सव महिमामुक्त (युक्त) विकल्पयुक्त (मुक्त)'। देखिए कितनी वढ़िया अथवा सुन्दर स्तुति है !! इस तरहके सैकडो अनुभूत उदाहरण पेश किये जा सकते हैं।

मालूम क्यो छोड दिया। ऐसे लोगोके लिये खोज करनेपर भी मुझे इससे अच्छा पूर्ण अर्थका द्योतक कोई दूसरा एक शब्द नही मिला। इस शब्दमे अज्ञानभावके साथ भोलापन मिला हुआ है और यही मुझे उनके सम्बन्धमे व्यक्त करना था। इसीसे मैंने मूढ, जड या विवेकशून्य आदि दूसरे कठोर शब्दोका प्रयोग न करके उनकी स्थितिके अनुकूल इस कोमल शब्दका व्यवहार किया है। यदि सन्मार्गपर लानेके उद्देश्यसे ऐसे शब्दोका व्यवहार-भी असभ्यतामे परिगणित होने लगे तब तो शास्त्रकारोने जो इन्द्रिय-विषय–लोलुपी आदि मनुष्योको 'गृद्ध' जैसे नामोसे अभिहित या उल्लेखित किया है, उनकी असभ्यता और असयत भाषाका तो फिर कुछ ठिकाना ही न रहे, इसे बडजात्याजी स्वय सोच सकते हैं। मैं तो यह समझता हूँ कि जिस प्रकारसे एक वृद्ध तथा अच्छे ज्ञानी पुरुषोको भी उस विषयमे 'बालक' कहा जाता है जिसमे वह अनभ्यस्त होता है, उसी प्रकारसे उन पूजकोको, दूसरे विषयोमे उनके महाप्रवीण तथा चतुर होनेपर भी, अपनी उस दशामे 'बुद्धु' कहना ज्यादा उपयुक्त मालूम होता है। यह नाम उनके उस स्वरूपका अच्छा द्योतक है।

लेखके आपत्तिजनक अंशपर विचार :

मैंने उस लेखमे[1] यह प्रकट करते हुए कि "उपासनाका वही सब ढग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमे—उसके मूल उद्देश्योमे—कुछ भी बाधा न आती हो" और तदनन्तर ही, यह बतलाते हुए कि "उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता" लिखा था —

---

१. देखो १६ अगस्त, सन् १९२६ का 'जैन जगत', अक न० १।

"भगवान् जिनेन्द्रदेवने भी, अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा, उसका (उपासनाके ढगका) कोई एक रूप निर्दिष्ट नही किया। बल्कि उन्होने तो यह भी नही कहा कि तुम मेरी उपासना करना, मेरी मूर्ति बनाना और मेरे लिये मन्दिर खडा करना। यह सब मन्दिर-मूर्तिका निर्माण और उपासनाके लिये तरह-तरहके विधि-विधानोका अनुष्ठान स्वय भक्तजनो—श्रावकोके-द्वारा अपनी-अपनी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित किया गया है और जो समय पाकर रूढ होता गया, जैसा कि श्रीपात्रकेसरी स्वामीके निम्न वाक्यसे ध्वनित है—

"विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिकाः
क्रिया बहुविध-सुभृन्मरणपीडनाहेतव ।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः
किन्तु तास्त्वयि प्रसृत-भक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः" ॥३७॥

साथ ही, 'पात्रकेसरीस्तोत्र'के इस पद्यका भावानुवाद भी एक फुटनोटके रूपमे यो दे दिया था—

"विमोक्ष-सुखके लिये चैत्य-चैत्यालयादिका निर्माण, दानका देना, पूजनका करना इत्यादि रूपसे अथवा इन्हे लक्ष्य करके जितनी क्रियाएँ की जाती हैं और जो अनेक प्रकारसे त्रस, स्थावर जीवो (प्राणियो) के मरण तथा पीडनकी कारणीभूत हैं उन सब क्रियाओका, हे केवली भगवान्। आपने उपदेश नही दिया, किन्तु आपके भक्तजन श्रावकोने स्वय ही (आपकी भक्ति आदिके वश होकर) उनका अनुष्ठान किया है—उन्हे अपने व्यवहारके लिये कल्पित किया है।"

मेरे इस लिखनेपर ही मोहनलालजी बडजात्या बिगड़ गये

है—भगवान्‌ने नही कहा किन्तु भक्तजनोने स्वय ही उन क्रियाओको कल्पित किया है, यह बात उन्हे खासतौरपर असह्य हो पडी है और उनका चित्त स्थिर रहा मालूम नही होता। जान पडता है उन्होने इस लेखको विकृत-दृष्टिसे अवलोकन किया है, इसीसे भगवान्‌की शिकायत, भगवान्‌को दोप लगानेका अभिप्राय, मदिर-मूर्तियो और दान-पूजादिक क्रियाओका निपेध तथा खण्डन और लेखककी वदनीयती आदिकी न मालूम कितनी विनासिर-पैरकी बाते उन्हे इसमे नजर आने लगी हैं, और साथ ही, जिनेन्द्रके उपदेश-आदेशमे भेद आदिकी न जाने कितनी व्यर्थ कल्पनाएँ उत्पन्न होकर उनके सामने नाचने लगी हैं। अन्यथा—सम्यक्‌दृष्टि अथवा अविकृत-ज्ञाननेत्रसे अवलोकन करने-पर—ये सब बाते उन्हे लेख भरमे कही भी दिखलाई न पडती और न इतना भ्रान्तचित्त ही होना पडता जिससे आप एकदम सारे लेखका ही-सिरसे पैरतक-विना सोचे-समझे निपेध करने बैठ जाते और वर्तमान उपासना-विधिकी किसी भी त्रुटिको त्रुटि अथवा दोषको दोप मानकर न देते। और तो क्या, आपकी यह भ्रान्त-चित्तता यहा तक बढी है कि उसने लेखकके-द्वारा प्रयुक्त हुए 'कल्पित' शब्दके अर्थमे भी आपको भ्रान्ति उपस्थित कर दी है और आप गालवन यह समझने लगे हैं कि वह झूठे अथवा बनावटी अर्थमे प्रयुक्त हुआ है, इसीसे 'मनगढन्त' शब्दके-द्वारा आपने उसे उल्लेखित (नामाङ्कित) किया है और आश्चर्यके साथ यह वाक्य भी कहा है कि "मुख्तारजीने 'अनुष्ठितः' का अर्थ 'कल्पित किया' लिखा सो न जाने अनुष्ठानका अर्थ कल्पना कहाँ-से कर लिया।" शास्त्री बनारसीदासजी भी इस शब्द-प्रयोगपर कुछ चौंके हैं और उन्होने कल्पितको 'स्वेच्छा कल्पित' लिखकर

अपने हृदयका भी कुछ ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। अत पहले इस अर्थ-विषयक भ्रान्तिका ही निरसन किया जाता है—

जो कल्प, कल्पन अथवा कल्पना किया गया हो उसे 'कल्पित' कहते हैं, क्लृप्त भी उसीका नामान्तर है, और वे सब शब्द क्लृप् धातुसे भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगकर बने हैं। शब्दकल्पद्रुम कोशमे 'कल्प.' का अर्थ सबसे पहले 'विधि' दिया है और 'कल्प्यते विधीयते असौ कल्प.' ऐसी उसकी निरुक्ति भी दी है, इससे कल्पका प्रधान अर्थ 'विधि' जान पडता है। अमरकोशमें भी 'कल्पे विधिक्रमौ' पदके-द्वारा कल्पका विधि अर्थ सूचित किया है और हेमचन्द्र तथा श्रीधर नामके जैनाचार्योंने भी अपने-अपने कोशोमे उक्तविधि अर्थका प्रतिपादन किया है। यथा—

कल्पो विकल्पे कल्पद्रौ सवर्ते ब्रह्मवासरे।
शास्त्रे न्याये विधौ ' इति हेमचन्द्र ।
कल्पो ब्रह्मदिने न्याये प्रलये विधिशातयो ।

—इति श्रीधर ।

इसके सिवाय, शब्दकल्पद्रुममे कल्पनाका अर्थ 'रचना', 'सज्जना' तथा 'अनुमिति', कल्पनका 'क्लृप्ति', कल्पितका 'रचित' तथा 'सज्जित' और क्लृप्तका अर्थ 'नियत' तथा 'कृत-कल्पन' भी दिया है। वामन शिवराम आप्टेके कोशमे भी इन अर्थोंका उल्लेख मिलता है, उन्होने कल्पित और क्लृप्त शब्दोका अर्थ साफतौरपर Arranged, made, faphioned, fromed, Prepared, done, gotready, equipped, Caused, Produced, fixed, settled, thought of, invented, framed, ascertained और detesimined दिया है। और इन सब अर्थोंपरसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि 'कल्पित'

शब्द विधिकृत, विधानकृत, कृत, घटित, रचित, निर्मित, सज्जित, प्रस्तुत, योजित, विचारित, आविष्कृत, उत्पादित, व्यवस्थित, स्थापित नियत, स्थिरीकृत, निश्चित, निर्णीत अथवा निर्धारित जैसे आशयके लिये प्रयुक्त होता है ।[1] लेखकने भी यथायोग्य ऐसे ही आशयको लेकर उसका प्रयोग किया है—झूठे, बनावटी अथवा मनगढन्त अर्थका उस शब्द-प्रयोगसे कुछ भी सम्बन्ध नही है, और यह बात ऊपर उद्धृत किये हुए लेखाशपरसे सुदृष्टियोको सहज ही मे मालूम पड सकती है—वहाँ 'कल्पित किया' का स्पष्ट आशय स्थिर किया, निश्चित किया, निर्धारित किया, नियोजित किया, स्थापित किया, अथवा विधिकृत किया ऐसा है । बडजात्याजीको इतनी भी खबर नही पडी कि जब किसी कल्पनाको झूठी अथवा कल्पितार्थको दूषित प्रतिपादन करना होता है तब उसके लिये आमतौरपर मिथ्या कल्पना, असत् कल्पना अथवा स्वकपोलकल्पित जैसे शब्दोका प्रयोग किया जाता है—खाली कल्पना अथवा कल्पित कह देनेसे ही काम नही चलता, क्योकि कल्पना सत् असत् दोनो प्रकारकी होती है और तदनुसार कल्पितार्थ भी दूषित और अदूषित उभय प्रकारका ठहरता है—उक्त लेखमे कही भी वैसे शब्दोका कोई प्रयोग नही है और न 'कल्पित' शब्दसे पहले कोई विशेषण पद ही लगा हुआ है, तब उसके प्रतिपाद्य विषयको झूठा, बनावटी अथवा 'मनगढन्त' कैसे समझ लिया गया ? क्या श्रावक लोग कोई अच्छी कल्पना नही कर सकते, कोई अच्छी ईजाद नही कर सकते या अपनी भक्तिके लिये कोई अच्छा प्रशस्त मार्ग नही निकाल सकते ? क्या इस विषयमे वे जड-मशीनोकी तरह

---

१ देखो आप्टे साहबके दोनों कोश (१ सस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी और २ इङ्गलिश-सस्कृत डिक्शनरी) ।

बिलकुल ही परतन्त्र हैं ? और क्या उनकी भक्ति महज टकसाली—एक ही साँचेमे ढली हुई—या जाब्तापूरी ही होती है ? यदि ऐसा है तव तो उन्हे भक्त और उनकी उस भक्तिको भक्ति कहना, भक्त तथा भक्ति शब्दोका दुरुपयोग करना है, और यदि वैसा नही है, वल्कि भक्तजन अपनी भक्तिको पुष्ट करने, चरितार्थ बनाने और विकसित तथा पल्लवित करनेके लिये अनेक प्रकारकी नई-नई योजनाएँ तैयार कर सकते हैं और इसलिये उपासनाके ढगका कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक एक निर्दिष्ट रूप नही हो सकता, तो फिर मेरे 'कल्पित' शब्दपर इतना अधिक चौकने-की क्या जरूरत थी ? क्या इतनेपर भी बडजात्याजी कल्पितका अर्थ केवल "मनगढन्त" ही समझते हैं ? यदि ऐसा है तो मैं नमूनेके तौरपर कुछ पद्य आपके सामने रखता हूँ और फिर पूछता हूँ कि इनमे प्रयुक्त हुए 'कल्पित' शब्दका अर्थ क्या 'मनगढन्त' ही है ?

> सुरेन्द्रपरिकल्पित बृहदनर्घ्यसिंहासन,
> तथाऽऽतपनिवारणत्रयमथोल्लसच्चामरम् ।
> वश च भुवनत्रयं निरूपमा च नि सगता,
> न सगतमिद द्वय त्वयि तथापि सगच्छते ॥ ६ ॥
>
> —पात्रकेसरीस्तोत्र ।

> मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पित' ।
> भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यथा ॥
>
> —यशस्तिलक

> या च पूजा मुनीन्द्राणा नित्यदानानुषङ्गिनी ।
> स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पित ॥ २ ॥
>
> —आदिपुराण ।

यदि वडजात्याजीकी समझके अनुसार 'कल्पित' का अर्थ मनगढ़न्त ही है तो उन्हे यह कहना होगा कि पात्रकेसरीस्तोत्रवाले

पद्यमे सुरेन्द्र-द्वारा जिस बहुमूल्य बृहत् सिंहासन तथा छत्र-चमर विभूतिके रचे जानेका उल्लेख है उसे वे वास्तविक न समझकर 'मनगढन्त' समझते हैं, यशस्तिलकवाले पद्यमे मुनियोके लिये समयपर भक्तिपूर्वक योजना किये हुए जिस शाकपिण्डको अगण्य-पुण्यका कारण बतलाया है उसे भी आप 'मनगढन्त' मानते हैं और इसी तरहपर आदिपुराणवाले पद्यमे दान देते समय यथाशक्ति अनुष्ठान अथवा विधान की गई मुनीन्द्रोकी पूजाको जो 'नित्यमह' (नित्य पूजन) कहा गया है उसको भी आप 'मनगढन्त' बतलाते हैं। यदि आप ऐसा कहनेके लिये तैयार नही हैं और न आपको इन पद्योमे प्रयुक्त हुए कल्पित शब्दका वैसा अर्थ ही इष्ट है बल्कि आप 'परिकल्पित' का अर्थ 'रचित' समझते हैं, जैसा कि उस स्तोत्रकी टीकामे भी लिखा है और 'प्रकल्पित' से 'प्रयोजित' का तथा 'उपकल्पित' से 'अनुष्ठित' का आशय लेते हैं तो फिर मेरे-द्वारा प्रयुक्त हुए 'कल्पित' शब्दपर आपकी आपत्ति कैसी ? शायद इसपर बडजात्याजी यह कहने लगे कि इन पद्योमे कल्पित शब्दका जो प्रयोग हुआ है वह क्रमश परि, प्र और उप नामके उपसर्गोको साथमे लेकर हुआ है, इसीसे हम यहाँपर उसका वैसा (मनगढन्त) अर्थ माननेके लिये बाध्य नही हैं। परन्तु यह कहना, यद्यपि, विद्वानोकी दृष्टिमे कुछ भी मूल्य नही रखता, क्योकि ये उपसर्ग प्रकृत शब्दके मूल अर्थको बदलने अथवा अन्यथा करनेवाले नही हैं, फिर भी मैं आपके तथा साधारण जनताके सतोषार्थ एक पद्य और भी पेश किये देता हूँ जिसमे बिना किसी उपसर्गको साथमे लिये शुद्ध 'कल्पित' शब्दका प्रयोग है और वह पद्य इस प्रकार है :—

ता शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः॥

एक ही बात है । दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिए कि बडजात्याजीने 'अनुष्ठित' का अर्थ 'निर्मित' किया है और निर्मित तथा रचित ये कल्पितके पर्यायार्थ हैं, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है ।[1] इससे भी अनुष्ठितके साथ कल्पितकी प्राय अर्थ-साम्यता पाई जाती है, फिर नही मालूम वडजात्याजी किस आधारपर आपत्ति करने वैठे हैं । क्या कल्पित शब्दके नामसे ही आपको घवराहट पैदा होती है या कल्पितका झूठा, वनावटी अथवा 'मनगढन्त' अर्थ समझ लेनेका ही यह सारा खोट है ? महाशयजी ! कल्पित वातो अथवा कल्पनाओसे इतना न घवराइये, कल्पित वाते या कल्पनाएँ सव झूठी अथवा वुरी नही होती । किसी समय कल्पित की गई मुद्रणकला आदिकी कल्पनाएँ (ईजादे) लोकके लिए कितनी उपकारक वनी हुई हैं । कल्पनाओके आधार-पर तो सम्पूर्ण जगतका कार्य-व्यवहार चल रहा है—शब्दशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र, छद शास्त्र, अलकारशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, वैद्यकशास्त्र और रसायनशास्त्र सव कल्पनाओसे परिपूर्ण हैं—यह पुत्र है, यह भार्या, यह भाई और यह बहन और यह वह इनका कर्त्तव्य कर्म है, इत्यादि व्यवहार सब कल्पनाके ही आश्रित हैं। व्यवहार सब कल्पित होता ही है ।[2] मूर्तिको देवता कहना अथवा मूर्ति आदिमे किसी देवता आदिकी स्थापना करना भी कल्पना ही है और रगे-चावलोको

---

१. शास्त्रीजीने 'अनुष्ठिताः' का अर्थ 'की है' दिया है और यह अर्थ 'कृत' शब्दके अर्थसे भिन्न नहीं है जो कि कल्पितका ही पर्याय नाम अथवा अर्थ विशेष है ।

२. इसीसे 'उन्हे अपने व्यवहारके लिये कल्पित किया' यह वाक्य-प्रयोग वहुत ही समुचित जान पडता है ।

पुष्प कहकर तथा गोलेके रगे टुकडोको दीपक बतलाकर भगवान् या देवताको चढाना भी कल्पनासे बाहरकी चीज नही है। यह दूसरी बात है कि कौन कल्पना किसकी की हुई है, कैसी परिस्थितिमे अथवा कैसी परिस्थितिके लिये की गई है, भ्रान्त है या अभ्रान्त, नूतन है या पुरातन, अच्छी है या बुरी, हितकर है या अहितकर, वर्तमानमे उपयोगी हैं या अनुपयोगी अथवा अपने लिये हेय है या उपादेय और इन सब बातोपर यथावश्यकता विचार करना ही बुद्धिमानोका काम है। महज 'कल्पित' अथवा 'श्रावको द्वारा कल्पित' कह देनेपर ही क्षोभ ले आना और भ्रान्तचित्त-सा बन जाना उचित नही है। हर एक विषयपर बडी शान्ति तथा धैर्यके साथ, उसके हर पहलूपर नजर डालते हुए, विचार करना चाहिए—क्षोभकी हालतमे कभी उसके यथार्थ स्वरूपका दर्शन नही हो सकता। यह उस क्षोभकी हालत तथा भ्रान्त-चित्तताका ही परिणाम है जो बडजात्याजीको इतना भी सूझ नही पडा कि लेखकके-द्वारा प्रस्तुत किये हुए 'विमोक्ष-सुख' वाले पद्यके उक्त अनुवादमे कहाँ मदिर-मूर्तियोके बनवाने, दान देने और पूजा करनेका निषेध किया गया है अथवा यह कहा गया है कि उन क्रियाओका करना ठीक नही है, और इसलिये वे यो ही बिना किसी आधारके, उक्त श्लोकको अपने अर्थके, साथ पेश करके, उसके सम्बन्धमे निम्न प्रकारसे पूछने, बतलाने अथवा आक्षेप करने बैठ गये हैं —

(१) "पाठक देखेगे कि इस श्लोकमे इन क्रियाओ की पुष्टि की गई है या खण्डन। मुख्तारजी अपने निजी तात्पर्यकी इससे चाहे पुष्टि समझ ले, पर सो नही है।"

(२) "अब कहिये महाशय। आपको इस श्लोकमे इन सब

क्रियाओ का निषेध कहापर मिलता है। यदि ये क्रियाएँ ठीक नही हैं तो फिर उनके करनेवाले भक्तोके लिये अतिशय भक्ति-वाले विशेषण न आता।"

इन अप्रासगिक आक्षेप-वाक्योको लेखकके उक्त अनुवादके साथ पढनेपर सहृदय पाठक सहजमे ही, यह जानते हुए कि इनमे कुछ भी तथ्य नही है, बडजात्याजीके क्षोभ तथा भ्रान्तिकी गुरुता-का अच्छा अनुभव कर सकते हैं और साथ यह भी मालूम कर सकते हैं कि उनका युक्तिवाद बढा-चढा है—वे अतिशय भक्तिको किसी क्रियाके ठीक अथवा समीचीन होनेकी गारन्टी समझते हैं अथवा यो कहिये कि समीचीनताके साथ अतिशय भक्तिका अविना-भावी सम्बन्ध मानते हैं। तब तो जो लोग अतिशय भक्तिके वश होकर कुदेवोकी पूजा करते हैं, उनके लिये बडे-बडे मन्दिर खडे करते हैं और उन्हे पशुओकी बलि तक चढाते हैं उनकी वे मिथ्यात्व क्रियाएँ भी ठीक अथवा सम्यक् ठहरेंगी? और उनपर आक्षेप करने या उनके विपक्षमे कुछ भी कहनेका जैनियोको अथवा बडजात्याजीको कोई अधिकार नही रहेगा। जान पडता है भ्रान्त-दशाके कारण बडजात्याजीको अपने इस हेतुवादके ऐसे नतीजे-का कुछ भी मान नही रहा और उन्होने बिना जॉच किये ही उसका प्रयोग कर दिया।

समझमे नही आता कि जब मेरे उक्त अनुवादका कोई तात्विक भेद नही है—वे खुद ही अपने अनुवादमे लिखते हैं कि "हे भगवन् चैत्यालयका बनाना, दान देना, पूजन करना आदि कार्य प्राणियोकी हिंसा और पीडाके कारण हैं, इनके करनेका आदेश आपने नही दिया"—'किन्तु आपमे अतिशय भक्ति रखने-वाले श्रावकोने मोक्ष-सुखके लिये वे क्रियाएँ अपने आप निर्माण

करती है।' और साथ ही, इसका यो स्पष्टीकरण भी करते हैं कि 'हे भगवान्! आप यह आदेश नही देते कि तुम मदिर बनवाओ या दान देओ या पूजन करो ये सब क्रियाएँ मोक्ष-सुखके लिये भक्त लोग—आपमे अतिशय भक्ति जिनकी ऐसे वे स्वय-करते हैं"[1] तब मेरे शब्दोमे ही कौन-सा भुस मिला हुआ था, जिस-पर बडजात्याजी इतना बिगडे अथवा आपेसे बाहर हुए हैं और उन्होने उक्त श्लोकको अपने अर्थके साथ देनेका भी व्यर्थ कष्ट उठाया है। यह सब भ्रान्त चित्तकी लीला नही तो और क्या है। अस्तु।

बडजात्याजीका एक आक्षेप और भी है और वह यह कि 'मैं बैठा तो आजकलकी उपासना अथवा पूजा-भक्तिके ढगपर कुछ लिखने और छेडने लगा चैत्यालयोके निर्माण तथा दान[2],

---

१ शास्त्रीजीके अनुवादकी भी प्राय: ऐसी ही हालत है। आप लिखते हैं—"आप केवलज्ञानीने वीतराग होनेके कारण मोक्षरूप सुख-के लिये श्रीजिनमदिरजीका पूजन, दान आदि क्रियाओका उपदेश नहीं दिया, किन्तु आपमे भक्तिके धारक श्रावकोंने वे क्रियायें स्वय की हैं। इसका भाव यह है कि भगवान् वीतराग हैं उन्होने किसीको यह नही कहा कि तुम हमारे लिये मदिरजी आदि बनाओ और हिंसा करो किन्तु श्रावकोंने स्वय भक्तिभावसे अपने पुण्य-सचयके लिये विशेष उपकार मान-कर स्वय दान-पूजनादिकोंको किया है।"

२ दानकी कोई खास चर्चा मैंने उस लेख भरमे कही भी नहीं उठाई, सिर्फ पात्रकेसरीस्तोत्रके पद्यका अनुवाद देते हुए, फूटनोटमे मूलके अनुरोधसे "दानका देना" इतने शब्द लिखे थे। इसे भी बडजात्याजी मेरी ओरसे दान विषयकी छेड-छाड समझते हैं—किमाश्चर्यमतः परम्! तब तो यह कहना होगा कि मेरे लेखमे 'उपवास' तथा केशलौचका कोई निषेध या उल्लेख न होते हुए भी जो बडजात्याजीने पात्रकेशरी-

पूजा आदि सभी विषयोको' और इस आक्षेपके अनन्तर ही आप मुझसे पूछते हैं "तो फिर क्या आपका विचार हमारेमे ढूँढ्या पथ चला देने से है ?" यह सब आक्षेप मुझे बडा ही विलक्षण मालूम होता है और इससे यह पाया जाता है कि बडजात्याजी मन्दिर-मूर्तिके निर्माण आदिको पूजा-उपासनाका कोई अग नही समझते हैं और न ढूँढ्या पथको ही जानते अथवा पहचानते हैं। यदि ऐसा न होता तो आप कदापि ऐसा ऊटपटॉग आक्षेप करनेका साहस न करते। मैं पूछता हूँ यदि चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण को आप उपसनाका अग समझते हैं तो उपासनाके ढग विषयक लेखमे उसका विचार होना स्वाभाविक था, उसपर आपकी फिर आपत्ति कैसी ? और यदि वैसा नही समझते हैं तो क्या फिर आपकी यह कोरी शास्त्रानभिज्ञता नही है ? क्योकि आदिपुराणमे भगवज्जिनसेनाचार्यने साफ तौरपर चैत्य-चैत्यालयादिके निर्माण और उनके लिये ग्रामादिकके दान तकको 'नित्य पूजन' वर्णन किया है। यथा —

चैत्य-चैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापण च यत् ।
शासनीकृत्य दान च ग्रामादीना सदाऽर्चनम् ॥

और इसी तरहका कथन सागारधर्मामृत आदि दूसरे ग्रन्थोमे भी पाया जाता है। इसी तरह मैं यह भी पूछना चाहता हूँ कि ढूँढिया मतके कौन-से ग्रन्थमे यह लिखा है कि दान-पूजाका करना उनके यहाॅ निषिद्ध है अथवा वे लोग दान-पूजा नही करते ? क्या केवल मूर्तिके सामने खडे होकर अथवा बैठकर दीप-धूप-

---

स्तोत्रवाले एक पद्यके अनुवादमें उन दोनोंके उपदेशका विधान किया है वह उनका एक अप्रासगिक कथन अथवा व्यर्थकी छेड-छाड है। और इस तरहपर वे खुद ही अपनी आपत्तिके शिकार वन जाते हैं।

नैवैद्यादिकका चढा देना ही पूजा है और मदिर-मूर्तिके लिये दान देना ही दान है ? क्या भगवान्‌की स्तुति करना, स्तोत्र पढना, त्रिकाल वदना करना, परमात्माके ध्यानमे लीन होना, परमात्माका नाम आते ही झुक जाना—नम्रीभूत हो जाना—उनके चरित्रकी प्रशसा करना और उनके गुणोमे अनुराग बढाना पूजा नही है ? (पूजाके भेद-प्रभेदोको जरा अपने ग्रन्थोमे ही देखिये) क्या आहार, औषध, अभय और विद्या (शास्त्र) दानका देना दान नही है ? और क्या इस प्रकारकी पूजा तथा दानकी प्रवृत्ति हमारे ढूँढिया भाइयोमे नही पाई जाती या उनके यहाँ उसका विधान नही है ? वे तो चैत्यालय तक बनाते हैं—उनके स्थानक ही उनके मदिर अथवा चैत्यालय हैं, जो स्थावर प्रतिमाओ-के लिये नही किन्तु प्राय जगम प्रतिमाओ—साधुओके लिये होते हैं और श्रावक लोग भी वहाँ जाकर परमात्माका भजन करते उपदेश सुनते अथवा सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओका अनुष्ठान करते हैं। फिर नही मालूम दान-पूजा तथा चैत्यालयकी बात उठाकर बडजात्याजी मुझपर क्या आक्षेप करने बैठे हैं और इस आक्षेपको करते हुए उनके होश-हवास कहाँ चले गये थे ? क्या उन्होने लेखकके लिखे हुए, 'उपासनातत्त्व' को भी नही पढा, जिसके पढनेकी लेखमे प्रेरणा की गई थी और जिसमे मूर्ति-पूजाका भी अच्छा मडन किया गया है ? सच है क्षोभकी हालत-मे मनुष्य सज्ञाहीन-सा हो जाता है और उसे योग्य-अयोग्य अथवा वक्तव्य-अवक्तव्यका प्राय कुछ भी विचार नही रहता।

द्वितीय भ्रान्तिका निरास :

अब मैं एक दूसरी भ्रान्तिका निरसन करता हूँ और वह है

जिनेन्द्रके उपदेश-आदेश-भेदकी व्यर्थ कल्पना। बडजात्याजी लिखते हैं —

(१) "हमारे भगवानने सब कुछ कहा पर आदेशरूपसे कुछ भी नही कहा—करो या-न-करो इससे उन्हे क्या अर्थ ?"

(२) "महाशय ? उन्होने यह करो, वह करो कुछ नहीं कहा, पर उनकी दिव्य-ध्वनिकी विशेषता थी।"

(३) "भगवान चाहे अच्छे-या-बुरे किसी भी कार्यके करनेके लिए किसीको आज्ञा नही देते।"

इससे साफ जाहिर है कि मोहनलालजी बडजात्या जिनेन्द्रके उपदेश-आदेशमे भेदकी भारी कल्पना करते हैं और आदेश अथवा आज्ञाकी जिनेन्द्रकी प्रवृत्ति ही नही मानते। परन्तु यह आपका कोरा भ्रम है। यदि भगवान् किसीको भी किसी प्रकारकी अच्छी-या-बुरी कोई आज्ञा ही नही देते—उनकी वास्तवमे कोई आज्ञा ही नही—तो फिर यह क्यो कहा जाता है कि "भगवान-की आज्ञाके विरुद्ध नही चलना चाहिए, अमुक कार्य भगवान्की आज्ञाके अनुकूल है, ऐसा करना भगवानकी आज्ञाका भग करना है, भगवानकी आज्ञाका लोप करना बडा पाप है, इत्यादि ?" अथवा श्रीवादिराजसूरिने अपने 'एकीभाव स्तोत्र'मे यह क्यों लिखा है कि—"**आज्ञावश्यं तदपि भुवनं**"—लोक भगवान्की आज्ञाके वशवर्त्ती हैं ? पात्रकेसरीस्त्रोत्रके टीकाकारने 'वश च भुवनत्रय' पदोका अनुवाद "**आज्ञाधीनं जगत्रयं**" देकर यह क्यो कहा कि तीनो जगत भगवानकी आज्ञाके आधीन हैं ? और भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने 'जिनसहस्त्रनाम' मे भगवानको 'अमोघाज्ञ' लिखकर यह क्यो प्रतिपादन किया कि उनकी आज्ञा

अमोघ होती है? परन्तु इन्हे भी छोडिये, जैन शास्त्रोमे यह स्पष्ट लिखा है कि—

सूक्ष्म जिनोदित तत्त्व हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्य नान्यथावादिनो जिनाः॥

अर्थात्—जिनेन्द्रका कहा हुआ जो कोई भी सूक्ष्म तत्त्व है वह युक्तियोसे कभी खडित नही होता, उसे 'आज्ञासिद्ध' समझकर—अथवा यह खयाल करके कि भगवान्‌की ऐसी ही आज्ञा है—ग्रहण करना चाहिये, क्योकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथावादी नही होते। जव भगवान्‌की कोई आज्ञा ही नही तो यह 'आज्ञासिद्ध' कैसा? और तव 'आज्ञासम्यक्त्व' भी कैसे वन सकेगा, जिसका स्वरूप 'आत्मानुशासन' मे श्रीगुणभद्राचार्यने निम्न प्रकारसे दिया है—

आज्ञासम्यक्त्वमुक्त यदुत विरुचित वीतरागाज्ञयैव।

इसमे साफ तौरपर 'वीतरागकी आज्ञासे ही जो रुचि अथवा श्रद्धान किया जाय उसे आज्ञासम्यक्त्व' लिखा है। यदि वीतराग भगवानकी कोई आज्ञा ही न हो फिर यह आज्ञासम्यक्त्वका कथन भी नही बन सकता।

इसके सिवाय, धर्मध्यानके भेदोमे 'आज्ञाविचय' नामका भी एक भेद है और उसका स्वरूप, ज्ञानार्णवमे, योगी श्रीशुभचन्द्राचार्यने निम्न प्रकारसे प्रतिपादन किया है—

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान्विचिन्तयेत्।
यत्र तद्ध्यानमाम्नातमाज्ञाख्य योगिपुगवै॥

अर्थात्—जिस ध्यानमे सर्वज्ञकी आज्ञाको सामने रखकर—उसे मानते हुए अथवा उसके आधारपर—पदार्थोंका सम्यक्‌विचार किया जाता है उसे योगीश्वरोने 'आज्ञाविचय' नामका धर्मध्यान

कहा है। सर्वज्ञकी इस आज्ञाके भी दो भेद किये गये हैं—एक हेतुवादरूप[1] और दूसरा अहेतुवादरूप[2]। यथा.—

तत्राज्ञा द्विविधा हेतुवादेतरविकल्पतः।
सर्वज्ञस्य विनेयान्तःकरणायत्तवृत्तितः॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक।

यहा भी जब सर्वज्ञकी कोई आज्ञा ही नही तो फिर आज्ञाके ये दो भेद कैसे ? और आज्ञाको प्रमाणीकृत करके प्रवर्तित होने वाला यह 'आज्ञाविचय' धर्मध्यान भी कैसा ? मालूम नही बडजात्याजीने किस आधारपर भगवान्की आज्ञा अथवा आदेश प्रवृत्तिका निषेध किया है। ऊपरके इस सब कथन अथवा प्रमाणवाक्योपरसे तो सर्वज्ञ भगवान्की आज्ञाका भले प्रकार अस्तित्व पाया जाता है। और साथ ही, यह भी ध्वनित होता है कि वह आज्ञा सर्वज्ञके आगमसे भिन्न नही है—सर्वज्ञका आगम ही सर्वज्ञकी आज्ञाओका समूह अथवा सग्रह है। श्रीपूज्यपाद आचार्यने भी 'सर्वार्थसिद्धि' मे 'आज्ञाविचय' धर्मध्यानका स्वरूप देते हुए, 'सर्वज्ञप्रणीत आगम' को 'आज्ञा' सूचित किया है।[3] और इससे यह साफ

---

१. आज्ञाप्रकाशनार्थो वा हेतुवाद।
सामर्थ्यादयमप्याज्ञाविचय॥

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक।

२ आज्ञाप्रामाण्यादर्थावधारणमाज्ञाविचय. सोऽयमहेतुवादविषयोऽनुमेयार्थगोचरार्थत्वात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

३ यथा —उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थाना हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतागम प्रमाणीकृत्य, इत्थमेवेद नान्यथावादिनो जिना इति गहनपदार्थश्रद्धानमर्थावधारणमाज्ञाविचय'।

—सर्वार्थसिद्धि।

नही है—जो जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश है वही उनकी आज्ञा, शासन अथवा आदेश है।[1] उपदेश-आदेश-भेदकी यह कल्पना प्राय छद्मस्थ ज्ञानी आचार्यों आदिके कथनमें पाई जाती है—सर्वज्ञ भगवान्‌के कथनमें नही। सर्वज्ञने हेय-उपादेयरूपसे दो प्रकारका तत्त्व प्रतिपादन किया है, बन्ध तथा बन्धके कारणोको हेय और मोक्ष तथा मोक्षके कारणोको उपादेय बतलाया है[2]। और इस तरहपर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनो ही रूपमे अपनी आज्ञाको प्रवर्तित किया है—आपका शासन विधि-निषेधात्मक है—और जगह-जगह शास्त्रोमे इस प्रकारका उल्लेख भी मिलता है कि भगवान्‌ने भव्य जीवोको मोक्षमार्ग सिखलाया, उन्हे श्रेयोमार्गमे लगाया, यम और दमका—व्रतोके पालन तथा इन्द्रियोके निग्रहका—आदेश दिया, वे सासारिक विषयतृष्णादि रोगोसे पीडित प्राणियोके रोग शान्त करनेके लिये एक आकस्मिक (द्रव्यादि अपेक्षारहित परोपकारी) वैद्यकी तरह वैद्य है और एक माता जिस प्रकार अपने बालकको हितका अनुशासन करती है—बुरे कामोमे हटाकर अच्छे कामोमे लगाती है—उसी तरह आप्त-

---

१ आदेशके अर्थ भी आज्ञा और उपदेश दोनों हैं, शासन तथा अनुमति भी उसके अर्थ हैं। देखो 'शब्दकल्पद्रुम'।

२ यथा—

"तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाऽभ्यधादसौ॥"

"बन्धो निबन्धन चास्य हेयमित्युपदर्शितम्।
मोक्षस्तत्कारण चैतदुपादेयमुदाहृतम्।

भगवान् हेयाहेयविवेकसे विकल प्राणियोके लिये हितानुशासक हैं[1]। तब बडजात्याजीका यह लिखना कि भगवान्ने "यह करो वह करो, कुछ नही कहा" और दर्पके साथ लेखकसे यह पूछना कि "कहिये और किन-किन बातोके लिये भगवान्ने कहा हैं कि यह करना, वह करना ?" कहाँतक युक्तिसगत है, इसे पाठक स्वय ही समझ सकते हैं। मुझे तो आपका यह सब कथन कोरा अशिक्षितालाप अथवा अशिक्षितोका-सा वचन-व्यवहार जान पडता है और उसमे कुछ भी महत्त्व मालूम नही होता। इसीसे ऐसे लेखोके उत्तरमे मैं अपने समयका बहुत कुछ दुरुपयोग अथवा अपव्यय (फिजूल खर्च) समझता हूँ। आप लिखते हैं "करो या न करो इससे उन्हे (भगवान्को) क्या अर्थ ?" मैं पूछता हूँ 'करो या न करो' से यदि भगवान्का कुछ अर्थ अथवा प्रयोजन नही तो फिर उपदेश देनेसे ही उन्हे क्या प्रयोजन है ? क्या आत्मार्थके लिये—अपनी किसी निजी गर्जको सिद्ध करनेके लिये ही उपदेश दिया जाता है ? परार्थ अथवा परोपकारके लिये नही ? भगवान्का उपदेश तो अपने लिये नही किन्तु दूसरोके लिये उनके हित

---

१. यथा—

"मोक्षमार्गमशिश्रयन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुर. ॥"

"श्रेयान् जिन. श्रेयसि वर्त्मनीमा श्रेय प्रजाः शासदजेयवाक्य. ।"

"त्वया समादेशि सप्रयामदमाय. ।"

"त्व शसव सभवतर्षरोगै सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥"

"सर्वस्य तत्त्वस्य भवान्प्रमाता मातेव बालस्य हितानुशास्ता ।
गुणावलोकस्य जनस्य नेता · ··· · · · ··"

—इति स्वयभूस्तोत्रे समन्तभद्रवचनानि ।

साधनकी दृष्टिसे होता है—संसारी जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुडाकर उत्तम सुख प्राप्त कराना ही उसका मुख्य ध्येय अथवा प्रधान लक्ष्य है—तब लोक-हितकी दृष्टिसे यदि भगवान् किसी कार्यके करने या न करनेके लिये कहें तो इसमें जैन-सिद्धान्तसे कौन-सा विरोध आता है? और त्रिलोकगुरु भगवान्‌के आदेशसे उनके उपदेशमें कौन-सी विभिन्नता हो जाती है? शायद बडजात्याजी यह कहें कि भगवान्‌का उपदेश तो विना इच्छाके होता है, तब मैं पूछता हू कि उसी तरहपर—विना इच्छाके—उनका आदेश नही बन सकता? उसमें कौन-सा बाधक है। जरा बतलाइये तो सही? अच्छा होता यदि बडजात्याजी दिव्य-ध्वनिकी अपनी उस विशेषताको भी प्रकट कर देते जो उनके ध्यानमे समाई हुई है और जिसपर ध्यान न देनेकी आपको मेरी शिकायत है और आप बडे दर्पके साथ, ऊपर उद्‌धृत किये हुए वाक्य न० २ के अनन्तर ही लिखते हैं :—

"शोक है कि इस साधारण बातको भी आपने ध्यानमे नही रक्खा, नही तो आपको यह सब लिखनेका कष्ट नही उठाना पडता?"

दिव्य-ध्वनिकी विशेषतावाली बात साधारण हो या असाधारण, परन्तु मेरे ध्यानमे तो अभीतक भी नही आई—मुझे ऐसी कोई भी विशेषता उसमें मालूम नही पडी जिससे बडजात्याजीके कथनका समर्थन और मेरे कथनका खडन होता हो। अब भी यदि बडजात्याजीको उसपर कुछ भरोसा हो तो वे उसे खुशीसे प्रकट करे। परन्तु इस बातका ध्यान रहे कि इस विषयमे जो कुछ लिखा जाय वह शास्त्रोका गहरा अध्ययन करनेके बाद लिखा जाय—यो ही, विना सोचे समझे कलम उठाकर अशिक्षिता-

लापके रूपमे लिख देनेका दु साहस न करे—खासकर ऐसी हालतमे जब कि आप मानते हैं कि लेखक अधिक 'अध्ययनी' है—'पठन-पाठन बहुत करता है' तब उसकी किसी बातका सहज ही मे विरोध नही किया जा सकता, उसके विरोधार्थ और भी ज्यादा गहरे अध्ययन तथा सावधानीकी जरूरत है, इसे कभी भी भुलाना न चाहिये।

जान पडता है बडजात्याजीको कही यह भ्रम हो गया है कि सावद्यकर्मके उपदेशसे तो पापबन्ध नही होता किन्तु आदेशसे जरूर होता है और इसलिये उन्होंने अपनी समझके अनुसार भगवान्‌को इस दोपसे मुक्त करनेके लिये उनके विपयमे उपदेश-आदेश-भेदकी यह कल्पना की है और उसके-द्वारा यह बतलाना चाहा है कि भगवान्‌ने चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा दान-पूजनादि-की उन सब क्रियाओका उपदेश तो दिया है, जो प्राणियोकी हिंसा तथा पीडाकी कारण हैं परन्तु उनका आदेश नही दिया। और उनकी इस भ्रान्तिका ही यह परिणाम है जो उन्होने पात्रकेसरी-स्तोत्रके 'विमोक्षसुख' वाले पद्यमे प्रयुक्त हुए '**न देशिताः**' शब्दोका अर्थ 'उपदेश नही दिया' की जगह 'आदेश नही दिया' किया है, और उस 'आदेश' का अर्थ 'आज्ञा' बतलाया है। अन्यथा, 'उपदेश नही दिया' यह लेखकका अर्थ मूलके बहुत अनुकूल है, क्योकि मूलमे जिस बातको '**देशिताः**' पदके-द्वारा जाहिर किया है उसीको अगले पद्यमे '**उपदिश्यतेस्म**' पदसे उल्लेखित किया है। टीकाकारने भी 'विमोक्षसुख' वाले पद्यको देते हुए जो प्रस्तावना-वाक्य[1] दिया है उसमे '**उपदिशतः**' पदके प्रयोग-द्वारा इसी अर्थको

---

१ वह प्रस्तावना वाक्य इस प्रकार है :—

"**नन्वेव जिनेन्द्रस्यापि चैत्यदानक्रिया हिंसालेश-भूतामुपदिशत. कथ पापबन्धो न स्यादिति शङ्का निराकुर्वन्नाह।**"

सूचित किया है और वैसे भी 'देशिता' का अर्थ 'प्रतिपादिता.' दिया है न कि 'आदेशिता'। खेद है बडजात्याजीने शब्दोंके अर्थको तो वदलनेकी चेष्टा की, परन्तु मूलके आशयको समझनेकी कोई अच्छी अथवा यथेष्ट कोशिश नही की ? और न वे पात्र-केसरीस्तोत्रके उन दो पद्यो (न० ३८, ३९) का ही ठीक आशय समझ सके हैं जिनको उन्होंने अपनी ओरसे पेश किया है और जिनपर अभी विचार किया जायगा। उन्हे शायद यह भी खवर नही पडी कि भगवान्‌के मोहनीय आदि कर्मोंका अभाव हो जानेसे जव प्रमत्तयोग नही रहा और न सक्लेश-परिणाम अथवा कपायभावका ही कोई सद्भाव पाया जाता है तव उनके पापका वन्ध कैसे वन सकता है और उस पापवन्धकी शङ्काको दूर करनेके लिये यह उपदेश-आदेश-भेदकी कल्पना कितनी हास्यास्पद है। क्या हिंसात्मक क्रियाके करनेका सीधा उपदेश देनेसे किसीको भी हिंसाका कारित अथवा अनुमति दोप नही आता ? जरूर आता है, तो फिर उपदेश-आदेश-भेदकी इस कल्पनासे नतीजा क्या ?

शास्त्री बनारसीदासजीकी भ्रान्तिका निराकरण :

यहॉपर मैं इतना और भी वतला देना चाहता हूँ कि जिनेन्द्रके उपदेश-आदेश-भेदकी यह कल्पना शास्त्री वनारसीदासजी-ने नही की—उन्हे इस प्रकारकी भ्रान्ति नही हुई— उन्होने **'न देशिता.'** का अर्थ भी 'उपदेश नही दिया' ही दिया है और भगवान सर्वज्ञके उस उपदेशको ही आज्ञा अथवा आदेश माना है।

परन्तु आप एक दूसरी भ्रान्तिके शिकार वने हैं और वह यह कि, भगवान्‌ने जिस क्रियाका उपदेश नही दिया वह धर्मका अंग नही हो सकती और न उसमे प्रमाणता ही आ सकती है।

वल्कि आपका तो यहाँ तक कहना है कि ''भगवान् सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है'' । और इसलिये दूसरा कोई धर्म नही—सर्वज्ञके उपदेशसे जो कुछ वाहर है—श्रावको अथवा गृहस्थोके-द्वारा कल्पित हुआ है—वह सव अधर्म है, ऐसा समझना चाहिए । शायद इसीलिये शास्त्रीजी आर्ष-वाक्यो अथवा जैन-शास्त्रोको छपाना 'अधर्म' समझते हो ? क्योकि सर्वज्ञका जो उपदेश जैनशास्त्रोके रूपमे सकलित है उसमे शास्त्रोके छपानेका कोई विधान नही है और न छापनेकी विद्या (मुद्रणकला) का ही उसमे कही उल्लेख पाया जाता है । तव तो, तीर्थयात्रा आदिके लिये रेलगाडीपर सफर करना, मोटर, साइकिलपर चलना, तारके-द्वारा समाचार भेजना, टेलीफोनसे वाते करना, सिनेमा अथवा वाइस्कोपका तमाशा देखना, ग्रामोफोन वाजेका सुनना-सुनाना, फोटो खेचना-खिचवाना, भगवानकी मूर्तियो अथवा मुनियोके फोटो मन्दिरमे लटकाना, पूजा प्रतिष्ठाकी चिट्ठियाँ छपवाना और उन्हे डाकसे भेजनेके लिये लैटरवाक्समे डालना, आधुनिक घडियोको जेबमे रखना अथवा कलाईसे वाँधना और उनमे समयपर चावी देते रहना, फाउन्टेनपेनसे लिखना, ऐनक लगाना अथवा चश्मा लगाकर स्वाध्याय करना, ऐंजिनसे आटा पिसवाना और चावल कुटवाना, मिलोके वने वस्त्र पहनना अथवा वैसे वस्त्र पहनकर पूजन करना, जर्मन सिलवर और ऐलोमीनियमके बर्तनोमे खाना खाना या पूजन करना, गाडीके पहियोपर रवरकी हाल चढवाना, रवरका जूता अथवा नये फैशनके कोट पतलून तथा सूटर वनियान आदि पहनना, मकानोमे बिजलीकी रोशनी करना, मिट्टीका तेल जलाना और बिजली अथवा मिट्टीके तेलकी रोशनीमे शास्त्र

पढना वगैरह-वगैरह सबको अधर्म तथा अप्रमाण कहना चाहिए। क्योकि भगवान्-द्वारा उपदेशित जैनशास्त्रोमे उन सब क्रियाओका और इसी प्रकारकी और भी हजारो क्रियाओका कही भी कोई उपदेश अथवा विधान नही है ?

धर्म-अधर्मकी इस विलक्षण परिभाषाके अनुसार तो अनिर्दिष्ट टाइप अथवा नमूनेके नये-नये मदिर बनवाना और उनमे ऐसी रचनाओका रचा जाना भी अधर्म होगा जिनका जैनशास्त्रोमे कोई स्पष्ट उल्लेख नही है और न पहलेसे कोई नकशा ही दिया हुआ है, क्योकि उनके निर्माणमे श्रावकोकी रुचि तथा शक्ति आदि ही अधिक चरितार्थ होगी। वर्तमानके सभी मदिर प्राय ऐसे ही बने हुए हैं, और इसलिये उनकी रचनाको धर्मका कोई अग न मानते हुए उन्हे अप्रमाण तथा अमान्य कहना होगा। मैं पूछता हूँ भगवान् महावीरने पावापुरके वर्तमान जल-मदिरका नकशा खीचने अथवा चित्र बनानेका कहाँ उपदेश दिया है ? यदि नही दिया और श्रावक लोग आजकल अपने मदिरोकी दीवारोपर उसका चित्र खिचवाते हैं तो क्या वे अधर्मका काम करते हैं ? अथवा वह कृत्य उनके मदिर-निर्माणका एक अश होते हुए भी उनकी उपासनाका कोई अश नही है और इसलिये उसे व्यर्थ कहना चाहिये ? इसी तरह मदिरोके फर्श तथा दीवारो आदिमे जो नवीन टाइल्स अथवा चीनी आदिके रग-बिरगे फूल-पत्तीदार चौके जडवानेका रिवाज होता जाता है उसे भी अधर्म अथवा व्यर्थका कार्य कहना होगा, क्योकि भगवान्ने तो उनके जडवानेका उपदेश दिया नही और न शास्त्रोमे किसी प्राचीन जैनाचार्यका ही वैसा विधान पाया जाता है। हाँ, भक्तजनोकी भक्तिका वह एक विशेष जरूर है, जिसे शास्त्रीजीकी परिभाषाके अनुसार धर्म नही कह सकते।

इसके सिवाय, मैं शास्त्रीजीसे यह भी पूछना चाहता हूँ कि अजमेरमें उनके स्वामी सेठ साहबके मंदिरमें जो चारों ओर दीवारोंपर शास्त्रोंके वाक्य लिखे हुए हैं उनको उस प्रकारसे लिखनेका और एक दूसरे मंदिरमें जो अयोध्या नगरीकी रचना बनाकर रक्खी गयी है उनको उस प्रकारसे बनाकर रखनेका कौन-से भगवान्‌ने उपदेश दिया है और वह उपदेश कौन-से जैनशास्त्रमें संगृहीत है ? यदि वैसा कोई उपदेश नहीं है तब तो भगवान्‌की तद्रूप आज्ञा न होनेके कारण आपको उन धर्मप्राण सेठोंके इस सब कृत्यको भी अधर्म कहना होगा ॥

शायद इसपर शास्त्रीजी यह कहनेका साहस करें कि किसी-किसी मंदिरके वर्णनमें चित्रावलीका जो कुछ उल्लेख शास्त्रोंमें मिलता है उसीका यह सब अनुकरण है। परन्तु इससे काम नहीं चल सकता, क्योंकि प्रथम तो उक्त प्रकारके उल्लेखसे यह लाजिमी नहीं आता कि उस मंदिरकी वह सब चित्रावली भगवान्‌के उपदेशानुसार ही निर्मित हुई थी—श्रावकोंकी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिके अनुसार वह कल्पित भी हो सकती है। दूसरे, चित्रावलीका सामान्य उल्लेख किसी चित्र-विशेषके लिये कोई गारंटी अथवा आज्ञा नहीं बन सकता। उसके लिये चित्रका नामोल्लेखपूर्वक ठीक वैसे ही आकार-प्रकार अथवा रंग-रूप वगैरहकी आज्ञाको बतलानेकी जरूरत है, जिससे उसमें प्रमाणता आसके और वह धर्मका—उपासनाका अंग बन सके। अन्यथा, निर्दिष्ट प्रकारसे रंगरूपविषयक जरा-सी भी कमी-बेशीकी हालतमें, यह मानना होगा कि उस मंदिर अथवा चित्रादिके निर्माणमें श्रावकोंकी रुचि आदि भी उतने अंशोंमें कृतकार्य अथवा चरितार्थ हुई है। और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि मंदिर-मूर्तिके

निर्माणकी कोई भी धार्मिक क्रिया श्रावकोकी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित नही होती, जैसा कि शास्त्रीजीका खयाल है।[1] और न यही कहा जा सकता है कि कोई अच्छी क्रिया महज इस वजहसे ही अधर्म हो जाती है कि उसे श्रावकोंने कल्पित (निर्धारित) किया है अथवा भगवान्ने उसका उपदेश नही दिया। मालूम नही धर्म-अधर्मकी यह विलक्षण परिभाषा शास्त्रीजीने किस आधारपर कल्पित की है? हाँ, आपने स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी "तेणुवइट्ठो धम्मो" इस गाथाकी ओर इशारा करते हुए, इतना जरूर लिखा है कि 'स्वामिकार्तिकेय' महाराजके इस वचनका यही अर्थ है कि भगवान् सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है'। परन्तु यही अर्थ (!) तो दूर रहा, मुझे तो इस गाथा अथवा वचनका? वैसा आशय भी मालूम नही होता। पाठक भी देखे, इसमे कहाँ लिखा है कि 'सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है'--दूसरा कोई धर्म नही? इसीसे

---

१ उपासनाके दूसरे अगोका भी प्रायः ऐसा ही हाल है। उदाहरणके तौरपर लीजिये, भगवान्ने यह कहाँ कहा कि तुम पाठ तो बोलना नाम ले-लेकर नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पोका और चढाना रगे हुए पीले चावल? पाठ तो बोलना ताजे-ताजे लड्डू, घेवर तथा फेनी आदि मिष्टान्नो या घृतमे तले हुए गौझा आदि पकान्नोका और चढाना गोलेकी छोटी-छोटी चिटकें? उच्चारण तो करना जगमग ज्योतिवाले दीपकोंका और चढाना गोलेके रगे हुए तेजहीन टुकडे? अथवा नाम तो लेना नारगी, दाडिम, आम तथा केले आदि हरे फलोका और चढाना सूखे बादाम या लोंगें? यह सब पूजन-विधान समय-समयकी जरूरतो तथा विचारों आदिके अनुसार श्रावको-द्वारा कल्पित नही तो और क्या है? यहाँ मुझे इस विधानकी उपयोगिता या अनुपयोगितापर कुछ लिखनेका अवसर नहीं है वह फिर किसी समय विचार किये जानेके योग्य है।

यह पूरी गाथा प० जयचन्द्रजीकी भापा-टीका सहित नीचे दी जाती है—

'तेणुवइट्ठो धम्मो सागसात्ताण तह असगाणं।
पढ़मो बारह भेओ दस-भेओ भासिओ विदिओ॥

भाषाटीका—"तिस सर्वज्ञ करि उपदेस्या धर्म है सो दोय प्रकार है। एक सगासक्त कहिये गृहस्थका अर एक असग कहिये मुनिका। तहाँ पहला गृहस्थका धर्म तो बारह भेद रूप है बहुरि दूजा मुनिका धर्म दस भेद रूप है।"

इससे साफ जाहिर है कि इस गाथामे, सर्वज्ञके-द्वारा उपदिष्ट हुए धर्मके भेदोकी सख्याका प्रतिपादन करनेके सिवाय, ऐसे किसी भी नियमका विधान नही है जिससे यह लाजिमी आता हो कि 'सर्वज्ञने जो उपदेश दिया है वही धर्म है—उससे भिन्न कोई धर्म अथवा कर्त्तव्य-कर्म ही नही'। 'वही' जिसका वाच्य हो ऐसा तो कोई शब्द भी गाथाभरमे नही है और न धर्मके इन बारह भेदोमे गृहस्थका सारा—'अथ' से 'इति' तक रत्ती-रत्ती भर—कर्त्तव्य ही आ जाता है। गृहस्थका एक धर्म "लौकिक" भी है, जिसका सर्वज्ञके आगमसे प्राय कोई सम्बन्ध-विशेष नही है। वह आगमाश्रित न होकर लोकाश्रित होता है—लौकिक जनोकी देशकालाद्यनुसार होनेवाली प्रवृत्तिपर अवलम्बित रहता है—जैसा कि श्री सोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे भी जाहिर है—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

—यशस्तिलक।

अर्थात्—गृहस्थोके दो धर्म है—एक 'लौकिक' और दूसरा

'पारलौकिक'। इनमेसे पहलेको लोकाश्रित और दूसरेको आगमाश्रित समझना चाहिये।

जब लौकिक धर्म आगमाश्रित नही है तब यह स्पष्ट है कि भगवान्‌के-द्वारा उपदिष्ट नही हुआ और इसलिये धर्म वही नही जो भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट हुआ हो, जैसा कि शास्त्रीजीका खयाल है, बल्कि वह भी है जो भगवान्‌के-द्वारा उपदिष्ट न होकर लौकिक जनोकी देशकालानुसारिणी प्रवृत्ति अथवा निश्चितिके अधीन होता है। और उसकी प्रमाणतापर भी कोई आपत्ति नही की जा सकती, जब कि उससे जैनियोके सम्यक्त्वको हानि अथवा उनके व्रतोको कोई दूषण न पहुँचता हो[1]। पिता-पुत्रादिकके पारस्परिक तथा जनताके सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य, राजनीति, समाजनीति और विवाह-शादी आदिकी सब सामयिक व्यवस्थाएँ इस लौकिक धर्ममे शामिल हैं—विदेशी वस्त्रोका बहिष्कार जैसे सामयिक नियम भी इसी धर्मके आश्रित हैं। यह धर्म परिवर्तनशील है—सदा और सर्वत्र एक ही रूपमे नही रहता—और इतना विस्तीर्ण है कि इसके भेदोकी कोई गणना नही की जा सकती। खेद है शास्त्रीजीने इन सब बातो-पर कुछ भी ध्यान नही दिया, और वैसे ही बिना सोचे समझे जो जीमे आया अटकलपच्चू लिख मारा॥ अपने 'शास्त्री' पदका भी कुछ खयाल नही किया॥।

एक बात शास्त्रीजीने और भी विलक्षण लिखी है और वह यह है कि "श्रीजिनमन्दिर भगवान्‌की वाणीके अनुसार बनाये

---

१ 'सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि.।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥'
—यशस्तिलक।

गये हैं और (इसलिये ?) उनके निर्माणमे होनेवाली हिंसा-हिंसा नही है'',। आपका यह लिखना प्राय ऐसा ही है जैसा कि कुछ हिन्दुओका यह कहना कि—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'—वेद विहित अथवा वेदोके अनुसार की गई हिंसा हिंसा नही होती। यद्यपि आपने अपनी इस बातको सिद्ध करनेके लिये प्रतिज्ञा की और उसके अनुसार पात्रकेसरीस्तोत्रके 'विमोक्षसुख' आदि तीन पद्यो (न० ३७, ३८, ३९) को अर्थ-सहित पेश भी किया, परन्तु फिर भी उन पद्यो अथवा अर्थपरसे कही भी इस बातको सिद्ध अथवा स्पष्ट करके नही बतलाया कि जिनमन्दिरको बनाने अथवा निर्माण करनेमे कैसे हिंसा नही होती, और यह आपके लेख अथवा कथनकी एक दूसरी विलक्षणता है। मैं पूछता हू क्या मन्दिरके निर्माण करनेमे आरम्भ नही होता ? रागादिक भावोकी उत्पत्ति नही होती ? अथवा प्रमत्तयोग नही होता ? यदि यह सब कुछ होता है तो फिर हिंसा कैसे नही होती ? हिंसा जरूर होती है। यह बात दूसरी है कि उसकी मात्रा पुण्य-की अपेक्षा बहुत अल्प हो अथवा गृहस्थ लोग ऐसी हिंसाको टाल न सकते हो, परन्तु तात्विक दृष्टिसे विचार करनेपर उसमें हिंसाका सद्भाव जरूर मानना पडेगा—प्राणि-पीडनसे भी वह खाली नही, और उसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य महोदयके 'विमोक्षसुख' वाले पद्यमे भी पाया जाता है।

अब मैं यहाँपर पात्रकेसरीस्तोत्रके उस 'विमोक्षसुख' वाले पद्यकी स्थितिको स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, जिससे उसके विषयका भ्रम और भी साफ हो जाय, और उसके लिये पहले उक्त पद्यको एक पूर्ववर्ती और दो उत्तरवर्ती पद्योके साथ और उन प्रस्तावना-वाक्योके साथ उद्धृत करता हूँ, जो टीकामे इन चारो पद्योको देते हुए उनसे पहले दिए गए हैं :—

(१) इदानीं हिंसादिप्रवृत्तानां तेषां पापबन्ध एवानुषज्यते इति दर्शयन्नाह—

सदा हननघातनाद्यनुमतिप्रवृत्तात्मनां
प्रदुष्टचरितोदितेषु परिहृष्यता देहिनाम्।
अवश्यमनुपज्यते दुरितबन्धनं तत्त्वत.
शुभेऽपि परिनिश्चितस्त्रिविधवन्धहेतुर्भवेत् ॥३६॥

(२) नन्वेवं जिनेन्द्रस्यापि चैत्य-दान-क्रियां हिंसालेशहेतुभूतामुपदिशतः कथं पापबन्धो न स्यादिति शंका निराकुर्वन्नाह—

विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिका
क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतव ।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः
किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभि' स्वयमनुष्ठिता श्रावकैः ॥३७॥

(३) कथंचिन्नित्यागमाद्वा भव्यैस्तत् क्रिया ज्ञाता इति दर्शयन्नाह—

त्वया त्वदुपदेशकारिपुरुषेण वा केनचित्
कथचिदुपदिश्यतेस्म जिन ! चैत्य-दान-क्रिया ।
अनाशकविधिश्च केशपरिलुचन चाथवा
श्रुतादनिधनात्मकादधिगतं प्रमाणान्तरात् ॥३८॥

(४) नन्वेवं भगवतस्तदुपदिशत प्राणिपीडाहेतुत्वसंभवात्कथं नाऽपुण्यबन्धः स्यादित्याशंका निराकुर्वन्नाह—

न चासुपरिपीडन नियमतोऽशुभायेष्यते
त्वया न च शुभाय वा न हि सर्वथा सत्यवाक्।
न चापि दमदानयोः कुशलहेतुतैकान्ततो
विचित्रनयभगजालगहन त्वदीय मतम् ॥३९॥

इन क्रमवर्ती पद्यो और इनके प्रस्तावना-वाक्योसे यह साफ जाहिर है कि इनमे ऐसा कोई पद्य नही है जो दूसरे पद्यके साथ

'युग्म' या 'त्रिक' वनाता हो, अथवा यो कहिये कि इन पद्योमें 'युग्म' या 'त्रिक' रूपसे कोई पद्य नही है—अर्थात् ऐसे जोडवा पद्य नही हैं जो दो-या-तीन मिलकर एक पूरा वाक्य वनाते हो और एक ही जिनका अन्वय होता हो, जिसके कारण उनमेसे एकका पेश कर देना आपत्तिके योग्य हो या किसी तरहपर अर्थ-का अनर्थ कर देनेमे समर्थ हो। वल्कि प्रत्येक पद्य अपने-अपने विपयमे स्वतत्र है और उसका उपयोग भी स्वतन्त्रताके साथ किया जा सकता है और इसलिये यह नही कहा जा सकता कि 'विमोक्षसुख' वाले ३७ वे पद्यके साथ ३८ वा और ३९ वा दोनो पद्य क्यो नही पेश किए गए, जिनका पेश करना साथमे कोई लाजिमी नही था। परन्तु शास्त्री वनारसीदासजी तथा वड-जात्या मोहनलालजीका कहना है कि इन दूसरे पद्योको साथमे क्यो नही पेश किया गया ? और इससे यह साफ ध्वनित होता है कि आप लोग इन पद्योको जोडवा अथवा एक ही वाक्यके अविभक्त अग समझते हैं और यह आपकी कोरी भूल है। इसी भूलके वशवर्ती होकर दोनो महाशय इतने उतावले हुए हैं कि वे लेखक-की नीयतपर आक्रमण करने और उसपर इस प्रकारका इलजाम लगाने तकका दु साहस कर वैठे हैं कि उसने अगले पद्योको अपने मन्तव्यकी सिद्धिमे वाधक समझकर ही उन्हे छोड दिया है नही-नही छिपा लिया है।[1] वल्कि शास्त्रीजी तो इस भूलके चक्करमे

---

१. शास्त्रीजी आक्षेप करते हुए लिखते हैं :—

"इस प्रकरणों (!) के दो श्लोक ३८-३९ के है उनको नहीं उद्धृत किया। करते क्यो ? उनसे तो आपके मन्तव्यकी सिद्धि ही नहीं थी परन्तु ऐसा कर्त्तव्य आप सदृश विद्वानको शोभा नहीं देता।

इसी तरह वडजात्याजी लिखते हैं—

पडकर यहाँ तक संज्ञाहीन हुए हैं कि उन्होने अपने एक दूसरे लेखमे, जिसका हाल मुझे अभी मालूम हुआ है, लेखक-द्वारा पेश किए हुए उस पद्य (न० ३७) को पूर्वपक्षका पद्य बतला दिया है।[1] अर्थात् यह सूचित किया है कि उस पद्य (न० ३७) मे किसी आपत्तिकारकी आपत्तिका उल्लेख मात्र है और इसलिये किसी जैन-मतव्यकी पुष्टिमे उसे पेश न करके उससे अगला पद्य (न० ३८) पेश करना चाहिये था, जो कि उत्तरपक्षका पद्य है। यह सब देखकर मुझे खास तौरपर शास्त्रीजीकी बुद्धि तथा समझपर बडा ही अफसोस होता है, क्योकि वस्तुस्थिति वैसी नही है जैसी कि उन्होंने समझी है, किन्तु उसमे बिलकुल ही विलक्षण है, और उसका खुलासा इस प्रकार है —

मूल ग्रथकार श्रीपात्रकेसरी आचार्यने कुछ अजैन देवताओको आप्ताभास सिद्ध करने और उनकी सेवाको नरकका हेतु बतलानेके अनन्तर, ३६ वे पद्यमे यह प्रतिपादन किया है कि इन कृतकारितानुमतिरूपसे सदा हिंसादिकमे प्रवृत्त होनेवाले तथा हिंसादिक दुष्टाचरणोके कथनादिकपर हर्ष मनानेवाले आप्ताभासोके (उनकी

"इस श्लोकको मुख्तारजी क्यो देने लगे। न जाने मुख्तारजी इस श्लोकको क्यों छिपा गये अथवा उन्होंने बस एक ही श्लोकका अध्ययन किया।"

"महाशय! इस तरहसे एक श्लोक देकर दूसरा-मसरा वाली बात न किया कीजिये और न इस तरहसे अपने मनगढन्त तात्पर्यकी ही सिद्धि किया कीजिये।"

१. आप लिखते हैं—"श्रीविद्यानन्दस्वामीकृत पात्रकेसरीस्तवके आगेके श्लोकको छिपाकर पूर्वपक्षके श्लोकसे श्रीजिनमन्दिरपूजन आदिकी रचना जैनजगतमें कल्पित बतलाई गई—।"

ख० जैनहितेच्छु वर्ष ७ अक ६।

उस प्रवृत्तिके कारण) पापवन्ध जरूर होता है। इसपर यह शका खडी हुई कि 'यदि ऐसा है तव तो दान-पूजनादि सम्वन्धी क्रियाओका, जो कि हिंसाकी कुछ कारणीभूत जरूर है, उपदेश देनेसे जिनेन्द्रके भी (कारितानुमतिरूपसे) पापवन्ध होना चाहिये— उनके वह पापवन्ध कैसे नही होता ? इस शकाको दूर करने अथवा यह वतलानेके लिए ही कि जिनेन्द्रके—उनके उपदेश-द्वारा कारितानुमतिरूपसे—यह प्रस्तावित अथवा शकित पापवन्ध कैसे नही होता, आचार्य महोदयने खासतौरपर पद्य न० ३७ की सृष्टि की है, जैसा कि ऊपर उद्धृत किये हुए उसके प्रस्तावना-वाक्यमे भी जाहिर है, और इस पद्यके-द्वारा, जिसका अनुवाद पहले दिया जा चुका है, उक्त शकाके उत्तरमे वतलाया है कि 'जिनेन्द्र भगवान्ने अपनी केवलज्ञानावस्थामे मोक्ष-सुखके लिये इन चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा दान-पूजनादि सम्वन्धी उन क्रियाओ के करनेका कोई उपदेश नही दिया जो अनेक प्रकारसे प्राणियोके–त्रस-स्थावर जीवोके–मरण तथा पीडनकी कारणीभूत हैं, वल्कि जिनेन्द्रके भक्त श्रावकोने स्वय ही (विना वैसे उपदेशके अपनी भक्ति तथा रुचि आदिके वश होकर) उन क्रियाओ का अनुष्ठान किया है।' और इस तरहपर यह नतीजा निकाला है कि श्रावकोके उस अनुष्ठानसे यदि किसी प्राणीको पीडा पहुँचे उसकी हिसा होती हो – तो उसके जिम्मेवार अथवा पापवन्धके भागी जिनेन्द्र नही हो सकते। इससे साफ जाहिर है कि यह (पद्य न० ३७) पूर्वपक्षका कोई पद्य नही है किन्तु एक शकाके उत्तर-को लिये हुए होनेसे एक प्रकारका उत्तर-पक्षका पद्य है। और चूँकि इसके साथ ही उक्त शकाके उत्तरकी समाप्ति भी हो जाती है, इससे यह अपने विषयका एक स्वतन्त्र पद्य है। शास्त्रीजीको

इतनी भी समझ नही पडी कि वह पूर्वपक्षका पद्य कैसे हो सकता है, जब कि इसमे जिनेन्द्रके किसी उपदेशका उल्लेख करके उसपर कोई आपत्ति या आशका नही की गई, बल्कि 'न देशिता' आदि शब्दोके-द्वारा यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि जिनेन्द्रने वैसा कोई उपदेश ही नही दिया, जिससे उक्त शका खडी नही रह सकती। क्या शास्त्रीजीने इस पद्यके प्रस्तावना-वाक्यको भी नही पढा? अथवा जल्दी या भ्रान्तदशामे 'शका निराकुर्वन्नाह' को आप 'शका कुर्वन्नाह' पढ गये हैं और उसीके अधारपर यह लिख मारा कि वह 'पूर्वपक्षका श्लोक है' परन्तु कुछ भी हो, इसमे सन्देह नही कि शास्त्रीजीका इस पद्यको पूर्वपक्षका श्लोक बतलाना उनकी अनभिज्ञताको सूचित करता है और डकेकी चोट विद्वानोपर यह जाहिर करता है कि आप समझ अथवा विचारसे प्राय कोई सम्बन्ध-विशेष नही रखते। खेद है, शास्त्रीजी अपनी ऐसी विलक्षण समझ तथा अद्भुत विचार-परिणतिके भरोसेपर ही अपने लेखके अन्तमे विद्वानोको यह परामर्श देने बैठे हैं कि—

"एक वाक्यको लेकर अनर्थ सिद्ध करना दु साहस है। विद्वानोको पूर्वापर कथन विचार कर लिखना चाहिये"।

ठीक है, शास्त्रीजी! दूसरोको उपदेश देते रहना परन्तु आप खुद अमल न करना!! इसमे शक नही कि किसी पूर्वपक्षके पद्यसे उत्तरपक्षका काम लेना दु साहस है, परन्तु उत्तरपक्षके पद्यको पूर्वपक्षका पद्य बतला देना तो दु साहस नही? वह तो जरूर सत्साहस है!! हम शास्त्रीजीसे इतना जरूर कहेगे कि उन्हे यो ही अनाप-सनाप नही लिखना चाहिये। आशा है शास्त्रीजी भविष्यमे इसपर अवश्य ध्यान रक्खेंगे।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हू कि ३७वे पद्यमे आचार्य महोदयने जो यह प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रने मोक्षसुखके लिये चैन्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा दान-पूजनादिक सम्बन्धी उन क्रियाओ का उपदेश नही दिया किन्तु श्रावकोने स्वय ही उनका अनुष्ठान किया ह उसे वस्तुतत्त्व अथवा भूतार्थकका उल्लेख समझना चाहिये। और साथ ही, यह भी जान लेना चाहिये कि आचार्य महोदयका वह कथन मुख्य-विधिकी दृष्टिसे एक निश्चित अथवा नियमित कथन है और इसीसे 'हि'[1] शब्दका उपयोग भी उसके साथ किया गया जान पडता है। टीकाकारने भी इस कथनको पुष्ट तथा स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'इस क्षेत्रमे दान-क्रियाका आद्य (पहला) स्वय अनुष्ठाता श्रेयास राजा और चैत्य-चैत्यालयोकी निर्माण-क्रियाका पहला स्वय अनुष्ठाता भरत चक्रवर्ती हुआ है'। यथा —

"तत्रेह क्षेत्रे दानक्रियाया आद्यः स्वयमनुष्ठाता श्रेयान्, चैत्य-चैत्यालयादिक्रियायास्तु भरतचक्रवर्तीति।"

और यह बात भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत 'आदिपुराण'से भी सिद्ध है। उसमे भरत चक्रवर्तीकी बाबत यह साफ लिखा है कि उन्होने अपनी राजधानी अयोध्यामे जिनविम्बोसे अलकृत चौबीस-चौबीस घटे तैयार कराकर उनको नगरके बाहिरी दर्वाजो तथा राजमहलोके तोरण-द्वारो और अन्य महा-द्वारोपर वन्दनार्थ लटकाया था, और वे जिस समय इन द्वारोसे होकर बाहर निकलते या इनमे प्रवेश करते थे उस समय उन्हे इन घटोपरसे अर्हन्तोका स्मरण होता था और वे इन घटोमे स्थित अर्हत्-

---

१. 'हि विशेषेऽवधारणे—विश्वलोचनकोष

प्रतिमाओकी वन्दना तथा पूजा किया करते थे। नगरके लोगो तथा अन्य प्रजाजनोने भी भरतजीकी इस कृति तथा सृष्टिका अभिनन्दन किया था, वे सब उसे बहुत पसन्द करते हुए उन घटोका आदर-सत्कार किया करते थे और कुछ दिनके बाद उन्होने खुद भी अपनी-अपनी शक्ति तथा विभवके अनुसार उसी प्रकारके घटे अपने-अपने घरोके तोरण-द्वारोपर बाध लिये थे[1]।

उसी वक्तसे गृह-द्वारपर वन्दनमालाए बाधनेका रिवाज पडा जो कि आज एक दूसरे ही रूपमे दृष्टिगोचर होता है। भगवान् ऋषभदेवने उस वक्त भरत चक्रवर्तीको इस प्रकारसे घटे बाधने तथा पूजा-वन्दना करनेका कोई उपदेश नही दिया—वह भरतजीकी

---

१. इस आशयको पुष्ट करनेवाले आदिपुराण (पर्व ४१) के वे वाक्य इस प्रकार हैं :—

निर्मापितास्ततो घटा जिनबिम्बैरलकृता ।
परार्घ्यरत्ननिर्माणा सम्बद्धा हेमरज्जुभि ॥ ८७ ॥
लम्बिताश्च पुरद्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमा ।
राजवेश्म-महाद्वार-गोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभु ।
तदा मौल्यग्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हता स्मृति ॥८९॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चाना भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन्प्रविशश्च स पुण्यधी ॥९०॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना ।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्तदादर. ॥९३॥
पौरैर्जनैरत स्वेषु वेश्मतोरणदामसु ।
यथाविभवमाबद्धा घटास्ता सपरिच्छदा ॥९४॥
आदिराजकृता सृष्टिं प्रजास्ता बहुमेनिरे ।
प्रत्यागार यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिका ॥९५॥

तात्कालिक निजी कल्पना थी—यह स्पष्ट है। और इसलिये इस सब कथनसे यह बात और भी साफ हो जाती है कि श्रावक लोग युगकी आदिसे ही चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा पूजा-वन्दनादि सबधी अपनी उपासना-विधिका स्वय ही विधान करते आए हैं। यह बात दूसरी है कि उनमेसे कुछ लोग भरतजीकी तरहसे नई-नई विधियोके ईजाद करनेवाले हो और कुछ पुरजनोकी तरहसे उनका प्राय अनुकरण करनेवाले ही हो। परन्तु इतना स्पष्ट ह कि श्रावकलोग स्वय अपनी उपासना-विधिकी नई कल्पना करनेमे समर्थ जरूर थे और उसमे उनकी रुचि भी बहुत कुछ चरितार्थ होती थी। यही वजह है जो भरतजी-द्वारा कल्पित हुई अथवा उनकी ईजाद की हुई वन्दनमालाए आज प्रचलित नही हैं, उनका रिवाज छूट गया अथवा बिलकुल ही रूपान्तरित हो गया है, क्योकि आजकल लोकरुचि बदली हुई है—लोग उस प्रकारसे भगवानकी मूर्तियोको घटोपर अकित करके उन्हे जगह-जगह दर्वाजोपर लटकाना उचित नही समझते।

इसके सिवाय, उक्त कथनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपासना-विधिकी कोई कल्पना महज इस वजहसे ही अप्रमाण नही हो जाती कि उसे किसी श्रावकने कल्पित किया है, क्योकि भरतजी-द्वारा कल्पित हुई उक्त उपासना-विधिको कही भी अप्रमाण नही बतलाया गया। प्रत्युत इसके, यह घोषित किया गया है कि उसे सब लोगोने मान्य किया था, और साथ ही, उस विधिकी सृष्टि करनेवाले भरतजीको पुण्यधी, धर्मशील तथा धर्म-प्रिय जैसे विशेषणोके साथ उल्लेखित भी किया है, जो सब ही उक्तक्रियाकी धार्मिकता एव प्रामाणिकताको सूचित करते हैं। परन्तु शास्त्रीजीकी समझ विलक्षण है, उन्हे इतने पर भी यह

सूझ नही पडा कि सर्वज्ञकी स्पष्ट आज्ञाके विना भी कोई क्रिया धर्मका अग हो सकती है और उसमे प्रमाणता भी आ सकती है। वे दान-पूजादि सवधी अपनी सम्पूर्ण क्रियाओपर सर्वज्ञकी आज्ञा लादने, सर्वज्ञकी छाप लगाने, उन्हे सर्वज्ञके वचनानुसार वतलाने अथवा सर्वज्ञके माथे मढनेके लिये बुरी तरहसे लालायित जान पडते हैं, और इसीलिये उन्होने विना वजह पात्रकेसरी-स्तोत्रके ३८ वे पद्यका उसके लिये उपयोग किया है, जिसे दुरुप-योग कहना चाहिये। आपकी समझके अनुसार उक्त ३८ वे पद्यकी सृष्टि इस शकाको लेकर की गई है कि सर्वज्ञने जब उन पूजनादि विषयक क्रियाओका उपदेश नही दिया किन्तु श्रावकोने स्वय उनका अनुष्ठान किया है तो वे क्रियाए सर्वज्ञकी आज्ञा-नुकूल न होनेपर किस प्रकार धर्मका अग हो सकेगी और उनमे किस प्रकारसे प्रमाणता आ सकेगी ? परन्तु इस शकाका ३७ वे पद्यमे कोई उल्लेख नही है, जिसमे शास्त्रीजीके मतानुसार पूर्व-पक्षका पद्य होनेसे होना चाहिये था, और न ३८ वे पद्यके प्रस्तावना-वाक्यमे ही उसका उल्लेख मिलता है[1]। जैसा कि ऊपर अवतरण न० ३ से जाहिर है। और इसलिये उक्त शकाको शास्त्रीजीकी निजी कल्पना समझना चाहिये। परन्तु इसे भी छोडिये, और मूल पद्य न० ३८ को ही लीजिये जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और जिसका भावानुवाद इस प्रकार है —

---

१ प्रस्तावना-वाक्यमें तो सिर्फ इतना लिखा है कि—'कथञ्चित् नित्यागम (अनादिनिधन श्रुत) से भव्य जीवोंने उन क्रियाओंका अनुभव किया है, इस बातको दिखलानेके लिये अगला पद्य (न० ३८) कहा जा सकता है।'

हे जिनदेव ! आपने या आपके उपदेशको व्याख्या करके प्रवर्त्ता बननेवाले किसी पुरुष-विशेष (गणधरादिक) ने चैत्य-क्रिया, दान-क्रिया, अनशनविधि और केशलौचका कथञ्चित् उपदेश दिया है अथवा अनादिनिधन श्रुतज्ञान प्रमाणसे (भव्य जीवोने) इन सब बातोका अनुभव किया है ।'

इस पद्यको पूर्ववर्ती पद्य न० ३७ की रोशनीमे पढनेसे मालूम होता है कि पूर्ववर्ती पद्यमे जो यह प्रतिपादन किया गया है कि श्रावकोने उन क्रियाओका स्वय अनुष्ठान किया है उसीके सम्बधमे एक दूसरी बात यह बतलानेके लिये कि उन क्रियाओके अनुष्ठानका अनुभव उन लोगोको सर्वथा स्वत ही नही किन्तु परत भी हुआ है—उसमे कथञ्चित् दूसरोकी सहायता भी मिली है—इस पद्यकी सृष्टि की गई है, जैसा कि इसके सक्षिप्त प्रस्तावना-वाक्यसे भी ध्वनित है और इसमे उस सहायताको तीन भागोमे विभाजित किया है :—१ कथञ्चित् तीर्थंकर भगवानके उपदेशसे, २ कथञ्चित् गणधरादिक आचार्योंके उपदेशसे, और ३ कथञ्चित् अनादिनिधन श्रुतके अध्ययनसे । साथ ही, 'वा' तथा 'अथवा' शब्दोके प्रयोग-द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रत्येक क्रियाके अनुभवमे सबको इन तीनोकी सहायता मिलनेका कोई नियम नही है, और न ऐसा ही कोई नियम है कि इनमेसे प्रत्येकके द्वारा तत्तद्विषयक सम्पूर्ण क्रियाओका उपदेश होता है, बल्कि यह कथन विकल्परूपसे है और इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि किसीको किसी क्रियाके अनुष्ठान-विषयक अनुभवमे किसीकी और किसीको किसीकी सहायता मिलती है अथवा उसके मिलनेका सभव है । और इसलिये इससे यह साफ नतीजा निकलता है कि भगवान सर्वज्ञने चैत्य-चैत्यालयोके निर्माण तथा

दान-पूजनादि सबन्धी किसी विषयकी सम्पूर्ण क्रियाओका भिन्न-भिन्न रूपसे कोई उपदेश नही दिया। उनके-द्वारा वैसे किसी विषयका उपदिष्ट होना 'कथचित्' रूपसे है और यह 'कथचित्' शब्दका प्रयोग बडा ही महत्त्व रखता है—खासकर इसकी महत्ता यहाँ-पर और भी बढ जाती है जबकि पहले पद्यमे निश्चितरूपसे यह कथन पाया जाता है कि भगवान सर्वज्ञने इन क्रियाओका उपदेश नही दिया, और इस पद्यमे यह कहा जाता है कि उन्होने कथचित् उपदेश दिया है। अत उपदेश देने और न देनेके विरोधको मेटने वाला यह 'कथचित्'शब्द अवश्य ही ध्यान दिए जानेके योग्य है—उसे यो ही उपेक्षाकी दृष्टिसे नही देखा जा सकता, जैसाकि शास्त्रीजीने और बडजात्याजीने[1] किया है। आप दोनो ही इस पद्यमे 'उपदेश दिया (**उपदिश्यतेस्म**)' को देखते ही एकदम आपेसे बाहर हो गये हैं और इस बातको भुला बैठे हैं कि पहले पद्यमे बिना 'कथचित्' शब्दका प्रयोग साथमे किये मुख्य तथा निश्चितरूपसे जो यह कथन किया गया है कि '**उपदेश नही दिया (न देशिता)** उसका तब क्या बनेगा। इस भूल तथा उपेक्षाका ही यह परिणाम है जो **शास्त्रीजी** अपनी उस स्वत कल्पित शकाके उत्तरमे ३८ वे पद्यको अर्थ सहित देनेके बाद नतीजा निकालते हुए लिखते हैं —

"इससे स्पष्ट है कि पूजन-विधान आदि क्रियाएँ भगवानने

---

१ बड़जात्याजीने तो यहाँ तक उपेक्षा धारण की कि उक्त पद्यके अनुवादमे भी 'कथचित्' शब्दका प्रयोग नहीं किया और न उसके इस आशयको ही सूचित किया कि भगवानने वह उपदेश किसी प्रकार-विशेषसे दिया है—सर्वथा साक्षात्रूपमें नहीं—अर्थात् उसे किसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उनके द्वारा दिया हुआ समझना चाहिये।

या गणधरादिक मुनियोने उपदेश दी हैं इनका उपदेश अनादिनिधन श्रुतज्ञानसे होता आया है, श्रावकोने अपनी रुचि, भक्ति और शक्तिके अनुसार कल्पित नही की है।"

मानो आपकी समझमे 'कथंचित्' शब्दका कुछ उपयोग ही नही। वह मूलमे व्यर्थ प्रयुक्त हुआ है।। और उसे छोड देनेपर (जैसाकि आपने अपने नतीजेमे छोड दिया है) 'उपदेश दिया' और 'उपदेश नही दिया' मे परस्पर कोई विरोध नही रहता।।। ऐसी विलक्षण समझकी बलिहारी है। और उसका जितना भी गुण-गान किया जाय थोडा है।।

वास्तवमे 'कथञ्चित्' का अर्थ है 'केनचित् प्रकारेण'—किसी प्रकारसे—और वह 'सर्वथा' अथवा 'सर्वप्रकारसे' का विरोधी होता है तब भगवानने 'कथञ्चित्' उपदेश दिया इसका अर्थ होता है भगवानने किसी प्रकारसे उपदेश दिया—सर्वथा नही। भगवानके उपदेशका वह प्रकार कौन-सा है जो यहाँ विवक्षित है, इसकी पर्यालोचना करनेपर यह मालूम होता है कि पूर्ववर्ती पद्यमे एक शकाका निराकरण करते हुए जब निश्चित तथा नियमितरूपसे यह कथन किया गया है कि भगवानने उन क्रियाओका उपदेश नही दिया तब यहाँ कथचित् उपदेश देनेका अभिप्राय यह नही हो सकता कि भगवानने किसीको उन क्रियाओके करनेका सीधा, साक्षात् बराहेरास्त, स्पष्ट अथवा (Direct) कोई उपदेश-विशेष दिया है बल्कि यही हो सकता है कि भगवानके-द्वारा किसी दूसरे प्रकारसे कर्मप्रकृतियोके आस्रवके कारणो तथा कर्मफलको बतलाते हुए, वे क्रियाए सामान्य अथवा कथचित् विशेषरूपमे या किसी एक निर्दोष पर्यायरूपमे उपदिष्ट या उल्लेखित हुई हैं, अथवा भव्यजीवोने भनवान्के उपदेशादिका

निमित्त पाकर या उसके सहारेसे उनका अनुभव किया है और इसीसे वे कथचित् भगवानके-द्वारा उपदिष्ट कहलाती हैं। जैसे भगवान किसीको सुख-दु खके दाता नही, क्योकि वे किसीके लिये इच्छा-पूर्वक सुख-दु खका विधान नही करते, परन्तु उनके मिमित्तसे सुख-दु ख हो जाता है। एक मनुष्य भगवानकी स्तुति-भक्ति आदिके-द्वारा पुण्य उपार्जन करता है और परिणाममे उस पुण्यके फलसे सुखी होता है, दूसरा निन्दा-अवज्ञा आदिके-द्वारा पाप उपार्जन करता है और फलस्वरूप दुर्गतिका पात्र होकर दुखी होता है, और इसलिए यह भी कहा जाता है कि भगवान सुख-दु खके दाता हैं।[1]

इसी तरह भगवानके निमित्तसे अथवा उनकी प्रवृत्ति आदिको देखकर जो उपदेश मिले उसे भी भगवानका उपदेश कहते हैं, और यह सब कथन अनेक प्रकारकी नय-विवक्षाको लिये हुए होता है। परन्तु इस प्रकारके उपदेशमे उपदेष्टाकी ओरसे उपदिष्ट विषयके करने करानेकी कोई सीधी प्रेरणा न होनेसे वास्तवमे उसका देना नही किन्तु लेना होता है, और लेना (आदान) शिष्ट-व्यवहारमे प्राय दानपूर्वक हुआ करता है। इससे लेनेकी अपेक्षा उस उपदेशके देनेका भी व्यवहार किया जाता है। अत ३८ वे पद्यमे भगवानके उपदेशका जो प्रकार

---

१. भगवान् सुख-दुखके दाता हैं इसको पात्रकेसरीस्तोत्रमें यों सूचित किया है।

> 'ददास्यनुपम सुख स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि,
> क्षिपस्यकुपितो च ध्रुवमसूयकान् दुर्गतौ।
> न चेश परमेष्ठिता तव विरुध्यते यद्भवान्
> न कुप्यनि न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥८॥

अभीष्ट है वह उपदेशका राजमार्ग न होकर उपर्युक्त प्रकारका कोई दूसरा ही मार्ग है, जिसे एक नामसे **'गौणविधि'** कह सकते हैं ऐसा समझना चाहिये। दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि ३७ वें पद्यमे जो यह कहा गया है कि भगवानने उन क्रियाओका उपदेश नही दिया वह मुख्य-विधिका कथन है और ३८ वें पद्यमे जो उनके कथंचित् उपदेशकी बात कही गई है उसे गौण-विधिका कथन समझना चाहिये। और इस प्रकारके गौण-कथनसे यह किसी तरह भी लाजिमी नही आता कि पूजनादि विषयकी सपूर्ण धार्मिक क्रियाएँ अपनी सम्पूर्ण व्यवस्थाओके साथ सर्वांगरूपसे सर्वज्ञ भगवानके-द्वारा उपदिष्ट हुई हैं, भगवानने उसी तरहसे उनके करने-करानेका लोगोको उपदेश दिया है, और उनकी कल्पना अथवा रचनामे श्रावकोका जरा भी हाथ नही है। ऐसा समझना सचमुच ही समझका कोरा विपर्यास है।

मालूम नही शास्त्रीजीने 'अनादिनिधनश्रुत' को भी कुछ समझा है या कि नही, अथवा वर्तमान जैन शास्त्रोको ही आप अनादिनिधनश्रुत समझते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमे तो भट्टाकलक-देवने द्रव्यादि सामान्यकी अपेक्षासे अनादिनिधनश्रुतकी सिद्धि बतलाई है—विशेषापेक्षासे नही, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी विशेषा-पेक्षासे उसे आदि तथा अन्तवान सूचित किया है—इसीसे श्रुत मतिपूर्वक कहलाता है—और साथ ही, यह भी प्रतिपादन किया है कि अनादिनिधनश्रुतको कभी किसी पुरुषने कही पर किसी प्रकारसे उत्प्रेक्षित नही किया है[1] इससे अनादिनिधनश्रुतका

---

१. यथाः—द्रव्यादिसामान्यापेक्षाया तत्सिद्धि। द्रव्यक्षेत्रकालभावाना विशेषस्याविवक्षायां श्रुतमनादिनिधनमित्युच्यते। न हि केन-

विषय सामान्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जान पडता है। तब मन्दिर-मूर्तियोकी नाना प्रकारकी रचनाओ तथा पूजनादि विधानोकी विशेष-विशेष क्रियाओका अनादिनिधनश्रुतसे कैसे उपदेश होता आया है, इसे शास्त्रीजी जरा समझाकर बतलाएँ तो सही ? उदाहरणके लिये पार्श्वनाथकी कुछ मूर्तियोपर सर्पके फणका बनाया जाना और फणकी सख्यामे भी ५, ७, ९, ११ जैसे विकल्पोका होना, अथवा मूर्तियोके कानोको कधोतक मिला देना, मन्दिरोकी चित्र-विचित्र आकृतिके साथ-साथ उनकी दीवारोपर पावापुरके वर्तमान जल-मन्दिर जैसे आधुनिक चित्रोका खीचा जाना और रगे चावलोको पुष्प तथा गोलेके रँगे टुकडोको दीपक कहकर चढाना, इन चैत्य-चैत्यालय तथा पूजन सम्बन्धी वर्तमान क्रियाओको ही लीजिये और उनके तद्रूप उपदेशको अनादिनिधन-श्रुतसे सिद्ध करके बतलाइये। परन्तु इस बतलानेमे इतना खयाल अवश्य रहे कि क्रियाओके पूरे रूपका उल्लेख करते हुए, कही श्रावकोकी भक्ति, रुचि तथा शक्ति आदिका उन क्रियाओके साथमें सयोग अथवा समिश्रण न हो जाय, नही तो वे क्रियाएँ अनादिनिधन न रह सकेंगी और न शास्त्रीजीके मतानुसार उनमे धर्मांगता तथा प्रमाणताका ही प्रवेश हो सकेगा।

और हाँ, शास्त्रीजीने तो अपने उक्त नतीजेमे 'या' शब्दके प्रयोग-द्वारा भगवानके उपदेशका विकल्परूपसे उल्लेख किया है तब आप लाजिमी तौरपर यह कैसे कह सकते हैं कि भगवान सर्वज्ञने उन सब क्रियाओका उपदेश दिया है ? और यदि नही कह

चित्पुरुषेण क्वचित् कदाचित् कथचिदुत्प्रेक्षितमिति। तेषामेव विशेषापेक्षया आदिरन्तश्च सम्भवतीति मतिपूर्वमित्युच्यते।

सकते तो फिर जिन विशिष्ट क्रियाओका भगवानने उपदेश नही दिया और जो खास तौरपर गणधरादिक मुनियोंके-द्वारा ही उपदिष्ट हुई हो उन्हे क्या आप अप्रमाण तथा अधर्म क्रिया कहना चाहते हैं ? शायद इसपर शास्त्रीजी यह कहे कि गणधरादिक मुनि तो उन्ही क्रियाओका उपदेश देते हैं जो भगवानके-द्वारा उपदिष्ट होती हैं—उनके उपदेशमे भगवानके उपदेशसे कोई विशिष्टता अथवा विभिन्नता नही होती—और इसलिये पूजनादि विषयकी ऐसी कोई क्रिया ही नही जो भगवानके-द्वारा उपदिष्ट न हुई हो। तव तो 'या' की जगह 'और' शब्दका प्रयोग होना चाहिये था अथवा मुनियोके उपदेशको पृथक्‌रूपसे उल्लेख करना ही व्यर्थ था। परन्तु उनके उपदेशका यह पृथक्‌रूपसे उल्लेख और साथमे 'वा' शब्दका प्रयोग ये दोनो बाते मूलमे भी पाई जाती हैं और इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि गणधरादिक मुनियोके द्वारा भी कुछ क्रियाएँ भिन्नरूपसे उपदिष्ट हुई हैं, इसीसे उनके विषयका पृथक्‌रूपसे उल्लेख करनेकी जरूरत पैदा हुई। और यह विलकुल सत्यार्थ है। यदि ऐसा न होता तो श्रावकोके मूलगुण तथा उत्तरगुण आदिके कथनोमे आचार्योका परस्पर मत भेद न होता। परन्तु मतभेद अवश्य है जिसको लेखकने **'जैनाचार्योका शासनभेद'** नामकी अपनी लेखमालामे अच्छी तरहसे प्रदर्शित किया है[1]। और इसलिये यह सिद्ध है कि गणधरादिक आचार्योके-द्वारा कुछ क्रियाए ऐसी भी उपदिष्ट हुई हैं जिनका सर्वज्ञने कोई खास उपदेश नही दिया। तव तो उन क्रियाओको, सर्वज्ञके-द्वारा उपदिष्ट न होनेसे शास्त्रीजीको अपनी

---

१. देखो जैनहितैषी' की १४ वीं जिल्द अक न० १, २-३, ७-८-९। यह लेखमाला 'जैनाचार्योंका शासनभेद' नामसे पृथक् छप चुकी है।

परिभाषाके अनुसार 'अधर्म' तथा 'अप्रमाण' कहना होगा और नही तो वे श्रावकों-द्वारा परिकल्पित उत्तम क्रियाओको भी अधर्म तथा अप्रमाण नही कह सकेंगे ।

सभव है शास्त्रीजी यहाँपर यह कहनेका साहस करे कि गणधरादिक 'आचार्य' जिन विशेप-क्रियाओका उपदेश देते हैं वे बेशक सर्वज्ञके-द्वारा उपदिष्ट नही होती परन्तु उनका बीज सर्वज्ञ-के उपदेशमें सन्निहित होता है, जिसे वे आचार्य महोदय देश-काल-की परिस्थिति तथा शिष्योकी आवश्यकतादिके अनुसार पल्लवित करके बतलाते हैं, उनका वह उपदेश सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रतिकूल न होनेसे उनके अनुकुल कहा जाता है और इसलिये उसे अप्रमाण नही कह सकते । इसपर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि उसे पल्लवित करनेमे अथवा पर्यायरूपसे एक क्रियाको नवीन जन्म देनेमे आचार्योंकी इच्छा, शक्ति, रुचि, विचारपरिणति, देश-कालकी परिस्थिति और शिष्योकी आवश्यकता आदि दूसरी चीजे शामिल होती हैं या कि नही ? यदि नही होती तब तो पल्लवित होना ही असभव है—क्योकि बाहरसे दूसरी चीजके शामिल हुए बिना बीज अकुरित भी नही होता । और यदि शामिल होती है और उस शमूलियत (सम्मेलन) पर भी कोई क्रिया महज इस वजहसे अप्रमाण नही कही जा सकती कि वह सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रतिकूल अथवा विरुद्ध नही है तो फिर श्रावकोके-द्वारा उनकी सद्भावना, हितचिन्ता, भक्ति, रुचि, शक्ति और आवश्यकता आदिके सम्मेलनसे उपासनाकी जो क्रियाए कल्पित की जाय और वे सर्वज्ञकी आज्ञाके विरुद्ध न हो उनपर शास्त्रीजी किस तरहपर आपत्ति करनेके लिये समर्थ हो सकते हैं ? और कैसे उन्हे अधर्म कह सकते या उनपर अप्रमाणका फतवा लगा सकते हैं ? अत

श्रावको-द्वारा परिकल्पित हुई उन क्रियाओमे शास्त्रीजीकी उक्त शका व्यर्थ है। खेद है शास्त्रीजीके किसी भी कथनकी सगति ठीक नही बैठती और उनका भी सारा लेख बडजात्याजीकी तरह अशिक्षितोका-सा प्रलाप जान पडता है। इस तरह-पर, इस कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट है कि '**विमोक्षसुख**' वाले ३७वे पद्यके साथ ३८वे पद्यका पेश करना कोई जरूरी अथवा लाजिमी नही था। और जब ३८वे पद्यका पेश करना ही जरूरी नही था तब ३९वे पद्यका पेश करना तो और भी ज्यादा गैर-जरूरी तथा अनावश्यक हो जाता है, क्योकि वह प्राय ३८वे पद्यमे जो कथचित् उपदेशवाली बात कही गई है उसपर की जानेवाली शकाको लेकर लिखा गया है, जैसा कि उसके प्रस्ता-वना-वाक्यसे भी जाहिर है। और इसलिये इन पदोको साथमे पेश न करनेसे शास्त्रीजी तथा बडजात्याजीका लेखककी नीयत आदिपर आक्षेप करना ऐसा ही है जैसा 'उल्टा चोर कोतवालको डाटे' समझका तो खोट अपना—आप इनके आशय, अभिप्राय अथवा कथनकी नय-विवक्षाको समझे नही—और इलजाम लगाने बैठ गये दूसरेपर कि उसने इनको छिपा लिया। कितना विलक्षण न्याय है।

आशा है शास्त्रीजी और बडजात्याजी दोनो इस लेखपरसे अपनी भूले मालूम करेगे, अपने भ्रमको सुधारेगे और भविष्यमे इस तरहपर बिना सोचे समझे जो जीमे आया लिख देनेका साहस नही करेगे। हर एक बातको उन्हे धैर्यके साथ सोचना और गहरे अध्ययनके साथ विचारना चाहिये—यो ही अपने सस्कारोके विरुद्ध कोई बात देख-सुनकर एकदम क्षुब्ध या कुपित हो जाना नही चाहिये। सस्कार तो खराब हो ही रहे हैं, उन्हीकी वजहसे

उपासना विकृत तथा दूषित बनी हुई है और इसलिये कुसस्कारो-को हटाकर उपासनाको सच्ची उपासना बनाने—उसे ऊँचा उठाने अथवा उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करनेके लिये उपासनाके प्रत्येक अग तथा ढगपर बहुत कुछ लिखने-लिखानेकी जरूरत है। समाजहितैषी विद्वानोको उसके लिये बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

—जैन जगत १६–१–१९२७
(पक्षिक) १–२–१९२७
चार अकोमे १६–२–१९२७
प्रकाशित १–३–१९२७

एक आक्षेप

लेखोका सम्पादन करते समय जिस लेखमे मुझे जो बात विरुद्ध, भ्रामक, त्रुटिपूर्ण गलतफहमीको लिये हुए अथवा स्पष्टीकरणके योग्य प्रतिभासित होती है और मैं उसपर उसी समय कुछ प्रकाश डालना उचित समझता हूँ तो उसपर यथाशक्ति सयत भाषामे अपना (सम्पादकीय) नोट लगा देता हूँ। इससे पाठकोको सत्यके निर्णयमे बहुत बडी सहायता मिलती है, भ्रम तथा गलतियाँ फैलने नही पाती, त्रुटियोका कितना ही निरसन हो जाता है—और साथ ही, पाठकोकी शक्ति तथा समयका बहुत-सा दुरुपयोग होनेसे बच जाता है। सत्यका ही एक लक्ष्य रहनेसे इन नोटोमें किसीकी कोई रु-रिआयत अथवा अनुचित पक्षा-पक्षी नही की जाती, और न इसलिये मुझे अपने श्रद्धेय मित्रो प० नाथूरामजी प्रेमी तथा प० सुखलालजी जैसे विद्वानो के लेखोपर भी नोट लगाने पडे हैं, मुनि पुण्यविजय और मुनि कल्याण विजय जी जैसे विचारकोके लेख भी उनसे अछूते नही रहे हैं। परन्तु किसीने भी उन परसे बुरा नही माना, बल्कि ऐतिहासिक विद्वानोके योग्य और सत्य-प्रेमियोको शोभा देनेवाली प्रसन्नता ही प्रकट की है। और भी दूसरे विचारक तथा निष्पक्ष विद्वान मेरी इस विचार-पद्धतिका अभिनन्दन कर रहे हैं, जिसका कुछ परिचय इस किरणमे भी पाठकोको दीवान साहब महाराजा कोल्हापुर जैसे विद्वानोकी सम्मतियोसे मालूम हो सकेगा। अस्तु।

इसी विचार-पद्धतिके अनुसार **'अनेकान्त'** की चौथी और पाँचवी किरणमे प्रकाशित होनेवाले बाबू कामताप्रसादजी

सम्पादक 'वीर' के दो लेखो पर भी कुछ नोट लगाये गये थे। पाठकोको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उन परसे बाबू साहब रुष्ट हो गये हैं और उन्होने अपना रोष एक प्रतिवादात्मक लेख-द्वारा' हालके 'दिगम्बर जैन' अक न० ७ मे प्रकट किया है। और इस तरह अपनी निर्दोषता, निर्भ्रान्तता, तथा युक्ति-प्रौढता को ऐसे पाठकोंके आगे निवेदन करके अपने चित्तको एकान्त शान्त करना चाहा है अथवा उनसे एकतरफा डिगरी लेनी चाही है, जिनके सामने न तो मुनि पुण्यविजयजी तथा मुनि कल्याणविजयजी वाले वे लेख हैं जिनके विरोधमे आपके लेखोका अवतार हुआ था, न आपके ही उक्त दोनो लेख हैं और न उनपरके सम्पादकीय नोट ही हैं, और इसलिये जो बिना उनके आपके कथनको जज नही कर सकते—उसकी कोई ठीक जॉच नही कर सकते। इस लेखपरसे मुझे आपकी मनोवृत्तिको मालूम करके दुःख तथा अफसोस हुआ ? यह लेख यदि महज सम्पादकीय युक्तियो अथवा आपत्तियोंके विरोधमे ही लिखा जाता और अन्यत्र ही प्रकाशित कराया जाता तो मुझे इसका कोई विशेष खयाल न होता और सभव था कि मैं इसकी कुछ उपेक्षा भी कर जाता। परन्तु इसमे सम्पादककी नीयतपर एक मिथ्या आक्षेप किया गया है, और इस-लिए यहॉपर उसकी असलियतको खोल देना ही मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। आक्षेपका सार इतना ही है कि—'यदि यह लेख 'अनेकान्तके' सम्पादकके पास भेजा जाता तो वे इसे न छापते, क्योकि वे अपनी टिप्पणियोके विरुद्ध किसीका लेख छापते नही, मेरा भी एक 'सशोधन' नही छापा था और उसीपरसे मैं इस नतीजेको पहुँचा हूँ। आक्षेपकी भाषा इस प्रकार है —

---

१. लेखका शीर्षक है 'राजा खारवेल और उसका वश'।

"'अनेकान्त' के प्रवीण सम्पादकने हमारे लेख पर कई आपत्तियाँ की हैं। उनका उत्तर इसी पत्रमे छपना ठीक था, परन्तु उक्त सम्पादक महोदयका अपनी सम्पादकीय टिप्पणियोके विरुद्ध लेख छाप देना मुझे अशक्य जँचा, क्योकि पिछले सबकसे मैं इस ही नतीजेको पहुँचा हूँ। 'अनेकान्त' की चौथी किरणमे मेरा एक नोटे खारवेलके लेखकी १४वी पक्तिके सम्वन्वमे प्रकट करके मान्य सपादकने एक उपहास-सा किया है और यह जाहिर किया है मानो उस पक्तिका विशेष सम्वन्ध श्वेताम्बरीय सिन्द्धान्तसे है और इस सम्बन्धमे उन्होने मि० जायसवालका वह अर्थ भी पेश किया है जिसमे 'याप ज्ञापक' शव्दका अर्थ जैन साधू करके, उन साधुओको सवस्त्र प्रकट किया गया है। मैंने इसपर उनको लिखा कि पूर्वोक्त नोटको उस हालतमे ही प्रकट करनेको मैंने आपको लिखा था जब कि आप १६१८ मे जो इस पँक्तिका नया रूप प्रकट हुआ है, उसे देखकर ठीक कर लें। अत आप इस वातका सशोधन प्रकट कर दें और आप जो जायसवालजीके अनुसार 'याप ज्ञापक' शब्दसे जैन साधुओको सवस्त्र प्रकट करते हैं सो ठीक नही, क्योकि 'याप ज्ञापक' शब्द-का अर्थ जैन साधु काल्पनिक है—किसी प्रमाणाधारपर अवलम्बित नही है? किन्तु सम्पादक महोदयने इस सशोधनको प्रकट करने की कृपा नही कि। इसीसे प्रस्तुत लेख "**दिगम्बरजैन**" में भेजने को वाध्य हुआ हूँ।"

अब मैं अपने पाठकोके सामने बाबू साहवके उन दोनो पत्रोको भी रख देना चाहता हूँ जो आपने अपने उक्त दोनो लेखोके साथमे भेजे थे, और जिनकी तरफ आपने अपने उक्त आक्षेपमे इशारा किया है। और साथ ही, यह निवेदन किये

देना हूँ कि वे 'अनेकान्त' की ४ थी किरणके पृ० २३० पर मुद्रित बाबू साहबके उस लेखको भी सामने रख लेवें जिसे आपने अपने उक्त आक्षेपमे "नोट" नाम दिया है। इससे उन्हे सत्यके निर्णयमें बडी सहायता मिलेगी, लेखो तथा पत्रोके परस्पर विरोधी कथन भी स्पष्ट हो जायँगे और वे सहज ही मे बाबू साहबके आक्षेपका मूल्य मालूम कर सकेंगे —

पहला पत्र—'अनेकान्त'के आगामी अङ्कके लिये तीन लेख भेज रहा हूँ। **इनमे जो आपको पसन्द आए वह प्रकट कर दीजिये।** बाकी लौटा दीजिये। 'खारवेल' के शिलालेखका पहला पाठ मि० जायसवालने JBORS के भाग ३ मे प्रकट किया था और उसका सशोधन फिर किया था और उस सशोधित रूपका भी सशोधन गत वर्ष प्रकट किया है। **मैंने पहला रूप और अन्तिम रूप देखा है** और इसमे जो अन्तर हुआ वह प्रकट किया है परन्तु बीचका सशोधित रूप देखे बिना कुछ स्पष्ट मैं नही लिख सका हूँ। यदि आप दिल्लीमे उसको देखकर फिर मिलान करलें तो अच्छा हो। मेरे खयालमे मुनिजीका पाठ अब शायद ही उसके उपयुक्त हो।"

दूसरा पत्र--"अनेकाकान्त'का ४ था अङ्क मिला। उसमे आपने मेरे खारवेलके शिलालेखकी १४ वी पक्तिवाले नोटको यूँ ही प्रकट करके अच्छा बेवकूफ बनाया है। खेद है, आपने उसके साथ भेजे हुए मेरे पत्रपर ध्यान नही दिया ? मैंने लिखा था कि जायसवालजीने इसके पहले (सन् १९१८ मे) जो सशोधन किया था, वह मेरे पास नही। मुझे उसीका ख्याल था और उसीपर यह नोट लिखने लगा—पर वह जब न मिला तो जो कुछ लिखा था, वह यूँ ही पूरा करके आपको भेज दिया और

यह चाहा कि आप दिल्लीकी किसी लायब्रेरीसे उसे ठीक करके उचित समझें तो प्रकट करें। उसको उसी शक्लमे छापनेकी चन्दा जरूरत नही थी और न ऐसा मैंने आपको लिखा था। खैर, अब आप उचित समझें तो इस गलतीको आगामी अङ्कमे ठीक कर दे। मैं नही समझता, आपने उस नोटको प्रकट करके कौन-सा हित साधन किया ? हाँ, रही बात श्वेताम्बरत्वकी, सो जायसवालजीने यापज्ञापकोको श्वेताम्बरोका पूर्वज बतलाया है, सो निराधार है। इसके बजाय, यह बहुत सभव है कि वे उदासीन-व्रती श्रावक हो, जिन्होने व्रतीश्रावक खारवेलके साथ यम-नियमो-द्वारा तपस्याको अपनाया था। उनको वस्त्रादि देना कोई बेजा नही है जब उदयगिरि-खडगिरिमे नग्न मूर्त्तियाँ मिलती हैं तब वहाँपर श्वेताम्बरोका होना कैसे सभव है ? इस बातको जरा आप स्पष्ट कर दीजिये। साथमे एक लेख और भेजनेकी धृष्टता कर रहा हूँ। अगर उचित समझे तो छाप दे वरना कारण व्यक्त करके इसके लौटानेकी दया कीजिये। बडा अनुग्रह होगा।"

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि पहले पत्रमे जिस JBORS भाग ३ का उल्लेख है वह बिहार-उडीसा-रिसर्च सोसायटीका सन् १९१८ का जर्नल है जिसमे जायसवाल-जीका पहला पाठ प्रगट हुआ था और अन्तिम पाठ जिस जर्नलमे प्रगट हुआ उसका न० १३ है और उसे बाबू साहबने गत वर्षमे (अर्थात् १९२९ मे) प्रकट हुआ लिखा है। इन्ही दोनो पाठकोंके अनुसार आपने अपने लेखमे खारवेलके शिला लेखकी १४ वी पक्तिको अलग-अलगरूपसे उद्‌धृत किया था और मुनि पुण्य-विजयजी-द्वारा उद्‌धृत इस पक्तिके एक अशको मुनिजीका पाठ बतलाकर उसे स्वीकार करनेमे कठिनताका भाव दर्शाया था।

साथ ही, जायसवालजीके अन्तिम पाठको "बहुत ठीक" बतलाया था। परन्तु दैवयोगसे मुनिजीका पाठ जायसवालजीका ही पाठ था और वह उनका अन्तिम पाठ ही था, इससे सपादकीय नोटो द्वारा जब उस लेखकी नि सारता और व्यर्थता प्रकट की गई तब बाबू साहबकी आँखे कुछ खुली और उन्होंने अपने उपहास आदिके साथ यह महसूस किया कि, वह लेख छपना नही चाहिये था। ऐसी हालतमें मुनासिब तो यह था कि आप अपनी भूलको स्वीकार करते और कहते कि मैं अपने लेखको वापिस लेता हूँ— यही उसका एक सशोधन हो सकता था—अथवा मौन हो रहते। परन्तु आपसे दोनो बाते नही बन सकीं और इसलिये आप किसी तरहपर उसके छापनेका इलजाम सपादकके सिर थोपना चाहते हैं और यह कहना चाहते हैं कि हमने तो उसके छापनेके लिये अमुक शर्त लगाई थी अथवा "उस हालतमे ही प्रकट करनेको लिखा था जब कि आप १९१८ मे जो इस पक्तिका नया रूप प्रकट हुआ है उसे देखकर इसे ठीक कर ले।" परन्तु पहले पत्रमें ऐसी कोई शर्त आदि नही है—उसमे साफ तौर पर तीनो लेखोमे से जो पसद आए उसे प्रकट करने और बाकीको लौटा देनेकी प्रेरणा की गई है। साथ ही, यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि लेखकने जायसवालजीके पहले (सन् १९१८ वाले) और अन्तिम (गतवर्ष वाले) सशोधित पाठोको देख लिया है, उन्हीका अन्तर लेखमे प्रकट किया है, बीचका सशोधित देखा नही उसे देख लेनेकी प्रेरणा की गई है और इस प्रेरणाका अभिप्राय इतना ही हो सकता है कि, यदि वह बीचका पाठ भी मिल जाय तो उसे भी दे दीजिये, सभव है मुनिजीका पाठ उसीसे सम्बन्ध रखता हो और उन्हे नये पाठकी खबर ही न हो। परन्तु मुनिजीका पाठ जब बिलकुल नया पाठ ही मालूम हुआ तब सपादकको उस

वीचके पाठको खोजनेकी कोई जरूरत ही वाकी नही रही । उसे तो यह स्पष्ट जान पडा कि लेखक साम्प्रदायिक कट्टरताके आवेशमे वेसुध हो गया है । इसीसे अपने सामने जर्नलकी १३ वी जिल्द-वाला जायसवालजीका नया पाठ और मुनिजी-द्वारा उद्धृत पाठ मौजूद होते हुए भी उन दोनोका अभेद उसे सूझ नही पडा और न यही खवर पडी कि मैं क्या लिख रहा हूँ, क्यो लिख रहा हूँ अथवा किस वातका विरोध करने वैठा हूँ ? इस प्रकारकी हानिकारक प्रवृत्तिका नियत्रण करने और ऐसे लेखकोकी आखे खोलनेके लिए ही वह लेख छापा गया, और उसपर नोट लगाये गये । मैं चाहता तो उस लेखको भी न छापता—छापनेकी कुछ इच्छा भी नही होती थी—परन्तु, चूँकि वह लेख 'अनेकान्त' के एक लेखके विरोधमे था, उसके न छापनेपर वावू साहव उसे अन्यत्र छपाते—जैसाकि उन्होने "**जिम्नोसो फिस्ट्स**" जैसे पद-पदपर आपत्तियोग्य लेखको यहाँ से वापिस होने पर '**वीर**' मे छपाया है—और यह ठीक न होता । इससे छापतेमे कुछ प्रसन्नता न होते हुए भी उसका छापना ही उचित समझा गया । और इसलिये लेखके प्रकट होनेके वाद जव वावू साहवका दूसरा पत्र आया तो उसके 'खेद' आदि शब्दोपरसे मुझे आपकी मनोवृत्ति और पूर्व पत्रके विरुद्ध लिखनेको देखकर वडा अफसोस हुआ और इस ना-समझीको मालूम करके तो और दु.ख हुआ कि आप अभी तक भी अपनी भूल स्वीकार नही कर रहे हैं !! उस पत्रके साथमे आपने अपना कोई सशोधन नही भेजा, जिसकी दुहाई दी जा रही है, यदि भेजते तो जरूर छाप दिया जाता—भले ही उसपर कोई और नोट लगाना पडता । पहले '**अनेकान्त**' की ४ थी किरणमे प० सुखलालजी तथा वेचरदासजीका एक सशोधन प्रकाशित हुआ है, और इसलिए यह नही कहा जा सकता कि सपादक

अपनी टिप्पणियो अथवा लेखोके विरुद्ध किसीका सशोधन नही छापता । बाकी सम्पादककी ओरसे जिस किसी सशोधनके निकाले जानेकी प्रेरणा की गई है उसे उसके औचित्य-विचारपर छोडा गया है । उसने लेखके छापनेमे अपनी किसी गलतीका अनुभव नही किया और इसलिये किसी सशोधनके देनेकी जरूरत नही समझी । फिर उसपर 'दिगम्बरजैन' वाले लेखमे आपत्ति कैसी ? और इस लेखमे अपने पूर्वपत्रोके विरुद्ध लिखनेका साहस कैसा ॥

एक बात और भी बतला देनेकी है, और वह यह कि पहले पत्रके विरुद्ध दूसरे पत्र और आक्षेप-वाले लेखमे सन् १९१८ वाले पक्तिके रूपको देख लेनेकी और तदनुसार उस "नोट" नामक लेखको ठीक कर लेनेकी जो नई बात उठाई गई है, उससे लेखक महाशय लेखके छापने-न-छापनेके विषयमे क्या नतीजा निकालना चाहते हैं, वह कुछ समझमे नही आता । सन् १९१८ के उस पाठको तो मैंने खुद ही लेखका सपादन करते हुए देख लिया था और उसके अनुसार जहाँ कही पहले पाठको देते हुए आपके लिखनेमे कुछ भूल हुई थी उसे सुधार भी दिया था । पर उससे तो लेखके छापने या न छापनेका प्रश्न कोई हल नही होता । इससे मालूम होता है कि लेखक महाशय इतने असावधान हैं कि वे अभी तक भी अपनी भूलको नही समझ रहे हैं—यह भी नही समझ रहे हैं कि पहले हमने क्या लिखा और अब क्या लिख रहे हैं—और बराबर भूल-पर-भूल करते चले जाते हैं । पहली भूल आपने पहला लेख लिखनेमे की, दूसरी भूल दूसरे पत्रके भेजनेमे और तीसरी भूल दिगम्बर-जैन वाले लेखके आक्षेप-वाले अशको लिखनेमे की है । आपके लेखो तथा पत्रोको देखनेसे हर कोई विचारक आपकी भारी असावधानीका

अनुभव कर सकता है और यह भी जान सकता है कि आप दूसरोकी बातोको कितने गलतरूपमे प्रस्तुत करते हैं। इतनी भारी असावधानी रखते हुए भी आप ऐतिहासिक लेखोके लिखने अथवा उनपर विचार करनेका साहस करते हैं, यह बडे ही आश्चर्यकी बात है। अस्तु।

इस सपूर्ण कथन, विवेचन अथवा दिग्दर्शनसे सहृदय पाठक सहज ही मे यह नतीजा निकाल सकते हैं कि बाबू साहब का आक्षेप कितना नि सार, निर्मूल, मिथ्या अथवा बेबुनियाद है, और इसलिये उसके आधारपर उन्होने "दिगम्बरजैन" मे अपने लेखको भेजनेके लिये जो बाध्य होना लिखा है, वह समुचित तथा मान्य किये जानेके योग्य नही। मैं तो उसे महज शर्म-सी उतारनेके लिये ऊपरी तथा नुमाइशी कारण समझता हूँ—भीतरी कारण नैतिक बलका अभाव जान पडता है। मालूम होता हैं सपादकीय नोटोके भयसे ही उन्होने कही यह मार्ग अख्तयार किया है, जो ऐतिहासिक क्षेत्रमे काम करने वाले तथा सत्यका निर्णय चाहने-वालोको शोभा नही देता। वे यदि अपना प्रतिवादात्मक लेख 'अनेकान्त' को भेजते और वह युक्तिपुरस्सर, सौम्य तथा शिष्ट भाषामे लिखा होता तो 'अनेकान्त' को उसके छापनेमे कुछ भी उज्र न होता। आपके जिस दूसरे लेखपर मैंने कुछ नोट दिये थे उसके विरोधमे एक विस्तृत लेख मुनि कल्याणविजयजीका इसी सयुक्त किरणमे प्रकाशित हो रहा है, आप चाहे तो उसपर और मेरे नोटोपर भी एकसाथ ही कोई प्रतिवादात्मक लेख 'अनेकान्त' को भेज सकते हैं उसपर तब काफी विचार हो जायगा।

'अनेकान्त' वर्ष १, किरण ६–७,
मई १९३०।

एक विलक्षण आरोप   : ९ :

वाबू कामताप्रसादजीके लेखपर जो नोट 'अनेकान्त' की ५ वी किरणमे लगाये गये थे उनपरसे वाबू साहब रुष्ट हुए सो तो हुए ही, परन्तु उनके मित्र वैरिष्टर चम्पतरायजी भी रुष्ट हो गये हैं—उन्हे अपने खास मित्रके लेखकी शानमे ऐसे नोट असह्य हो उठे हैं और इसलिये आपने उन्हे तथा साथमे सहारेके लिये वाबू छोटेलालजीके लेखके नोटोको भी लेकर, उक्त किरणकी समालोचनाके नामपर, एक लेख लिख डाला है और उसके द्वारा 'अनेकान्त' तथा उसके सम्पादकके प्रति अपना भारी रोप व्यक्त किया है। यह लेख जून सन् १९३० के 'वीर' और २८ अगस्त १९३० के 'जैन-मित्र' मे प्रकट हुआ है। लेखमे सम्पादकको "मकतवके मौलवी साहव"—"पराग-दहदिल मौलवी साहव"—उसके नोटोको "कमचियॉ" और उनपरसे होनेवाले अनुभवको "तडाकेका मजा", "चटखारोका आनन्द", "चटपटा चटखारा" और "मजेदार तडाकोका लुत्फ" इत्यादि वतला कर हिंसानन्दी रौद्र ध्यानका एक पार्ट खेला गया है।

इस लेखपरसे वैरिष्टर साहवकी मनोवृत्ति और उनकी लेखन-पद्धतिको मालूम करके मुझे खेद हुआ। यदि यह लेख मेरे नोटोंके विरोधमे किसी गहरे युक्तिवाद और गम्भीर विचारको लिये होता, अथवा उससे महज आवेश ही आवेश या एक विदूपककी कृति-जैसा कोरा वातूनी जमाखर्च ही रहता तो शायद मुझे उसके विरोधमे कुछ लिखनेकी भी जरूरत न होती, क्योकि मैं अपना

और अपने पाठकोका समय व्यर्थ नष्ट करना नही चाहता। परन्तु लेखमे मेरे ऊपर एक विलक्षण आरोपके लगानेकी भी चेष्टा की गई है। अत इस लेखकी असलियतका कुछ थोडा-सा परिचय 'अनेकान्त' के पाठकोको करा देना और उनके सामने अपनी पोजीशनको स्पष्ट कर देना मैं अपना उचित कर्त्तव्य समझता हूँ। उसीका नीचे प्रयत्न किया जाता है। और वह पाठकोको कुछ कम रुचिकर नही होगा, उससे उनकी कितनी ही गलतफहमियाँ दूर हो सकेंगी और वे वैरिष्टर साहवको पहलेसे कही अधिक अच्छे रूपमे पहचान सकेंगे।

सम्पादकके पिछले कामोकी आलोचना करते हुए वैरिष्टर साहव लिखते हैं—"खण्डनका काम आपका दरअसल खूब प्रसिद्ध है। मण्डनका काम अभी कोई काविल तारीफ आपकी कलमका लिखा हुआ मेरे देखनेमे नही आया।" इत्यादि, और इसके-द्वारा आपने यह प्रतिपादन किया है कि सम्पादकके-द्वारा अभी तक कोई अच्छा विधायक कार्य नही हो सका है—अनेकान्तके-द्वारा कुछ होगा तो वह आगे देखा जायगा, इस वक्त तो वह भी नही हो रहा है।

इस सबधमे मैं सिर्फ दो वातें वतलाना चाहता हूँ। एक तो यह कि ऐसा लिखते हुए वैरिष्टर साहव जैन-सिद्धान्तकी इस वातको भूल गये हैं कि खण्डनके साथ मण्डन लगा रहता है, एक वातका यदि खडन किया जाता है तो दूसरी वातका उसके साथ ही, मण्डन हो जाता है और खण्डन जितने जोरका अथवा जितना अच्छा होता है मडन भी उतने ही जोरका तथा उतना ही अच्छा हुआ करता है। उदाहरणके तौरपर शरीर के दोषो अथवा विकारोका जितना अधिक खण्डन किया जाता है शरीरके

स्वास्थ्यका उतना ही अधिक मण्डन होता है—किसी अगके गले-सडे भागको काट डालना उसके दूसरे स्वस्थ भागकी रक्षा करनेके बराबर है। इसी तरह शरीरके दोषोका जिन कार्योंके द्वारा मण्डन होता है उन्हीके-द्वारा शरीरके स्वास्थ्यका साथ-ही-साथ खण्डन हो जाता है। अत खण्डनके साथ मण्डनका और मण्डनके साथ खण्डनका अनिवार्य सवध है, जिसको शास्त्रीय परिभाषामें अस्तित्वके साथ नास्तित्वका और नास्तित्वके साथ अस्तित्वका अविनाभावसम्बन्ध वतलाया गया है और जो स्वामी समन्तभद्रके ('**अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि**' तथा '**नास्तित्व प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि**' जैसे वाक्योसे स्पष्ट प्रकट हैं) अत काबिल तारीफ खण्डनके द्वारा काबिल तारीफ मण्डनका कोई काम नही हुआ, यह कहना अथवा समझना ही भूल है और यह वात खुद वैरिष्ठर साहवके एक पत्रके भी विरुद्ध पडती है जिसमे आपने सम्पादकके 'ग्रथपरीक्षा-द्वितीय भाग' पर सम्मति देते हुए लिखा है—

"वाकईमे आपने खूब छानबीन की है और सत्यका निर्णय कर दिया है। आपके इस मजमूनसे मुझे वडी भारी मदद जैनलॉ-के तैयार करनेमें मिलेगी। आपका परिश्रम सराहनीय है। मगरिवके विद्वान भी शायद इतनी वारीकीसे छानवीन नही कर पाते जिस तरहसे इस ग्रथ (भद्रवाहुसहिता) की आपने की है। आप जैनधर्मके दुश्मन कुछ अशखासकी निगाहमे गिने जाते हैं, यह इसी कारणसे है कि आपकी समालोचना वहुत बेढव होती है और असलियतको प्रकट कर देती है। मगर मेरे खयालमे इस काममें कोई भी अश जैनधर्मकी विरुद्धताका नही पाया जाता है, बल्कि यह तो जैनधर्मको अपवित्रताके मैलसे शुद्ध करनेका उपाय है।"

क्या सत्यका निर्णय कर देना, जैनलॉकी तैयारीमे वडी भारी मदद पहुँचाना, असलियतको प्रकट कर देना और जैनधर्मको अपवित्रताके मैलसे शुद्ध करनेका उपाय करना, यह सब कोई मण्डनात्मक कार्य नही हैं ? जरूर हैं। तब आपका उक्त लिखना क्रोधके आवेशमे असलियतको भुला देनेके सिवाय और कुछ भी समझमे नही आता।

दूसरे यह है कि सम्पादकके-द्वारा लिखी हुई मेरी भावना, उपासनातत्त्व, विवाहसमुद्देश्य, स्वामी समन्तभद्र (इतिहास), जिनपूजाधिकारमीमासा, शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण, जैनाचार्यों-का शासनभेद, वीरपुष्पाजलि, महावीरसदेश, मीनसवाद, हम दु खी क्यो ? और विवाहक्षेत्रप्रकाश जैसी पुस्तको तथा जैनहितैषी जैसे पत्रको भी, जो प्राय सभी आपको मिल चुके हैं, या तो आपने मण्डनात्मक नही समझा है और या उन्हे क़ाविल तारीफ नही पाया है। मण्डनात्मक न समझना तो समझकी विलक्षणताको प्रकट करेगा और तब मडनका कोई अलौकिक ही लक्षण बतलाना होगा, इसलिये यह कहना तो नही बनता, तब यही कहना होगा कि आपने उन्हे काविल तारीफ नही पाया है। अस्तु, इनमेसे कुछके ऊपर मुझे आपके प्रशसात्मक विचार प्राप्त हुए हैं उनमेसे तीन विचार जो इस वक्त मुझे सहज ही मे मिल सके हैं, नमूनेके तौर पर नीचे दिये जाते हैं।—

१ "आज 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' प्राप्त हुआ। आपके लेख महत्त्वपूर्ण और सप्रमाण होते हैं। इस पुस्तकसे मुझे अपने विचारोके स्थिर करनेमे बहुत कुछ सहायता मिलेगी। आप दूरदर्शी हैं और गभीर विचार रखते हैं।"

२ "'''विवाहक्षेत्र-प्रकाश' जो आपने देहलीमे मुझे दी थी

वह आज खतम हो गई है। वास्तवमे इस पुस्तकको लिख कर बाबू जुगलकिशोरजीने जैनधर्मका बहुत ही उपकार किया है। बाबू साहब मौसफकी तारीफ करनी जरूरी नही है। हर सतरसे तहरीरकी खूबी, बुद्धिमत्ता, आलादर्जेकी कुशलता, लेखकके भावो की उदारताका परिचय मिलता है। हिम्मत और शान लेखक महाशयकी सराहनीय है। मेरे हृदयमे जितनी शकाएँ पैदा हो गई थी वे सब इस पुस्तकके पाठ करनेसे समाधान हो गई हैं। इसीका नाम पाडित्य है। वास्तवमे जैनधर्मके आलमगीरपन (सर्वव्यापी क्षेत्र) को जिस चीजने सकीर्ण बना रक्खा है वह कुछ गत नवीन समयके हिन्दू रिवाजोकी गुलामी ही है। कुछ सकुचित खयालके व्यक्तियोने जैनिज्म (Jainism) को एक प्रकारका जातिज्म (jatism) बना रक्खा है। ये लोग हमेशा दूसरोपर जो इनसे मतभेद रखते हैं, धर्मविरुद्ध हुल्लड मचा कर आक्षेप किया करते हैं। मुझे खुशी है कि बाबू जुगलकिशोरजीने मुँहतोड जवाब लिखकर दर्शा दिया है कि वाकई धर्मविरुद्ध विचार किनके हैं।"

३ " '**जैनहितैषी**' के बारेमे मेरी राय यह है कि हिन्दुस्तान भरमे शायद ही कोई दूसरा पर्चा (पत्र) इस कदर उम्दगी (उत्तमता) और काबलियत (योग्यता) का निकालता हो। मेरे खयालमे तो योरोपके फर्स्ट क्लास जर्नल्स (Gournals) के मुकाबलेका यह पर्चा रहा है।"

इनसे प्रकट है कि आपने सम्पादककी इन कृतियोको वास्तवमे कितना अधिक काबिल तारीफ पाया है। और '**मेरी भावना**' को तो आपने इतना अधिक काबिल तारीफ़ पाया और पसद किया है कि उसे अपनी तीन पुस्तकोमे लगाया, अग्रेजीमे

उसका अनुवाद किया और शायद जर्मनीमे खुद गाकर उसे फोनोग्राफके रेकार्डमे भरवाया। इतनेपर भी आप लिखते हैं कि 'मण्डनका अभी कोई काबिल तारीफ काम आपकी कलमका लिखा हुआ मेरे देखनेमे नही आया।' इससे पाठक समझ सकते हैं कि यह सब कितना दु साहस तथा सत्यका अपलाप है, वैरिस्टर साहब कोपके आवेशमे और एक मित्रका अनुचित पक्ष लेनेकी धुनमे कितने वदल गये हैं और आपकी स्मृति कहाँ तक विचलित हो गई है। सच है कोपके आवेशमे सत्यका कुछ भी भान नही रहता, यथार्थ निर्णय उससे दूर जा पडता है और इसीसे क्रोधको अनर्थोका मूल वतलाया है। आपकी इस कोपदशा तथा स्मृति-भ्रमका सूचक एक अच्छा नमूना और भी नीचे दिया जाता है—

वैरिष्टर साहव लिखते हैं—"अब देखे बावू छोटेलालजीके साथ कैसी गुजरी ? सो उनके लेखके नीचे भी महापापोकी सख्या पूरी कर दी गई है यानी पाँच फुटनोट सपादकजीने लगा ही दिये हैं।"

यह है आपकी शिष्ट, सौम्य तथा गौरवभरी लेखन-पद्धतिका एक नमूना। अस्तु, बावू छोटेलालजीके लेखपर जो नोट लगाये गये हैं उनकी सख्या पाँच नही है और न बावू कामताप्रसादजीके लेखपर लगाये गये नोटोकी सख्या ही पाँच है, जिसे आप 'भी' शब्दके प्रयोग-द्वारा सूचित करते हैं, वल्कि दोनो लेखोपर लगे हुए नोटोकी सख्या आठ-आठ है। फिर भी वैरिष्टर साहवके हृदयमे 'पाँच' की कल्पना उत्पन्न हुई—वह भी पाँच व्रतो, पाँच चारित्रो, पाँच समितियो अथवा पाँच इन्द्रियोकी नही किन्तु पाँच महापापोकी, और इसलिए आपको पूर्ण सयत भाषामे लिखे

हुए वे नोट आठकी जगह पाँच—नही, नही पॉच महापाप—दीखने लगे! और उसीके अनुसार आपने उनकी सख्या पाँच लिख मारी ।। लिखते समय इस वातकी सावधानी रखनेकी आपने कोई जरूरत ही नही समझी कि उनकी एक बार गणना तो कर ली जाय कि वे पाँच ही हैं या कमती-वढती! सो ठीक है क्रोधके आवेशमे प्राय पापकी ही सूझती है और प्रमत्तदशा होनेसे स्मृति अपना ठीक काम नही करती, इसीसे वैरिष्टर साहव-को पापोकी ही सख्याका स्मरण रहा जान पडता है। खेद है अपनी ऐसी सावधान लेखनीके भरोसेपर ही आप जँचे-तुले नोटोके सम्वन्धमे कुछ कहनेका साहस करने वैठे हैं ।।

एक जगह तो वैरिष्टर साहवका कोपावेश धमकीकी हद तक पहुँच गया है। आपका एक लेख 'अनेकान्त' मे नही छापा गया था, जिसका कुछ परिचय पाठकोको आगे चलकर कराया जायगा, उसका उल्लेख करनेके वाद यह घोषणा करते हुए कि "सपादकजी सव ही थोडे-वहुत नौकरशाहीकी भाँतिके होते हैं," आप लिखते हैं—

"मुझे याद है कि एक मरतवा ब्र० शीतलप्रसादजीने भी, जव वह ऐडीटर 'वीर' के थे, और मैं सभापति परिषदका था, मेरे एक लेखको अर्थात् सभापति महाशयकी आज्ञाको टाल दिया था, यह कह कर कि म० गांधीके सिद्धान्तके विरोधमे है। मगर ब्र० जी तो अपने गेरुआ कपडो और उच्च चारित्रकी वदौलत सभापतिजीके गजवसे वच गये, मगर वावू जुगलकिशोरजीके तो वस्त्र भी गेरुआ नही हैं ?" (तव वह कैसे वच सकेंगे ?[1])

---

१. प्रश्नाक ? से पहले यह पाठ छूट गया जान पड़ता है। यदि प्रश्नाक ही गलत हो तव भी आपके लिखनेका नतीजा वही निकलता है जो ब्रैकटमें दिया गया है।

इससे बैरिष्टर साहबकी स्पष्ट धमकी पाई जाती है और वे साफ तौरपर सम्पादकको यह कहना चाहते हैं कि वह उनके गजबसे—क्रोधसे—नही बच सकेगा। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि आपके क्रोधका एक कारण आपका लेख न छापना भी है। परन्तु बैरिष्टर साहब यह लिखते हुए इस बातको भूल गये कि जुगलकिशोरके वस्त्र भले ही गेरुआ न हो परन्तु वह स्वतन्त्र है—किसीके आश्रित नही, अपनी इच्छासे नि.स्वार्थ सेवा करने वाला है। और साथ ही, यह भी आपको स्मरण नही रहा कि जिस सस्थाका 'अनेकान्त' पत्र है उसके आप इस समय कोई सभापति भी नही हैं जो उस नातेसे अपनी किसी आज्ञाको बलात् मनवा सकते अथवा आज्ञोल्लघनके अपराधमे सम्पादक पर कोई गजब ढा सकते। सच है क्रोधके आवेशमे बुद्धि ठिकाने नही रहती और हेयोपादेयका विचार सब नष्ट हो जाता है, वही हालत बैरिष्टर साहबकी हुई जान पडती है।

खारवेलके शिलालेखमे आए हुए मूर्तिके उल्लेख आदिको लेकर बा० छोटेलालजीके लेखमे यह बात कही गई थी कि—"तब एक हद तक इसमे सदेह नही रहता कि मूर्तियो-द्वारा मूर्तिमानकी उपासना-पूजाका आविष्कार करनेवाले जैनी ही हैं।" जिसपर सम्पादकने यह नोट दिया था कि—"**यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है और इसलिये इसपर अधिक स्पष्टरूपसे लिखे जानेकी जरूरत है।**" और इसके-द्वारा लेखक तथा उस विचारके दूसरे विद्वानोको यह प्रेरणा की गई थी कि वे भविष्यमे किसी स्वतन्त्र लेख-द्वारा इस विषयपर अधिक प्रकाश डालनेकी कृपा करे। इस प्रेरणामे कौन-सी आपत्तिकी बात है? लेखककी इसमे कौन-सी तौहीन की गई है अथवा

कौन-सी बातको "ऐबकी बात" लिखा गया है ? और किसीको अपनी राय जाहिर करनेके लिये इसमे कहाँ रोका गया है ? इन सब बातोको सहृदय पाठक स्वय समझ सकते हैं। परन्तु फिर भी वैरिष्टर साहब उक्त नोटकी आलोचनामे लिखते हैं—

"सम्पादकजीने मुँह खोलना, जबान हिलाना, बोलना तक बन्द कर दिया। लेखकने कौन ऐबकी बात लिखी थी कि जिस-पर भी आपसे न रहा गया और फुटनोट जोड ही दिया। क्या हर शख्स अपनी राय भी अब जाहिर न कर सकेगा ?"

पाठकगण, देखा कितनी बढिया समालोचना है। सम्पादकने तो लेखको छाप देनेके कारण लेखकका मुँह खोलना आदि कुछ भी बन्द नही किया, परन्तु वैरिष्टर साहब तो सम्पादकीय नोटोका विरोध करके सम्पादकको मुँह खोलने और अपनी राय जाहिर करनेसे रोकना चाहते हैं और फिर खुद ही यह प्रश्न करने बैठते हैं कि—"क्या हर शख्स अपनी राय भी अब जाहिर न कर सकेगा ? इससे अधिक आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ? आपको कोपावेशमे यह भी सूझ नही पडा कि 'हर शख्स' मे सम्पादक भी तो शामिल है फिर उसके राय जाहिर करनेके अधिकारपर आपत्ति क्यो ?

इसी सम्बन्धमे आप लिखते हैं कि "बाबू छोटेलालजीके शब्द तो निहायत गभीर हैं।" बेशक गभीर हैं, परन्तु नोट भी उनपर कुछ कम गभीर नही है। बाकी उस गभीरताका आधार आप जिन "एक हद तक" शब्दोको मान रहे हैं उनके प्रयोग-रहस्यको आप स्वत. नही समझ सकते—उसे सम्पादक और लेखक महाशय ही जानते हैं। हाँ, इतना आपको जरूर बतला देना होगा कि यदि उक्त शब्द वाक्यके साथमे न होते तो फिर

नोटका रूप भी कुछ दूसरा ही होता और वह शायद आपको कही अधिक अप्रिय जान पडता ।

इसी फुटनोटकी चर्चा करते हुए वैरिष्टर साहव पूछते हैं—

"क्या सपादकजीने किसी लेख या पुस्तकमे जो हिन्दूने छपवाई हो फुटनोट जैसा उन्होने खुद जोडनेका तरीका इख्तियार किया है, कही पढा है ?"

इस प्रश्नपरसे वैरिष्टर साहवका हिन्दीपत्र-ससार-विपयक भारी अज्ञान पाया जाता है, क्योकि इससे मालूम होता है कि एक तो आप यह समझ रहे हैं कि सम्पादक 'अनेकान्त' ने ही लेखोपर फुटनोटोके जोडनेका यह नया तरीका ईजाद और इख्तियार किया' है, इससे पहले उसका कही कोई अस्तित्व नही था, दूसरे यह कि हिन्दुओके-द्वारा प्रकाशित लेखादिकोमे इस प्रकारके नोट लगानेके तरीकेका एकदम अभाव है । परन्तु ऐसा नही है, हिन्दी-पत्रोमे फुटनोटका यह तरीका कमीवेशरूपमे वर्षोसे जारी है । जैनहितैपीमे भी फुटनोट लगते थे, जिसे आप एक वार हिन्दुस्तान भरके पत्रोमे उत्तम तथा योरोपके फर्स्ट क्लास जनरल्सके मुकावलेका पर्चा लिख चुके हैं, और वे प० नाथूराम जी प्रेमीके सम्पादनकालमे भी लगते रहे हैं । यदि वैरिष्टर साहव उक्त प्रश्नसे पहले 'त्यागभूमि' आदि वर्तमानके कुछ प्रसिद्ध हिन्दू पत्रोकी फाइले ही उठाकर देख लेते तो आपको गर्वके साथ ऐसा प्रश्न पूछ कर व्यर्थ ही अपनी अज्ञताके प्रकाश-द्वारा हास्यास्पद वननेकी नौवत न आती । अस्तु, पाठकोके सतोपके लिये तीसरे वर्षकी 'त्यागभूमि' के अक न० ४ परसे सपादकीय फुटनोटका एक नमूना नीचे दिया जाता है इस अकमे और भी कई लेखो पर नोट हैं, जो सब 'अनेकान्त' के नोटोकी रीति-नीतिसे तुलना किये जा सकते हैं :—

"यह लेखककी भूल है। अत्याचारी राजाको, सपरिवार तक, नष्ट कर डालनेका स्पष्ट आदेश मनुस्मृति आदिमे है। —सपा०।" पृ० ४२६

इससे पाठक समझ सकते हैं कि बैरिष्टर साहबके उक्त प्रश्नका क्या मूल्य है, उनकी लेखनी कितनी असावधान है और और उनकी यह असावधानता भी उनकी कितनी परागदहदिली—अव्यस्थितचित्तता—को साबित करती है, जिसका क्रोधके आवेशमे हो जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। साथ ही, उन्हे यह बतलानेकी भी जरूरत नही रहती कि इस प्रकारके फुट-नोटोका यह कोई नया तरीका इख्तियार नही किया गया है, जैसा कि बैरिष्टर साहब समझते हैं। और यदि किया भी जाता तो वह 'अनेकान्त' के लिये गौरवकी वस्तु होता—अब भी इस बिषयमे 'अनेकान्त' की जो विशेषता है वह उसके नामको शोभा देनेवाली है। क्या महज दूसरोका अनुकरण करनेमे ही कोई बहादुरी है और अपनी तरफसे किसी अच्छी नई बातके ईजाद करनेमे कुछ भी गुण नही है? यदि ऐसा नही तो फिर उक्त प्रकारके प्रश्नकी जरूरत ही क्यो पैदा हुई? नोट-पद्धतिकी उपयोगिता-अनुपयोगिताके प्रश्न पर विचार करना था, जिसका लेखमे कही भी कुछ विचार नही है। मात्र यह कह देना कि नोट तो मकतब-के परागदहदिल मौलवी साहबकी कमचियाँ हैं, विलायतमे 'ऐसे लेखोको सम्पादक लेते ही नही जिनके नीचे फुटनोट लगाये वगैर उनका काम न चले' अथवा अमुक 'फुटनोट भी कम वाहियात नही' यह सब क्या नोट-पद्धतिकी उपयोगिता-अनुपयोगिताका कोई विचार है? कदापि नही। फिर क्या अनुपयोगी सिद्ध किये बिना ही आप सपादकसे ऐसी आशा रखनी उचित सकझते हैं कि वह

अपनी इस नोट-पद्धतिको छोड देवे ? सपादकने अपनी इस नोट-नीतिकी उपयोगिता और आवश्यकताका कितना ही स्पष्टीकरण उस लेखमे कर दिया है, जो 'एक आक्षेप'[1] नामसे ज्येष्ठ मासकी अनेकान्त किरण पृ० ३१९ पर प्रकाशित हुआ है। पाठक वहाँसे उसे जान सकते हैं। उसके विरोधमे यदि किसीको कुछ युक्ति-पुरस्सर लिखना हो तो वे जरूर लिखें, उसपर विचार किया जायगा। अस्तु।

अब उस नोटकी बातको भी लीजिये, जिसपर लेखमे सबसे अधिक वावेला मचाया गया है और लोगोको 'अनेकान्त' पत्र तथा उसके 'सम्पादक' के विरुद्ध भडकानेका जघन्य प्रयत्न किया गया है। इसके लिये सबसे पहले हमे बाबू छोटेलालजीके लेखके प्रारभिक अशको ध्यानमे लेना होगा, और वह इस प्रकार है—

"यह बात सत्य है कि जिस जातिका इतिहास नही वह जाति प्राय नही-के-तुल्य समझी जाती है, कुछ समय पूर्व जैनियो-की गणना हिन्दुओमे होती थी, किंतु जबसे जैन-पुरातत्वका विकास हुआ तबसे ससार हमे एक प्रचीन, स्वतत्र और उच्च सिद्धान्ता-नुयायी समझने लगा है। साथ ही, हमारा इतिहास कितना अधिक विस्तीर्ण और गौरवान्वित है यह बात भी दिन-पर-दिन लोकमान्य होती चली जाती है। वह समय अब दूर नही हैं जब यह स्वीकार करना होगा कि 'जैनियोका इतिहास सारे ससारका इतिहास है।' गहरी विचार-दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आज जैन सिद्धान्त सारे विश्वमे अदृश्यरूपसे अपना कार्य कर रहे हैं। जैनसमाज अपने इतिहासके अनुसधान तथा

---

१. यह लेख इसी पुस्तक में पृष्ठ २८४ पर प्रकाशित है।

प्रकाशनमे यदि कुछ भी शक्ति व्यय करता तो आज हमारी दशा कुछ और ही होती। इतिहाससे यह सिद्ध हो चुका हैं कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मत ही मूल धर्म है।''

लेखकी इस भूमिकामे 'जैनियोकी, जैनपुरातत्त्वका, हमे, हमारा, जैनियोका, जैनसिद्धान्त, जैनसमाज, हमारी,' ये शब्द एक वर्गके हैं और वे दिगम्बर-श्वेताम्बरका कोई सम्प्रदाय-भेद न करते हुए अविभक्त जैनसमाज, जैनसिद्धान्त तथा जैनपुरातत्त्व-को लेकर लिखे गये हैं, जैसा कि उनकी प्रयोग-स्थिति अथवा लेखकी कथनशैली परसे प्रकट है। और 'हिन्दुओमे, ससार, लोकमान्य, सारे ससारका, सारे विश्वमे' ये शब्द दूसरे वर्गके हैं, जो उस समूहको लक्ष्य करके लिखे गये हैं जिसके साथ अपने सिद्धान्त या अपनी प्राचीनता आदिके सम्बन्धकी अथवा मुकावलेकी कोई वात कही गई हैं। और इस पिछले वर्गके भी दो विभाग किये जा सकते हैं—एक मात्र हिन्दुओ अथवा वैदिक धर्मानु-यायियोका और दूसरा अखिल विश्वका। वैदिक धर्मानुयायियोके मुकावलेमें अपनी प्राचीनताके सस्थापनकी वात लेखके अन्त तक कही गई है, जहाँ एक पूजनविधानका उल्लेख करनेके बाद लिखा है—''यदि हम पाश्चात्यरीत्यानुसार गणना कर उसकी प्रारम्भिक अवस्था या उत्पत्तिकाल पर पहुँचनेका प्रयत्न करेंगे तो वैदिक कालसे पूर्व नही तो वरावर अवश्य पहुँच जायँगे। मैं तो कहूँगा कि यह विधान वैदिक कालसे वहुत पूर्व समयका है।'' वाकी दिगम्वर और श्वेताम्वर इन दोनो सप्रदायोमे कौन पहलेका और कौन पीछेका ? इस प्रश्नको लेखभरमे कही भी उठाया नही गया है और न सारे लेखको पढनेसे यही मालूम होता है कि लेखक महाशय उसमे दोनो सप्रदायोकी उत्पत्ति पर कोई विचार

करने बैठे हैं। ऐसी हालतमे उक्त भूमिकाके अतिम वाक्यमे जब यह कहा गया कि "निर्ग्रन्थ दिगम्बर मत ही मूल धर्म है" और उसे "इतिहाससे सिद्ध" हुआ बतलाया गया तब सपादकके हृदयमे स्वभावत. ही यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इस वाक्यमे प्रयुक्त हुए 'मूल' शब्दकी मर्यादा क्या है?—उसका क्षेत्र कहाँ तक सीमित है? अथवा वह किस दृष्टि, अपेक्षा या आशयको लेकर लिखा गया है? क्योकि 'मूल' शब्दके आदि (आद्य) और प्रधान आदि कई अर्थ होते हैं और फिर दृष्टिभेदसे उनकी सीमा-मे भी अन्तर पड जाता है। तब दिगबरमत किस अर्थमे मूल धर्म है और किसका मूल धर्म है? अर्थात् आदिकी दृष्टिसे मूल धर्म है या प्रधानकी दृष्टिसे मूल धर्म है? और इस प्रत्येक दृष्टि-के साथ, सर्वधर्मोकी अपेक्षा मूलधर्म है या वैदिक आदि किसी धर्मविशेष अथवा जैनधर्मकी किसी शाखाविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है? सपूर्ण विश्वकी अपेक्षा मूलधर्म है या भारतवर्ष आदि किसी देशविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है? सर्व युगोकी अपेक्षा मूल धर्म है या किसी युगविशेषकी अपेक्षा मूल धर्म है? सर्व समाजोका मूल धर्म है या किसी समाजविशेषका मूल धर्म है? इस प्रकारकी प्रश्नमाला उत्पन्न होती है। लेख परसे इसका कोई ठीक समा-धान न हो सकनेसे 'मूल' शब्द पर नीचे लिखा फुटनोट लगाना उचित समझा गया—

"अच्छा होता यदि यहाँ 'मूल' की मर्यादाका भी कुछ उल्लेख कर दिया जाता, जिससे पाठकोको उसपर ठीक विचार करनेका अवसर मिलता।"

पाठक देखें, यह नोट कितना सौम्य है, कितनी संयत भाषा-मे लिखा गया है और लेखकी उपर्युक्त स्थितिको ध्यानमे रखते

हुए कितना आवश्यक जान पडता है। परन्तु बैरिष्टर साहब इसे भी "कमची" बतलाते हैं। और इसे उद्धृत करते हुए लिखते हैं —

" 'मौलवी साहब' को 'मूल' का शब्द नापसद हुआ। फिर क्या था। तडसे कमची पडी और चटसे निम्न लिखित फुटनोट जोडा गया।—"

यह है बैरिष्टर साहबकी सुसभ्य और गभीर विचारभाषाका एक नमूना! ऐसी ही गभीर विचारभाषासे सारा लेख भरा हुआ है, जिसके कुछ नमूने पहले भी दिये जा चुके हैं। एक अति सयत भाषामे लिखे हुए विचारपूर्ण सौम्य नोटको 'कमची' की उपमा देना हृदयकी कलुषताको व्यक्त करता है और साथ ही इस बातको सूचित करता है कि आप विचारके द्वारको बन्द करना चाहते हैं। अस्तु, बैरिष्टर साहबने इस नोटकी आलोचनामे व्यगरूपसे छोटेलालजीकी समझकी चर्चा करते हुए और यह बतलाते हुए कि उन्होने भूल की जो "यह न समझे कि 'मूल' मे तनाजा दिगम्बरी-श्वेताम्बरी इब्तदाका ही नही आता है, बल्कि दुनिया भरके और सब क़िस्मके झगडे भी शामिल हो सकेगे," लिखा है—

"अगर छोटेलालजी वकील होते तो भी कुछ बात थी; क्योकि फिर तो वह यह भी कह सकते कि साहब मेरा तो खयाल यह था कि मज़मूनको सिलसिले ताल्लुक (relevency) की दृष्टिकोणसे ही पढा जा सकेगा।"

और इसके द्वारा यह सुझानेकी चेष्टा की है कि उक्त वाक्यमें लेखके सम्बन्धक्रमसे अथवा प्रस्तावानुकूल या प्रकरणानुसार 'मूल' का अर्थ दिगम्बरमतके श्वेताम्बरमतसे पहले (प्राचीन)

होनेका ही निकलता है दूसरे मतोसे पहले होनेका या प्रधानता आदिका नही। परन्तु मूल लेखके सम्वन्धक्रम अथवा उसके किसी प्रस्ताव या प्रकरणमे ऐसा नही पाया जाता, जैसा कि ऊपर 'मूल' शब्दसे पूर्ववती पूरे लेखाशको उद्धृत करके वतलाया जा चुका है। हाँ, यदि उस वाक्यका रूप यह होता कि "निर्ग्रन्थ दिगम्वर मत ही जैनसमाजका मूल धर्म है" तो ऐसा आशय निकाला जा सकता था, और तव, मूलकी मर्यादाका एक उल्लेख हो जानेसे, उस पर इस प्रकारका कोई नोट भी न लगाया जाता। परन्तु उसमें 'मूल' से पहले 'जैनसमाजका' ये शब्द अथवा इसी आशयके कोई दूसरे शब्द नही हैं और वाते पहले हिन्दुओ, ससार तथा विश्वके साथ सम्बन्धकी की गई हैं और अत तक वैदिक धर्मानुयायियोके मुकावलेमे अपनी प्राचीनताकी वात कही गई है, तव 'मूल' का वैसा अर्थ नही निकाला जा सकता। अत वैरिष्टर साहवने जो वात सुझानेकी चेष्टा की है वह उनकी कल्पनामात्र है—लेख परसे उसकी उपलब्धि नही होती। और सिलसिले ताल्लुक (relevency) की दुहाई अविचारितरम्य है।

इसके वाद वैरिष्टर साहव "मूलकी मर्यादा" का अर्थ समझनेमे अकुलाते हुए लिखते हैं—

"परेशान हूँ कि मूलकी मर्यादाका क्या अर्थ करूँ? क्या कुछ नियत समयके लिये दिगवरी सप्रदाय मूल हो सकता है और फिर श्वेताम्वरी? या थोडे दिनो श्वेताम्वरी मूल रहवे और फिर दिगवरी हो जावे या कुछ अशोमे यह और कुछमे वह? आखिर मतलव क्या है? मेरे खयालमे मुझसे यह गभीर प्रश्न हल नही हो सकेगा। स्वय सपादकजी ही इस पर प्रकाश डालेगे तो काम चलेगा। मगर एक बात और मेरे मनमे आती है और

वह यह है कि शायद सम्पादकजी श्वेताम्बरी मतको ही मूल मानते होगे, नही तो इस 'मूल' के शब्दके ऊपर फुटनोटकी क्या जरूरत थी ? हाँ, और याद आई। बम्बईसे मैंने भी करीव तीन माहके हुए एक लेख श्वेताम्बरीमतके मूलदिगम्बरीमतकी शाखा होनेके बारेमे लिख कर 'अनेकान्त' मे प्रगट होनेको भेजा था। वह अभी तक मेरे इल्ममे 'अनेकान्त' मे नही छपा है। शायद इसी कारणसे न छापा गया होगा कि वह खुल्लमखुल्ला दिगम्बरी मतको सनातन जैनधर्म वतलाता था और श्वेताम्बरी सम्प्रदायके 'मूलत्व' के दावेको जड मूलसे उखाड फेकता था।''

इससे स्पष्ट है कि उक्त नोटमे प्रयुक्त हुए 'मूलकी मर्यादा' शब्दोका अर्थ ही बैरिष्टर साहब ठीक नही समझ सके हैं, वे चक्करमे पड गये हैं और वैसे ही बिना समझे अटकलपच्चू उसकी आलोचना करनेके लिये प्रवृत्त हुए हैं। इसीलिये 'मर्यादा' का विचार करते हुए आप मर्यादासे बाहर हो गये हैं और आपने सम्पादकके विपयमे एक विलक्षण आरोप (इल्जाम) की सृष्टि कर डाली है, जिसका खुलासा इस प्रकार है —

'सम्पादकजी श्वेताम्बरीमतको ही मूलधर्म मानते होगे, यदि ऐसा न होता तो 'मूल' शब्द पर फुटनोट दिया ही न जाता— उसके देनेकी कोई जरूरत ही नही थी, दूसरे श्वेताम्बरोके मूलत्व (प्राचीनत्व) के विरोध में जो लेख उनके पास भेजा गया था उसको 'अनेकान्त' मे ज़रूर छाप देते, न छापनेकी कोई वजह नही थी।'

इस आरोप और उसके युक्तिवादके सम्बधमे मैं यहाँ पर सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि वह बिलकुल कल्पित और वे-बुनियाद (निर्मूल) है। नोट लेखकी जिस स्थितिमे

दिया गया है और उसके देनेका जो कारण है उसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है और उस परसे पाठक उसकी जरूरतको स्वत महसूस कर सकते हैं। हाँ, यदि सम्पादकमे साम्प्रदायिक कट्टरता होती तो जरूरत होने पर भी वह उसे न देता, शायद इसी दृष्टिमे बैरिष्टर साहबने "क्या जरूरत थी" इन शब्दोको लिखा हो। दूसरे यदि सम्पादककी ऐसी मान्यता होती, तो फिर 'मूल' शब्दके मर्यादा-विषयक नोटसे क्या नतीजा था ? तब तो दिगम्बर मतके मूल धर्म होने पर ही आपत्ति की जाती, जैसा कि अन्य नोटोमे भी किसी-किसी विषयपर स्पष्ट आपत्ति की गई है। साथ ही, लेखके उस अश पर भी आपत्ति की जाती जहाँ (पृ० २८६) खारवेलके शिलालेखमे उल्लेखित प्रतिमाको "अवश्य दिगम्बर थी" ऐसा लिखा गया है, क्योकि शिलालेखमे उसके साथ 'दिगम्बर' शब्दका कोई प्रयोग नही है। इसके सिवाय, बाबू पूरणचदजी नाहरका वह लेख भी 'अनेकान्त'मे छापा जाता जो श्वेताम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध करनेके लिये प्रकट हुआ है। अत आपकी इस युक्तिमे कुछ भी दम मालूम नही होता।

रही लेखके न छापनेकी बात, वह जरूर नही छापा गया है। परन्तु उसके न छापनेका कारण यह नही है कि उसमे श्वेताम्बर मतकी अपेक्षा दिगम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध करनेका यत्न किया गया है बल्कि इस लिये नही छापा गया है कि वह गौरवहीन समझा गया, उसका युक्तिवाद प्राय लचर और पोच पाया गया और इससे भी अधिक त्रुटि उसमे यह देखी गई कि वह शिष्टाचारसे गिरा हुआ है, अपने एक भ्रातृवर्गको घृणाकी दृष्टिसे ही नही देखता किन्तु उसके पूज्य पुरुषोंके प्रति ओछे एव

तिरस्कारके शब्दोका प्रयोग भी करता है और गभीर विचारणासे एकदम रहित है। कई सज्जनोको उसे पढ कर सुनाया गया तथा पढनेको दिया गया परन्तु किसीने भी उसे 'अनेकान्त'के लिये पसन्द नही किया। 'अनेकान्त' जिस उदारनीति, साम्प्रदायिक-पक्षपात-रहितता, अनेकान्तात्मक-विचार-पद्धति और भाषाके शिष्ट, सौम्य तथा गभीर होनेके अभिवचनको लेकर अवतरित हुआ है उसके वह अनुकूल ही नही पाया गया, और इसलिये नही छापा गया।

यहाँ पर उस लेख[1] के युक्तिवाद पर, विचारका कोई अवसर नही है—उसके लिये तो जुदा ही स्थान और काफी समय होना चाहिये—सिर्फ दो नमूने लेखका कुछ आभास कराने-के लिये नीचे दिये जाते हैं —

१. "गौतम और केसीके वार्तालापका विषय 'चोरकी दाढी-मे तिनका' के समान है। दिगम्बरियोंके यहाँ ऐसा कोई वार्ता-लाप नही दर्ज है। इससे साफ़ जाहिर है कि दिगम्बरियोको अपने मतमे कमजोरी नही मालूम हुई और श्वेताम्बरियोको हुई।" इत्यादि।

२. "श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बिलकुल कुदरती तौरसे समझमे आ जाती है। सख्त कहतके जमानेमे जब जैनियोके यहाँ-से पेट पालन न हो सका तो अजैनियोसे भिक्षा लेनी पडी और इस वजहसे वस्त्र धारण करने पडे, क्योकि उनके यहाँ दिगम्बरी साधुओकी मान्यता न थी। इसी कारणसे स्त्रीमुक्ति और शूद्र-मुक्तिका सिद्धान्त भी आसानीसे समझमे आ जाता है। इन

---

१. यह लेख 'वीर'के उसी अङ्कमें और 'जैनमित्र'के ४-९-३० में छपा है।

बातोमे श्वेताम्बरी हिन्दुओसे भी आगे बढ गए हैं। हिन्दू तो शूद्रोको वेद भी नही पढने देते हैं। मुक्ति कैसी ? इस लिये हिन्दू स्त्रियो और शूद्रोको मुक्तिका मुजदह सुनानेका यही भाव हो सकता था कि इस बहानेसे भक्तोकी सख्या बढाई जावे, क्योकि भक्तोकी सख्यासे ही भिक्षाका अधिक लाभ होना सभव है।"

पाठकगण देखिये, कितने तिरस्कारपूर्ण उद्गार हैं और कैसी विचित्र कल्पना है ।। क्या दुर्भिक्षमें श्वेताम्बरोंके पूर्वपुरुषोका जैनियोके यहाँसे पेटपालन (।) नही हो सका और उन्होने अजै-नियोके यहाँसे भिक्षा लेनेके लिये ही वस्त्र धारण किये ? और क्या स्त्रियो तथा शूद्रोसे भोजन प्राप्त करनेके लिये ही उन्हे मुक्तिका सदेश सुनाया गया—उसका अधिकार दिया गया ? कितनी विलक्षण बुद्धिकी कल्पना है ।। इस अद्भुत कल्पनाको करते हुए बैरिष्टर साहब अपने दिगम्बर शास्त्रोकी मर्यादाका भी उल्लघन कर गये हैं और जो जीमे आया लिख मारा है। श्रीरत्ननन्दि आचार्यके 'भद्रबाहु-चरित्र' मे कही भी यह नही लिखा है कि दुर्भिक्षके समय ऐसा हुआ अथवा उस अवशिष्ट मुनि सघको जैनियोके घरसे भोजन नही मिला और उसने अजैनोंके यहाँसे भोजन प्राप्त करनेके लिये ही वस्त्र धारण किये। बल्कि कुबेरमित्र, जिनदास, माधवदत्त और बन्धुदत्त आदि जिन-जिन अतुल विभवधारी बडे-बडे सेठोका उल्लेख किया है उन सबको बडे श्रद्धासम्पन्न श्रावक लिखा है, जिन्होने मुनिसघकी पूरे तौरसे सेवा की है, दीन दुखियोको बहुत कुछ दान दिया है और जिनकी प्रार्थना पर ही वह मुनिसघ दक्षिणको जानेसे रुका था। अत लेखकी ऐसी बेहूदी और निरर्गल स्थिति होते हुए उसे 'अनेकान्त' मे स्थान देना कैसे उचित हो सकता था ? यदि किसी तरह

स्थान दिया भी जाता तो उसके कलेवरसे फुटनोटोंका कलेवर कई गुना बढ जाता और तब बैरिष्टर साहबको वह और भी नागवार मालूम होता और उस वक्त आपके क्रोधका पारा न मालूम कितनी डिगरी ऊपर चढ जाता, जब एक मित्रके लेख पर नोट देनेसे ही उसकी यह दशा हुई है। उसे न छाप कर तो उस नीतिका भी अनुसरण किया गया है जिसे आपने विलायतके पत्रसपादकोकी नीति लिखा है और कहा है कि 'वे ऐसे लेखोको लेते ही नही जिनपर फुटनोट लगाये बगैर उनका काम न चले।' फिर इस पर कोप क्यो ? गजबकी धमकी क्यो ? और ऐसे विलक्षण आरोपकी सृष्टि क्यो ? क्या क्रोधके आधार पर ही आप अपना सब काम निकालना चाहते हैं ? और प्रेम, सौजन्य तथा युक्तिवाद आदिसे कुछ काम लेना नही चाहते ? बहुत सभव है कि आपका यह आरोप साम्प्रदायिकताके उस आरोपका महज जवाब हो जो कामताप्रसादजीकी लेखनी पर लगाया गया था, परन्तु कुछ भी हो, ऊपरके कथन तथा विवेचन परसे यह स्पष्ट है कि इसमे कुछ भी सार नही है और यह जाने-अनजाने बाबू छोटेलालजीके शब्दो तथा नोटके शब्दोको ठीक ध्यानमे न लेते हुए ही घटित किया गया है। आशा है बैरिष्टर साहब अब 'मूलकी मर्यादा' आदिके भावको ठीक समझ सकेंगे।

यहाँ पर मैं अपने पाठकोको इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इधर तो बाबू छोटेलालजी हैं, जिन्होने अपने लेख परके नोटोके महत्वको समझा है और इस लिये उन्होने उनका कोई प्रतिवाद नही किया और न उनके विषयमे किसी प्रकारकी अप्रसन्नताका ही भाव प्रकट किया है। वे बराबर गभीर तथा उदार बने हुए हैं और 'अनेकान्त' पत्रको बडी ऊँची दृष्टिसे

देखते हैं और यह बात हालके उनके उस पत्रसे प्रकट है जिसका एक अश 'यदि यूरोपमे ऐसा पत्र प्रकाशित होता' इस शीर्षकके नीचे पृ० ६५१ पर दिया गया है और जिसमे उन्होंने पत्रकी भारी उपयोगिताका उल्लेख करते हुए उसके चिरजीवनके लिये प्रोपेगैंडा करनेका परामर्श दिया है और साथ ही अपनी सहायता-का भी वचन दिया है।

और उधर बैरिष्टर साहब हैं, जो अपनी तथा अपने मित्रकी शान और मानरक्षाके लिये व्यर्थ लिखना भी उचित समझते हैं और जरासी बातके ऊपर इतने रुष्ट हो गये हैं कि उन्होंने 'अनेकान्त' के गुणोकी तरफसे अपनी दृष्टिको बिलकुल ही बन्द कर लिया है, उन्हे अब यह नजर ही नही आता कि 'अनेकान्त' कोई महत्वका काम कर रहा है अथवा उसके द्वारा कोई काबिल तारीफ काम हुआ है, अनेकान्तकी नीति भी उन्हे उम्दा (उत्तम) दिखलाई नही देती, अनेकान्तके नामको सार्थक बनानेका कोई प्रयत्न उसके सम्पादकने अभी तक किया है यह भी उन्हे दीख नही पडता—सुन नही पडता, सहधर्मी वात्सल्यकी पत्रमे उन्हे कही बू नही आती और जैनत्वकी भी कुछ गध नही आती और इसलिये इन सब बातोका किसी-न-किसी रूप मे इजहार करते हुए फिर आप यहाँ तक लिखते हैं—

"वह पत्र क्या काम कर सकेगा जो सच्चे जवाहरातमे ही ऐब निकाल निकाल कर दूसरोको अपने सत्यवक्तापनेकी घोषणा दे! और जो चाँदके ऊपर धूल फेकनेको ही अपना कर्तव्य समझ बैठे।"

"यह याद रहे कि यह पत्र मात्र ऐतिहासिक या पुरातत्त्वका पत्र नही है। जैनियोने जो हजारो रुपयेका चन्दा किया है, वह

इसलिये नही किया है, कि 'अनेकान्त' इच्छानुसार अन्ट-सन्ट लिखता रहे।"

"अगर 'अनेकान्त' इतिहासमे जैनत्वकी सुगध पैदा नही कर सकता है तो उसकी कोई जरूरत नही है।"

और इस तरह 'अनेकान्त' की तरफसे लोगोको भडकाने, उन्हे प्रकारान्तरसे उसकी सहायता न करनेके लिये प्रेरित करने और उसका जीवन तक समाप्त कर देने की आपने चेष्टा की है।

ये हैं सब आपकी समालोचनाके खास नमूने। इसे कहते हैं गुणको छोडकर अवगुण ग्रहण-करना, और वह अवगुण भी कैसा? विभगावधि-वाले जीवकी बुद्धिमे स्थित जैसा, जो माताके चमचेसे दूध पिलानेको भी मुँह फाडना समझता है। और इसे कहते हैं एक सलूके लिए भैसेको वध करनेके लिए उतारू हो जाना। जिन सख्याबन्ध जैन-अजैन विद्वानोको 'अनेकान्त'मे सब ओरसे गुणोका दर्शन होता है, इतिहास, साहित्य एव तत्त्वज्ञानका महत्व दिखलाई पडता है, जो सच्चे जैनत्वकी सुगधसे इसे व्याप्त पाते हैं और जो इसकी प्रशसामे मुक्तकण्ठ बने हुए हैं, तथा जिनके हृदयोद्‌गार 'अनेकान्त'की प्रत्येक किरणमे निकलते रहे हैं, वे शायद वैरिष्टर साहबसे कह वैठे—'महाशय जी। क्रोध तथा पक्षपातके आवेशवश आपकी दृष्टिमे विकार आ गया है, इसीसे आपको 'अनेकान्त'मे कुछ गुणकी वात दिखलाई नही पडती अथवा जो कुछ दिखलाई दे रहा है वह सब अन्यथा ही दिखलाई दे रहा है। और इसी तरह नासिका विकृत होकर उसकी घ्राण-शक्ति भी नष्टप्राय हो गई है, इसीसे इसकी जो सुगध चतुर्दिक फैल रही है वह आपको महसूस नही होती और आप उसमे जैनत्वकी कोई गध नही पा रहे हैं।'

उपसंहार

हाँ, साम्प्रदायिकताको पुष्ट करना ही यदि सहधर्मी वात्सल्य-का लक्षण हो तो उसकी बू जरूर अनेकान्त-द्वारा पुष्ट नही होती किन्तु एकान्त-द्वारा पुष्ट होती है। 'अनेकान्त'को साम्प्रदायिकताके पकसे अलिप्त रखनेकी पूरी कोशिश की जाती है, उसका उदय ही इस बातको लेकर हुआ है कि उसमे किसी सम्प्रदायविशेषके अनुचित पक्षपातको स्थान नही दिया जायगा। 'अनेकान्त'की दृष्टिमे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो समान हैं, दोनो ही इसके पाठक तथा ग्राहक हैं और दोनो ही सम्प्रदायोके महानुभाव उस वीर-सेवक-सघ नामक सस्थाके सदस्य हैं जिसके द्वारा समन्त-भद्राश्रमकी स्थापना हुई और जिसका यह मुख पत्र है। श्वेताम्बर सदस्योमे प० सुखलालजी, प० बेचरदासजी और मुनि कल्याण-विजयजी जैसे प्रौढ विद्वानोके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं, जो इस सस्थाकी उदारनीति तथा कार्यपद्धतिको पसन्द करके ही सदस्य हुए हैं। जिस समय यह सस्था कायम की गई थी उसी समय यह निश्चित कर लिया गया था कि इसे स्वतन्त्र रक्खा जायगा, इसीसे यह पूर्व-स्थापित किसी सभा सोसाइटीकी आधीनतामे नही खोली गई। दिगम्बर जैन परिषद्के मत्री बाबू रतनलालजी और खुद बैरिष्टर साहबने बहुतेरा चाहा और कोशिश की कि यह सस्था परिषद्के अडरमे—उसकी शाखा-रूपसे—खोली जाय, परन्तु उसके द्वारा सस्थाके क्षेत्रको सीमित और उसकी नीतिको कुछ सकुचित करना उचित नही समझा गया और इसलिए उनका वह प्रस्ताव मुख्य सस्थापको-द्वारा अस्वीकृत किया गया। ऐसी हालतमे भले ही यह सस्था समाजके

सहयोगके अभावमे टूट जाय और भले ही आगे चलकर वैरिष्टर साहब जैसोकी कृपा-दृष्टिसे इस पत्रका जीवन सकटमे पड जाय या यह वन्द हो जाय, परन्तु जब तक 'अनेकान्त' जारी है और मैं उसका सम्पादक हूँ तव तक मैं अपनी शक्ति भर उसे उसके आदर्शसे नही गिरने दूँगा और न साम्प्रदायिक कट्टरताका ही उसमे प्रवेश होने दूँगा। मैं इस साम्प्रदायिक कट्टरताको जैनधर्मके विकास और मानवसमाजके उत्थानके लिये बहुत ही घातक समझता हूँ। अस्तु।

वैरिष्टर साहबने मुझसे इस वात का खुलासा माँगा है कि मैं दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनो सम्प्रदायोमेसे किसको प्राचीन, असली और मूल समझता हूँ। अत इस सम्बधमे भी चन्द शब्द लिख देना उचित जान पडता है।

जहाँ तक मैंने जैनशास्त्रोका अध्ययन किया है मुझे यह मालूम हुआ है कि भगवान महावीर-रूपी हिमाचलसे धर्मकी जो गगधारा वही है वह आगे चल कर वीचमे एक चट्टानके आ जानेसे दो धाराओमे विभाजित हो गई है—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्वर। अव इनमे किसको मूल कहा जाय ? या तो दोनो ही मूल हैं और या दोनो ही मूल नही हैं। चूँकि मूल-धारा ही दो भागोमे विभाजित हो गई है और दोनो उसके अग हैं इसलिये दोनो ही मूल हैं और परम्पराकी अपेक्षासे चूँकि एक धारा दूसरीमेसे नही निकली इस लिये दोनोमेसे कोई भी मूल नही है। हाँ, दिगम्बर-धाराको अपनी बीसपथ, तेरहपथ, तार-णपथ अथवा मूलसघ, द्राविडसघ आदि उत्तर-धाराओ एव शाखाओकी अपेक्षासे मूल कहा जा सकता है, और श्वेताम्बर-धाराको अपनी स्थानकवासी, तेरहपथ और अनेक गच्छादिके

भेदवाली उत्तरधाराओ एवं शाखाओंकी अपेक्षासे मूल कहा जा सकता है। इसी तरह प्राचीनता और अप्राचीनताका हाल है। मूलधाराकी प्राचीनताकी दृष्टिसे तथा अपनी उत्तरकालीन शाखाओकी दृष्टिसे दोनो प्राचीन हैं और अपनी उत्पत्ति तथा नामकरण-समयकी अपेक्षासे दोनो अर्वाचीन हैं। रही असली और वेअसलीकी वात, असली मूलधाराके अधिकाश जलकी अपेक्षा दोनो असली हैं, और चूँकि दोनोमे वादको इधर-उधरसे अनेक नदी-नाले शामिल हो गये हैं और उन्होंने उनके मूल जलको विकृत कर दिया है, इस लिये दोनो ही अपने वर्तमान-रूपमे असली नही हैं। इस प्रकार अनेकान्तदृष्टिसे देखने पर दोनो सम्प्रदायोकी मूलता—प्राचीनता आदिका रहस्य भले प्रकार समझमे आ सकता है। वाकी जिस सम्प्रदायको यह दावा हो कि वही एक अविकल मूलधारा है जो अब तक सीधी चली आई है और दूसरा सप्रदाय उसमेसे एक नालेके तौर पर या ऐसे निकल गया है जैसे वटवृक्षमेसे जटाएँ निकलती हैं, तो उसे वहुत प्राचीन साहित्यपरसे यह स्पष्टरूपमे दिखलाना होगा कि उसमे कहाँ पर उसके वर्तमान नामादिकका उल्लेख है। अर्थात् दिगम्वर श्वेताम्बरोकी और श्वेताम्बर दिगम्थरोकी उत्पत्ति विक्रमकी दूसरी शताव्दीके पूर्वार्धमे वतलाते हैं, तब कमसे कम विक्रमकी पहली शताव्दीसे पूर्वके रचे हुए ग्रथादिकमें यह स्पष्ट दिखलाना होगा कि उनमे 'दिगम्वरमत—धर्म' या 'श्वेताम्वरमत—धर्म' ऐसा कुछ उल्लेक है और साथमे उसकी वे विशेषताएँ भी दी हुई हैं जो उसे दूसरे सम्प्रदायसे भिन्न करती हैं। दूसरे शव्दो परसे अनुमानादिक लगा कर वतलानेकी ज़रूरत नही। जहाँ तक मैंने प्राचीन साहित्यका अध्ययन किया है मुझे ऐसा

कोई उल्लेख अभी तक नही मिला और इसलिये उपलब्ध साहित्य परसे मैं यही समझता हूँ कि मूल जैनधर्मकी धारा आगे चल कर दो भागोमे विभाजित हो गई है—एक दिगम्बरमत और दूसरा श्वेताम्बरमत, जैसा कि ऊपरके कथनसे प्रकट है।

आशा है इस लेखसे बैरिष्टर साहब और दूसरे सज्जन भी समाधानको प्राप्त होगे। अन्त मे बैरिष्टर साहबसे निवेदन है कि वे भविष्यमे जो कुछ लिखे उसे बहुत सोच-समझ-कर अच्छे जँचे-तुले, शिष्ट, शान्त तथा गभीर शब्दोमे लिखे, इसीमे उनका गौरव है, यो ही किसी उत्तेजना या आवेशके वश होकर जैसे तैसे कोई बात सुपूर्द कलम न करें और इस तरह व्यर्थ-की अप्रिय चर्चाको अवसर न देवे। बाकी कर्तव्यानुरोधसे लिखे हुए मेरे इस लेखके किसी शब्द परसे यदि उन्हे कुछ चोट पहुँचे तो उसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। उन्हे खुदको ही इसके लिये ज़िम्मेदार समझ कर शान्ति धारण करनी चाहिये।

—अनेकान्त वर्ष १, किरण ११-१२, अक्तूबर १९३०

ब्रह्मचारीजीकी विचित्र स्थिति और अजीव निर्णय ! : १० :

ता० ३ मई सन् १९३४ के 'जैनमित्र' मे ब्र० शीतलप्रसादजीने मेरी लिखी हुई 'भगवान् महावीर और उनका समय' नामक पुस्तककी समालोचना प्रकाशित की है। इस समालोचनामे पुस्तकको वहुत उपयोगी वतलाते हुए और उसकी दूसरी किसी वातपर आपत्ति न करते हुए सिर्फ एक वातपर आपत्ति की गयी है और वह इस वातपर कि मैंने वौद्धोके 'सामगामसुत्त'मे वर्णित महावीरके उस मृत्यु-समाचारको, जो चुन्द-द्वारा वुद्धको पहुँचाया गया था, असत्य क्यो मान लिया ओर क्यो वुद्धके शरीर-त्यागको महावीरके निर्वाणसे पहलेका अनुमान कर लिया। पुस्तकको पढकर कोई भी सहृदय पाठक सहज ही यह समझ सकता है कि न तो मेरी उक्त मान्यता निराधार थी और न अनुमान करना निर्हेतुक ही था। मैंने वस्तुस्थितिकी सूचक जिन घटनाओ एव प्रमाणोके आधारपर ऐसा किया उनका उल्लेख पुस्तकमे पृष्ठ ५१ से ५३ तक किया गया है। यहाँ पर पाठकोकी जानकारीके लिये उनका सार प्राय पुस्तकके ही शब्दोमें दिया जाता है और वह इस प्रकार है —

(१) खुद वौद्ध ग्रथोमे वुद्धका निर्वाण अजातशत्रु (कुणिक) के राज्यके आठवें वर्ष वतलाया है।

(२) वौद्धोके 'दीघनिकाय'मे तत्कालीन तीर्थंकरोकी मुलाकातके अवसरपर अजातशत्रुके मत्रीके मुखसे निगठनातपुत्त

(महावीर)का जो परिचय दिलाया है उसमे महावीरका एक विशेषण 'अद्धंगतो वयो' (अर्धंगतवयः) भी दिया है। जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि इस परिचयके समय महावीर अधेड उम्रके थे अर्थात् उनकी अवस्था ५० वर्षके लगभग थी। और इसलिए वे अधिक नही तो अजातशत्रुके राज्यके २२वें वर्ष तक जीवित रहने चाहिये, क्योकि उनकी अवस्था प्रायः ७२ वर्षकी थी।

(३) अजातशत्रुके राज्यके ८ वें वर्ष बुद्ध-निर्वाण और २२ वे वर्ष महावीर-निर्वाण होनेसे महावीर-निर्वाण बुद्ध-निर्वाणसे १४ वर्ष बाद पाया जाता है।

(४) 'भगवतीसूत्र' आदि श्वेताम्बर ग्रन्थोसे भी ऐसा मालूम होता है कि महावीर-निर्वाणसे १६ वर्ष पहले गोशालक (मखलि-पुत्त गोशाल)का स्वर्गवास हुआ। गोशालकके स्वर्गवाससे कुछ वर्ष पूर्व (प्रायः ७ वर्ष पहले) अजातशत्रुका राज्यारोहण हुआ। उसके राज्यके आठवे वर्षमे बुद्धका निर्वाण हुआ और बुद्धके निर्वाणसे कोई १०-१५ वर्ष वाद अथवा अजातशत्रुके राज्यके २२ वे वर्ष महावीरका निर्वाण हुआ।

(५) हेमचन्द्राचार्यने चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण-समय वीर-नि० सं० १५५ वर्ष बाद बतलाया है और 'दीपवंश', 'महावंश' नामके बौद्धग्रन्थोमे वही (चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण) समय बुद्ध-निर्वाण स० १६२ वर्ष बाद बतलाया है। इससे भी प्रकृत विषयका कितना ही समर्थन होता है और यह साफ जाना जाता है कि वीर-निर्वाणसे बुद्ध-निर्वाण अधिक नही तो ७-८ वर्षके करीब पहले जरूर हुआ हैं।

(६) लकामे जो बुद्ध-निर्वाण सवत् प्रचलित है वह सबसे अधिक मान्य किया जाता है—ब्रह्मा, श्याम और आसाममे भी

वह माना जाता है। उसके अनुसार वुद्ध-निर्वाण ई० सन् से ५४४ वर्ष पहले हुआ है। इससे भी महावीर-निर्वाण वुद्ध-निर्वाणके वाद वैठता है।

(७) चूँकि मक्खलिपुत्तकी, जो कि वुद्धके छह प्रतिस्पर्धी तीर्थंकरोमेसे एक था, मृत्यु वुद्ध-निर्वाणसे प्रायः एक वर्ष पहले ही हुई है और वुद्ध-निर्वाण भी उक्त मृत्यु-समाचारसे प्राय एक वर्ष वाद माना जाता है। दूसरे, जिस पावामे मृत्युका होना लिखा है, वह पावा महावीरकी निर्वाण-क्षेत्रवाली पावा नही है वल्कि दूसरी ही पावा है जो वौद्धपिटकानुसार गोरखपुरके जिलेमे स्थित कुशीनाराके पासका कोई ग्राम है। तीसरे, कोई सघ-भेद भी महावीरके निर्वाणके अनन्तर नही हुआ, वल्कि गोशालककी मृत्यु जिस दशामे हुई है उससे उसके सघका विभाजित होना वहुत कुछ स्वाभाविक है। ऐसी हालतमे '**सामगामसुत्त**'मे वर्णित उक्त मृत्यु तथा सघभेद समाचारवाली घटनाका महावीरके साथ कोई सम्वन्ध मालूम नही होता। वहुत सभव है कि वह मखलिपुत्त गोशालकी मृत्युसे सम्वन्ध रखती हो और 'पिटक' ग्रन्थोको लिपिवद्ध करते समय किसी भूल आदिके वश इस सूत्रमे मक्खलिपुत्तकी जगह नातपुत्तका नाम प्रविष्ट हो गया हो।

इन सव प्रमाणोमेसे किसीका भी कोई खडन न करते हुए ब्रह्मचारीजी एक युक्तिपुरस्सर निर्णय पर आपत्ति करने चले हैं ? यह देखकर वडा ही आश्चर्य होता है। आपका मन्तव्य है—

"**सामगामसुत्त** न० १०४ के शव्दोसे यह कभी भ्रम नही होता कि निर्ग्रन्थ श्री महावीर भगवान्के सिवाय किसी औरका कथन हो। वहाँ साफ लिखा है कि 'चन्दो (चुन्द) ने आनन्दको खवर की कि निग्गथ नातपुत्त पावामे अभी निर्वाण हुए।' वह यह भी

कहता है कि उनके निर्वाणके पीछे निर्ग्रन्थ-साधुओमे मतभेद हो रहा है। तब चुन्द व आनन्द दोनो गौतमबुद्धके पास जाकर निवेदन करते हैं। इस कथनको असत्य माननेका कोई कारण नही दीखता है। इससे यही सिद्ध है कि गौतमबुद्धके जीवनमे ही श्री महावीरस्वामीका निर्वाण हुआ। तथा तब गौतम ७६-७७ वर्षके थे।"

ब्रह्मचारीजीके इस अजीब निर्णय एव आदेशसे ऐसा मालूम होता है कि उन्होने 'सामगामसुत्त'को स्वत प्रमाणके तौरपर मान लिया है, परन्तु फिर भी आपका कारणकी मार्गणा अथवा गवेषणा करते हुए यह लिखना कि "इस कथनको असत्य मानने-का कोई कारण नही दीखता है" अजीब तमाशा जान पडता है। कारण तो ऊपर एक नही अनेक बतलाये गये हैं। उन्हे क्या ब्रह्मचारीजीने पुस्तकमे पढा नही और वैसे ही इधर-उधरके दो चार पत्र पलटकर अपना निर्णय दे डाला है? बिना पूरा पढे और बिना अच्छी तरहसे जाँच किये किसी भी युक्ति-पुरस्सर लेखनीके विरुद्ध कलम चलाना तो निस्सन्देह अति साहसका काम है। मैं पूछता हूँ यदि ब्रह्मचारीजीकी दृष्टिमे बौद्धोका 'सामगामसुत्त' बिलकुल ही प्रामाणिक वस्तु है—उसकी सत्यताके विरुद्ध उन्हे कोई भी कारण दिखलाई नहीं पडता—तो वे कृपया निम्न बातोका समाधान कर अपनी पोजीशनको स्पष्ट करे —

१—'सामगामसुत्तके शुरूमें ही लिखा है कि[1] निगंठनातपुत्तके मरनेपर निगंठ (जैनसाधु) लोग दो भाग हो, भडन (कलह-विवाद) करते, एक दूसरेको मुखरूपी शक्तिसे छेदते विहर रहे

१. देखो, 'बुद्धचर्या' में पृ० ४८१ पर उक्त सुत्तका अनुवाद।

थे—"तू इस धर्मविनय (धर्म) को नही जानता, मैं इस धर्मविनयको जानता हूँ, तू क्या इस धर्मविनयको जानेगा, तू मिथ्यारूढ है, मैं सत्यारूढ हूँ" इत्यादि। यह तूतूकार और गालीगलौज क्या ब्रह्मचारीजी भगवान् गौतमस्वामी और सुधर्मास्वामी आदिके बीच हुआ मानते हैं जो कि भ० महावीरके मुख्य गणधर थे और गौतमस्वामीको तो उसी समय केवलज्ञानकी प्राप्ति भी हो गई थी ? यदि ऐसा है तो वे एक केवलज्ञानी और महामुनिकी पोजीशनको कैसे सुरक्षित रख सकेंगे ?

२—इस सुत्तमे वर्णित मृत्यु-समाचारको चन्द नामक बौद्ध-भिक्षु वर्षावास समाप्त करते ही बुद्धके पास ले गया था और उसने जाते ही कहा था कि "निगठनातपुत्त अभी अभी पावामें मरे हैं, उसके मरनेपर निगठ लोग दो भाग हो " इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि यह समाचार मृत्युके बाद थोड़े ही समयके अनन्तर—ज्यादा-से-ज्यादा १५-२० दिनके बाद बुद्धके पास पहुँचाया गया है। इस अल्प समयके भीतर जैन-साधुसघके कौन-से दो विभाग हुए ब्रह्मचारीजी मानते हैं ? क्योंकि दिगम्बर और श्वेताम्बर रूपसे जो दो भेद हुए हैं वे तो महावीरके निर्वाणसे बहुत बादकी—केवलियो और श्रुतकेवलियोंके भी बादके समयकी—घटनाएँ हैं। यदि इन्ही दो भेदोको लक्ष्य करके उस सूत्रमे उल्लेख किया गया है और जिसका कुछ आभास "निगठके श्रावक जो गृही श्वेतवस्त्रधारी थे वे भी नातपुत्तीय निगठोमे (वैसे ही) निर्विण्ण-विरक्त-प्रतिवाण रूप थे" इत्यादि इसी सूत्रके दूसरे वाक्योसे भी मिलता है तब यह सूत्र सत्य और प्रामाणिक कैसे ?

३—**सामगामसुत्त**मे जिस पावाका उल्लेख है वह बौद्ध-

ग्रन्थोंके अनुसार गोरखपुरके जिलेमे कुशीनाराके पासका कोई ग्राम है, जिसका उल्लेख बुद्धचर्यामे भी कई जगह किया गया है[1]। ऐसी हालतमे ब्रह्मचारीजी क्या **महावीरका** निर्वाण स्थान वर्तमान **पावापुरको** नही मानते हैं ?

४—**सामगामसुत्तके** किन शब्दोपरसे ब्रह्मचारीजी यह नतीजा निकालनेमे समर्थ हुए हैं कि "तब गौतम ७६-७७ वर्षके थे ?"

५—ब्रह्चारीजी **मज्झिमनिकायके** **सामगामसुत्तको** तो किस आधारपर प्रमाण मानते हैं और उसी **मज्झिमनिकायके** '**उपालिसुत्त**' और '**अभयराजसुत्त**' आदि उन दूसरे कई सूत्रोको क्यो प्रमाण नही मानते हैं, जिनका उल्लेख आपने **हिन्दी मज्झिमनिकाय** नामके अपने लेखमे किया है, जो बादको १० मई सन् १९३४ के **जैनमित्रमे** प्रकाशित हुआ है ? 'उपालिसुत्त'का तो '**सामगामसुत्त**'के साथ खास सम्बन्ध भी बतलाया जाता है, जैसा कि '**बुद्धचर्या**'मे सामगामसुत्तका अनुवाद देते हुए '**अट्ठ-कहा**'के आधारपर दिये हुए निम्न शब्दोसे प्रकट है —

"यह नातपुत्त तो नालन्दावासी था वह कैसे क्यो पावामे मरा ? सत्यलाभी उपालि गृहपतिके दश गाथाओसे भाषित बुद्ध-गुणोको सुनकर उसने मुँहसे गर्म खून फेक दिया। तब अस्वस्थ ही उसे पावा ले गये। वह वही मरा।"

अत इस विषयका ब्रह्मचारीजीको अच्छा हृदयग्राही स्पष्टी-करण एव खुलासा करना चाहिये और साथ ही यह भी बतलाना चाहिये कि '**उपालिसुत्त**' आदिके विषयमे जो उन्होने अपने

---

१ देखो 'सगीतिपरिमायसुत्त' और 'महापरिणिव्वाणसुत्त' आदि।

'हिन्दी मज्झिमनिकाय' वाले लेखमे जैनधर्मसे बौद्धोके ईर्षाभाव तथा द्वेषभावकी कल्पना की है वह कल्पना 'सामगामसुत्त' के साथ क्यो सगत नहीं बैठती ? क्योकि इस सूत्रमे भी तो निगठनातपुत्त (महावीर) के धर्मको दुराख्यात (ठीकसे न कहा गया) दुष्प्रवेदित (ठीकसे न साक्षात्कार किया गया), अतैर्थाणिक (पार न लगानेवाला), असम्यक्सम्बुद्ध प्रवेदित और प्रतिष्ठा-रहित आदि बुरे रूपमे उल्लिखित किया गया है ।

६—ब्रह्मचारीजीने अपने उक्त लेखमे 'उपालिसुत' आदि पर आपत्ति करते हुए लिखा है कि :—

"यद्यपि लेखकने कथन ऐसा किया है मानो वे सब वाक्य गौतमबुद्धके ही हैं परन्तु ऐसा सभव नही है, ५०० वर्षो तक वे सब वाक्य वैसेके वैसे ही चले आये हो, सभव है कुछ आए हो, उनमे उस समयके लेखकोने जरूर अपना अभिप्राय प्रवेश किया है, विलकुल शुद्ध कथन नही हो सकता ।"

जब 'मज्झिमनिकाय' आदिको लिये हुए पिटक ग्रन्थोकी ऐसी स्थिति ब्रह्मचारीजी स्वय स्वीकार करते हैं, तब निगठनात पुत्तकी मृत्यु तथा सघभेद-समाचारवाली घटनाके विषयमे जो यह युक्तिपुरस्सर कल्पना की है कि वह मक्खलिपुत्त गोशालकी मृत्युसे सम्बन्ध रख सकती है और इस सूत्रमे मक्खलिपुत्तकी जगह 'नातपुत्त' का नाम किसी भूल या द्वेषादिका परिणाम हो सकता है, इस पर ब्रह्मचारीजी किस आधार पर आपत्ति करने बैठे हैं, वह कुछ समझमे नही आता ? उसका भी स्पष्टीकरण होना चाहिये ।

७—समालोचनाके अन्तिम पैराग्राफमे लिखा है —

"गोपमग्गलाक सुत्त न० १०८ से विदित होता है कि

गौतमके देह-त्यागके पीछे जब राजगृहमे अजातशत्रु राज्य कर रहा था तब **गोपक-मग्गलानो** ब्राह्मणसे **आनन्दका** वार्तालाप हुआ है कि जैसे गौतम बुद्ध थे वैसा कोई बुद्ध उनके पीछे है क्या ? इत्यादि। इससे विदित है कि **अजातशत्रु**का राज्य होते ही गौतम बुद्धका भी देहावसान हो गया था। महावीर स्वामीका इससे ३ या ४ वर्ष पूर्व हुआ था, बुद्धचर्या' से यह बात साफ प्रकट है।''

उक्त सूत्र यद्यपि मेरे सामने नही है फिर भी सूत्रके वक्तव्य-को जिन शब्दोमे ब्रह्मचारीजीने रक्खा है उनपरसे समझमे नही आता कि वे कैसे उक्त नतीजा निकालने बैठे हैं। उन शब्दोसे तो सिर्फ इतना ही पता चलता है कि उक्त वार्तालाप बुद्धकी मृत्युके बाद हुआ और **अजातशत्रु**के राज्यमे हुआ—इससे अधिक और कुछ नही। बुद्धका निर्वाण तो बौद्ध-ग्रन्थोमे भी अजातशत्रुके राज्यके आठवे वर्षमे बतलाया है जैसा कि '**बुद्धचर्या**' के ''सम्यक् सबुद्ध अजातशत्रुके आठवे वर्षमे परिनिर्वाणको प्राप्त हुए'' इन शब्दोसे भी जाना जाता है (पृष्ठ ५७७)। और 'महापरिणिव्वाणसुत्त' से यह साफ मालूम होता है कि बुद्ध जब राजगृहमे गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे तब अजातशत्रुका राज्य चल रहा था और अजातशत्रु बज्जियो पर चढाई करना चाहता था ? जिसके सम्बन्धमे उसने अपने महामत्रीको भेजकर बुद्धसे प्रश्न भी कराया था (देखो '**बुद्धचर्या**' पृ० ५२० पर उक्त सूत्रका अनुवाद)। ऐसी हालतमे ब्रह्मचारीजीका यह कहना कि 'अजातशत्रुका राज्य होते ही गौतम बुद्धका देहावसान हो गया था', बडा ही विचित्र और बिना सिर-पैरका जान पडता है। इसी तरह यह कहना भी निराधार और अविचारित

मालूम होता है कि महावीर स्वामीका देहावसान इससे ३ या ४ वर्ष पूर्व हुआ ? क्योकि इसके द्वारा ब्रह्मचारीजी यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि अजातशत्रुके राज्यसे ३ या ४ वर्ष पहले राजा श्रेणिकके राज्यमे ही महावीरका निर्वाण हुआ है। परन्तु यह बात खुद बौद्ध ग्रन्थो और उस बुद्धचर्या के भी विरुद्ध पडती है, जिसकी आप दुहाई दे रहे हैं, क्योकि **'दीघनिकाय'** के **'सामंज-फलसुत्त'** का जो अनुवाद **बुद्धचर्यामे** दिया है उससे साफ जाना जाता है कि आजतशत्रुके राज्यमे बुद्ध ही नही, किन्तु निगठनात पुत्त (महाबीर) आदि दूसरे छह तीर्थंकर भी मौजूद थे, अजात शत्रुने उन सबसे मिलकर प्रश्नोत्तार किये थे ! अन्तको बुद्धके उत्तारसे सन्तुष्ट होकर वह बुद्धका शरणागत (उपासक) बना था और उसने बुद्धके सामने अपने पिता (श्रेणिक) को जानसे मार डालनेका अपराध स्वोकार किया था। ऐसी हालतमे ब्रह्मचारीजी बतलाये कि उनका यह सब कथन कैसे सगत हो सकता है ?

एक स्थान पर ब्रह्मचारीजी लिखते हैं—"प्रभु जब ४२ वर्षके थे तब गौतम बुद्ध ४७ वर्ष के थे। गौतम बुद्धका उपदेश अपनी ३५ वर्षकी उम्रमे शुरू हुआ अर्थात् महावीर भगवानसे १२ वर्ष पहले। यही कारण था कि राजा श्रेणिक बाल्यावस्थामे वुद्ध-मतानुयायी हो गया था, पीछे महावीर स्वामीके केवलज्ञानी होने पर जैनी हुआ है।" परन्तु इससे महावीर-निर्वाणका पहले और बुद्ध-निर्माणका पीछे होना लाजिमी नही आता। वल्कि बौद्धधर्मका प्रचार १२ वर्ष पहले होनेसे उसके उपदेष्टा बुद्धका, जो अवस्थामे भी महावीरसे बडे थे, देहावसान महावीरके निर्वाण-से पहले होना अधिक सभावित जान पडता है। तब समझमे नही आता कि ब्रह्मचारीजीने अन्तिम पैराग्राफसे पहले इस निरर्थक बातका उल्लेख करना क्यो जरूरी समझा है ?

इस प्रकार एक कालमकी समालोचनाका पौन भाग व्यर्थकी अनावश्यक और असंगत बातोसे भरा हुआ है। अच्छा होता यदि इतने स्थान पर पुस्तकका कुछ विशेष परिचय दिया जाता। परन्तु जान पडता है ब्रह्मचारीजीकी चलती लेखनीको कभी-कभी विशेष परिचयकी बात तो दूर, आवश्यक सामान्य परिचय-की भी कुछ चिन्ता नही रहती, जिसका एक ताजा उदाहरण गत ३१ मईके **'जैनमित्र'** मे प्रकाशित **'समन्तभद्रका समय और डाक्टर पाठक'** नामक निबन्धका परिचय है, जिसमे यहाँ तक नही बतलाया गया कि डा० पाठकका इस निबन्धसे क्या सम्बन्ध है, जबकि यह बतलाना चाहिये था कि डा० के० बी० पाठकने समन्तभद्रका समय कुछ युक्तियोके आधार पर आठवी शताब्दी करार दिया था, उन सब युक्तियोका इस निबन्धमे कितनी खोज-के साथ कैसा कुछ खडन किया गया है।

खेद है ब्रह्मचारीजी बिना सोचे-समझे एक बात पर आपत्ति करने तो बैठ गये परन्तु वे उसका ठीक तौरसे निर्वाह नही कर सके और यो ही यद्वा तद्वा लिख गये हैं।

आजकल ब्रह्मचारीजी बौद्धधर्मको अपना रहे हैं और साथ ही जैनधर्मको छोड भी नही रहे हैं। आपका कहना है कि प्राचीन बौद्धधर्म और जैनधर्म एक ही थे—समान थे—निर्वाणका जो स्वरूप जैन सिद्धान्तमे वर्णित है वही बौद्ध-सिद्धान्तमे मुझे झलकता है। असुक बौद्धसूत्रमे मोक्षमार्गका अच्छा वर्णन है, बहुतसे बौद्धसूत्रोको पढनेसे ऐसा ही आनन्द आता है मानो जैन सिद्धान्तका स्वाध्याय हो रहा हो, इत्यादि। और इस तरह आप प्रकारान्तरसे यह प्रतिपादन करते है अथवा सुझा रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्र और अकलकदेव जैसे महान आचार्योंने बौद्ध-

धर्मको ठीक तौरसे समझा नही ओर इसीलिये वे उसके खडनमे प्रवृत्त हुए हैं !! जान पड़ता है ब्रह्मचारीजी कुछ दिनसे बौद्ध-साहित्यका अध्ययन करते हुए और बौद्धधर्मके मूल सिद्धान्तोपर ठीक दृष्टि न रखते हुए ग्रन्थोके ऊपरी शब्दजालमे पडकर बौद्ध-धर्मकी मोहमायामे फँस गये हैं। इस मोहमायामय शब्दजालको स्वामी समन्तभद्र जैसे आचार्योंने परखा था और उसीकी सूचना वे **'बहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलं'** जैसे वाक्यो-द्वारा अपने ग्रन्थोमे कर गये हैं। 'स्वयंभूस्तोत्र'की टीका लिखकर भी ब्रह्मचारीजीने स्वामीजीके इस सकेतको नही समझा, यह आश्चर्य तथा खेदकी बात है। इसीसे आपकी स्थिति आजकल दो परस्पर विरोधी घोडोकी पीठपर एक साथ सवारी करनेवाले सवार-जैसी हो रही है।

आशा है, इस लेखसे, ब्रह्मचारीजी अपनी भूलको सुधारेंगे और अपनी पोजीशनको शीघ्र ही स्पष्ट करके बतलानेकी कृपा करेंगे।

—जैनजगत, १६–७–१९३४

स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ? : ११ :

श्रीसत्यभक्त प० दरबारीलालजीका एक लेख, जो लिखित व्याख्यानके रूपमे गत १४ सितम्बर १९५६ को बम्बईकी पर्युषण-व्याख्यान-सभामे पढा गया था और '**सत्य-सन्देश**'के अक न० २० मे '**जैनधर्म और निवृत्तिमार्ग**' नामसे मुद्रित हुआ है, हालमे मुझे पढनेको मिला। इस लेखमे सत्यभक्तजी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी अपनी व्याख्या करते हुए यह एकान्त उपदेश देते हैं कि—"**स्वार्थसे निवृत्ति कीजिये, किन्तु परार्थमे उससे कई गुणी प्रवृत्ति कीजिये।**"

यह उपदेश प्राय ससारका ही मार्ग जान पडता है—परमार्थका नही। और इसलिये जो लोग ससारको ही सब कुछ समझते हैं, आत्माकी परमविशुद्धि-सिद्धि-मुक्ति अथवा पूर्ण-स्वतन्त्रता जिन्हे अभीष्ट नही है और न जो इस बातको ही मान्य करते हैं कि यह आत्मा सम्पूर्ण वैभाविक परिणतियोसे छूटकर स्वभावमे स्थित हो सकता है उन्हे उक्त उपदेश किसी तरह इष्ट हो सकता है और वे उसे अपना सकते हैं। परन्तु जो लोग आत्मार्थ-साधनकी दृष्टिसे ससार-बन्धनसे छूटनेके मार्गपर लगे हुए हैं, स्थितप्रज्ञकी अवस्था अथवा ब्राह्मी-स्थितिको प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए यह एकान्त उपदेश उपादेय मालूम नही होता। क्योकि स्वार्थ तो वास्तवमे आत्मार्थ—आत्मीयप्रयोजन अथवा आत्माके निजी अभीष्ट एव ध्येयका नाम है और वह '**आत्यन्तिक स्वास्थ्यरूप—अविनाशी स्वात्मस्थितिरूप**—है, इन्द्रिय-

विषयोंके क्षणभंगुर भोगरूप नहीं है।' जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्नवाक्यसे प्रकट है —

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां
स्वार्थो, न भोगः परिभंगुरात्मा। **—स्वयम्भूस्तोत्र**

ऐसी हालतमे स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ? उसमे तो अधिकाधिक प्रवृत्ति होनी चाहिये। ऐसी स्वार्थसाधना तो—जिसमे कषायोकी निवृत्ति की जाती है, इन्द्रिय-विषयोको जीता जाता है, पापाचारसे विरक्ति रहती है और इस रूपमे लोककी भारी सेवा की जाती है—किसीके लिये हानिकर भी नही होती। प्रत्युत इसके, दूसरे जीवोके स्वार्थमें बाधा न पहुँचाते हुए उनके उस स्वार्थ-साधनमे सहायक होती है—उनके सामने स्वार्थसिद्धिका आदर्श एव मार्ग उपस्थित करती है और करती है उसपर चलनेकी मूक प्रेरणा। ऐसी स्वार्थ-साधनासे निवृत्तिका अर्थ तो आत्मलाभसे वचित रहने जैसा हुआ, जो किसी तरह भी इष्ट नही हो सकता।

आत्मलाभसे वचित रहना पुद्गलका अभिनन्दन करना है और वह ससारका वढानेवाला—जीवके परिभ्रमणको लम्बा करनेवाला—तथा ससारमे दु ख और अशान्तिकी परम्पराको जन्म देनेवाला है। आत्मलाभसे वचित रहकर भले ही कोई सुखशान्तिके कितने ही गीत गावे और कितने ही उपाय क्यो न करे परन्तु उन सबसे वास्तविक सुखशान्तिकी प्राप्ति नही हो सकती। सुख-शान्तिका आत्मलाभ अथवा स्वार्थसिद्धिके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है—वह कोई बाहरसे आनेवाली चीज नही है। इसी बातको लक्ष्यमे रखकर श्रीपूज्यपादाचार्यने, अपने 'इष्टोपदेश'के निम्न पद्योमे, **"स्वार्थं को वा न वांछति"** और **"परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव"** जैसे वाक्योके द्वारा स्व-परके विवेकको

जागृत करते हुए पुद्गलके अभिनन्दनको—परकी आराधनाको—हेय और स्वार्थसाधनाको उपादेय बतलाया है। साथही, उन लोगोको मूढ घोषित किया है जो स्वार्थसिद्धिसे विमुख होकर परके—बाह्य शरीरादिके—उपकार-साधनमे ही लगे रहते हैं '—

कर्म कर्महितावन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति ॥ ३१ ॥
परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याऽज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

शायद इसी बातको लेकर नीतिका यह वाक्य भी प्रसिद्ध हो कि **"स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता"**—अर्थात् स्वार्थसे भ्रष्ट रहना—उसे सिद्ध न करना—मूर्खता है।

ऐसी दशामे अथवा ऐसी वस्तु-स्थितिके होते हुए, यहाँ तक उपदेश दे डालना कि **"निवृत्ति तो सिर्फ स्वार्थकी निवृत्ति है और वह इसलिये है कि विश्वहितमे घोर प्रवृत्ति की जा सके"** वह बहुत कुछ असगत और अविचारित जान पडता है। स्वार्थकी उक्त परिभाषा एव व्याख्याके अनुसार तो आत्महितसे रिक्त मनुष्य विश्वभरका तो क्या थोडेसे भी प्राणियोका सच्चा हित साधन नही कर सकता। जो खुद ही रास्ता भूल रहा हो वह दूसरोको रास्तेपर कैसे लगा सकता है ? क्या रोग, विकार और शत्रु भी स्वार्थमे शामिल हैं ? यदि नही तो फिर क्या इनकी निवृत्ति नही होनी चाहिये, जिसके लिये स्वार्थकी निवृत्तिके साथ **"सिर्फ"** शब्दका प्रयोग किया गया है ? इनकी निवृत्तिके बिना तो लोकहित कुछ भी नही बन सकता ?

यदि लौकिक दृष्टिसे स्वार्थका दूसरा अवास्तविक अर्थ **'अपना इन्द्रिय-विषय-भोग'** ही लिया जावे और उसीको लेखकका

अभिप्रेत समझा जावे तो फिर उससे निवृत्ति धारण करनेवालेके लिये यह क्योकर आवश्यक हो सकता है कि वह दूसरोको उन्ही इन्द्रिय-विषय-भोगोकी प्राप्ति करानेमे अधिकाधिक अथवा अपनी उस निवृत्तिसे भी कई गुणी अधिक-प्रवृत्ति करे ? एक मनुष्य जो आत्महित-साधनकी दृष्टिसे—शारीरिक अशक्ततादिकी दृष्टिसे नही—स्त्रीप्रसंगको हेय समझकर त्यागता है उसके लिये क्या यह सगत और उचित होगा कि वह उसी दृष्टिसे दूसरोंको स्त्री-प्रसग कराता फिरे अथवा उनके गठबन्धनकी योजना करता फिरे ? कदापि नही। यह दूसरी बात है कि किसीको भी अपने भोगो-पभोगकी सामग्रीको उससे अधिक रूपमे सग्रह नही करना चहिये जितना कि उसको न्याय्य आवश्यकताकी पूर्तिके लिये जरूरी हो, क्योकि ऐसा करनेसे सग्रहकारकी आकुलताओकी वृद्धिके साथ साथ दूसरोको अपनी जरूरियातके पूरा करनेमे बाधा भी उपस्थित होती है और उससे लोककी शान्ति भग होती है। इसी उद्देश्य-को लेकर अपरिग्रह, परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोग-परिमाण जैसे व्रतोका विधान किया गया है, जो बहुत ही उचित जान पडता है।

इसके सिवाय, यदि दूसरोको उनके इन्द्रिय-विषय-भोगोकी प्राप्ति कराना ही उनका हित-साधन करना है तो फिर अपने इन्द्रिय-विषय-भोगोने ही कौन-सा अपराध किया है, जिससे उनकी निवृत्ति की जाय ? क्या अपना हित-साधन करना भी अपनेको इष्ट नही है ? और यदि सभी जन अपने-अपने विषय-भोगोंके त्यागरूप स्वार्थकी निवृत्ति कर डालें तो फिर वह इन्द्रिय-विषय-भोगोकी सेवारूप विश्वहित भी क्या खाक बन सकेगा, जिसके लिये यह सब कुछ किया जाता है ? अथवा स्वार्थकी

यह निवृत्ति क्या इक्के-दुक्कोके लिये ही है—सबके लिये नही ? तब इक्के-दुक्कोकी इस स्वार्थ-निवृत्तिसे विश्वभरका उक्त हित-साधन कैसे हो सकेगा, वह कुछ समझमे नही आता । और न यही मालूम होता है कि स्वार्थके उक्त दोनो अर्थोंसे भिन्न विश्वके हितकी और परिभाषा क्या है, जिसे लक्ष्यमे रखकर लेखक महाशयने अपने उक्त कथनकी सृष्टि की है ।

इसी प्रकार एक महाव्रती साधुके लिये, जो सकल-विरतिके रूपमे अपने अहिंसादिक व्रतोका यथेष्ट रीतिसे पालन कर रहा हो, यह उचित नही है कि वह अपने व्रतके विरुद्ध आरभी, उद्योगी अथवा विरोधी हिंसा करे । यदि किसी मोहादिकके वश होकर वह ऐसा करता है तो अपने पद एव व्रतसे गिरता है, और इसलिये उसे खुशीसे उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये । अन्यथा, देश-सयमी और सकल-सयमीके आचारमे फिर कोई अन्तर नही रहता । और इसलिये एक महाव्रत्ती, सकलसयमी एव समस्त सावद्य-योग-विरतिकी प्रतिज्ञासे आवद्ध सच्चे जैन मुनिके विषयमे ऐसी बाते बनाना कि उसे सडको पर झाडू क्यो न देनी चाहिये ? गिट्टी फोडनेकी मजदूरी करके अपना पेट-पालन (जीवन-निर्वाह) क्यो न करना चाहिये ? वह अपने हाथसे रसोई क्यो न बनाए ? और खेती क्यो न करे ? यह सब सकल-सयमकी विडम्बना करना और उसकी अवहेलना मात्र जान पडता है । यदि सकल-सयम अपनेको इष्ट न हो अथवा अपनी शक्तिसे बाहरकी चीज हो तो इतने परसे ही उस पर कुठाराघात करना और अवज्ञा-पूर्वक उसके महत्त्वको गिराने-की चेष्टा करना उचित नही है ।

यदि सत्यभक्तजी साधु-सस्थामे घुसे हुए विकारोका दूर

होना अशक्य समझते हैं और उस ओरसे विल्कुल ही हतोत्साह हो वैठते हैं तो अच्छा होता यदि इतना कहकर ही वे अपने हृदयका सताप मिटा लेते कि 'आजकल देशकालकी परिस्थितिको देखते हुए साधुसंस्थाकी ज़रूरत नहीं है—उसे एकदम उठा देना चाहिये ।' परन्तु सकल-सावद्ययोग-विरतिकी प्रतिज्ञासे आवद्ध एक महाव्रती जैन साधुको सावद्यकर्म करनेकी प्रेरणा करना और फिर यहातक कह डालना कि 'ऐसा करनेसे उक्त महाव्रतमे कोई वट्टा नहीं लग जायगा—वह उलटा चमक उठेगा, वहुत कुछ हास्यास्पद तथा आपत्तिके योग्य मालूम होता है । जान पडता है वैसा लिखते और वोलते हुए यथोचित विचारसे काम नही लिया गया ।

मैं एकान्त वेपका पक्षपाती नही और न ऐसे साधुओके प्रति मेरी कोई श्रद्धा अथवा भक्ति है जो अपने महाव्रतोका ठीक तौरसे पालन नही करते, आगमकी आज्ञानुसार नही चलते, लोकैषणामे फँसे हुए हैं, अहकारके नशेमे चूर हैं, सुखी एव विलासी जीवन वितानेकी धुनमे मस्त हैं, आरभ-परिग्रहसे जिन्हे विरक्ति नही, प्रमाद जिनसे जीता नहीं जाता, जो दम्भ रचते, मायाचार करते और इस तरह अपनेको तथा जगतको ठगते हैं। ऐसे साधुओकी व्यक्तिगत कडीसे कडी आलोचनाको मैं सहन कर सकता हूँ । परन्तु यह मुझसे वर्दाश्त नही होता कि एकके अथवा कुछके दोषसे सबको दोषी ठहराया जाय, सवको एकही डडेसे हाका जाय और सारी साधु-सस्थाका ही मूलोच्छेद किया जाय । कोई छूट न रखकर वर्तमानके सभी साधुओके लिये "आजका साधु· ·· " जैसे उद्गारोके साथ ओछे शब्दोका प्रयोग करना सयतभाषाके विरुद्ध है । उसमे कही कही सभ्यताकी सीमाका

उल्लघन पाया जाता है और कही कही अहकारकी दमक मारती है ।

यह ठीक है कि 'साधु' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है और **'णमो लोए सव्वसाहूणं'** पदमे भी उस व्यापक साधुताका कितना ही समावेश है । परन्तु फिर भी साधु-सामान्य और साधु-विशेषमे अन्तर जरूर होता है—दोनोको एक नही कहा जा सकता । साम्यभावका अवलम्वन लेनेवाले भी दोनोको एक नहीं समझते । साम्यभावका यह अर्थ ही नही है कि लोहे-सोनेको एक माना जाय, प्रशस्त-अप्रशस्तमे कोई भेद न किया जाय—अथवा निन्दा-स्तुतिको सर्वथा एकरूपमे स्वीकार किया जाय । ऐसा मानना और स्वीकार करना तो अज्ञानताका द्योतक होगा । वास्तवमे अनेक विषमताओके सामने उपस्थित होने पर चित्तमे विषमताका—रागद्वेषादिका—उत्पन्न न होने देना ही साम्यभावका अर्थ है । खेद है कि आज साम्यभावका दम भरनेवाले और बात वातमे समभावकी दुहाई देनेवाले भी अपने रागद्वेषादिमय उद्गारो-को रोकनेमे समर्थ नही होते । फिर वे दूसरोको साम्यभावका क्या विशेष पाठ पढा सकते हैं ॥

यह भी ठीक है कि प्रवृत्तिके बिना निवृत्ति तथा निवृत्तिके बिना प्रवृत्ति नही होती और प्रवृत्ति-हीन निवृत्तिको साधुताकी परिभाषा न बनाना चाहिये । परन्तु प्रवृत्ति भी तो नाना प्रकारकी होती है । एक सकलसयमी समस्त सावद्य-योगसे विरति धारण करता हुआ कषायोको दूर करता है, अपने इन्द्रिय-विषयोको जीतता है, पापाचारसे विरक्त रहता है और इस तरह अपनी वैभाविक परिणतिको हटाता हुआ स्वभावमे स्थिर होनेकी—अपने आत्मलाभको प्राप्त करनेकी—भारी प्रवृत्ति करता है । यह प्रवृत्ति

क्या प्रवृत्ति नही है ? और इस प्रवृत्तिसे क्या लोकका हित-साधन नही होता ? यदि ऐसी अहिंसक, निष्पाप और सयत प्रवृत्तिसे भी लोकका हितसाधन नही होता तो फिर लोकहितकी कोई विचित्र ही परिभाषा करनी होगी, जिसे साधुताकी कसौटी बनानेकी प्रेरणा की गई है।

जैनधर्मकी साधुताका निवृत्येकान्तसे यदि कोई सम्बन्ध नही है तो प्रवृत्त्येकान्तसे भी उसका कोई सम्बन्ध नही है—वह तो निवृत्ति-प्रवृत्तिमय अनेकान्तको लिये हुए है। कोई भी समझदार जैन विद्वान् उसे मात्रनिवृत्त्यात्मक नही बतलाता—भले ही निवृत्ति-प्रधान कहे। और निवृत्ति प्रधान कहनेसे उसमे प्रवृत्तिका स्वत. समावेश हो जाता है। वह अपने एक स्थानपर प्रवृत्ति-प्रधान है तो दूसरे स्थानपर निवृत्ति-प्रधान है। उसमे सर्वत्र दृष्टिभेद चलता है। यदि सत्यभक्तजी महावीर-स्वामीको "**घोरप्रवृत्तिशाली व्यक्ति**" बतलाते हैं तो दूसरोके इस कथनपर भी कोई आपत्ति नही की जा सकती कि "भगवान् महावीर निवृत्तिमार्गी थे," क्योकि उन्होने अन्तमे कर्मबन्धनसे छूटनेरूप निवृत्तिको सिद्ध किया है। उसकी सिद्धिके लिये उन्हे जो कुछ भी प्रवृत्ति करनी पडी है वह सब उसकी साधनारूप थी।

एक स्थानपर टोपी और जूताके उदाहरणके साथ यह भी कहा गया है कि "**प्रवृत्ति और निवृत्ति अपने-अपने स्थानपर सत्य हैं और दूसरेके स्थानपर असत्य है**" परन्तु खेद है कि जैनमुनियोके आचारकी आलोचना करते हुए सत्यभक्तजीने इस सुनहरी नियमको भुला दिया है। क्या एक श्रावक अथवा गृहस्थके लिये जो सावद्य कर्म विधेय एव सत्य है वे समस्त सावद्ययोगके त्यागी महाव्रती मुनिके लिये अविधेय और असत्य नही है? यदि

है तो फिर ऐसे आरम्भादिके त्यागी महाव्रतीके लिये सडकोपर झाडू देने, गिट्टी तोडने, रसोई बनाने और खेती करने जैसे सावद्य कर्मोंका विधान किस आधारपर किया गया है ? क्या यह टोपीके स्थान पर जूता रखनेके समान नही है ? और इसके द्वारा समीचीन मुनिमार्गकी अवज्ञा नही की गई है ? ज़रूर है और ज़रूर अवज्ञा की गई है। शोक है कि आप ऐसे सावद्य कार्योंको आजकल उक्त मुनियोके लिये आवश्यक ठहराते हैं और उन्हे न करके आत्मसिद्धि एव इन्द्रियनिग्रह और कषायविजयके कार्यमे लगनेवाले साधुको **"अनावश्यक कार्य करने वाला"** तथा **"वचक"** तक बतलाते हैं !! यह कितने दु साहसकी बात है !!!

आपका एक यह भी कहना है कि '**आजका साधु तो एक मजदूरकी अपेक्षा अधिक परतन्त्र है। वह तो रोटीके टुकडोके लिये श्रावकोके मुंह ताकता है, हाँमे हाँ मिलाता है और इसलिये गुलाम है।**' परन्तु जो साधु समाजके मोहमे पडकर समाजकी तुच्छातितुच्छ आवश्यकताओंके पीछे अपने न्याय्यनियमोंको तोड डालता है और अपने ध्येयको भी छोड बैठता है, वह क्या समाज का गुलाम नही है ? यदि है तो फिर ऐसे गुलाम साधुओको उत्पन्न करनेके लिये यह उपदेश क्यो दिया जाता है कि **"अगर आज समाजको आवश्कता बदल जाय तो साधु-संस्थाके सेवा-कार्य क्यो न बदलने चाहियें ?"** इत्यादि। इससे तो आप अपने ही कथनके विरुद्ध बोल गये। और एक गुलामीकी जगह दूसरी बडी गुलामी मुनियोके सिरपर लाद दी !! उनके लिये परतन्त्रतासे छूटने का कोई मार्ग ही आपने नही रक्खा !!!

इस तरह आपका यह उपदेश बहुत कुछ असगत बातोसे

भरा हुआ है, किसी जोशमे आकर लिखा गया है और इसलिये समीचानताके साथ उसका कोई घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम नही होता। लेखकी **'कमसे कम लेने और अधिकसे अधिक देने रूप'** साधु-लक्षणवाली बात भी आपत्तिके योग्य है, जिसपर यथावकाश फिर किसी समय प्रकाश डाला जायगा।

— जैनदर्शन, वर्ष ४, ता० १-१२-१९३६

पूर्वापर-विरोध नहीं : १२ :

सत्यसन्देशके अक २३ (सन् १९३६) मे 'पूर्वापर-विरोध' शीर्षकको लिये हुए एक छोटा सा (प्राय एक कालमका) नोट भाई श्रीभगवानदीनजीने प्रकाशित कराया है। यह नोट मेरे उस लेखसे सम्बन्ध रखता है जो 'स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ?' शीर्पकके साथ उक्त अकके पूर्ववर्ती अकमे प्रकट हुआ था। उस लेखको देखने-पढनेपर भाई भगवादीनजीके चित्तकी जो दशा हुई अथवा उनके हृदयमे जो-जो विचार उत्पन्न हुए, उनका कुछ परिचय देते हुए आपने इस नोटमें अपनी जाँच-द्वारा यह सूचित किया है कि मेरे उक्त लेखमे '६० फीसदी तो प० दरबारी-लालजीके लेखका मडन और समर्थन है, २० फीसदी विद्वत्तापूर्ण उठाई हुई शकाएँ हैं—जिनके लिये खडन या विरोधात्मक शब्दका किसी प्रकार प्रयोग नही किया जा सकता और शेष २० फीसदी आक्षेप तथा समाजको भडकानेवाली चिनगारियाँ हैं।' साथ ही यह भी लिखा है कि यदि मैं पं० दरबारीलालजी को ठीक-ठीक समझा हूँ तो विना झिझकके कह सकता हूँ कि साठ फीसदीके नीचे वे खुशीसे अपने हस्ताक्षर कर देंगे। अर्थात् उक्त लेखके ६० फीसदी अशको वे बिलकुल ठीक मान लेंगे और शकाओंके २० फीसदी अशको अपने विरोधमे नही समझेगे—हो सकेगा तो उनका उचित उत्तर प्रदान करेंगे और इस तरह मेरे लेखका जो अथवा जिस रूपमे उत्तर प० दरबारीलालजीकी तरफसे होना चाहिये उसकी आपने कुछ रूपरेखा समझाई है। अस्तु, प० दरबारीलालजीका उत्तर उक्त नोटके साथ ही उसी

अंकमे प्रकट हो चुका है और वह जिस रूप एव टाइपमे प्रकट हुआ है उस परसे भाई भगवानदीनजी स्वय समझ सकेंगे कि पं० दरबारीलालजीके विषयमे उनकी धारणा और उनके उत्तरके सम्बन्धमे उनकी कल्पना कहाँ तक फलितार्थ हुई अथवा ठीक निकली है। मुझे उस विषयमे कुछ भी कहनेका अधिकार नही है और न कोई जरूरत ही है। मेरा सम्बन्ध तो आपके नोटकी निम्नलिखित अन्तिम पक्तियोसे है, जिनमे मेरे दो वाक्योको उद्धृत करके 'पूर्वापर-विरोध' की सूचना की गई है —

"शीर्षक के सम्बन्धमे नीचेकी पक्तियाँ काफी हैं —

"स्वार्थ तो वास्तवमे आत्मार्थ–आत्मीय प्रयोजन अथवा आत्माके निजी अभीष्ट एवं ध्येयका नाम है।" "स्वार्थसे निवृत्ति कैसी"

"स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं।"

"मेरी भावना"

इन पक्तियोको पढकर मुझे बडा आश्चर्य हुआ और समझमे नही आया कि मेरे उक्त लेखमे जब 'स्वार्थ' के दो अर्थोका स्पष्ट उल्लेख किया गया है—एक परमार्थिक दृष्टिसे और दूसरा लौकिक दृष्टिसे, और उसी लेखमे एक जगह यह वाक्य भी दिया हुआ है कि—"**स्वार्थके उक्त दोनो अर्थोंसे भिन्न विश्वके हितकी और परिभाषा क्या है**" तब लेखके विषयोका हिसाब और उनके अंशोकी गणना तक करनेवाले भाई भगवानदीनजीने स्वार्थके एक अर्थको क्यो भुला दिया और क्यो उसे दूसरे अर्थके साथमे उद्धृत नही किया? क्या उन्होने जानबूझकर ऐसा किया? या उनकी किसी असावधानीका ही यह परिणाम है? पहली बातके कहनेकी मैं जुरअत नही कर सकता, क्योकि जहाँ

तक मैं समझता हूँ, उक्त नोट उन भाई भगवानदीनजीका लिखा हुआ है जो **'महात्मा'** पदसे विभूषित हैं और इसलिये उनकी ओरसे जानवूझकर ऐसा किया जानेका कोई कारण (motive) नही जान पडता। तव यह दोष असावधानताके ही मत्थे मढना होगा। कुछ भी हो, इससे जो गलत फहमी फैली है अथवा फैलनेकी सभावना है उसे दूर कर देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। और इसीसे स्पष्टीकरणके तौरपर नीचे दो शब्द और लिख देना उचित जान पडता है—

उक्त लेखमे लौकिक दृष्टिसे स्वार्थका दूसरा अर्थ **"अपना इन्द्रिय-विषय-भोग"** किया गया है। यही अर्थ **'मेरी भावना'**के उक्त वाक्यमे प्रयुक्त हुए **'स्वार्थ'** शब्दका अभिप्रेत है। दूसरा अर्थ उसी पद्यमे, जिसका उक्त वाक्य एक अग है, **'साम्यभाव-धन'** और **'निजहित'** जैसे शब्दो द्वारा व्यक्त किया गया है। और उस साम्यभावरूप धन तथा आत्महितको रखने एव साधनेकी वस्तु वतलाया है—त्यागनेकी नही'। और इसलिये वहाँ 'स्वार्थ' के अर्थमे किसी प्रकारकी विप्रतिपत्ति, भ्रान्ति अथवा कुछ-का-कुछ समझलिया जाने रूप अन्यथापत्ति, नही वनती। **'मेरीभावना'**का वह पूरा पद्य इस प्रकार है .—

विषयोंकी आशा नही जिनके, साम्यभाव-धन रखते हैं,
निज-परके हित-साधनमें जो निशिदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या विना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके दुख-समूहको हरते हैं॥

इसके सिवाय लेखमे **'स्वार्थ'** शब्दके पारमार्थिक अर्थका जो स्पष्टीकरण स्वामी समन्तभद्रादिके वचनानुसार किया गया है उसीको लक्ष्यमे रखकर **'सिद्धि-सोपान'**मे एक सिद्धके लिये

"स्वात्मस्थित कृतकृत्य हुआ निज पूर्ण-स्वार्थको अपनाता" जैसे शब्दोका प्रयोग किया गया है। वहाँ भी उस स्वात्मस्थिति-रूप स्वार्थको अपनानेकी बात कही गई है, त्यागनेकी नही। और इससे मेरी दृष्टि स्वार्थके दोनो अर्थों पर रही है। मैंने उसमे विरोध नही आने दिया है—यह सहजमे ही समझा जा सकता है। ऐसी हालतमे यह स्पष्ट है कि मेरे दोनो कथनोमे पूर्वापर-विरोध नही है। उनमे पूर्वापर-विरोधकी कल्पना कर लेना किसी गलती, भूल अथवा असावधानीपर अवलम्बित है। आशा है, भाई भगवानदीनजी मुझे इस स्पष्टवादिताके लिये क्षमा करेंगे।

— जैनदर्शन, वर्ष ४, १-१-१९३७

अनोखा तर्क और अजीब साहस ! : १३ :

'जैनमित्र'के अंक ४१ सन् १९३७ मे एक लेख प्रकट हुआ है, जिसका शीर्षक है "क्या रावण व्यभिचारी था ?" उस लेखके प्रकटरूपमे लेखक तो प० विहारीलालजी शास्त्री अम्वाला छावनी हैं। परन्तु जैनमित्र-सपादकने प० मगलसेनजी वेदविद्या-विशारद अम्वालाके अत्याग्रह और अभिमानपूर्ण उलाहनेके पत्रपरसे यह मालूम किया है कि उक्त लेखके वास्तविक लेखक स्वनामधन्य प० मगलसेनजी ही हैं और वे अपने लेखको दूसरेके नामसे छपा रहे हैं। यदि यह सत्य है तो कहना होगा कि प० मगलसेनजी 'टट्टीकी ओटमे शिकार खेलना' अथवा 'वुर्का ओढकर मैदानमें आना' चाहते हैं। अस्तु, मुझे इससे कोई मतलव नही कि लेखके लेखक कौन हैं—मेरे लिये उत्तरकी दृष्टिसे प० मगलसेनजी और प० विहारीलालजी दोनो ही समान हैं। मुझे तो आश्चर्य इस बातका है कि २४ वर्षसे भी अधिक समय वीत जानेके वाद प्रतिवादका यह प्रयत्न कैसा। क्योकि मेरी जिस **'जिन-पूजाधिकार-मीमासा'** पुस्तकके एक पैराग्राफको लेकर उक्त लेख लिखा गया है वह अप्रेल सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी, जब कि प० गोपालदासजी वरैया जैसे प्रसिद्ध विद्वान् मौजूद थे और किसीने भी उक्त लेखपर आपत्ति नही की थी। प० मगलसेनजी जैसे विद्वानोके परिचयमे भी वह उसी वक्तसे है। हो सकता था कि इतने वर्षोंके प्रयत्नके बाद लेखक महाशयको कोई नई खास वात हाथ लगी होती और वह उनके लेखका कारण वन जाती, परन्तु ऐसा भी मालूम नही होता—

लेख खुद इतना नि सार और तर्कहीन है कि पत्र-सपादकजी उसे प्रकाशित भी नही करना चाहते थे। जैनमित्रमे उसके प्रकाशनका आभारी प० मगलसेनजीके अत्याग्रह एव अभिमानपूर्ण पत्रको ही समझिये। प्रकाशित करते समय सपादकजीने उसपर जो नोट दिया है वह उक्त लेखकी निस्सारताको प्रगट करनेके लिये पर्याप्त है, और ऐसी हालतमे मुझे कुछ भी लिखनेकी ज़रूरत नही थी। मेरे पास इतना समय भी नही है कि मैं ऐसे थोथे लेखोके उत्तर-प्रत्युत्तरमे पड़ूँ—मुझे तो ऐसे लेखकोंके साहस और उनके अनोखे तर्कको देखकर बडा ही दु'ख होता है। ये लोग अपना तो समय व्यर्थ नष्ट करते ही हैं, दूसरोका भी अमूल्य समय नष्ट करना चाहते हैं, यह वडे ही खेदका विषय है। लेखमे चूकि मुझसे कुछ आशकाओका गर्वपूर्वक उत्तर माँगा गया है और उधर सपादकजीने भी अपने नोटमे विशेष समाधानके लिये मेरी ओर इशारा किया है, इसीसे लेखकके अनोखे तर्क और अजीव साहसको व्यक्त करते हुए यहाँ पर कुछ शव्दोका लिख देना उचित जान पडता है। इसीका नीचे प्रयत्न किया जाता है :—

मेरी उक्त पुस्तकके जिस पैराग्राफपर आपत्ति की गई है वह इस प्रकार हैं :—

"लंकाधीश महाराज रावण परस्त्री-सेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत परस्त्री-लम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इस विषयमें उसकी जो कुछ भी प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि "जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे वलात्कार नही करूँगा।" नहीं कह सकते कि उसने कितनी परस्त्रियोंका, जो किसी भी कारणसे उससे रज़ामन्द

(सहमत) हो गई हों, सतीत्व भंग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्री-सेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नहीं था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहाँ बात ही कहाँ? परन्तु यह सब होते हुए भी, रविसेणाचार्यकृत पद्मपुराणमे अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि "महाराजा रावणने बड़ी भक्ति-पूर्वक श्री-जिनेन्द्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमन्दिर बनवाये। वह राजधानीमें रहते हुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमे स्थित श्री शान्तिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमे बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शनमेरु और कैलाशपर्वत आदिके जिनमन्दिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवान्का भी पूजन किया।"

(१) "लंकाधीश महाराज रावण परस्त्री-सेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत परस्त्रीलम्पट विख्यात है" इस वाक्य पर आपत्ति करते हुए लेखकजी कहते हैं—"रावण सीताके हरणसे पूर्व ही कामभोगके त्यागकी प्रतिज्ञा ले चुका था और इस प्रतिज्ञाके कारण ही सतीका सतीत्व नष्ट नहीं हुआ और काम-भोगका त्यागी होनेसे परस्त्री-लम्पटी व व्यभिचारी कदापि नहीं हो सकता है। यदि ऐसा हो सकता है तो सिद्ध कीजिये।"

मेरे द्वारा उल्लेखित रावणकी शास्त्रीय-प्रतिज्ञाका कोई खंडन न करके लेखक महाशयने जिस नई प्रतिज्ञाका उल्लेख किया है उसके समर्थनमे कोई भी प्रमाण उपस्थित नही किया गया—किसी भी जैनशास्त्रमे रावणकी प्रतिज्ञाका ऐसा विचित्र रूप नही है। 'कामभोगके त्याग' का अर्थ तो कामसे इन्द्रिय-

विषयभोगोका त्याग अथवा शरीरसे मैथुनकर्मके त्यागका होता है। रावणने किसी समय भी ऐसा त्याग-व्रत नही लिया—उसे तो सहस्रो स्त्रियोका भोक्ता लिखा है। तव अपनी ओरसे एक विना सिर-पैरके नये व्रतकी कल्पना करके उसे शिक्षित समाजके सामने हेतु-रूपमे प्रस्तुत करना और ऐसे असिद्ध-हेतुके द्वारा अपने मनोरथ (साध्य) की सिद्धि चाहना लेखकका अजीव साहस और अनोखा तर्क नही तो और क्या है ? लेखकको इतना भी समझ नही पडा कि उसकी कल्पनाके अनुसार जब रावण 'कामभोगका त्यागी' था तो उसने सीताका हरण क्यो किया ? किसलिये अपनी दूती आदिको भेजकर उसने सीताको वहकाने-फुसलाने तथा डरा-धमकाकर अपना पत्नीत्व स्वीकार करानेकी चेष्टा की।[1] और वह खुद क्यो सीताके पास प्रणयकी याचना करनेके लिये गया और उसने क्यो ऐसे दीन वचन कहे कि—'हे प्रिये। रामकी आशा छोडकर अब तुम मेरी आशा पूरी करो, यह काम तो अवश्य होनेवाला है फिर तुम देरी क्यो कर रही हो। तुम चाहे रोओ या हँसो, मैं तो तुम्हारा महमान हूँ। हे कान्ते। तुम मेरी सुन्दर-स्त्रियोकी शिरोमणि बनो।' जैसाकि उत्तरपुराण पर्व ६८ के निम्न वाक्योसे प्रकट है —

तस्मात्तदाशामुज्झित्वा मदाशां पूरय प्रिये !
अवश्यंभाविकार्येऽस्मित् किं कालहरणेन ते ॥ ३३३ ॥
हसंत्याश्च रुदंत्याश्च तव प्राघूर्णिकोऽस्म्यहं।
मत्कान्तकान्तासन्ताने कांते चूलामणिर्भवेत् ॥ ३३४ ॥

---

१. रावण सीत[illegible]अपनी पत्नी वनाना चाहता था यह वात खुद उसकी पटरानी मन्[illegible]म्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

'त्वा मे भार्वयितु वेष्टि सपत्नीं खेचराधिपः।'

—उत्तरपुराण, पर्व ६८—३५२

ऐसे शब्द एक परदार-लम्पट कामुकके नही तो और किसके हो सकते हैं ? उसने तो सीताके रजामन्द न होनेपर और मन्दोदरी रानीके उसे छोड देनेकी सातिशय प्रेरणा करनेपर भी यहाँ तक कहा कि 'यह सीता तो मेरे प्राणोके साथ ही छूट सकेगी।' और हनुमानजीको उत्तर देते हुए यह भी कहा कि 'सब रत्न मेरे हैं, खासकर स्त्री-रत्नोका तो मैं ही स्वामी हूँ,' 'मेरे योग्य जो वस्तु (सीता) है उसको स्वीकार करनेसे—पत्नी रूपमे अगीकार करनेसे—यदि मेरी अपकीर्ति भी होती है तो होने दो—मुझे उसकी पर्वाह नही है।' यथा —

समं प्राणैरियं त्याज्ये त्यागात्स कुपितः पुरम् ॥ ३४७ ॥
ममैव सर्वरत्नानि स्त्रीरत्नं तु विशेषतः ॥ ४१६ ॥
मद्योग्य-वस्तु-स्वीकारादपकीर्तिश्चेद् भवेन्मम ॥ ४२४ ॥

ये सब शब्द भी रावणकी परदार-लम्पटता और अतिशय कामुकताके ज्वलत उदाहरण हैं और इसलिये हनुमानजीने लका पहुँचकर रावणको धिक्कारते हुए जो उसे धर्मका उल्लघन करनेवाला परदाराभिलाषुक (परदार-लम्पट) कहा है और पाप-कर्मका अद्भुत विपाक प्रकट किया है वह ठीक ही है। इसी वातको गुणभद्राचार्यने निम्न वाक्यके द्वारा उल्लेखित किया है और एक दूसरे वाक्यमे रावणके लिये 'दुरात्मा' तथा 'दुश्चरित्र' जैसे विशेषणोका प्रयोग करना भी उचित समझा है। यथा —

अहो पापस्य कोऽप्येष विपाकोऽयमीदृशः।
किल धिग्धर्ममुल्लंध्य परदाराभिलाषुकः ॥ २०२ ॥
व्याजहार दुरात्मानं दुश्चरित्र-दशाननं ॥ ४१९ ॥

इतने पर भी लेखक महाशय रावणको कामभोगका त्यागी

ब्रह्मचारी समझते हैं और मुझसे उसकी परदार-लम्पटताका सबूत मागते हैं, यह उनकी बुद्धिका कैसा दुर्विपाक है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। कम-से-कम उन्हे इतना तो समझना चाहिये था कि सीताके रजामन्द हो जाने पर जब रावण उससे भोग करता तो उसका कामभोगका त्यागीपन कहाँ जाता ? क्या तब भी लेखकजी उसे व्यभिचारी न मानते ? यदि ऐसा है तब तो लेखकजीके व्यभिचारका कुछ अपूर्व ही स्वरूप होना चाहिये। जैन शास्त्रोसे तो उसकी सगति मिलती नही। अस्तु, अब मैं शास्त्राधारसे उस प्रतिज्ञाका भी उल्लेख कर देना चाहता हूँ जो रावणने अनन्तवीर्य केवलीके निकट ग्रहण की थी।

श्रीरविषेणाचार्यने पद्मपुराणके १४ वें पर्वमे अनन्तवीर्य मुनिके उपदेशसे लोगोके व्रत-नियमादि ग्रहण करनेका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जब मुनिजीने रावणसे किसी नियमके लेनेके लिये कहा तो वह उस बातको सुनकर बडा ही आकुलित हुआ, भोगानुरक्तचित्त रावणको उत्कट चिन्ताने घेर लिया और वह सोचने लगा कि गृहस्थोके करने योग्य स्थूल हिंसादि (पच पापो) मेसे एक भी पापसे विरतिरूप धारण करनेके लिये मैं समर्थ नही हूँ, फिर और किसी बड़े नियमकी तो बात ही क्या है। मेरा चित्त मस्त हाथीकी तरह सब पदार्थोमे दौडता है और मैं उसे खुद अपने हाथसे निवारण करनेमे समर्थ नही हूँ।' इत्यादि। अन्तमे उसने सोचा कि इतना नियम तो मैं ले सकता हूँ कि जो कोई भी परस्त्री मुझे नही इच्छे तो मैं बल आदिके प्रयोग-द्वारा (जबर्दस्ती) उसे ग्रहण नही करूँगा।' और इसके साथ यह भी सोच लिया कि 'तीन लोकमे ऐसी कौनसी उत्तम स्त्री है जो मुझे देखकर कामदेवसे पीडित हुई विकलताको प्राप्त

न होवे अर्थात् मुझे न इच्छे ।' और तव प्रगट रूपसे यह नियम लिया कि 'जो परस्त्री मुझे नही इच्छेगी—मुझसे रजामन्द नही होगी—मैं उसे ग्रहण नही करूँगा—उससे बलात् विषय-भोग नही करूँगा ।' यथा :—

रत्नदीपं प्रविष्टस्य यथा भ्रमति मानसं ।
इदं वृत्तं तथैवास्य परमाकुलतां गतं ॥ ३५८ ॥

अथास्य मानसं चिन्ता समारूढेयमुत्कटा ।
भोगानुरक्त-चित्तस्य व्याकुलतामुपेयुषः ॥ ३५९ ॥

स्थूल-प्राणि-वधादिभ्यो विरतिं गृहवासिनां ।
एकामपि न शक्तोऽहं कर्तुं कान्यत्र संकथा ॥ ३६१ ॥

मत्तेभ-सदृशं चेतस्तद्धावत्सर्ववस्तुषु ।
हस्तेनेवात्मभावेन धर्तुं न प्रभवाम्यहम् ॥ ३६२ ॥

किमेकमाश्रयाम्येतं नियमं शोभनामपि ।
अवष्टंभामि नानिच्छामन्ययोषां वलादिभिः ॥ ३६५ ॥

यद्वा लोकत्रये नाऽसौ विद्यते प्रमदोत्तमा ।
दृष्ट्वा मां विकलत्वं या न व्रजेन्मन्मथार्दिता ॥ ३६७ ॥

भगवन्न मया नारी परस्येच्छा-विवर्जिता ।
गृहीतव्येति नियमो ममायं कृत-निश्चयः ॥ ३७१ ॥

इन सब प्रमाणोसे स्पष्ट है कि रावण काम-भोगका त्यागी नही था, बल्कि भोगोमे आसक्त-चित्त प्राणी था, उसे अपने चित्त पर जरा भी कावू नही था और इसलिये वह कोई छोटा-सा भी नियम लेनेमे हिचकता था । उसने जो उक्त छोटी-सी प्रतिज्ञा ली थी उसे लेते समय भी अपनी धारणाके अनुसार प्राय यह सोच लिया था कि उससे उसके इच्छित विषय-भोगोके सेवनमे कोई बाधा उपस्थित नही होगी और उस प्रतिज्ञाका रूप उससे

अधिक और कुछ भी नही है, जिसे मैंने अपनी पुस्तकके उक्त पैराग्राफमे व्यक्त किया है। उक्त प्रतिज्ञाके अनुसार रावणने उन सब पराई स्त्रियोको सेवन करनेके लिये अपनेको खुला रख छोडा था जो उससे रजामन्द हो जाँय अथवा दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि व्यभिचारिणी परस्त्रियोसे व्यभिचार करनेकी उसने परमिट लेरक्खी थी। प्रतिज्ञाकी यह प्रकृति ही इस बातको सूचित करती है कि रावण परदार-लम्पट था। ऐसे परस्त्री-लोलुप रावणको लेखकजी सदाचारी कहे या व्यभिचारी यह तो उनकी इच्छाकी बात है, मैंने तो अपने उक्त पैराग्राफ मे इतना ही लिखा है कि रावण 'परस्त्री-सेवनका त्यागी नही था' और 'परस्त्री-लम्पट विख्यात है'। और इन दोनो बातोका काफी सबूत ऊपर दिया जा चुका है। अधिकके लिये पद्मपुराणादि ग्रन्थोको उपपत्ति-चक्षुसे देखना चाहिये। उनके देखनेसे लेखकजीका वह भ्रम भी दूर हो जायगा जिसके कारण वे लिख रहे हैं कि "रावणकी इस प्रतिज्ञाके कारण ही सतीका सतीत्व नष्ट नही हुआ"—मानो सीता रावणपर आसक्त थी और उससे भोग करना चाहती थी, परन्तु रावणके कामभोगके त्यागकी प्रतिज्ञा होनेसे वह उसकी इच्छाको पूरा नही कर सका और इसीसे उसका सतीत्व नष्ट होनेसे बच गया। वाह, कैसी विचित्र कल्पना और बुद्धिका कितना अजीब विकास है जिसने लेखकजीको ऐसी हास्यास्पद वार्ता लिखनेका साहस प्रदान किया है॥

लेखकजीको खूब समझ लेना चाहिये कि सीता वास्तवमे सती थी, उसके सतीत्वकी रक्षामे रावणका अनोखा ब्रह्मचर्य कोई कारण नही, किन्तु सतीका तेज और आत्मबल ही उसका मुख्य कारण रहा है। क्या उन्हे मालूम नही है कि कितनी ही सतियोके

साथ बलात्कारका प्रयोग किया गया है, फिर भी उनकी ऊपरसे रक्षा हुई है और रक्षाके लिये गुप्त-शक्तियाँ प्रकट हो गई हैं। तब रावणकी प्रतिज्ञाका तो मूल्य ही क्या हो सकता है ? वह तो कितने ही अशोमे उससे डिग गया था। यदि सीताके चरित्रमे कुछ भी त्रुटि होती अथवा उसकी ओरसे सहयोगका जरा भी इशारा पाया जाता तो कामातुर रावण उसको भोगे बिना न रहता। अत लेखकजीकी उक्त आपत्ति बिल्कुल ही निस्सार और निराधार है।

(२) "**नहीं कह सकते हैं कि उसने कितनी परस्त्रियोका जो कि किसी भी कारणसे उससे रज़ामन्द हो गई हो सतीत्व नष्ट (भग) किया होगा**", इस वाक्यमे निश्चितरूपसे कुछ भी नही कहा गया, मात्र प्रतिज्ञाके रूपसे उत्पन्न होनेवाली सभावनाको ही व्यक्त किया गया है। इस पर भी आपत्ति करते हुए लेखकजी अपना वही आलाप अलापते हैं और लिखते हैं कि—"रावणके कामभोगका त्याग था **तभी तो** सती सीताका सतीत्व भग नही हुआ और इसी कारण सीताने अग्नि-कुण्डमे प्रवेश होनेसे पूर्व ही सबके समक्षमे ये वचन कहे थे।" इसके बाद **पुण्यास्रवसे** "**मनसि वचसि काये**" नामका श्लोक उद्धृत करके पुन लिखते हैं—"इस प्रमाणसे सती सीताका सतीत्व नष्ट न होनेसे रावण व्यभिचारी वा परस्त्री-लम्पटी कदापि नही हो सकता है और यदि हो सकता है तो प्रमाण लिखिये।"

इस आपत्तिमे **पुण्यास्रव** ग्रन्थका जो श्लोक उद्धृत किया गया है वह तो बिल्कुल ही निरर्थक तथा अप्रासंगिक है। उसे उद्धृत करनेकी यदि कुछ जरूरत होती भी तो तब होती जब कोई यह कहता कि रावणने सीताका सतीत्व नष्ट किया था।

जब ऐसी कोई वात नही कही गई और सीताकी अग्नि-परीक्षाने उसके सतीत्वको जगत्‌मे विख्यात कर रक्खा है तब व्यर्थ ही ऐसे प्रमाणोको देनेसे क्या नतीजा ? इससे तो उल्टा लेखकके अविवेक तथा लेखन-कलाऽनभिज्ञताका पता चलता है। शेष वाते आपत्ति-की वे ही हैं जिनका समाधान न० १ मे किया जा चुका है और इसलिये यहाँ पर उसको दुवारा लिखनेकी ज़रूरत नही। हाँ, सीताका सतीत्व नष्ट न होनेरूप हेतुसे जो लेखकजी यह सिद्ध करना चाहते हैं कि—"रावण व्यभिचारी या परस्त्री-लम्पट कदापि नही हो सकता" वह वडा ही विचित्र जान पडता है। और उनके इस अनोखे तर्कपर गभीर प्रकृतिके तार्किकोको भी हँसी आये विना न रहेगी। अपने इस तर्कके द्वारा लेखकजी ऐसे परदार लम्पट एव व्यभिचारी पुरुषको भी अव्यभिचारी तथा निर्दोष (स्वदार-सतोपी) वतलाना चाहते हैं जो वहुतसी परस्त्रियोका सतीत्व भग कर चुका हो परन्तु एक स्त्रीका सतीत्व भग करनेमे असमर्थ रहा हो। आपका कहना है कि चूँकि उसके द्वारा अमुक स्त्रीका सतीत्व नष्ट नही हुआ इसलिये वह प्रसिद्ध व्यभिचारी पुरुप भी व्यभिचारी अथवा परदार-लम्पट नही हो सकता। कितना विलक्षण यह तर्क है इसे हमारे साधारण पाठक भी समझ सकते हैं—अधिक व्याख्याकी जरूरत नही है।

(३) **"उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदाराओसें बलात्कार भी किया होगा,"** यह वाक्य न० २ मे दिये हुए मेरे वाक्यके साथ 'अथवा' शब्दसे जुडा हुआ है, जिस शब्दको लेखकने यहाँ छोड दिया है और इसलिये इसके साथ भी उन शब्दोका सम्बन्ध है जो न० २ मे उद्धृत वाक्यके शुरूमे **"नहीं कह सकते हैं कि उसने"** इस रूपसे दिए हुए हैं। ऐसी हालतमे इस वाक्यके द्वारा

भी निश्चित रूपमे कुछ भी नही कहा गया है—मात्र प्रतिज्ञाके रूपसे उत्पन्न होनेवाली सभावनाको ही व्यक्त किया गया है। इस पर आपत्ति करते हुए लेखकजीने नल-कूवरकी स्त्री उपरभाका एक उदाहरण प्रस्तुत किया है और उस स्त्रीकी दूतीको रावणने जो वचन कहे थे उन्हे **'पद्मपुराण'** के १२ वे पर्वमे पढनेकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि—"इन वचनोसे प्रतिज्ञाके पूर्व भी रावण परस्त्री-लम्पटी वा व्यभिचारी सिद्ध नही होता। यदि हो सकता है तो प्रमाण लिखिये।"

प्रथम तो ऐसा कोई नियम नही है कि एक व्यभिचारी अथवा परदार-लम्पट मनुष्य यदि किसी अप्रिय, अनिष्ट अथवा परिस्थिति आदि किसी कारणके वश अवाछनीय स्त्रीसे विपय-सेवन नही करता—उसकी प्रार्थनाको ठुकरा देता है—तो एतावन्मात्रसे वह ब्रह्मचारी अथवा स्वरदार-सन्तोपी हो जाता है। दूसरे, ऐसा भी कोई नियम नही है कि एक मनुष्य अपने प्रारम्भिक जीवनमे यदि सदाचारी रहा हो तो वह वादको व्मभिचारी नही होसकता अथवा होजाने पर उसे पहलेकी किसी घटनाके आधारफर व्यभिचारी या परदार-लम्पट न कहना चाहिये। तीसरे, उपरम्भाकी घटना और प्रतिज्ञाके वीचमे वहुत वर्पोका अन्तर वीता है। इस अर्सेमे रावणकी कैसी स्थिति रही होगी इसका सहज अनुभव रावणके उन प्रतिज्ञा-समयके विचारोसे होसकता है जिनका न० १ मे उल्लेख किया जाचुका है और उनसे साफ मालूम होता है कि रावण वहुत ही विषयासक्त मनुष्य था, परस्त्री-सेवनका सर्वथा त्याग उससे नही वनता था और इसीसे उसने अपने नियमको उस वक्तसे बलात्कार न करने तक ही सीमित किया था। चौथे, उपरम्भाकी सखी अथवा दूतीको जो वचन रावणने कहे थे वे

प्राय अपना रग जमानेके लिये दभको लिये हुए जान पडते हैं—उन्हे सुनकर रावणका कानो पर हाथ रखना, सिर धुनना और चक्षुसकोच कर बोलना, ये सब प्राय दम्भके चिह्न मालूम होते हैं। वह क्षण-भरके लिये सदाचारी बना था। ऐसा भी "**क्षणं बभूव केकसीसूनुः सदाचार-परायणः**" इन शब्दोसे ध्वनित होता है। यही वजह है कि जरा सी देरके बाद ही विभीषणसे सलाह करके और उसका यह परामर्श पाकर कि अभ्युपगमसे सन्तुष्ट हुई उपरम्भा मायामयी कोटको तोडनेका कोई उपाय बतला देगी, उसने उक्त दूतीसे कहा था कि जा, तू उसे शीघ्र ले आ—कही मदगत-प्राण हुई वह बेचारी मर न जाय, और जब वह दूती उसे ले आई तब रतिके अवसरपर रावणने उससे कहा कि 'हे देवि! तुम्हारे दुर्लंध्यनगरमे रमनेकी मेरी इच्छा है, इस अटवीमे क्या सुख धरा है तथा मदनानुकूल कौनसी सामग्री है? ऐसा यत्न करो सिससे मैं तुम्हारे इस नगरमे चलकर तुम्हारे साथ भोग भोगूँ।' जैसा कि उसी ग्रथ और पर्वके निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

> **ततो मदनसंप्राप्तो सा तेनैवमभाष्यत।**
> **दुर्लंघ्यनगरे देवि रन्तुं मम परा स्पृहा ॥१३४॥**
> **अटव्यामिह किं सौख्यं किं वा मदन-कारणं॥**
> **तथा कुरु यथैतास्मिन् त्वया सह पुरे रमे॥ १३५॥**

ऐसी हालतमे उपरम्भाकी कथापरसे लेखकजीके अनुकूल कोई भी नतीजा नही निकाला जासकता और न यही मालूम होता है कि रावण उस समय परस्त्री-सेवनका त्यागी था। अत. लेखकजीकी यह आपत्ति भी बिल्कुल ही निर्जीव जान पडती है।

(४) "**रावण परस्त्री-सेवनके अतिरिक्त हिंसादिक**

पापोका भी त्यागी नहीं था'' इस वाक्य पर आपत्ति करते हुए लेखकजी लिखते हैं —''गृहस्थ सकल्पी हिंसाका त्यागी हो सकता है। रावणने गृहस्थमे रहते हुए ऐसा कौनसा पापकर्म किया है जिससे वह हिंसादिक पापोका त्यागी नही हो सकता। जरा प्रमाण-सहित लिखिये।''

इसके लिये रावणके वे प्रतिज्ञा-समयके विचार-वाक्य ही पर्याप्त हैं, जो ऊपर न० १ मे उद्धृत किये जा चुके हैं और जिनमे उसने खुद कहा है कि 'मैं गृहस्थके त्यागने योग्य स्थूल हिंसादिक पच पापोमेसे एकका भी त्याग नही कर सकता हूँ। मेरा मन मस्त हाथीकी तरह सब पदार्थोंमे दौडता है और मैं उसे रोकनेमे समर्थ नही हूँ। इतने पर भी लेखकजी रावणके पीछे पच पापोके त्यागका पुछल्ला लगाना चाहते हैं, यह कितने खेद तथा आश्चर्यकी बात है॥

(५) लेखकजीकी अन्तिम आपत्तिका रूप इस प्रकार है —

''रावणको व्यभिचारी सिद्ध करनेसे पूर्व हम यह पूछना चाहते हैं कि इससे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं। क्योकि व्यभिचारजात और व्यभिचारीमे बहुत अन्तर है। व्यभिचारजात यज्ञोपवीत, महाव्रत तथा मोक्षका अधिकारी नही है और द्विजाति न होनेसे प्रतिमाको छू भी नही सकता। फिर समान-अधिकारका स्वप्न देखना और सदाचारीको भी व्यभिचारी लिखना आपका मिथ्या है या नही ? अच्छा, पहले आगमानुकूल रावणको व्यभिचारी तो सिद्ध कीजिये।'' ''और आगमानुकूल रावण व्यभिचारी सिद्ध न हुआ तो जिस प्रकार यह उदाहरण मिथ्या है उसी प्रकार अन्य भी उदाहरण मिथ्या सिद्ध हो जाँयगे।''

यह आपत्ति बडी ही विचित्र जान पडती है। जिन-पूजाधिकार-मीमासा' के उक्त पैराग्राफमे अपनी ओरसे रावणको व्यभिचारी सिद्ध करनेकी कोई चेष्टा नही की गई है—शास्त्रोमे रावणका और उसकी प्रतिज्ञाका जैसा कुछ रूप वर्णित है उसे ही प्रदर्शित किया गया है। यदि लेखकजीने पूर्ववर्ती पैराग्राफको ही गौरसे पढा होता तो उन्हे यह भी मालूम हो गया होता कि रावणका उदाहरण किस उद्देश्यको लेकर दिया गया है। पुस्तकमे शूद्रोके लिये पूजाके अधिकारको सिद्ध करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोमे यह साबित किया गया है कि शूद्र नित्य-पूजाका अधिकारी ही नही बल्कि ऊँचे दर्जेका नित्य-पूजक भी हो सकता है और नित्य-पूजाका अधिकार पापीसे पापी मनुष्यको भी है। पापियो तथा अव्रतियोका पापाचार यो कही भी उनके पूजनका प्रतिबन्धक नही हुआ। इसी बातको दर्शानेके लिये रावण आदिके उदाहरण दिये गये हैं। ऐसी हालतमे द्विजाति ही पूजनादि कर सकता है ऐसी कल्पना निराधार है। रही व्यभिचारजात और व्यभिचारीकी बात, दोनोमे कुछ अन्तर जरूर है और वह अन्तर व्यभिचार-जातकी अपेक्षा व्यभिचारीको अधिक पतित बताता है—वास्तवमे व्यभिचारी ही व्यभिचारजातका कारण है। जब एक व्यभिचारी पूजनादिकका अधिकारी है तो कोई भी न्यायवान किसी व्यभिचार-जातको उस अधिकारसे वचित नही रख सकता। प्रसिद्ध व्यभिचारजात राजा कर्णने तो जिनदीक्षा तक धारणकर महाव्रत ग्रहण किये हैं, जिसका सप्रमाण उल्लेख पुस्तकमे मौजूद है। फिर थोथे दर्पसे क्या लाभ? व्यभिचारजात तो 'कुड' सन्तान भी होती है, जो भर्तारके जीवित रहते जारसे उत्पन्न होती है, और जिसे कभी-कभी तो उसकी माता भी नही जान पाती कि

वह वास्तवमे जारसे पैदा हुआ या असली पतिसे । ऐसे लोगोपर लेखकजी यज्ञोपवीत भी धारण न करने और प्रतिमाको न छूनेका अपना रूलिंग कैसे लगायेगे ? तब तो सदिग्धावस्थामे उन्हे अपने सभी साधर्मियोके नाम पूजनादि न करनेका आर्डर जारी करना पडेगा और तब उनके पूजनादिककी कैसी व्यवस्था अथवा दशा होगी, इसे वे खुद समझ सकते हे ।

रावणको व्यभिचारी न मानकर 'सदाचारी' बतलाना इस बातको सूचित करता है कि लेखकजी शास्त्राज्ञासे विमुख होकर परस्त्रीसेवनको व्यभिचार नही मानते—जो लोग रजामन्दीसे परस्त्रीसेवन करते हे वे सब आपकी दृष्टिमें सदाचारी हैं । इतने पर भी आश्चर्य है कि आप आगमानुकूल निर्णयकी दुहाई देते हैं । इस अजीब साहसका भी कोई ठिकाना है !! आपका यह पूछना कि "पहले आगमानुकूल **रावण**को व्यभिचारी तो सिद्ध कीजिये" ऐसा ही है जैसा कि मात्र काकमासके त्यागी भीलके विपयमे कोई यह प्रश्न करे कि उसे पहले मासाहारी तो सिद्ध कीजिये । और यह लिखना तो और भी ज्यादा हास्यास्पद है कि एक उदाहरणके मिथ्या होनेपर दूसरे उदाहरण भी मिथ्या हो जायँगे—अर्थात् **सुमुख** राजाने **वीरक** सेठकी स्त्री **वनमाला**को जो सेठकी इच्छाके विरुद्ध अपने घरमे डाल लिया था, वह शास्त्र-सम्मत उदाहरण तक भी मिथ्या हो जायगा—इस प्रकारका आचरण भी व्यभिचार नही ठहरेगा । वाह ! कैसी घरकी अदालत, सस्ता न्याय और निराला ढग है !! लेखक महाशयके इस अद्भुत तर्कको देखकर बडी ही दया आती है । आशा है, वे भविष्यमे विचारपूर्वक लिखनेकी कृपा करेंगे ।

—जैनजगत, १०-९-१९३७

गोत्रकर्मपर शास्त्रीजीका उत्तर-लेख : १४ :

स्याद्वादमहाविद्यालय के प्रधान अध्यापक प० कैलाशचन्द्रजीका एक लेख 'अनेकान्त' द्वितीयवर्षकी तीसरी किरणमे प्रकाशित किया गया था। वह लेख वावू सूरजभानजी वकीलके 'गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता' शीर्षक लेखके उत्तररूपमे था और उसमे उक्त लेखपर कुछ 'नुक्ताचीनी' करते हुए वावू साहवको 'गहरे भ्रमका होना' लिखा था, वावू साहवने जयधवला तथा लब्धिसार टीकाके वाक्योका जो निष्कर्ष अपने लेखमे निकाला था उसे 'सर्वथा भ्रान्त', 'अर्थका अनर्थ' तथा 'दुराशय' वतलाते हुए और यहाँ तक भी लिखते हुए कि 'फलितार्थको जो कोई भी समझदार व्यक्ति पढेगा वह सिर धुने विना नही रहेगा' वावू साहवको उसके कारण 'दुराशयसे युक्त', 'शास्त्रके साथ न्यायकी यथेष्ट चेष्टा न करनेवाला' और 'अत्याचारी' तक प्रकट किया था। साथ ही, 'वृद्धावस्थामे ऐसा अत्याचार न करनेका उनसे अनुरोध' भी किया था। यह सव कुछ होते हुए भी शास्त्रीजीके लेखमे विचारकी सामग्री वहुत ही कम थी, कोई ऐसा खास शास्त्रप्रमाण भी उन्होने अपनी तरफसे प्रस्तुत नही किया था जिससे यह स्पष्ट होता कि कर्मभूमिज-मनुष्य ऊँच और नीच दोनो गोत्रवाले होते हैं। लेखका कलेवर 'ऐसी' और 'इसमे' के शब्दजालमे पडकर और उनके प्रयोग-फलको प्रदर्शित करनेके लिये कई व्यर्थके उदाहरणोको अपनी तरफसे घड-मढकर वढाया गया था—अर्थात् वावू साहवने अपने लेखमे उद्धृत जयधवला और लब्धिसारटीकाके प्रमाणोका जो एक सयुक्त भावार्थ दिया था उसमे मूलके 'इति' शब्दका

अर्थ 'ऐसी' ही लिखा था, बादको जब वे उन प्रमाणोका निष्कर्ष निकालने बैठे तो उन्होने मूलके शब्दोका पूरा अनुसरण न करके—निष्कर्षमे मूलके शब्दोका पूरा अनुसरण किया भी नही जाता और न लाजिमी ही होता है—उसे अपने शब्दोमे दिया था। उस निष्कर्षमे 'इसमे' शब्दका प्रयोग देखकर शास्त्रीजीने उसे बलात् 'इति' शब्दका अर्थ बतलाते हुए कहा था कि 'इति' शब्दका 'इसमे' अर्थ नही होता, 'इसमे' अर्थ करनेसे बडा अनर्थ हो जायगा और उस अनर्थको सूचित करनेके लिये तीन लम्बे-लम्बे उदाहरण घडकर पेश किये थे, जिनसे उनके लेखमे व्यर्थका विस्तार होगया था। ऐसी हालतमे उनका लेख अनेकान्तमे दिये जानेके योग्य अथवा कुछ विशेष उपयोगी न होते हुए भी महज इस गर्ज़से दे दिया गया था कि न देनेसे कही यह न समझ लिया जाय कि विरोधी लेखोको स्थान नही दिया जाता। साथ ही उसकी नि सारता आदिको व्यक्त करते हुए कुछ सम्पादकीय नोट भी लेखपर लगा दिये गये थे।

मेरे उन नोटोको पढकर शास्त्रीजीको कुछ क्षोभ आया है और उसी क्षोभकी हालतमे उन्होने एक लम्बासा लेख लिखकर मेरे पास भेजा है। लेखमे पद-पदपर लेखकका क्षोभ मूर्तिमान नजर आता है और उसमे मेरे लिये कुछ कटुक शब्दोका प्रयोग भी किया गया है, जिन्हे यहाँ उद्धृत करके पाठकोके हृदयोको कलुषित करनेकी मैं कोई जरूरत नही समझता। क्षोभके कारण मेरे नोटोपर कोई गहरा विचार भी नही किया जा सका और न उसे जरूरी ही समझा गया है—क्षोभमे ठीक विचार बनता भी नही—यो ही अपना क्षोभ व्यक्त करनेको अथवा महज उत्तरके लिये ही उत्तर लिखा गया है। इसीसे यह उत्तर-लेख भी

विचारकी कोई नई सामग्री—कोई नया प्रमाण—सामने रखता हुआ नजर नही आता। उन्ही बातोको प्राय उन्ही शब्दोमे फिर-फिरसे दोहराकर—अपने लेखके, वकील साहबके लेखके तथा मेरे नोटोके वाक्योको जगह-जगह और पुन-पुन उद्धृत करके—अपनी बातको पुष्ट करनेका निष्फल प्रयत्न किया गया है।

इस तरह प्रस्तुत उत्तरलेखको फिजूलका विस्तार दिया गया है और १४ बडे पृष्ठोका अर्थात् पौने दो फार्मके करीबका होगया है, उसे ज्योका त्यो पूरा छापकर यदि तुर्की-बतुर्की जवाब दिया जावे तो समूचे लेखका कलेवर चार फार्मसे ऊपरका हो जावे और पढनेवालोको उसपरसे बहुत ही कम बात हाथ लगे। मैं नही चाहता कि इस तरह अपने पाठकोका समय व्यर्थ नष्ट किया जाय। शास्त्रीजीके पिछले लेखको पढकर कुछ विचारशील विद्वानोने मुझे इस प्रकारसे लिखा भी है कि—"परिमित स्थान-वाले पत्रमे ऐसे लम्बे-लम्बे लेखोका प्रकाशन, जिनमे प्रतिपाद्य वस्तु अधिक कुछ न हो, वाछनीय नही है। शास्त्रीय प्रमाणोको 'ऐसी' और 'इसमे' के शाब्दिक जजालमे नही लपेटना चाहिए। वे प्रमाण तो स्पष्ट हैं जैसा कि आपने अपने नोटमे लिखा है। म्लेच्छोमे सयमकी पात्रतासे इनकार तो नही किया जा सकता।" साथ ही, मुझे यह भी पसन्द नही है कि कटुक शब्दोकी पुनरावृत्ति-द्वारा उनकी परिपाटीको आगे बढाकर अप्रिय चर्चाको अवसर दिया जाय। हमारा काम प्रेमके साथ खुले दिलसे वस्तुतत्वके निर्णयका होना चाहिये—मूल बातको 'ऐसी' और 'इसमे' के प्रयोग-जैसी लफ्जी (शाब्दिक) बहसमे डालकर किसी भी शब्द-छलसे काम न लेना चाहिये। उधर शास्त्रीजी कुछ हेर-

फेरके साथ बाबू सूरजभानजीके विषयमें कहे गये अपने उन शब्दोको वापिस भी ले रहे हैं जिनकी सूचना इस लेखके शुरूमे की गई है। साथ ही मेरे लिये जिन कटुक शब्दोका प्रयोग किया गया है उसपर लेखके अन्तमे अपना खेद भी व्यक्त कर रहे है—लिख रहे हैं कि "नोटोका उत्तर देते हुए मेरी लेखनी भी कही-कही तीव्र हो गई है और इसका मुझे खेद हैं।" ऐसी हालतमे शास्त्रीजीका पूरा लेख छापकर और उसकी पूरी आलोचना करके पाठकोके समय तथा शक्तिका दुरुपयोग करना और व्यर्थकी अप्रिय चर्चाको आगे बढाना उचित मालूम नही होता। अत उज्र-माज़रत, सफाई-सचाई तथा व्यक्तिगत आक्षेप और कटुक आलोचनाकी बातोको छोडकर, जो बाते गोत्रकर्मकी प्रस्तुत चर्चासे खास सम्बन्ध रखती हैं उन्हीपर यहाँ सविशेषरूपसे विचार किये जानेकी जरूरत है। विचारके लिये वे विवादापन्न बातें सक्षेपमे इस प्रकार हैं --

(१) म्लेच्छोके मूल भेद कितने हैं? और शक, यवन, शवर तथा पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डोद्भव हैं या म्लेच्छखण्डोद्भव?

(२) शक, यवन, शवर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ सकल-सयमके पात्र हैं या कि नही?

(३) वर्तमान जानी हुई दुनियाके सब मनुष्य उच्चगोत्री हैं या कि नही?

(४) श्री जयधवल और लब्धिसार-जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थोके अनुसार म्लेच्छखण्डोके सब मनुष्य सकलसयमके पात्र एवं उच्चगोत्री हैं या कि नही?

इन सब बातोका ही नीचे क्रमश विचार किया जाता है, जिसमे शास्त्रीजीकी तद्विषयक चर्चाकी आलोचना भी रहेगी।

विचारकी कोई नई सामग्री—कोई नया प्रमाण—सामने रखता हुआ नजर नही आता। उन्ही बातोको प्राय उन्ही शब्दोमे फिर-फिरसे दोहराकर—अपने लेखके, वकील साहबके लेखके तथा मेरे नोटोके वाक्योको जगह-जगह और पुन -पुन उद्धृत करके—अपनी बातको पुष्ट करनेका निष्फल प्रयत्न किया गया है।

इस तरह प्रस्तुत उत्तरलेखको फिजूलका विस्तार दिया गया है और १४ बडे पृष्ठोका अर्थात् पौने दो फार्मके करीबका होगया है, उसे ज्योका त्यो पूरा छापकर यदि तुर्की-बतुर्की जवाब दिया जावे तो समूचे लेखका कलेवर चार फार्मसे ऊपरका हो जावे और पढनेवालोको उसपरसे बहुत ही कम बात हाथ लगे। मैं नही चाहता कि इस तरह अपने पाठकोका समय व्यर्थ नष्ट किया जाय। शास्त्रीजीके पिछले लेखको पढकर कुछ विचारशील विद्वानोने मुझे इस प्रकारसे लिखा भी है कि—"परिमित स्थान-वाले पत्रमे ऐसे लम्बे-लम्बे लेखोका प्रकाशन, जिनमे प्रतिपाद्य वस्तु अधिक कुछ न हो, वाछनीय नही है। शास्त्रीय प्रमाणोको 'ऐसी' और 'इसमे' के शाब्दिक जजालमें नही लपेटना चाहिए। वे प्रमाण तो स्पष्ट हैं जैसा कि आपने अपने नोटमें लिखा है। म्लेच्छोमे सयमकी पात्रतासे इनकार तो नही किया जा सकता।" साथ ही, मुझे यह भी पसन्द नही है कि कटुक शब्दोकी पुनरावृत्ति-द्वारा उनकी परिपाटीको आगे बढाकर अप्रिय चर्चाको अवसर दिया जाय। हमारा काम प्रेमके साथ खुले दिलसे वस्तुतत्वके निर्णयका होना चाहिये—मूल बातको 'ऐसी' और 'इसमे' के प्रयोग-जैसी लफ्जी (शाब्दिक) बहसमे डालकर किसी भी शब्द-छलसे काम न लेना चाहिये। उधर शास्त्रीजी कुछ हेर-

फेरके साथ बाबू सूरजभानजीके विषयमे कहे गये अपने उन शब्दोको वापिस भी ले रहे हैं जिनकी सूचना इस लेखके शुरूमे की गई है। साथ ही मेरे लिये जिन कटुक शब्दोका प्रयोग किया गया है उसपर लेखके अन्तमे अपना खेद भी व्यक्त कर रहे है—लिख रहे हैं कि "नोटोका उत्तर देते हुए मेरी लेखनी भी कही-कही तीव्र हो गई है और इसका मुझे खेद हैं।" ऐसी हालतमे शास्त्रीजीका पूरा लेख छापकर और उसकी पूरी आलोचना करके पाठकोके समय तथा शक्तिका दुरुपयोग करना और व्यर्थकी अप्रिय चर्चाको आगे बढाना उचित मालूम नही होता। अत उज्र-माजरत, सफाई-सचाई तथा व्यक्तिगत आक्षेप और कटुक आलोचनाकी बातोको छोडकर, जो बाते गोत्रकर्मकी प्रस्तुत चर्चासे खास सम्बन्ध रखती हैं उन्हीपर यहाँ सविशेषरूपसे विचार किये जानेकी जरूरत है। विचारके लिये वे विवादापन्न बातें सक्षेपमे इस प्रकार हैं --

(१) म्लेच्छोके मूल भेद कितने हैं ? और शक, यवन, शबर तथा पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डोद्भव हैं या म्लेच्छखण्डोद्भव ?

(२) शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ सकल-सयमके पात्र हैं या कि नही ?

(३) वर्तमान जानी हुई दुनियाके सब मनुष्य उच्चगोत्री हैं या कि नही ?

(४) श्री जयधवल और लब्धिसार-जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थोके अनुसार म्लेच्छखण्डोके सब मनुष्य सकलसयमके पात्र एव उच्चगोत्री हैं या कि नही ?

इन सब बातोका ही नीचे क्रमश विचार किया जाता है, जिसमे शास्त्रीजीकी तद्विषयक चर्चाकी आलोचना भी रहेगी।

इससे पाठकोके सामने कितनी ही नई-नई बाते प्रकाशमे आएँगी और वे सब उनकी ज्ञानवृद्धि तथा वस्तुतत्त्वके यथार्थ निर्णयमे सहायक होगी —

(१) म्लेच्छोके मूल भेद दो अथवा तीन हैं—१ कर्मभूमिज, २ अन्तरद्वीपज रूपसे दो भेद और १ आर्यखण्डोद्भव, २ म्लेच्छ-खण्डोद्भव तथा ३. अन्तरद्वीपज रूपसे तीन भेद हैं। शक-यवन-शवरादिक आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ हैं—आर्यखण्डमे उत्पन्न होते हैं, म्लेच्छखण्डोमे उत्पन्न होनेवाले अथवा वहाँके विनिवासी (कदीमी बाशिन्दे) नही हैं, जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है .—

आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तरद्वीपजा अपि॥
—तत्त्वार्थसार

अर्थात्—आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य प्राय. करके तो 'आर्य' हैं, परन्तु कुछ शकादिक 'म्लेच्छ' भी हैं। बाकी म्लेच्छखण्डो तथा अन्तरद्वीपोमे उत्पन्न होनेवाले सब मनुष्य 'म्लेच्छ' हैं।

प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री म्लेच्छोके म्लेच्छखण्डोद्भव और अन्तरद्वीपज ऐसे दो भेद ही करते हैं और शक-यवनादिकको म्लेच्छखण्डोसे आकर आर्यखण्डमे बसनेवाले म्लेच्छ बतलाते हैं। साथ ही, यह भी लिखते हैं कि आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नही, आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले सब आर्य ही होते हैं, यहाँ तक कि म्लेच्छखण्डोसे आकर आर्यखण्डमे बसनेवालोकी सन्तान भी आर्य होती है, शकादिकको किसी भी आचार्यने आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले नही लिखा, विद्यानन्दाचार्यने भी यवनादिकको

म्लेच्छखण्डोद्भव म्लेच्छ बतलाया है। परन्तु इनमेसे कोई भी बात उनकी ठीक नही है। विद्यानन्दाचार्यने यवनादिकको म्लेच्छ-खण्डोद्भव नही बतलाया और न म्लेच्छोके अन्तरद्वीपज तथा म्लेच्छखण्डोद्भव ऐसे दो भेद किये हैं, बल्कि अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज ऐसे दो भेद किये हैं, जैसा कि उनके श्लोक-वार्तिकके निम्न वाक्योसे प्रकट है—

"तथान्तरद्वीपजा म्लेच्छाः परे स्युः कर्मभूमिजाः।
"कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचारपालनाद्बहुधा जनाः॥"

श्रीपूज्यपाद और अकलकदेवने भी ये ही दो भेद किये हैं और शक-यवनादिकको म्लेच्छखण्डोद्भव नही लिखा, किन्तु कर्म-भूमिज बतलाया है। यथा—

"म्लेच्छा द्विविधा अन्तरद्वीपजाः कर्मभूमिजाश्चेति।"
"कर्मभूमिजाश्च शक-यवन-शवर-पुलिन्दादयः ।"

—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक

वास्तवमे आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्ड दोनो ही कर्मभूमियाँ हैं और इसलिये 'कर्मभूमिज' शब्दमे आर्यखण्डोद्भव तथा म्लेच्छ-खण्डोद्भव दोनो प्रकारके म्लेच्छोका समावेश है। इसीसे अमृतचन्द्राचार्यने उन्हे स्पष्ट करते हुए म्लेच्छोको तीन भेदोमे विभाजित किया है। अत अमृतचन्द्राचार्यके उक्त वाक्यमे प्रयुक्त हुए 'केचिच्छकादय' का अर्थ म्लेच्छखण्डोसे आकर आर्यखण्डमे बसनेवाले म्लेच्छ नही, किन्तु 'आर्यखण्डोद्भव' म्लेच्छ ही हो सकता है और यह विशेषण दूसरे म्लेच्छोसे व्यावृत्ति करानेवाला होनेके कारण सार्थक है। अमृतचन्द्राचार्यके समयमे तो म्लेच्छ-खण्डोसे आकर आर्यखण्डमे बसनेवाले कोई म्लेच्छ थे भी नही,

जिन्हे लक्ष्य करके यह भेद किया गया हो। जो म्लेच्छ किसी चक्रवर्तीके समयमे आकर बसे भी होगे उनका अस्तित्व उस समय हो ही नही सकता और उनकी सतान शास्त्रीजीके कथनानुसार म्लेच्छ रहती नही—वह पहले ही आर्यजातिमे परिणत हो गई थी। इसके सिवाय, शक और यवनादिक जिन देशोंके निवासी हैं वे आर्यखण्डके ही प्रदेश हैं। श्री आदिनाथ भगवान्‌के समयमे और उनकी आज्ञासे आर्यखण्डमे जिन मुख्य तथा अन्तराल देशोकी स्थापना की गई थी उनमे शक-यवनादिकके देश भी हैं। जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्यविरचित आदिपुराणके निम्न वाक्योसे प्रकट है —

दर्वाभिसार - सौवीर - शूरसेनापरान्तकाः।
विदेह-सिन्धु-गान्धार-यवनाश्चेदि-पल्लवा. ॥१५५॥
काम्भोजाऽरट्ट-वाल्हीक-तुरुष्क-शक-केकयाः।
निवेशितास्तथाऽन्येपि विभक्ता विषयास्तथा ॥१५६॥
तदन्तेष्वन्तपालानां दुर्गाणि परितोऽभवन्।
स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥१६०॥
तदन्तरालदेशाश्च बभुवुरनुरञ्जिताः।
लुब्धकाऽरण्यचरट - पुलिन्द - शबरादिभिः ॥१६१॥

—आदिपुराण, पर्व १६

यही वजह है कि जिस समय भरत चक्रवर्ती दिग्विजयके लिये निकले थे तब उन्हे गगाद्वारपर पहुँचनेसे पहले ही आर्यखण्डमे अनेक म्लेच्छ राजा तथा पुलिन्द लोग मिले थे—पुलिन्द म्लेच्छोकी कन्याएँ चक्रवर्तीकी सेनाको देखकर विस्मित हुई थी और उन्होने अनेक प्रकारकी भेटे देकर भरत चक्रवर्तीके दर्शन किये थे। उस वक्ततक म्लेच्छखण्डोके कोई म्लेच्छ आर्यखण्डमे आये भी नही

थे, और इसलिये वे सब म्लेच्छ पहलेसे ही आर्यखण्डमें निवास करते थे, जैसा कि आदिपुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है —

पुलिन्दकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः ।
अव्याजसुन्दराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः ॥४१॥
चमरीवालकान्केचित् केचित्कस्तूरिकाण्डकान् ।
प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः ॥४२॥
ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं सह सेनया ।
गंगाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालंघ्यमर्णवम् ॥४४॥
—आदिपुराण, पर्व २८

इन सब प्रमाणोंसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि शक-यवन-शबर और पुलिन्दादिक म्लेच्छ आर्यखण्डके ही रहनेवाले हैं, आर्यखण्डोद्भव हैं—म्लेच्छखण्डोद्भव नहीं हैं। शास्त्रीजीका उन्हें 'म्लेच्छखण्डोद्भव' लिखना तथा यह प्रतिपादित करना कि 'आर्यखण्डोद्भव कोई म्लेच्छ होते ही नहीं' तथा 'किसी आचार्यने उन्हें आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाला लिखा ही नहीं', गलत जान पडता है। साथ ही, यह कहना भी गलत हो जाता है कि 'आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले सब आर्य ही होते हैं, म्लेच्छ नहीं'। इसके सिवाय, 'क्षेत्र-आर्य'का जो लक्षण श्रीभट्टाकलंक-देवने राजवार्तिकमें दिया है उसमें भी यह नहीं बतलाया कि जो आर्य-खण्डमें उत्पन्न होते हैं वे सब 'क्षेत्र आर्य' होते हैं, बल्कि "काशी-कोशलादिषु जाताः क्षेत्रार्याः" इस वाक्यके द्वारा काशी-कौशलादिक जैसे आर्यदेशोंमें उत्पन्न होनेवालोंको ही 'क्षेत्र-आर्य' बतलाया है—शक, यवन, तुरुष्क (तुर्किस्तान) जैसे म्लेच्छ देशोंमें उत्पन्न होनेवालोंको नहीं। और इसलिए शास्त्रीजीका उक्त सब कथन कितना साधार है उसे सहृदय पाठक अब सहज ही में

समझ सकते हैं। साथ ही, उनके पूर्वलेखपर इस विषयका जो नोट (अनेकान्त पृ० २०७) मैंने दिया था उसकी यथार्थताका भी अनुभव कर सकते हैं। और यह भी अनुभव कर सकते हैं कि उस नोटपर गहरा विचार करके उसकी यथार्थता आँकनेका अथवा दूसरी कोई खास बात निकालनेका वह परिश्रम शास्त्रीजीने नही उठाया है जिसकी उनसे आशा की जाती थी। अस्तु, अब शक-यवनादिके सकलसयमकी बातको लीजिये।

(२) जब ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट है कि शक-यवनादि देश आर्यखण्डके ही प्राचीन प्रदेश हैं, उनके निवासी शक-यवन-शबर-पुलिन्दादिक लोग आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ हैं और वे सब आर्यखण्डमे कर्मभूमिका प्रारम्भ होनेके समयसे अथवा भरतचक्रवर्तीकी दिग्विजयके पूर्वसे ही यहाँ पाये जाते हैं तब इस बातको बतलाने अथवा सिद्ध करनेकी जरूरत नही रहती कि शक-यवनादिक म्लेच्छ उन लोगोकी ही सन्तान हैं जो आर्यखण्डमे वर्तमान कर्मभूमिका प्रारम्भ होनेसे पहले निवास करते थे। शास्त्रोके कथनानुसार वे लोग भोगभूमिया थे और भोगभूमिया सब उच्च-गोत्री होते हैं—उनके नीच गोत्रका उदय ही नही बतलाया गया[1]—इसलिये भोगभूमियोकी सन्तान होनेके कारण शक-यवनादिक लोग भी उच्च-गोत्री ठहरते हैं।

सकलसयमका अनुष्ठान छठे गुणस्थानमे होता है और छठे गुणस्थान तक वे ही मनुष्य पहुँच सकते हैं जो कर्मभूमिया होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री होते हैं। चूँकि शक-यवनादिक लोग कर्मभूमिया होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री हैं इसलिये वे भी आर्य-

१ देखो, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड गाथा न० ३०२, ३०३।

खण्डके दूसरे कर्मभूमिज मनुष्यो (आर्यों) की तरह सकलसयमके पात्र हैं ।

भगवती आराधनाकी टीकामे श्रीअपराजितसूरिने, कर्मभूमियों और कर्मभूमिजोका स्वरूप वतलाते हुए, कर्मभूमियाँ उन्हे ही वतलाया है जहाँ मनुष्योकी आजीविका असि, मसि, कृषि आदि पट् कर्मों-द्वारा होती है और जहाँ उत्पन्न मनुष्य तपस्वी हुए सकलसयमका पालन करके कर्मशत्रुओका नाश करते हुए सिद्धि अर्थात् निर्वृत्ति तकको प्राप्त करते हैं । यथा —

असिर्मषिः कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता ।
इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीवयोनयः ॥
प्रपाल्य संयमं यत्र तपः कर्मपरा नरा. ।
सुरसंगतिं वा सिद्धिं प्रयान्ति हतशत्रवः ॥
एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पंच च ।
यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः ॥

इनसे साफ ध्वनित है कि कर्मभूमियोमे उत्पन्न मनुष्य सकलसयमके पात्र होते हैं, और इसलिये उनके उच्चगोत्रका भी निपेध नही किया जा सकता । अत आर्योंकी तरह शक-यवनादि म्लेच्छ भी उच्चगोत्री होते हुए सकलसयमके पात्र हैं, इतना ही नही, वल्कि म्लेच्छखण्डोके म्लेच्छ भी कर्मभूमिज मनुष्य होनेके कारण सकलसयमके पात्र हैं, जिनके विपयका विशेष विचार आगे नम्बर ४ मे किया जायगा ।

यहाँपर, इस विपयको अधिक स्पष्ट करते हुए, मैं इतना और वतला देना चाहता हूँ कि श्रीजयधवलके 'सयमलब्धि' अनुयोगद्वारमे निम्न चूर्णिसूत्र और उसके स्पष्टीकरण-द्वारा आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले कर्मभूमिज मनुष्यको सकलसयमका पात्र-

बतलाया है। उसके सकलसयम-लब्धिके जघन्य स्थानको भी पूर्व-प्रतिपातस्थानसे अनन्तगुणा—अनन्तगुणी भावसिद्धि (विशुद्धि)-को लिये हुए—लिखा है :—

"कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स जहण्णयं संजमट्ठाणमणंतगुणं (चू० सूत्र)। कुदो ? संकिलेसणिबंधणपडिवादठाणादो पुव्विल्लादो तव्विवरीदस्सेदस्स जहण्णत्ते वि अणंतगुणभावसिद्धीए णायोववण्णत्तादो। एत्थ कम्मभूमियस्सेति वुत्ते पण्णारसकम्मभूमीसु मज्झिमखंडसमुप्पण्णमणुसस्स गहणं कायव्वं। कर्मभूमिसु जातः कर्मभूमिजमिति तस्य तद् व्यपदेशार्हत्वात्।"

इसी तरह सकलसयमके उत्कृष्ट स्थानको भी पूर्व प्रतिपद्यमान स्थानसे अनन्तगुणा लिखा है। यथा—

"कम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणस्स उक्कस्सयं संजमट्ठाणमणंतगुणं (चूर्णि-सूत्र)। कुदो ? खेत्ताणुभावेण पुव्विल्लादो एदस्स तहाभावसिद्धीए वाहाणुवलद्धीदो।"

यही सब बात 'लब्धिसार' ग्रन्थ-गाथा न० १९५ की निम्न टीकासे और भी स्पष्टरूपसे जानी जाती है —

"तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थानादसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वा मिथ्यादृष्टिचरस्याऽऽर्यखण्डजमनुष्यस्य सकलसंयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति। [1]ततःपरमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा आर्यखण्डजमनुष्यस्य देशसंयतचरस्य संयमग्रहणप्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयमलब्धिस्थानं भवति।"

---

१ इस मध्य-स्थानके छोडे हुए दो वाक्य म्लेछखण्डके मनुष्योंके सकलसयमग्रहणकी पात्रतासे सम्बन्ध रखते हैं, जिन्हें आगे ४थे नम्बरकी चर्चामें यथास्थान उद्धृत किया जायेगा।

इन सब अवतरणोसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि आर्यखण्डमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योमें सकलसयमके ग्रहणकी पात्रता होती है। शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक लोग चूँकि आर्यखण्डमे उत्पन्न होते हैं—जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है--इसलिये वे भी सकलसयमके पात्र हैं—मुनि हो सकते हैं।

(३) आर्यखण्डकी जो पैमाइश जैनशास्त्रोमे बतलाई है उसके अनुसार आज-कलकी जानी हुई सारी दुनिया उसकी सीमाके भीतर आ जाती है; इसीसे बाबू सूरजभानजीने उसे प्रकट करते हुए अपने लेखमे लिखा था —

"भरतक्षेत्रकी चौडाई ५२६ योजन ६ कला है। इसके ठीक मध्यमे ५० योजन चौडा विलयार्ध पर्वत है, जिसे घटाकर दोका भाग देनेसे २३८ योजन ३ कलाका परिमाण आता है, यही आर्यखण्डकी चौडाई बडे योजनोसे है, जिसके ४७६००० से भी अधिक कोस होते है, और यह सख्या आजकलकी जानी हुई सारी पृथ्वीकी पैमाईशसे बहुत ही ज्यादा—कई गुणी अधिक है। भावार्थ इसका यह है कि आज-कलकी जानी हुई सारी पृथ्वी तो जार्यखण्ड जरूर ही है।"

इसपर शास्त्रीजीकी भी कोई आपत्ति नही। और समाजके प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय प० गोपालदासजी वरैय्याने भी अपनी भूगोलमीमासा पुस्तकमे, आर्यखण्डके भीतर एशिया, योरुप, अमेरिका, एफ्रीका और आष्ट्रेलिया जैसे प्रधान-प्रधान महाद्वीपोको शामिल करके वर्तमानकी जानी हुई सारी दुनियाका आर्यखण्डमे समावेश होना बतलाया है। जब आर्यखण्डमें आजकलकी जानी हुई सारी दुनिया आ जाती है, और आर्यखण्डमें

उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सकलसयमके पात्र होते हैं, जैसा कि न० २ मे सिद्ध किया जा चुका है, तब आजकलकी जाती हुई सारी दुनियाके मनुष्य भी सकलसयमके पात्र ठहरते हैं। और चूँकि सकलसयमके पात्र वे ही हो सकते हैं जो उच्चगोत्री होते हैं, इसलिए आजकलकी जानी हुई दुनियाके सभी मनुष्योको गोत्र-कर्मकी दृष्टिसे उच्चगोत्री कहना होगा—व्यावहारिक दृष्टि-की ऊँच-नीचता अथवा लोकमे प्रचलित उपजातियोके अनेकानेक गोत्रोके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है।

(४) अब रही म्लेच्छखण्डज म्लेच्छोके सकल संयमकी बात, जैन-शास्त्रानुसार भरतक्षेत्रमे पाँच म्लेच्छखण्ड हैं और वे सब आर्यखण्डकी सीमाके बाहर हैं। वर्तमानमे जानी हुई दुनियासे वे बहुत दूर स्थित हैं, वहाँ के मनुष्योका इस दुनियाके साथ कोई सम्पर्क भी नही है और न यहाँके मनुष्योको उनका कोई जाती परिचय ही है। चक्रवर्तियोके समयमे वहाँके जो म्लेच्छ यहाँ आए थे वे अब तक जीवित नही हैं, न उनका अस्तित्व इस समय यहाँ सभव ही हो सकता है और उनकी जो सन्तानें हुईं वे कभीकी आर्योंमे परिणित हो चुकी हैं, उन्हे म्लेच्छखण्डोद्भव नही कहा जा सकता—शास्त्रीजीने भी अपने प्रस्तुत लेखमे उन्हे 'क्षेत्र-आर्य' लिखा है और अपने पूर्व लेखमे (अने० वर्ष २ कि० ३ पृ० २०७) म्लेच्छखण्डोसे आए हुए उन म्लेच्छोको 'कर्म-आर्य' बतलाया है जो यहाँके रीतिरिवाज अपना लेते थे और आर्योंकी ही तरह कर्म करने लगते थे, यद्यपि आर्यखण्ड और म्लेच्छखण्डोके असि, मसि, कृषि, वाणिज्य और शिल्पादि षट् कर्मोंमे परस्पर कोई भेद नही है—वे दोनो ही कर्मभूमियोमे समान हैं, जैसाकि ऊपर उद्धृत किये हुए अपराजितसूरिके कर्मभूमिविषयक स्वरूपसे प्रकट

है, और भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे तो यहाँ तक स्पष्ट है कि म्लेच्छखण्डोके म्लेच्छ धर्मकर्मसे बहिर्भूत होनेके सिवाय और सब बातोमे आर्यावर्तके ही समान आचारके धारक हैं :--

धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः॥

—आदिपुराण, पर्व ३१, श्लोक १४२

साथ ही, यह सिद्ध किया जा चुका है कि शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक जातिके म्लेच्छ आर्यखण्डके ही आदिम निवासी (कदीमी बाशिन्दे) हैं—प्रथम चक्रवर्ती भरतकी दिग्विजयके पूर्वसे ही वे यहाँ निवास करते हैं—म्लेच्छखण्डोसे आकर बसने वाले नही हैं। ऐसी हालतमे यद्यपि म्लेच्छखण्डज म्लेच्छोकी सकलसयमकी पात्रताका विचार कोई विशेष उपयोगी नही है और उससे कोई व्यावहारिक नतीजा भी नही निकल सकता, फिर भी चूँकि इस विषयकी चर्चा पिछले लेखोमे उठाई गई है और शास्त्रीजीने अपने प्रस्तुत उत्तर-लेखमे भी उसे दोहराया है, अत इसका स्पष्ट विचार भी यहाँ कर देना उचित जान पडता है। नीचे उसीका प्रयत्न किया जाता है —

श्रीजयधवल नामक सिद्धान्त ग्रन्थमे 'सयमलब्धि' नामक एक अनुयोगद्वार (अधिकार) है। सकलसावद्य-कर्मसे विरक्ति-लक्षणको लिये हुए पचमहाव्रत, पचसमिति और तीनगुप्तिरूप जो सकलसयम है उसे प्राप्त होनेवालेके विशुद्धिपरिणामका नाम सयमलब्धि है और वही मुख्यतया उक्त अनुयोगद्वारका विषय है। इस अनुयोगद्वारमे आर्यखडके मनुष्योकी तरह म्लेच्छखंडोके मनुष्योको भी सकलसयमका पात्र बतलाया है और उनके विशुद्धि-

स्थानोका अल्पवहुत्वरूपसे उल्लेख किया है, जैसा कि उसके निम्न वाक्योसे प्रकट है :—

"अकम्मभूमियस्स पडिवज्जमाणयस्स जहण्णयं संजमट्ठाण-मणंतगुणं (चूर्णिसूत्र) [कुदो ?] पुव्विल्लादो असंखेयलोग-मेत्तछट्ठाणाणि उवरि गंतूणेदस्स समुप्पत्तीए। को अकम्मभूमिओ णाम ? भरहेरावयविदेहेसु विणीतसण्णिदमज्झिमखंडं मोत्तूणं सेसपंचखंडविणिवासी मणुओ एत्थ 'अकम्मभूमिओ' त्ति विव-क्खिओ। तेसु धम्मकम्मपवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो।

जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहणसंभवो ? त्ति णासंकणिज्जं। दिसाविजयट्टचक्कवट्टिखंधावारेण सह मज्झिमखण्डमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सह जादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो।

अहवा तत्तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिताः। ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्धं। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावादिति।

तस्सेवुक्कस्सयं पडिवज्जमाणस्स संजमट्ठाणमणंतगुणं (चूर्णिसूत्र)। कुदो ?"[1]......

ये वाक्य उन दोनो वाक्य-समूहोके मध्यमे स्थित हैं जो ऊपर न० २ मे आर्यखण्डके मनुष्योंके सकलसयमकी पात्रता वतलानेके लिये उद्धृत किये जा चुके हैं। इनका आशय क्रमश' इस प्रकार है —

'सकलसयमको प्राप्त होनेवाले अकर्मभूमिकके जघन्य सयम-स्थान—मिथ्यादृष्टिसे सकलसयमग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान

---

१. इस प्रश्नका उत्तर अपनी कापीमे आराके जैनसिद्धान्तभवनकी प्रतिसे नोट किया हुआ नहीं है और वह प्रायः पूर्वस्थानसे असख्येय-लोकमात्र षट्‌स्थानोंकी सूचनाको लिये हुए ही जान पडता है।

जघन्य सयमलब्धिस्थान—अनन्तगुणा है। किससे ? पूर्वमें कहे हुए आर्यखडज-मनुष्यके जघन्य-सयमस्थानसे, क्योकि उससे असख्येय लोकमात्र षट् स्थान ऊपर जाकर इस लब्धिस्थानकी उत्पत्ति होती है। 'अकर्मभूमिक' किसे कहते हैं ? भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्रोमे 'विनीत' नामके मध्यमखण्ड (आर्यखण्ड) को छोडकर शेष पाँच खण्डोका विनिवासी (कदीमी बाशिन्दा) मनुष्य यहाँ 'अकर्मभूमिक' इस नामसे विवक्षित है, क्योकि उन पाँच खंडोमें धर्मकर्मकी प्रवृत्तियाँ असभव होनेके कारण उस अकर्मभूमिक-भावकी उत्पत्ति होती है।'

'यदि ऐसा है—उन पाँच खण्डोमे (वहाँके निवासियोमे) धर्म-कर्मकी प्रवृत्तियाँ असभव हैं—तो फिर वहाँ (उन पाँच खडोके निवासियोमे) सयम-ग्रहण कैसे सभव हो सकता है ? इस प्रकारकी शका नही करनी चाहिये, क्योकि दिग्विजयार्थी चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यमखड (आर्यखड) को आते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्धको प्राप्त होते हैं उनके सकलसयम-ग्रहणमे कोई विरोध नही है—अर्थात् जब म्लेच्छखण्डोके ऐसे म्लेच्छोके सकलसयम-ग्रहणमें किसीको कोई आपत्ति नही, वे उसके पात्र समझे जाते हैं, तब वहाँके दूसरे सजातीय म्लेच्छोंके यहाँ आने पर उनके सकल सयम-ग्रहणकी पात्रतामे क्या आपत्ति हो सकती है ? कुछ भी नही, इससे शका निर्मूल है।

'अथवा—और प्रकारान्तरसे'[1]—उन म्लेच्छोकी जो कन्याएँ

---

१ 'अथवा' तथा 'वा' शब्द प्रायः एकार्थवाचक हैं और वे 'विकल्प' या 'पक्षान्तर' के अर्थमें ही नहीं, किन्तु 'प्रकारान्तर' तथा 'समुच्चय' के अर्थमे भी आते हैं, जैसा कि निम्न प्रमाणोंसे प्रकट है :—

चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहित होती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले मातृपक्षकी अपेक्षा स्वय अकर्मभूमिज (म्लेच्छ) होते हैं—अकर्मभूमिककी सन्तान अकर्मभूमिक, इस दृष्टिसे—वे भी यहाँ विवक्षित हैं—उनके भी सकलसयमकी पात्रता और सयमका उक्त जघन्य स्थान अनन्तगुणा है। इसलिए कुछ भी विप्रतिपिद्ध[1] नही है—दोनोके तुल्यबलका कोई विरोध नही है, अर्थात् एकको सकलसयमका पात्र और दूसरेको अपात्र नही कहा जा सकता; क्योकि उस प्रकारकी दोनो ही जातिवालोंके दीक्षाग्रहणकी योग्यताका प्रतिपेध नही है—अर्थात् आगम अथवा सिद्धान्त ग्रन्थोंमे न तो उस जातिके म्लेच्छोके लिये सकलसयमकी दीक्षाका निपेध है जो उक्त म्लेच्छखण्डोमेसे किसी भी

अहवा (अथवा) = १ "सम्बन्धस्य प्रकारान्तरोपदर्शने", २ "पूर्वोक्त-प्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतने ." —अभिधानराजेन्द्र

वा = "वा स्याद्विकल्पोपमयोरिवार्थेऽपि समुच्चये ।" —विश्वलोचन कोश, सिद्धान्तकौ० तत्त्वबो० टी०

'अथ' शब्द भी 'समुच्चय' के अर्थमे आता है। यथा—

"अथेति मङ्गलाऽनन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्याधिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेपु ।" —सिद्धान्तकौ० तत्त्वबो० टी०

'अहवा' के प्रयोगका निम्न उदाहरण भी ध्यानमे लेने योग्य है :—

"आहारे धणरिद्धि पवट्टइ, चउविहु चाउ जि एहु पवट्टइ
अहवा दुट्ठवियप्पहँ चाए, चाउ जि एहु मुणहु रामवाए ।" —दशलाक्षणिकधर्मजयमाला

१ विप्रतिपेध —"तुल्यबलविरोधो विप्रतिपेध. ।"

"The opposition of two courses of action which are equally important, the conflict of two even-matched interests" —V S Apte

म्लेच्छखण्डके विनिवासी (कदीमी बाशिन्दे) हो तथा चक्रवर्तीकी सेना आदिके साथ किसी भी तरह आर्यखण्डको आगये हो, और न उस जातिवालोके लिये जो म्लेच्छखण्डकी कन्याओसे आर्य-पुरुषोके सयोग-द्वारा उत्पन्न हुए हो ।'

'सकलसयमको प्राप्त करनेवाले उसी अकर्मभूमिक मनुष्यके उत्कृष्ट सयमस्थान—देशसयतसे सकल सयम ग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान उत्कृष्ट सयम-लब्धिस्थान—अनन्तगुणा है। किससे ? ।'

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने आर्यखण्डज और म्लेच्छ-खण्डज मनुष्योके सकलसयमके जघन्य और उत्कृष्ट स्थानोका यह सब कथन लब्धिसार ग्रथकी गाथा न० १६५ मे समाविष्ट किया है, जो सस्कृत टीका-सहित इस प्रकार है—

ततो पडिवज्जगया अज्जमिलेच्छे मिलेच्छअज्जे य ।
कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा ॥

टीका—तस्माद्देशसंयमप्रतिपाताभिमुखोत्कृष्टप्रतिपातस्थाना-दसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्थानान्यन्तरयित्वा मिथ्यादृष्टिचर-स्याऽऽर्यखण्डजमनुष्यस्य सकलसंयम-ग्रहणप्रथमसमये वर्त्तमानं जघन्यं सकलसंयम-लब्धिस्थानं भवति। ततः परमसंख्येयलोक-मात्राणि षट्स्थानान्यतिक्रम्य म्लेच्छभूमिज-मनुष्यस्य मिथ्या-दृष्टिचरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानं जघन्यं संयम-लब्धिस्थानं भवति। ततः परमसंख्येयलोकमात्राणि षट्स्था-नानि गत्वा म्लेच्छभूमिजमनुष्यस्य देशसंयमचरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये उत्कृष्टं संयमलब्धिस्थानं भवति। ततः परमसंख्येय-लोकमात्राणि षट्स्थानानि गत्वा आर्यखंडज-मनुष्यस्य देशसंयम-चरस्य संयमग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानमुत्कृष्टं सकलसंयम-लब्धिस्थानं भवति। एतान्यार्यम्लेच्छमनुष्यविषयाणि सकल-

संयम-ग्रहण-प्रथमसमये वर्तमानानि संयमलब्धिस्थानानि प्रतिपद्यमानस्थानानीत्युच्यन्ते।

अत्रार्य-म्लेच्छमध्यमस्थानानि मिथ्यादृष्टिचरस्य वा असंयतसम्यग्दृष्टिचरस्य वा देशसंयतचरस्य वा तदनुरूपविशुद्ध्या सकलसंयमं प्रतिपद्यमानस्य संभवन्ति। विधिनिषेधयोर्नियमाऽवचने संभवप्रतिपत्तिरिति न्यायसिद्धत्वात्। अत्र जघन्यद्वयं यथायोग्यतीव्रसंक्लेशाविष्टस्य, उत्कृष्टद्वयं तु मंदसंक्लेशाविष्टस्येति ग्राह्यं।

म्लेच्छभूमिज-मनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवति? इति नाशंकितव्यम्। दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात्। तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्।"

इस टीकामे गाथाके आशयको स्पष्ट करते हुए लिखा है:—

'उस देशसयम-प्रतिपाताभिमुख उत्कृष्टप्रतिपातस्थानसे असख्यातलोकमात्र षट् स्थानोका अन्तराल करके मिथ्यादृष्टि आर्यखंडजमनुष्यके सकलसयम-ग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान जघन्य सकलसयम-लब्धिस्थान होता है। उसके बाद असख्यात लोकमात्र षट् स्थानोको उल्लघन करके मिथ्यादृष्टि म्लेच्छभूमिज मनुष्यके सयमग्रहणके प्रथम समयमे वर्तमान सकलसयम लब्धिका जघन्य स्थान होता है। उसके बाद असख्यात लोकमात्र षट् स्थान जा करके म्लेच्छखण्डके देशसयमी मनुष्यके सकलसयम-ग्रहणके प्रथम समयमे उत्कृष्ट सकलसमय-लब्धिका स्थान होता है। तदनन्तर असख्यात लोकमात्र षट् स्थान जा करके आर्य-खण्डके देशसंयमी मनुष्यके सकलसयमग्रहणके प्रथम समयमे

वर्तमान उत्कृष्ट सकलसंयम-लब्धिस्थान होता है। ये सब सकल-सयमग्रहणके प्रथम समयमे होनेवाले आर्य-म्लेच्छभूमिज मनुष्य-विषयक सयम-लब्धिस्थान 'प्रतिपद्यमानस्थान' कहलाते हैं।

'यहाँ आर्यखडज और म्लेच्छखडज मनुष्योके मध्यम स्थान—जघन्य और उत्कृष्ट स्थानोके बीचके स्थान—मिथ्यादृष्टिसे वा असयतसम्यग्दृष्टिसे अथवा देशसयतसे सकलसयमको प्राप्त होनेवालेके सभाव्य होते हैं। क्योकि विधि-निषेधका नियम न कहा जाने पर सभवकी प्रतिपत्ति होती है, ऐसा न्यायसिद्ध है। यहाँ दोनो जघन्य स्थान यथायोग्य तीव्रसक्लेशाविष्टके और दोनो उत्कृष्ट स्थान मदसक्लेशाविष्टके होते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये।'

'म्लेच्छभूमिज अर्थात् म्लेच्छखण्डोमे उत्पन्न होनेवाले मनुष्योके सकलसयमका ग्रहण कैसे सभव हो सकता है ? ऐसी शका नही करनी चाहिये, क्योकि दिग्विजयके समयमे चक्रवर्तीके साथ जो म्लेच्छराजा आर्यखडको आते हैं और चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्धको प्राप्त होते हैं उनके सकलसयमके ग्रहणका विरोध नही है—अर्थात् जब उन्हे सकलसयमके लिये अपात्र नही समझा जाता तब उनके दूसरे सजातीय म्लेच्छबन्धुओको अपात्र कैसे कहा जा सकता है और कैसे उनके सकलसयम-ग्रहणकी सम्भावनासे इनकार किया जा सकता है ? कालान्तरमे वे भी आर्यखण्डको आकर सकलसयम-ग्रहण कर सकते हैं, इससे शका निर्मूल है। अथवा उन म्लेच्छोकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाहित होती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले मातृपक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कहलाते हैं, उनके सकलसयम सभव होनेसे भी म्लेच्छभूमिज मनुष्योके सकलसयम-ग्रहणकी सभावना

है। उस प्रकारकी जातिवाले म्लेच्छोके दीक्षा-ग्रहणकी योग्यता-का (आगममे) प्रतिषेध नही है—इससे भी उन म्लेच्छभूमिज मनुष्योके सकलसयम-ग्रहणकी सभावना सिद्ध है—जिसका प्रति-षेध नही होता उसकी सभावनाको स्वीकार करना न्याय-सगत है। ।'

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जयधवलकी रचनाके बहुत बाद हुए हैं—जयधवल शक सख्या ७५९ मे बनकर समाप्त हुआ है और नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटस्वामीकी मूर्तिका निर्माण करानेवाले तथा शक सवत् ९०० मे महापुराणको बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीचामुण्डरायके समयमे हुए और उन्होने शक सख्या ९०० के बाद ही चामुडरायकी प्रार्थनादिको लेकर जयधवलादि ग्रथो परसे गोम्मटसारादि ग्रथोकी रचना की है। लब्धिसार ग्रन्थ भी चामुण्डरायके प्रश्नको लेकर जयधवल परसे सारसग्रह करके रचा गया है, जैसा कि टीकाकार केशववर्णीके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे प्रकट है —

"श्रीमान्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती सम्यक्त्वचूडामणिप्रभृति-गुणनामाङ्कित-चामुण्डरायप्रश्नानुरूपेण कषायप्रभृतस्य जयधव-लाख्यद्वितीयसिद्धान्तस्य पंचदशानां महाधिकाराणां मध्ये पश्चिमस्कंधाख्यस्य पंचदशस्यार्थं संगृह्य लब्धिसारनामधेयं शास्त्रं प्रारभमाणो भगवत्पंचपरमेष्ठिस्तव-प्रणामपूर्विका कर्तव्य-प्रतिज्ञां विधत्ते।"

जयधवलपरसे जो चार चूर्णिसूत्र ऊपर (न० २, ४ मे) उद्धृत किये गये हैं उन्हे तथा उनकी टीकाके आशयको लेकर ही नेमिचन्द्राचार्यने उक्त गाथा न० १९५ की रचना की है। चूर्णिसूत्रोमें कर्मभूमिक और अकर्मभूमिक शब्दोका प्रयोग था,

कर्मभूमिकमे म्लेच्छ-खण्डोके मनुष्य आ सकते थे और अकर्मभूमिकमे भोगभूमियोका समावेश हो सकता था। इसीसे जयधवलकारको 'कर्मभूमिक' और 'अकर्मभूमिक' शब्दोके प्रकरण-सगत वाच्यको स्पष्ट कर देनेकी जरूरत पडी और उन्होने यह स्पष्ट कर दिया कि कर्मभूमिकका वाच्य 'आर्यखण्डज' मनुष्य और अकर्मभूमिक का 'म्लेच्छखण्डज' मनुष्य है—साथ ही यह भी बतला दिया कि म्लेच्छखण्डज कन्यासे आर्यपुरुषके सयोग-द्वारा उत्पन्न होनेवाली सन्तान भी एक प्रकारसे म्लेच्छ तथा अकर्मभूमिक है, उसका भी समावेश 'अकर्मकभूमिक' शब्दमे किया जा सकता है। इसीलिये नेमिचन्द्राचार्यने यह सब समझकर ही अपनी उक्त गाथामें कर्मभूमिक और अकर्मभूमिकके स्थान पर क्रमशः 'अज्ज' तथा 'मिलेच्छ' शब्दोका प्रयोग दूसरा कोई विशेषण या शर्त साथमे जोडे बिना ही किया है, जो देशामर्शकसूत्रानुसार 'आर्यखण्डज' तथा 'म्लेच्छखण्डज' मनुष्यके वाचक हैं, जैसा कि टीकामें भी प्रकट किया गया है। ऐसी हालतमे यहाँ (लब्धिसारमे) उस प्रश्न की नौबत नही आती जो जयधवलमे म्लेच्छखण्डज मनुष्यके अकर्मभूमिक भावको स्पष्ट करने पर खडा हुआ था और जिसका प्रारभ 'जइ एव'—'यदि ऐसा है',—इन शब्दोके साथ होता है तथा जिसका समाधान वहाँ उदाहरणात्मक हेतुद्वारा किया गया गया है, फिर भी टीकाकारने उसका कोई पूर्व सम्बन्ध व्यक्त किये विना ही उसे जयधवल परसे कुछ परिवर्तनके साथ उद्धृत कर दिया है (यदि टीकाका उक्त मुद्रित पाठ ठीक है तो) और इसीसे टीकाके पूर्व भागके साथ वह कुछ असगतसा जान पडता है।

इस तरह यतिवृषभाचार्यके चूर्णिसूत्रो, वीरसेन-जिनसेनाचार्यों-

के 'जयधवल' नामक भाष्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके लब्धिसार ग्रन्थ और उसकी केशववर्णिकृत टीकापरसे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि म्लेच्छखडोके मनुष्य सयमलब्धिके पात्र हैं—जैनमुनिकी दीक्षा लेकर, छठे गुणस्थानादिकमे चढ कर, महाव्रतादिरूप सकलसयमका पालन करते हुए अपने परिणामोको विशुद्ध कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि म्लेच्छखडोमे रहते हुए वे ऐसा न कर सके, क्योकि वहाँकी भूमि धर्म-कर्मके अयोग्य है। श्री जिनसेनाचार्यने भी, भरत चक्रवर्तीकी दिग्विजयका वर्णन करते हुए '**इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्**' इस वाक्यके द्वारा उस म्लेच्छभूमिको धर्म-कर्मकी अभूमि बतलाया है। वहाँ रहते हुए मनुष्योके धर्म-कर्मके भाव उत्पन्न नही होते, यह ठीक है। परन्तु आर्यखडमे आकर उनके वे भाव उत्पन्न हो सकते हैं और वे अपनी योग्यताको कार्यमे परिणत करते हुए खुशीसे आर्यखण्डज मनुष्योकी तरह सकलसयमका पालन कर सकते हैं। और यह बात पहले ही बतलाई जा चुकी है कि जो लोग सकलसयमका पालन कर सकते हैं—उसकी योग्यता अथवा पात्रता रखते हैं—वे सब गोत्र-कर्मकी दृष्टिसे उच्च गोत्री होते हैं। इसलिये आर्य-खडोके सामान्यतया सब मनुष्य अथवा सभी कर्मभूमिज मनुष्य सकलसयमके पात्र होनेके साथ-साथ उच्चगोत्री भी हैं। यही इस विषय मे सिद्धान्तग्रथोका निष्कर्ष जान पडता है।

विचारकी यह सब साधन-सामग्री सामने मौजूद होते हुए भी, खेद है कि शास्त्रीजी सिद्धान्तग्रथोके उक्त निष्कर्षको मानकर देना नही चाहते। शब्दोकी खीचतान-द्वारा ऐसा कुछ डौल बनाना चाहते हैं जिससे यह समझ लिया जाय कि सिद्धान्तकी बातको न तो यतिवृषभने समझा, न जयधवलकार वीरसेन-जिन

सेनाचार्योंने, न सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्रने और न उनके टीका-कार केशववर्णीने ।। क्योकि यतिवृपभने अपनी चूर्णिमें अकर्म-भूमिक पदके साथ ऐसा कोई शव्द नही रक्खा जिससे उसका वाच्य अधिक स्पष्ट होता या उसकी व्यापक शक्तिका कुछ नियन्त्रण होता । जयधवलकारने अकर्मभूमिकका अर्थ सामान्य-रूपसे म्लेच्छखडोका विनिवासी मनुष्य कर दिया । तथा चूर्णि-कारके साथ पूर्ण सहमत न होते हुए भी अपना कोई एक सिद्धान्त कायम नही किया ।। और जो सिद्धान्त प्रथम हेतुके द्वारा इस रूपमे कायम भी किया था कि सिर्फ वे ही म्लेच्छ राजा सकल-सयमको ग्रहण कर सकते हैं जो चक्रवर्तीकी सेनाके साथ आर्य-खण्डको आकर अपनी वेटी भी चक्रवर्ती या आर्यखडके किसी दूसरे मनुष्यके साथ विवाह देवें, उसका फिर दूसरे हेतु-द्वारा परित्याग कर दिया और यह लिख दिया कि ऐसे म्लेच्छ राजाओ की लडकीसे जो सतान पैदा हो वही सकलसयमकी पात्र हो सकती है ।।। इसी तरह सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपनी उक्त गाथामे प्रयुक्त हुए 'मिलेच्छ' शव्दके साथ कोई विशेपण नही जोडा—आर्यखण्डके मनुष्योके साथ विवाह-सम्वन्ध-जैसी कोई शर्त नही लगाई—जिससे उसकी शक्ति सीमित होकर यथार्थतामें परिणत होती ।। और न उनके टीकाकारने ही उस पर कोई लगाम लगाया है, वल्कि खुलेआम म्लेच्छभूमिज-मात्रके लिये सकल सयमके जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट स्थानोका विधान कर दिया है !!! मेरे खयालसे शास्त्रीजीकी रायमे इन आचार्योंको चूर्णिसूत्र आदिमे ऐसे कोई शब्द रख देने चाहियें थे कि सामान्यतया सव म्लेछोको सकलसयमके ग्रहणका अधिकार होकर सिर्फ उन ही म्लेच्छ-राजाओको वह प्राप्त होता

चक्रवर्तीकी सेनाके साथ आकर अपनी वेटी भी आर्यखण्डके किसी मनुष्यके साथ विवाह देते—वेटी विवाह देनेकी शर्त खास तौर-पर लाजिमी रक्खी जाती !! अथवा ऐसा कर दिया जाता तो और भी अच्छा होता कि उन वेटियोसे पैदा होनेवाली सन्तान ही सकलसयमकी अधिकारिणी है—दूसरा कोई भी म्लेच्छखडज मनुष्य उसका पात्र अथवा अधिकारी नही है !! ऐसी स्थितिमे ही शायद उन आचार्योंकी सिद्धान्तविषयक समझ-वूझका कुछ परिचय मिलता !!! परन्तु यह सव कुछ अव वन नही सकता, इसीसे स्पष्ट शब्दोके अर्थकी भी खीचतान-द्वारा शास्त्रीजी उसे वनाना चाहते हैं !!!

शास्त्रीजीने अपने पूर्वलेखमे '**तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्**' इस वाक्यकी, जो कि जयधवला और लब्धिसार-टीका दोनोमे पाया जाता है और उनके प्रमाणोका अन्तिम वाक्य है, चर्चा करते हुए यह वतलाया था कि इस वाक्यमे प्रयुक्त हुए '**तथाजातीयकानां**' पदके द्वारा म्लेच्छोकी दो जातियोका उल्लेख किया गया है—एक तो उन साक्षात् म्लेच्छोकी जातिका जो म्लेच्छखडोसे चक्रवर्ती आदिके साथ आर्यखडको आ जाते हैं तथा अपनी कन्याएँ भी चक्रवर्ती आदिको विवाह देते हैं और दूसरे उन परम्परा—म्लेच्छोकी जातिका जो उक्त म्लेच्छ कन्याओसे आर्यपुरुषोके सयोग-द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन्ही दो जातिवाले म्लेच्छोके दीक्षाग्रहणका निषेध नही है। साथ ही लिखा था कि—"इस वाक्यसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य म्लेच्छोके दीक्षाका निषेध है। यदि टीकाकारको लेखकमहोदय (वा० सूरजभानजी) का सिद्धान्त अभीष्ट होता तो उन्हे दो प्रकारके म्लेच्छोके सयमका विधान वतलाकर उसकी पुष्टिके लिये

उक्त अन्तिम पक्ति (वाक्य) लिखनेकी कोई आवश्यकता ही नही थी, क्योकि वह पक्ति उक्त सिद्धान्त—सभी म्लेच्छ खडोंके म्लेच्छ सकलसयम धारण कर सकते हैं—के विरुद्ध जाती है।"
इस पर मैंने एक नोट दिया था और उसमे यह सुझाया था कि—'यदि शास्त्रीजीको उक्त पदसे ऐसी दो जातियोका ग्रहण अभीष्ट है, तव चूँकि आर्यखडको आए हुए उन साक्षात् म्लेच्छो-की जो जाति होती है वही जाति म्लेच्छखडोके उन दूसरे म्लेच्छो-की भी है जो आर्यखडको नही आते हैं, इसलिये साक्षात् म्लेच्छ जातिके मनुष्योके सकलसयम-ग्रहणकी पात्रता होनेसे म्लेच्छखडोमे अवशिष्ट रहे दूसरे म्लेच्छ भी सकलसयमके पात्र ठहरते हैं—कालान्तरमे वे भी अपने भाई-बन्दो (सजातीयो) के साथ आर्य-खडको आकर दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं। और इस तरह सकल-सयमग्रहणकी पात्रता एव सभावनाके कारण म्लेच्छखडोके सभी म्लेच्छोके उच्चगोत्री होनेसे वाबू सूरजभानजीका वह फलितार्थ अनायास ही सिद्ध हो जाता है, जिसके विरोधमे इतना अधिक द्राविडी प्राणायाम किया गया है।'

म्लेच्छखडोमें अवशिष्ट रहे म्लेच्छोकी कोई तीसरी जाति शास्त्रीजी वतला नही सकते थे, इसलिये उन्हे मेरे उक्त नोटकी महत्ताको समझनेमे देर नही लगी और वे ताड गये कि इस तरह तो सचमुच हमने खुद ही अपने हाथो अपने सिद्धान्तकी हत्या कर डाली है और अजानमे ही बावू साहबके सिद्धान्तकी पुष्टि कर दी है ।। अब करें तो क्या करें ? वाबू साहवकी बातको मान लेना अथवा चुप वैठ रहना भी इष्ट नही समझा गया, और इसलिये शास्त्रीजी प्रस्तुत उत्तरलेखमे अपनी उस बातसे ही फिर गये हैं ।। अब वे **'तथाजातीयकानाम्'** पदमे एक ही जातिके

म्लेच्छोका समावेश करते हैं और वह है उन म्लेच्छ कन्याओसे आर्यपुरुषोके सम्बन्ध-द्वारा उत्पन्न होनेवाले मनुष्योकी जाति !!! इसके लिये शास्त्रीजीको शब्दोकी कितनी ही खीचतान करनी पडी है और अपनी नासमझी, कमजोरी, तथा हेराफेरीको जय-धवलके रचयिता आचार्य महाराजके ऊपर लादते हुए यहाँ तक भी कह देना पडा है कि —

(१) "आचार्यने सूत्रमे आये हुए 'अकर्मभूमिक' शब्दकी परिभापाको बदल कर अकर्मभूमिकोमे सयम-स्थान बतलानेका दूसरा मार्ग स्वीकार किया !"

(२) " 'ततो न किंचिद् विप्रतिपिद्धम्' पदसे यह बात ध्वनित होती है कि 'अकर्मभूमिक' की पहली विवक्षामे कुछ 'विप्रतिषिद्ध' अवश्य था। इसीसे आचार्यको 'अकर्मभूमिक' की पहली विवक्षाको बदल कर दूसरी विवक्षा करना उचित जान पडा !"

(३) "यदि आचार्य महाराजको पाँच खडोके सभी म्लेच्छ मनुष्योमे सकलसयमग्रहणकी पात्रता अभीष्ट थी और वे केवल वहाँकी भूमिको ही उसमे बाधक समझते थे--जैसा कि सम्पादक-जीने लिखा है--तो प्रथम तो उन्हे आर्यखडमे आगत म्लेछ मनुष्योके सयमप्रतिपत्तिका अविरोध बतलाते समय कोई शर्त नही लगानी चाहिये थी। दूसरे, पहले समाधानके बाद जो दूसरा समाधान होना चाहिये था, वह पहले समाधानसे भी अधिक उक्त मतका समर्थक होना चाहिये था और उसके लिए 'अकर्म-भूमिक' की परिभाषा बदलनेकी आवश्यकता नही थी।"

(४) "इस प्रकारसे अकर्मभूमिक मनुष्योके सकलसयम-स्थान बतलाकर भी आचार्यको सतोष नही हुआ, जिसका सभाव्य

कारण मैं पहले बतला-आया हूँ। अत उन्हे अकर्मभूमिक शब्दकी पहली विवक्षा—म्लेच्छ खडोके मनुष्य—को छोड कर, अकर्म-भूमिक शब्दकी दूसरी विवक्षा करनी पडी, जिसमे किसीको कोई विप्रति-पत्ति न हो सके। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्यका अभिप्राय किसी-न-किसी प्रकारसे अकर्मभूमिक मनुष्यके सयमस्थान सिद्ध करना है न कि म्लेच्छ-खण्डोके सब मनुष्योमे सकलसयमकी पात्रता सिद्ध करना, यदि उनकी यही मान्यता होती तो वे अकर्मभूमिक शब्दसे विवक्षित म्लेच्छ खडके मनुष्योको छोडकर और अकर्मभूमिककी दूसरी विवक्षा करके सिद्धान्तका परित्याग न करते ॥''

शास्त्रीजीके लेखकी ऐसी विचित्र स्थिति होते हुए और यह देखते हुए कि वे अपनी हेराफेरीके साथ जयधवल जैसे महान् ग्रन्थके रचयिता आचार्य महाराजको भी हेराफेरीके चक्करमे डालना चाहते हैं और उनके कथनका लब्धिसारमें निश्चित सार खीचनेवाले सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र-जैसोकी भी बातको मानकर देना नही चाहते, यह भाव पैदा होता है कि तब उनके साथकी इस तत्त्वचर्चाको आगे चलानेसे क्या नतीजा निकल सकता है ? कुछ भी नही। अत मैं इस बहसको यहाँ ही समाप्त करता हूँ और अधिकारी विद्वानोसे निवेदन करता हूँ कि वे इस विषयमे अपने-अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करे।

—अनेकान्त वर्ष २, किरण ५, २१-२-१९३९

'अनेकान्त'के विशेपाङ्क (वर्प ६, किरण ५-६) मे कुछ ऐसी गलतियाँ हुई हैं, जो सुनने-समझने अथवा लिखनेकी गलतीसे सम्बन्ध रखती हैं। उदाहरणके तौरपर 'पृष्ठ २२२ पर ;'वडे अच्छे हैं पडितजी' इस शीर्पकके नीचे एक वालिका-द्वारा भोजन-समयकी जिस घटनाका उल्लेख किया गया है वह कुछ अधूरा और सुनाये हुए श्लोकादि-विपयक अर्थकी कुछ गलती अथवा गलतफहमीको लिये हुए है। भोली वालिका शारदाको तो दो एक चलतीसी वातें कहकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करनी थी, उसे क्या मालूम कि जिस वातको उसने बूढी अम्मासे सुना था उसका प्रतिवाद कितना महत्त्व रखता है और इसलिये उसे कितनी सावधानीसे ग्रहण तथा प्रकट करना चाहिये। लिखते समय उसके सामने न तो वह श्लोक था और न उसका मेरे द्वारा किया हुआ अर्थ, दोनोकी उडतीसी स्मृति जान पडती है, जिसे लेखमे अकित किया गया है और उससे सहारनपुरके जैन-समाजमे एक प्रकारकी

आलू-चर्चा

चल पडी है। अत यहाँपर'इस विषयमे कुछ स्पष्टीकरण कर देना उचित जान पडता है, जिससे गलतफहमी दूर हो सके। कुमारी शारदाने जिस श्लोकको सुनानेकी वात कही है वह गोम्मट-सारादि ग्रन्थोकी टीकाओमे पायी जानेवाली निम्न प्राचीन गाथा है :—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंविल-लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण च्छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं॥

इस गाथाको सुनाकर यह आशय बतलाया गया था कि 'जो सुखाया हुआ, अग्निमे पकाया हुआ, तपाया हुआ, खटाई-नमक मिलाया हुआ अथवा यत्रसे छिन्न-भिन्न किया हुआ वनस्पति द्रव्य है वह सब प्रासुक (अचित्त) होता है।' और फिर **'प्रासुकस्य भक्षणे नो पापः'**—प्रासुकके खानेमे कोई पाप नही, यह कहकर बतलाया गया था कि तुम्हारी रसोईमे जो आलूका शाक तय्यार है वह यत्रसे छिन्न-भिन्न करके, खटाई-नमक मिलाकर और अग्निमे पकाकर तय्यार किया गया है—कच्चा तो नही ? तब उसके खानेमे क्या दोप ?

अब मैं यहाँपर इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सचित्त-त्यागी पाँचवे दर्जे (प्रतिमा)के श्रावकके लिये **स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचार**के निम्न पद्यमे यह विधान दिया है कि वह कन्द-मूल-फल-फूलादिक कच्चे नही खाता, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि वह अग्निमे पके हुए अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक हुए कन्दमूलादिक खा सकता है और साथ ही यह निष्कर्प भी निकलता है कि पाँचवें दर्जेसे पहलेके चार दर्जों (प्रतिमाओ) वाले श्रावक कन्दमूलादिकको कच्चे अथवा अप्रासुक (सचित्त) रूपमे भी खा सकते हैं .—

मूल-फल-शाक-शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि ।
नाऽऽमानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः ॥

आलूकी गणना कन्दोमे होनेसे, ऊपरके आचार्यप्रवर-वाक्यसे यह साफ जाना जाता है कि जैनधर्ममे आलूके भक्ष्याभक्ष्य-विषयमे एकान्त नही, किन्तु अनेकान्त है—प्रथम चार दर्जोके श्रावकोके लिये वह नियमितरूपसे त्याज्य न होनेके कारण कच्ची, पक्की आदि सभी अवस्थाओमे भक्ष्य है। इन्द्रियसयमको लेकर स्वेच्छासे

त्यागे जानेकी बात दूसरी है, उस दृष्टिसे अच्छेसे अच्छे पदार्थका खाना भी छोडा जा सकता है। शेष ऊपरके सात दर्जोवाले श्रावकोके लिये वह कच्ची दशामे अभक्ष्य है, किन्तु अग्निपक्व अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक होनेकी अवस्थामे अभक्ष्य नही है।

इसके सिवाय 'मूलाचार' नामक अति प्राचीन मान्य ग्रन्थ और उसकी 'आचारवृत्ति' टीकामे मुनियोके लिये भक्ष्याऽभक्ष्यकी व्यवस्था बतलाते हुए जो दो गाथाएँ दी है वे टीकासहित इस प्रकार हैं :—

फल-कंद-मूल-बीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छिंति ते धीरा ॥ ९-५९ ॥

टीका—फलानि कन्दमूलानि बीजानि अग्निपक्वानि न भवन्ति यानि अन्यदपि आमकं यत्किंचिदनशनीय ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छंति नाभ्युपगच्छंति ते धीरा इति। यदशनीय तदाह :—

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टिमं फासुयं कयं चेव।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छंति ॥

टीका—यद्भवत्यबीजं निर्बीजं निर्वर्तिमं निर्गतमध्यसारं प्रासुकं कृतं चैव ज्ञात्वाऽशनीयं तद्भैक्ष्यं मुनयः प्रतीच्छन्ति। (९-६०)

इन दोनो गाथाओमेसे पहली गाथामे मुनिके लिये 'अभक्ष्य क्या है' और दूसरीमे 'भक्ष्य क्या है' इसका कुछ विधान किया है। पहली गाथामे लिखा है कि—'जो फल, कन्द, मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नही हैं और जो भी कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको अनशनीय (अभक्ष्य) समझकर वे धीर मुनि भोजनके लिये ग्रहण नही करते हैं। दूसरी गाथामे यह बतलाया है कि—जो बीजरहित हैं, जिनका मध्यसार (जलभाग ?) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किये गये हैं ऐसे सब खानेके पदार्थों

(वनस्पति-द्रव्यो)को भक्ष्य समझकर मुनि लोग भिक्षामें ग्रहण करते हैं।

मूलाचारके इस सम्पूर्ण कथनपरसे यह बिल्कुल स्पष्ट है और अनशनीय कन्द-मूलोका 'अनग्निपक्व' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कन्दमूल नही खाते, परन्तु अग्निमे पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये कन्द-मूल वे जरूर खा सकते हैं। दूसरी गाथामे प्रासुक (अचित्त) किये हुए पदार्थोंको भी भोजनमे ग्रहण कर लेनेका उनके लिये विधान किया गया है। यद्यपि अग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कही अधिक बढी हुई है। उसमे सुखाए, तपाए, खटाई-नमक मिलाए और यन्त्रादिकसे छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त वनस्पति-पदार्थ भी शामिल होते हैं, जैसा कि ऊपर दी हुई 'सुक्कं पक्कं तत्तं' इत्यादि प्राचीन गाथासे प्रकट है।

इस तरह जब त्रस-स्थावर दोनो प्रकारकी हिंसाके पूर्ण त्यागी महाव्रती मुनि भी अग्नि-पक्व अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक आलू आदि कन्द-मूल खा सकते हैं तब अणुव्रती गृहस्थ श्रावक[1], जो स्थावरकायकी (जिसमें सब वनस्पतिगर्भित हैं) हिंसाके तो त्यागी ही नही होते और त्रसकाय-जीवोकी हिंसा भी प्राय सकल्पी ही छोडते हैं, कन्दमूलादिकके सर्वथा त्यागी कैसे हो सकते हैं ? इसे विचारशील पाठकोको स्वय समझ लेना चाहिये और इसलिये भोगोपभोग-परिमाण-व्रतके कथनमे जहाँ अल्पफल-

---

१. दसवीं प्रतिमा तकके श्रावक गृहस्थ श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकोंके लिये 'गृहतो मुनिवनमित्वा' इत्यादि वाक्यों-द्वारा घर छोडनेके विधान हैं।

बहुविघातकी दृष्टिसे सामान्य शब्दोमे ऐसे कन्द-मूलोके त्यागका परामर्श दिया गया है, जो अनन्तकाय हैं, वहाँ भी अनग्निपक्व कच्चे तथा अप्रासुक कन्द-मूलोके त्यागका ही परामर्श है—अग्नि-पक्व तथा अन्य प्रकारसे प्रासुक एव अचित्त हुए कन्दमूलोके त्यागका नही, ऐसा समझना चाहिये। आगमकी दृष्टि और नय-विवक्षाको साथमे न लेकर यो ही शब्दार्थ कर डालना भूल तथा गलतीसे खाली नही है। अग्निमे पके अथवा अन्य प्रकारसे प्रासुक हुए कन्द-मूल अनन्तकाय (अनन्त जीवोके आवास) तो क्या, सचित्त—एक जीवसे युक्त-भी नही रहते। फिर उनके सेवन-सम्बन्धमे हिंसा, पाप, दोप तथा अभक्ष्य-भक्षण जैसी कल्पनाएँ कर डालना कहाँ तक न्यायसगत है ? इसे विवेकी जन स्वय समझ सकते हैं।

जैन-समाजमे कन्दमूलादिका त्याग वडा ही विलक्षण रूप धारण किये हुए है। हल्दी, सोठ तथा दवाई आदिके रूपमे सूखे कन्दमूल तो प्राय सभी गृहस्थ खाते हैं। परन्तु अधिकाश श्रावक अग्निपक्व तथा अन्य प्रकारसे प्रासुक होते हुए भी गीले, हरे, कन्द-मूल नही खाते। ऐसे लोगोका त्याग शास्त्रविहित मुनियोके त्यागसे भी बढा चढा है॥ बहुतसे श्रावक सिद्धान्त तथा नीति पर ठीक दृष्टि न रखते हुए स्वेच्छासे त्याग-ग्रहणका मार्ग अगीकार करते हैं—अर्थात् कितने ही लोग मूली तो खाते हैं, परन्तु उसका सजातीय पदार्थ शलजम नही खाते, अदरक और शकरकन्द तो खाते हैं, परन्तु आलू और गाजर नही खाते। अथवा आलूको तो '**शाकराज**' कहकर खाते हैं, परन्तु दूसरे कितने ही कन्द-मूल नही खाते। और अधिकाश श्रावक कन्द-मूलको अनन्तकाय समझकर ही उनका त्याग करते हैं, परन्तु अनन्त-

कायका ठीक विवेक नही रखते—प्राय रूढि-रिवाज अथवा रूढियोसे वना हुआ समाजका वातावरण ही उनका पथ-प्रदर्शन करता है। यह सब देखकर आजसे कोई २३ वर्ष पहले ता० २ अक्टूबर १९२० को, अपने ही सम्पादकत्वमे प्रकाशित होनेवाले 'जैन-हितैपी'के सयुक्ताङ्क न० १०-११ मे, मैंने 'शास्त्रीयचर्चा' नामसे एक लेखमाला प्रारम्भ की थी, जिसमे इस विषयपर दो लेख लिखे थे—(१) क्या मुनि कन्द-मूल खा सकते हैं ? (२) क्या सभी कन्द-मूल अनन्तकाय होते हैं ? पहले लेखका अधिकाश विपय इस लेखमे आ गया है। दूसरे लेखमें गोम्मटसार और मूलाचार जैसे प्रामाणिक ग्रन्थो के आधारपर यह सिद्ध किया गया था कि—

"सभी कन्द-मूल अनन्तकाय नहीं होते और न सर्वाङ्ग रूपसे ही अनन्तकाय होते हैं और न अपनी सारी अवस्थाओंमें अनन्तकाय रहते हैं। वल्कि वे प्रत्येक (एकजीवाश्रित) और अनन्तकाय (साधारण) दोनों प्रकारके होते हैं। किसीकी छाल ही अनन्तकाय होती है, भीतरका भाग नहीं और किसीका भीतरी भाग ही अनन्तकाय होता है तो छाल अनन्तकाय नहीं होती, कोई वाहर-भीतर सर्वाङ्ग रूपसे अनन्तकाय होता है और कोई इससे विलकुल विपरीत कतई अनन्तकाय नहीं होता, इसी तरह एक अवस्थामें जो प्रत्येक है वह दूसरी अवस्थामें अनन्तकाय हो जाता है और जो अनन्तकाय होता है वह प्रत्येक वन जाता है। प्रायः यही दशा दूसरी प्रकारकी वनस्पतियोंकी है। वे भी प्रत्येक और अनन्तकाय दोनों प्रकारकी होती हैं—आगममें उनके लिये भी उन दोनों भेदोंका विधान किया गया है, जैसा कि ऊपरके[1] (गोम्मटसारके) वाक्योंसे

१. यहाँ गोम्मटसारके जिन वाक्योंकी ओर सकेत किया गया है वे इस प्रकार हैं :—

ध्वनित है और मूलाचारकी निम्न गाथाओंसे भी प्रकट है, जिनसे पहली गाथा गोम्मटसारमें भी नं० १८५ पर पायी जाती है :—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीज-बीजरुहा ।
सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेया णंतकाया य ॥ २१२ ॥
कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल-पुप्फ-फलं ।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य ॥ २१३॥

ऐसी हालतमें कन्द-मूलों और दूसरी वनस्पतियोंमें अनन्तकायकी दृष्टिसे आमतौरपर कोई विशेष भेद नहीं रहता।"

साथ ही कन्द-मूलके त्यागियोको चेतावनी देते हुए लिखा था—

"अतः जो लोग अनन्तकायकी दृष्टिसे कच्चे कन्द-मूलोंका त्याग करते हैं उन्हें इस विषयमें बहुत-कुछ सावधान होनेकी जरूरत है। उनका सम्पूर्ण त्याग विवेकको लिये हुए होना चाहिये। अविवेकपूर्वक जो त्याग किया जाता है वह काय-कष्टके सिवाय किसी विशेष फलका दाता नहीं होता। उन्हें कन्द-मूलोंके नामपर ही भूलकर सबको एकदम अनन्तकाय न समझ लेना चाहिये। बल्कि इस बातकी जाँच करनी चाहिये कि कौन-कौन कन्द-मूल अनन्तकाय हैं और कौन-कौन अनन्त-काय नहीं हैं, किस कन्द-मूलका कौन-सा अवयव (अंग) अनन्तकाय है और कौनसा अनन्तकाय नहीं है। साथ ही यह

मूले कन्दे छल्ली पवाल-साल-दल-कुसुम-फल-बीजे ।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८७ ॥
कंदस्स व मूलस्स व साखा खंधस्स वा वि बहुलतरी ।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८ ॥
बीजे जोणीभूदे जीवो चकमदि सो व अण्णो वा ।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥ १८९ ॥

भी देखना चाहिये कि किस-किस अवस्थामें अनन्तकाय होते हैं और किस-किस अवस्थामें अनन्तकाय नही रहते। अनेक वनस्पतियाँ भिन्न-भिन्न देशोंकी अपेक्षा जुदा-जुदा रंग, रूप, आकार, प्रकार और गुण-स्वभावको लिये हुए होती है। बहुतोंमे वैज्ञानिक रीतिसे अनेक प्रकारके परिवर्तन कर दिये जाते है। नाम-साम्यादिकी वजहसे उन सबको एक ही लाठीसे नहीं हाँका जा सकता[1]। संभव है एक देशमें जो वनस्पति अनन्तकाय हो, दूसरे देशमें वह अनन्तकाय न हो अथवा उसका एक भेद अनन्त-काय हो और दूसरा अनन्तकाय न हो। इन तमाम बातोंकी विद्वानों-को अच्छी जॉच-पड़ताल (छानवीन) करनी चाहिये और जॉच-के द्वारा जैनागमका स्पष्ट व्यवहार लोगोंको वतलाना चाहिये।"

इसके सिवाय आगमकी कसौटीके अनुसार उक्त लेखमे दो-एक कन्द-मूलोकी सरसरी जाँच भी दी थी और विद्वानोको विशेष जाँचके लिए प्रेरित भी किया था।

इस प्रकारकी शास्त्रीय-चर्चाओसे प्रभावित होकर ग्यारहवी प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावक ऐलक पन्नालालजीने अपने पिछले जीवनमे अग्निपक्व प्रासुक आलूका खाना प्रारम्भ कर दिया था, जिसकी पत्रोमे कुछ चर्चा भी चली थी।

जान पडता है ऐलकजीको जब यह मालूम हुआ होगा कि यह कन्द-मूल-विषयक त्यागभाव जिस श्रद्धाको लेकर चल रहा है वह जैन-आगमके अनुकूल नही है और आगममे यह भी लिखा है कि किसीके गलत बतलाने, समझाने और गलत समझ लेनेके कारण यदि किसी शास्त्रीय-विषयमें अन्यथा श्रद्धा चल

---

१. जैसे टमाटर और बैंगनको एक नहीं कहा जा सकता। गोभी नामके कारण गाठगोभी और बन्दगोभीको फूलगोभीके समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

रही हो उसका शास्त्रसे भली प्रकार स्पष्टीकरण हो जाने पर भी यदि कोई उसे नही छोडता है तो वह उसी वक्तसे मिथ्या-दृष्टि[1] है। तभी उन्होने अपने पूर्वके त्यागभावमे सुधार करके उसे आगमके अनुकूल किया होगा।

उक्त शास्त्रीय-चर्चाके लिखे जानेसे कई वर्ष पहले पं० उमरावसिह (ब्र० ज्ञानानन्दजी) सल्लावा (मेरठ) निवासी जब मेरी दलीलोसे क़ायल हो गये और उन्हे कन्द-मूल-विषयमे अपनी पूर्वश्रद्धाको स्थिर रखना आगमके प्रतिकूल जँचा तो उन्होने देववन्दमे मेरी रसोईमे ही प्रासुक आलूका भोजन करके कन्द-मूलके त्याग-विषयमे अपने नियमका सुधार किया था।

जैन-समाजमे सैकडो वडे-वडे विद्वान् पडित ऐसे हैं जो अनेक प्रकारसे कन्द-मूल खाते हैं—शास्त्रीय व्यवस्था और पद-विभाजनके अनुसार कन्द-मूल खानेमे कोई दोष भी नही समझते। परन्तु उनमे वहुतसे ऐसे भी हैं जो घर पर तो खुशीसे कन्द-मूल खाते हैं, परन्तु वाहर जानेपर कन्द-मूलके त्यागका प्रदर्शन करके अपनी कुछ शान वनाना चाहते हैं, यह प्रवृत्ति अच्छी नही। दूसरे शब्दोमे, इसे यो कहना चाहिये कि वे रूढिभक्तोके सामने सीधा खडा होनेमे असमर्थ होते हैं। और यह एक प्रकारका मानसिक दौर्वल्य है, जो विद्वानोको शोभा नही देता। उनके इस मानसिक दौर्वल्यके कारण ही समाजमे कितनी ही ऐसी

---

1. सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भाव अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥२७॥
सुत्तादो त सम्म दरसिज्जंत जदा ण सद्दहदि।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥२८॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड

रूढियाँ पनप रही हैं जिनके लिए शास्त्रका जरा भी आधार प्राप्त नही है और जो कितने ही सद्धर्मोंका स्थान रोके हुए हैं !! विद्वानोको शास्त्रीय-विषयोमे जरा भी उपेक्षासे काम नही लेना चाहिये। निर्भीक होकर शास्त्रकी बातोको जनताके सामने रखना उनका खास कर्तव्य है। किसी भी लौकिक स्वार्थके वश होकर इस कर्तव्यसे डिगना नही चाहिये और न सत्यपर पर्दा ही डालना चाहिये। जनताकी हाँ मे हाँ मिलाना अथवा मुँहदेखी बात कहना उनका काम नही है। उन्हे तो भोली एव रूढि-ग्रसित अज्ञ-जनताका पथ-प्रदर्शक होना चाहिये। यही उनके ज्ञानका सदुपयोग है।

जो लोग रूढि-भक्ति के वश होकर रूढियोको धर्मके आसन पर विठलाए हुए हैं, रूढियोके मुकावलेमे शास्त्रकी बात सुनना नही चाहते, शास्त्राज्ञाको ठुकराते अथवा उसकी अवहेलना करते हैं, यह उनकी वडी भूल है और उनकी ऐसी स्थिति नि सन्देह वहुत ही दयनीय है। उनको समझना चाहिये कि आगममे सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्रको मिथ्याचारित्र और ससार-परिभ्रमण-का कारण वतलाया है। अत. उनका आचरण मात्र रूढियोका अनुधावन न होकर विवेककी कसौटी पर कसा हुआ होना चाहिये और इसके लिये उन्हे अपने हृदयको सदा ही शास्त्रीय चर्चाओके लिए खुला रखना चाहिये और जो बात युक्ति तथा आगमसे ठीक जँचे उसके मानने और उसके अनुसार अपने आचार-विचारको परिवर्तित करनेमे आनाकानी न करनी चाहिये, तभी वे उन्नतिके मार्गपर ठीक तौर पर अग्रसर हो सकेंगे और तभी धर्म-साधनाका यथार्थ फल प्राप्त कर सकेंगे।

—अनेकान्त-वर्ष ६, किरण १०-११, ८-२-१९४४

जैनागम और यज्ञोपवीत : १६ :

प० सुमेरचन्द्रजी दिवाकर सिवनीका 'जैनागम और यज्ञोपवीत' नामका जो लेख 'अनेकान्त'के छठे वर्षकी ६वी किरणमे प्रकाशित हुआ है, उस पर विचार .—

उक्त लेखमे विद्वान् लेखकने भगवज्जिनसेन-प्रणीत आदिपुराणके जिन वाक्योको आगमप्रमाणके रूपमे उपस्थित किया है वे विवादापन्न कोटिमे स्थित हैं और इसलिए उस वक्त तक प्रमाणमे उपस्थित किये जानेके योग्य नही, जब तक विपक्षकी ओरसे यह कहा जाता है कि 'दक्षिणदेशकी तत्कालीन परिस्थितिके वश मुख्यत: श्रीजिनसेनाचार्यने यज्ञोपवीत (जनेऊ ,को अपनाकर उसे जैनाचारमे दाखिल किया है—उनके समयसे पहले प्राय: ऐसा नहीं था और न दूसरे देशोमे ही वह जैनाचारका कोई आवश्यक अंग समझा जाता था ।'

श्रीजिनसेनाचार्यके विषयमे दूसरे पक्षके कथनका उल्लेख करके जो यह कहा गया है कि—"इस कथनके बारेमें क्या कहा जाय जो भगवत् जिनसेन जैसे महापुरुषकी बातको भी अपने पक्षविशेषके प्रेमवश उडा देनेका अद्भुत तरीका अंगीकार करते हैं। वीतराग निस्पृह उदात्तचरित्र महापुरुष अपनी ओरसे आगममे मिश्रण करके उसे महावीर–वाणीकी परम्परा कहें यह बात तो समझमे नही आती"। इसे यदि लेखकमहोदय न कहते तो ज्यादा अच्छा होता। क्योकि इस प्रकारके अवसर पर ऐसी श्रद्धा-विषयक बाते कहना अप्रासगिक जान पडता है और वह प्राय. बिना युक्तिके ही अपनी बातको मान लेनेकी ओर

अपील करता है। कमसे कम जिन विद्वानोने जैनाचार्योंके शासन-भेदके इतिहासका अध्ययन किया है वे तो ऐसा नही कहेगे। उन्हे तो इतिहासपरसे इस बातका अनुभव होना भी स्वाभाविक है कि समय-समयपर कितनी ही लौकिक विधियोको जैनाचारमे शामिल किया गया है और फिर बादको उनके सरक्षणार्थ 'सर्व एव हि **जैनाना प्रमाणं लौकिको विधि. । यत्र सम्यक्त्व-हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥**' ऐसे-ऐसे वाक्योकी सृष्टि हुई है। अस्तु, यदि विद्वान लेखकको इस विषयमे दूसरोको चैलेज करना इष्ट हो तो वे खुले तथा स्पष्ट शब्दोमे चैलेज करे, तभी दूसरे विद्वान् उसपर गम्भीरता तथा गहरे अनुसधानके साथ विचार कर सकेगे और साथ ही **'आगममे मिश्रण'** तथा **'महावीर-वाणीको परम्परा'** इन सबके मर्मका उद्घाटन भी कर सकेंगे।

कविवर प० बनारसीदासजीके अर्धकथानक-वाक्योको उद्धृत करके जो कुछ कहा गया है और उसमे चारित्रमोहनीयके उदयतककी कल्पना की गई है वह भी ऐसा ही कुछ अप्रासगिक जान पडता है। अर्धकथानकके उन वाक्योपरसे और चाहे कुछ फलित होता हो या न होता हो पर इतना तो स्पष्ट है कि कविवर जनेऊको विप्रवेषका अग समझते थे—जैनवेषका नही, और जिस देश (उ० प्रशदे) मे वे रह रहे थे वहाँ जनेऊ विप्रसस्कृतिका अग समझा जाता था—जैनसस्कृतिका नही। तभी उन्होंने अपनेको ब्राह्मण प्रगट करनेके लिए जनेऊको अपनाया था। फिर उनकी कथनीके इस सत्यको यो ही इधर-उधरकी बातोमे कैसे उडाया जा सकता है ?

आदि पुराणके वाक्योको अलग कर देनेपर लेखमे केवल एक

ही आगम प्रमाण विचारके लिये अवशिष्ट रह जाता है और वह है तिलोयपण्णत्तीका वाक्य। इस वाक्यमे भोगभूमियोके आभरणोका उल्लेख करते हुए 'ब्रह्मसूत्र' नामका भी एक आभरण (आभूषण) बतलाया है और वह मुकुट, कुण्डल, हार, मेखलादि जिन ज़ेवरोके साथमे उल्लिखित है उन्हीकी कोटिका कोई ज़ेवर मालूम होता है, सूतके धागोसे विधिपूर्वक बना हुआ यज्ञोपवीत (जनेऊ) नही—भले ही ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीतको भी कहते हो, क्योकि भोगभूमिमे उपनयन अथवा यज्ञोपवीत सस्कार नही होता है। भोगभूमियोमे तो कोई व्रत भी नही होता और यज्ञोपवीतको स्वय जिनसेनाचार्यने व्रतचिह्न बतलाया है, जैसा कि आदिपुराण (पर्व ३८,३९)के निम्न वाक्योसे प्रगट है —

"व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं ...."

"व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्।"

"व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम्।"

ऐसी हालतमे "केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद्विभूषणम्" (३-२७) इस वाक्यके द्वारा जिनसेनाचार्यने भोगभूमियोंके आभूषणोमे जिस ब्रह्मसूत्रका उल्लेख किया है वह व्रतचिह्नवाला तथा मन्त्रपुरस्सर दिया-लिया हुआ यज्ञोपवीत नही हो सकता। वह तो भूषणाङ्ग जातिके कल्पवृक्षो द्वारा दिया हुआ एक प्रकारका आभूषण है—ज़ेवर है।

भगवान वृषभदेव और भरतेश्वरके आभूषणोका वर्णन करनेवाले श्रीजिनसेनके जिन वाक्योको लेखमे उदधृत किया गया है उनमे भी जिस ब्रह्मसूत्रका उल्लेख है वह भी उसी आकार-

प्रकारका जेवर है जिसे भोगभूमिया लोग पहनते थे'। श्री वृषभदेवके पिता और भरतेश्वरके पितामह नाभिराय भोग-भूमिया ही थे—कर्मभूमिका प्रारम्भ यहाँ वृषभदेवसे हुआ है। भ० वृषभदेव और भरतचक्रीके यज्ञोपवीत-सस्कारका तो कोई वर्णन भगवज्जिनसेनके आदिपुराणमें भी नही है। आदिपुराणके कथनानुसार भरतचक्रवर्तीने दिग्विजयादिके अनन्तर जब वृषभ-देवकी वर्ण-व्यवस्थासे भिन्न ब्राह्मण वर्णकी नई स्थापना की तबसे व्रतचिह्नके रूपमें यज्ञोपवीतकी सृष्टि हुई। ऐसी हालतमें व्रतावतरण-विषयक मान्यताको भ्रमपूर्ण बताते हुए विद्वान् लेखकने जो यह लिखा है कि "**भरत महाराजने गृहस्थका पद स्वीकार करके जब दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया था तब भी उनके शरीरपर जिनसेनके शब्दोमे यज्ञोपवीत था**" और उसके द्वारा यह बतलाना चाहा है कि व्रतावतरण क्रियाके अवसरपर भरतने यज्ञोपवीत नही उतारा वह कुछ सगत मालूम नही होता। क्योंकि इस कथनसे पहले यह सिद्ध होना आवश्यक है कि दिग्विजयको निकलनेसे पहले भरतका यज्ञोपवीत-सस्कार हुआ था, जो सिद्ध नही है। जब यज्ञोपवीत-सस्कार ही नही तब भरतके व्रतावतरणकी बात ही कैसे बन सकती है? जिनसेनने तो उक्त अवसरपर भी भरतके शरीरपर (पर्व २६) दूसरे स्थानकी तरह उसी ब्रह्मसूत्र नामके आभूपणका उल्लेख किया है।

इसके सिवाय लेखकने व्रतातरण-क्रियामे सार्वकालिक व्रत-

---

१. इसीसे भ० वृषभदेवके आभूषणोका वर्णन करते हुए यह भी लिखा है कि उन आभूषणोंसे वे भूषणाङ्ग-कल्पवृक्षके समान शोभते थे।—

इति प्रत्यङ्ग-सङ्गिन्या बभौ भूषण-सम्पदा।
भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणाङ्ग इवांध्रिप ॥ —१६-२३८

नियमोके अक्षुण्ण रहनेकी जो बात कही है वह तो ठीक है, परन्तु उन व्रत-नियमोमे यज्ञोपवीतकी गणना नही है—उनमे मधु-मासादिके त्यागरूप वे ही व्रत परिगृहीत हैं जो गृहस्थ-श्रावकोके (अष्ट) मूलगुण कहलाते हैं, जैसा कि जिनसेनके ही निम्न वाक्योसे प्रकट है —

> यावद्विद्या समाप्तिः स्यात्तावदस्येदृशं व्रतम् ।
> ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत्स्याद्यन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥ ११८ ॥
> मधुमांस-परित्यागः पञ्चोदुम्बर-वर्जनम् ।
> हिंसादि-विरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम् ॥ १२३ ॥

ऐसी हालतमे लेखकमहोदयने उन सार्वकालिक व्रतोमे यज्ञोपवीतकी कैसे और किस आधारपर गणना कर ली वह कुछ समझमे नही आता !! दूसरोकी मान्यताको भ्रमपूर्ण बतलानेमे तो कोई प्रबल आधार होना चाहिये, ऐसे कल्पित आधारोसे तो काम नही चल सकता ।

इस तरह जिनसेनके जिन वाक्योको लेखमे आगम-प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है वे विचारकी दूसरी दृष्टिसे भी अग्राह्य हैं, और इसलिये उनसे लेखककी इष्ट-सिद्धि अथवा उनके प्रतिपाद्य विषयका समर्थन नही होता । त्रिलोकप्रज्ञप्तिका प्रमाण भी प्रकृत-विषयके समर्थनमे असमर्थ है । उन्हे तो इसके लिये ऐसे प्रमाणोको उपस्थित करना चाहिये था जिनका यज्ञोपवीत-सस्कारके साथ सीधा स्पष्ट सम्बन्ध हो और जो भगवज्जिनसेनसे पूर्वके साहित्यमे पाये जाते हो ।

विपक्षकी ओरसे यह कहा जाता है कि उक्त जिनसेनसे पहलेके बने हुए '**पद्मपुराण**'मे श्रीरविषेणाचार्यने ब्राह्मणोको '**सूत्रकण्ठा**'—गलेमे तागा डालनेवाले—जैसे उपहासास्पद या हीनता-द्योतक (हिकारतके) शब्दोमे उल्लेखित किया है । (यदि

उस समय तक जैनियोमें जनेऊका रिवाज हुआ होता अथवा वह जैनसस्कृतिका अग होता तो श्रीरविषेण ब्राह्मणोके लिये ऐसे हीन पदोका प्रयोग न करते जिससे जनेऊकी प्रथा अथवा जनेऊ-धारकोका ही उपहास होता हो ।) इसके उत्तरमें विद्वान् लेखकने अपने लेखमे कुछ नही लिखा और न रविषेणाचार्यसे भी पूर्वके किसी जैनागममे यज्ञोपवीत-सस्कारके स्पष्ट विधानका कोई उल्लेख ही उपस्थित किया है ।

लेखके अन्तमे यज्ञोपवीतको "जैनसंस्कृति और जैनधर्मका आवश्यक अंग" बतलाया है । लेकिन वास्तवमे यज्ञोपवीत यदि जैनसस्कृति और जैनधर्मका आवश्यक अग होता तो कमसे कम जैनधर्मके उन आचारादि-विषयक प्राचीन ग्रन्थोमे उसका विधान जरूर होता जो उक्त जिनसेनाचार्यसे पहलेके बने हुए हैं । ऐसे ग्रन्थोसे श्री वट्टकेरका मूलाचार, कुन्दकुन्दाचार्यका प्रवचनसार तथा चारित्तपाहुडादिक, स्वामी समन्तभद्रका रत्नकरण्ड श्रावकाचार, उमास्वामीका तत्त्वार्थसूत्र, शिवार्यकी भगवती आराधना, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, अकलकदेवका तत्त्वार्थराजवार्तिक और विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ये ग्रन्थ खास तौरसे उल्लेखनीय हैं । इनमें कही भी मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्मके धारकोके लिये व्रतादिकी तरह यज्ञोपवीतकी कोई विधि-व्यवस्था नही है । श्री रविषेणके पद्मपुराण और द्वि० जिनसेनके हरिवशपुराणमे सैकडो जैनियोकी कथाएँ हैं, उनमेसे किसीके यज्ञोपवीत-सस्कारसे सस्कृत होनेका उल्लेख तक भी नही है । ऐसी हालतमे यज्ञोपवीतको जैनधर्मका कोई आवश्यक अग नही कहा जा सकता और न यह जैनसस्कृतिका ही कोई आवश्यक अग जान पडता है ।

—अनेकान्त वर्ष ६ कि० ९, १२-४-१९४४

समवसरणमें शूद्रोंका प्रवेश

जैनतीर्थङ्करोके दिव्य-समवसरणमे, जहाँ सभी भव्यजीवो-को लक्ष्यमे रखकर उनके हितका उपदेश दिया जाता है, प्राणीमात्रके कल्याणका मार्ग सुझाया जाता है और मनुष्यो-मनुष्योमे कोई जाति-भेद न करके राजा-रङ्क सभी गृहस्थोके वैठनेके लिये एक ही वलयाकार मानवकोठा नियत रहता है; जहांके प्रभावपूर्ण वातावरणसे परस्परके वैरभाव और प्राकृतिक जातिविरोध तकके लिये कोई अवकाश नही रहता, जहाँ कुत्ते-विल्ली, शेर-भेडिये, साँप-नेवले, गधे-भैसे जैसे जानवर भी तीर्थङ्करकी दिव्यवाणीको सुननेके लिए प्रवेश पाते हैं और सव मिलजुलकर एक ही नियत पशुकोठेमे वैठते हैं, जो अन्तका १२वाँ होता है, और जहाँ सवके उदय-उत्कर्पकी भावना एवं साधनाके रूपमे अनेकान्तात्मक 'सर्वोदय तीर्थ' प्रवाहित होता है वहाँ श्रवण, ग्रहण तथा धारणकी शक्तिसे सम्पन्न होते हुए भी शूद्रोके लिए प्रवेशका द्वार एकदम वन्द होगा, इसे कोई भी सहृदय विद्वान अथवा वुद्धिमान माननेके लिये तैयार नही हो सकता। परन्तु जैनसमाजमे ऐसे भी कुछ पण्डित हैं जो अपने अद्भूत विवेक, विचित्र सस्कार अथवा मिथ्या धारणाके वश ऐसी अनहोनी वातको भी माननेके लिये प्रस्तुत हैं, इतना ही नही, वल्कि अन्यथा प्रतिपादन और गलत प्रचारके द्वारा भोले भाइयो-की आँखोमे धूल झोककर उनसे भी उसे मनवाना चाहते हैं। और इस तरह जाने-अनजाने जैन-तीर्थङ्करोकी महती उदार-सभाके आदर्शको गिरानेके लिये प्रयत्नशील हैं। इन पण्डितोमे

अध्यापक मङ्गलसेनजीका नाम यहाँ खासतौरसे उल्लेखनीय है, जो अम्बाला छावनीकी पाठशालामे पढाते हैं। हालमे आपका एक सवा दो पेजी लेख मेरी नजरसे गुजरा है, जिसका शीर्षक है "१०० रुपयेका पारितोषिक—सुधारकोको लिखित शास्त्रार्थका खुला चैलेज" और जो 'जैन बोधक' वर्ष ६३ के २७वें अङ्कमे प्रकाशित हुआ है। इस लेख अथवा चैलेजको पढकर मुझे वडा कौतुक हुआ और साथ ही अध्यापकजीके साहसपर कुछ हँसी। आई। क्योकि लेख पद-पदपर स्खलित है—स्खलित भाषा, अशुद्ध उल्लेख, गलत अनुवाद, अनोखा तर्क, प्रमाण-वाक्य कुछ, उनपरसे फलित कुछ, और इतनी असावधान लेखनीके होते हुए भी चैलेंज का दु साहस। इसके सिवाय, खुद ही मुद्दई और खुद ही जज बननेका नाटक अलग॥ लेखमें अध्यापकजीने बुद्धिबलसे काम न लेकर शब्दच्छलका आश्रय लिया है और उसीसे अपना काम निकालना अथवा अपने किसी अहकारको पुष्ट करना चाहा है, परन्तु इस बातको भुला दिया है कि कोरे शब्दच्छलसे काम नही निकला करता और न व्यर्थका अहकार ही पुष्ट हुआ करता है।

आप दूसरोको तो यह चैलेंज देने बैठ गये कि वे आदिपुराण तथा उत्तरपुराण-जैसे आर्षग्रन्थोके आधारपर शूद्रोका समवसरणमे जाना, पूजा-वन्दना करना तथा श्रावकके बारह व्रतोका ग्रहण करना सिद्ध करके बतलाएँ और यहाँ तक लिख गये कि "जो महाशय हमारे नियमके विरुद्ध कार्य कर समाधानका प्रयत्न करेंगे (दूसरे आर्षादि ग्रन्थोके आधारपर तीनो बातोको सिद्ध करके बतलायेगे) उनके लेखको निस्सार समझ उसका उत्तर भी नही दिया जावेगा।" परन्तु स्वयं आपने उक्त दोनो ग्रन्थोंके

आधारपर अपने निषेध-पक्षको प्रतिष्ठित नही किया—उनका एक भी वाक्य उसके समर्थनमे उपस्थित नही किया, उसके लिये आप दूसरे ही ग्रन्थोका गलत आश्रय लेते फिरे हैं जिनमें एक 'धर्मसंग्रह-श्रावकाचार' जैसा अनार्ष ग्रन्थ भी शामिल है, जो विक्रमकी १६वी शताब्दीके एक पण्डित मेधावीका बनाया हुआ है। यह है अध्यापकजीके न्यायका एक नमूना, जिसे आपने स्वय जजका जामा पहनकर अपने पास सुरक्षित रख छोडा है और यह घोषित किया है कि "इस चैलेजका लिखित उत्तर सीधा हमारे पास ही आना चाहिये अन्यथा लेखोंके हम जिम्मेवार नही होगे।"

इसके सिवाय, लेखमे सुधारकोको 'आगमके विरुद्ध कार्य करनेवाले', जनताको धोखा देनेवाले' और 'काली करतूतो वाले' लिखकर उनके प्रति जहाँ अपशब्दोका प्रयोग करते हुए अपने हृदय-कालुष्यको व्यक्त किया है वहाँ उसके द्वारा यह भी व्यक्त कर दिया है कि आप सुधारकोंके किसी भी वाद या प्रतिवादके सम्बन्धमे कोई जजमेंट (फैसला) देनेके अधिकारी अथवा पात्र नही हैं।

गालबन इन्ही सब बातो अथवा इनमेसे कुछ बातोको लक्ष्यमे लेकर ही विचार-निष्ठ विद्वानोंने अध्यापकजीके इस चैलेज-लेखको विडम्बना-मात्र समझा है और इसीसे उनमेसे शायद किसीकी भी अब तक इसके विषयमे कुछ लिखनेकी प्रवृत्ति नही हुई, परन्तु उनके इस मौन अथवा उपेक्षाभावसे अनुचित लाभ उठाया जा रहा है और अनेक स्थलो पर उसे लेकर व्यर्थकी कूद-फाँद और गल-गर्जना की जाती है। यह सब देखकर ही आज मुझे अवकाश न होते हुए भी लेखनी उठानी पड रही

है। मैं अपने इस लेख-द्वारा यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अध्यापकजीका चैलेज कितना बेहूदा, बेतुका तथा आत्मघातक है और उनके लेखमे दिये हुए जिन प्रमाणोके बलपर कूदा जाता है अथवा अहंकारपूर्ण बातें की जाती हैं वे कितनी नि सार, निष्प्राण एव असङ्गत हैं और उनके आधारपर खडा हुआ किसी का भी अहङ्कार कितना वेकार है।

उक्त चैलेज-लेख सुधारकोके साथ आमतौरपर सम्बद्ध होते हुए भी खासतौरपर तीन विद्वानोको लक्ष्यमे लेकर लिखा गया है—तीन ही उसमें नम्बर हैं। पहले नम्बरपर व्याकरणाचार्य प० बन्शीधरजी का नाम है, दूसरे नम्बरपर मेरा नाम (जुगलकिशोर) **'सुधारकशिरोमणि'** के पदसे विभूपित। और तीसरे नम्बरपर **'सम्पादक जैनमित्रजी'** ऐसा नामोल्लेख है। परन्तु इस चैलेंजकी कोई कापी अध्यापकजीने मेरे पास भेजनेकी कृपा नही की। दूसरे विद्वानोके पास भी वह भेजी गई या नही, इसका मुझे कुछ पता नही, पर खयाल यही होता है कि शायद उन्हे भी मेरी तरह नही भेजी गई है और यो ही—सम्बद्ध विद्वानोको खासतौरपर सूचित किये बिना ही—चैलेंजको चरितार्थ हुआ समझ लिया गया है। अस्तु।

लेखमे व्याकरणाचार्य प० बन्शीधरजीका एक वाक्य, कोई आठ वर्ष पहलेका, जैनमित्रसे उद्धृत किया गया है और वह निम्न प्रकार है—

"जब कि भगवानके समोशरणमे नीचसे नीच व्यक्ति स्थान पाते हैं तो समझमे नही आता कि आज दस्सा लोग उनकी पूजा और प्रक्षालसे क्यो रोके जाते हैं।"

इस वाक्यपरसे अध्यापकजी प्रथम तो यह फलित करते हैं

कि "दस्साओंके पूजनाधिकारको सिद्ध करनेके लिए ही आप (व्याकरणाचार्यजी) समोशरणमे शूद्रोका उपस्थित होना बतलाते हैं।" इसके अनन्तर—"तो इसके लिए हम आदिपुराण और उत्तरपुराण आपके समक्षमे उपस्थित करते है" ऐसा लिखकर व्याकरणाचार्यजीको बाध्य करते हैं कि वे उक्त दोनो ग्रन्थोंके आधारपर "शूद्रोका किसी भी तीर्थंकरके समोशरणमे उपस्थित होना प्रमाणो द्वारा सिद्ध करके दिखलावें।" साथ ही तर्कपूर्वक अपने जजमेंटका नमूना प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—"यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थो द्वारा शूद्रोका समोशरणमे जाना सिद्ध नही कर सके तो दस्साओके पूजनाधिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा" और फिर पूछते हैं कि "सङ्गठनकी आड लेकर जिन दस्साओको आपने आगमके विरुद्ध उपदेश देकर पूजनादिका अधिकारी ठहराया है उस पापका भागी कौन होगा?" इसके बाद, यह लिखकर कि "अब हम जिस आगमके विरुद्ध आपके कहनेको मिथ्या बतलाते हैं उसका एक प्रमाण लिखकर भी आपको दिखलाते हैं", जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणका **'पापशीला विकुर्वाणाः'** नामका एक श्लोक यह घोषणा करते हुए कि उसमे "भगवान नेमिनाथके समोशरणमे शूद्रोके जानेका स्पष्टतया निषेध किया है" उद्धृत करते हैं और उसे ५९वे सर्गका १९०वाँ श्लोक बतलाते हैं। साथ ही पण्डित गजाधरलालजीका अर्थ देकर लिखते हैं—"हमने यह आचार्य वाक्य आपको लिखकर दिखलाया है आप अन्य ऐतिहासिक ग्रथो (आदिपुराण-उत्तरपुराण) के प्रमाणो द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमें विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रक्खें।"

अध्यापकजीका यह सब लिखना अविचारितरम्य एव घोर आपत्तिके योग्य है, जिसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

प्रथम तो व्याकरणचार्यजीके वाक्यपरसे जो अर्थ स्वेच्छापूर्वक फलित किया गया है वह उसपरसे फलित नही होता, क्योकि "शूद्रोका **समोशरणमे** उपस्थित होना" उसमे कही नही बतलाया गया—'**शूद्र**' शब्दका प्रयोग तक भी उसमें नही है। उसमे साफ तौरपर नीचसे नीच व्यक्तियोके **समवसरणमे** स्थान पानेकी बात कही गई है और वे नीचसे नीच व्यक्ति '**शूद्र**' ही होते हैं ऐसा कही कोई नियम अथवा विधान नही है, जिससे "नीचसे नीच व्यक्ति'का **वाच्यार्थ** 'शूद्र' किया जा सके। उसमें "नीचसे नीच' शब्दोके साथ '**मानव**' शब्दका भी प्रयोग न करके '**व्यक्ति**' शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। नीचसे नीच मानव भी एक मात्र शूद्र नहीं होते, नीचसे नीच व्यक्तियोकी तो बात ही अलग है। 'नीचसे नीच व्यक्ति' शब्दोका प्रयोग उन हीन तिर्यञ्चोको लक्ष्यमे रखकर किया गया जान पडता है जो **समवसरणमें** खुला प्रवेश पाते हैं। उनके इस प्रकट प्रवेशकी बातको लेकर ही बुद्धिको अपील करते हुए ऐसा कहा गया है कि जब नीचसे नीच तिर्यञ्च प्राणी भी भगवानके समवसरणमे स्थान पाते हैं तब दस्सा लोग तो, जो कि मनुष्य होनेके कारण तिर्यञ्चोसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, समवसरणमे जरूर स्थान पाते हैं, फिर उन्हे भगवानके पूजनादिकसे क्यो रोका जाता है ? खेद है कि अध्यापकजीने इस सहजग्राह्य अपीलको अपनी बुद्धिके कपाट बन्द करके उस तक पहुँचने नही दिया और दूसरेके शब्दोको तोड-मरोडकर व्यर्थमें चैलेंजका षड्यन्त्र रच डाला !!

दूसरे, व्याकरणाचार्यजीको एक मात्र **आदि-पुराण** तथा **उत्तरपुराणके** आधारपर किसी तीर्थंकरके **समवसरणमे** शूद्रोका उपस्थित होना सिद्ध करनेके लिये वाध्य करना किसी तरह भी समुचित नही कहा जासकता, क्योकि उन्होने न शूद्रोके **समवसरण** प्रवेशपर अपने पक्षको अवलम्बित किया है और न उक्त दोनो ग्रन्थोपर ही अपने पक्षका आधार रक्खा है। जब ये दोनो बातें नही तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अध्यापकजीकी दृष्टिमे उक्त दोनो ग्रन्थ ही प्रमाण हैं, दूसरा कोई जैनग्रन्थ प्रमाण नही है ? यदि ऐसा है तो फिर उन्होंने स्वय **हरिवशपुराण** और **धर्मसंग्रहश्रावकाचारके** प्रमाण अपने लेखमे क्यो उद्धृत किये ? यदि दूसरे जैनग्रन्थ भी प्रमाण हैं तो फिर एक मात्र **आदिपुराण** और **उत्तरपुराणके** प्रमाणोको उपस्थित करनेका आग्रह क्यो ? और दूसरे ग्रथोके प्रमाणोकी अवहेलना क्यो ? यदि समान-मान्यता के ग्रन्थ होनेसे उन्हीपर **पक्ष-विपक्षके** निर्णयका आधार रखना था तो अपने निषेधपक्षको पुष्ट करनेके लिये भी उन्ही ग्रन्थोपरसे कोई प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था, परन्तु अपने पक्षका समर्थन करनेके लिये उनका कोई भी वाक्य उपस्थित नही किया गया और न किया जा सकता है, क्योकि उनमे कोई भी वाक्य ऐसा नही है जिसके द्वारा शूद्रोका **समवसरणमे** जाना निषिद्ध ठहराया गया हो। और जब उक्त दोनो ग्रन्थोमे शूद्रोंके **समवसरणमे** जाने-न-जाने सम्बन्धी कोई स्पष्ट उल्लेख अथवा विधि-निषेध-परक वाक्य ही नही तब ऐसे ग्रन्थोके आधारपर चैलेज की बात करना चैलेजकी कोरी विडम्बना नही तो और क्या है ? इस तरहके तो पूजनादि अनेक विषयोंके सैकडो चैलेंज अध्यापकजीको **तत्त्वार्थ-सूत्रादि** ऐसे ग्रन्थोको लेकर दिये

जा सकते हैं जिनमे उन विषयोका विधि या निपेध कुछ भी नही है। परन्तु ऐसे चैलेंजोका कोई मूल्य नही होता, और इसीसे अध्यापकजीका चैलेज विद्वद्दृष्टिमे उपेक्षणीय ही नही, किन्तु गर्हणीय भी है।

तीसरे अध्यापकजीका यह लिखना कि "यदि आप इन ऐतिहासिक ग्रन्थो द्वारा शूद्रोका **समोशरणमे** जाना सिद्ध नही कर सके तो दस्साओके पूजनाधिकारका कहना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा" और भी विडम्बनामात्र हैं और उनके अनोखे तर्क तथा अद्भुत न्यायको व्यक्त करता है। क्योकि शूद्रोका यदि **समोशरणमे** जाना सिद्ध न किया जासके तो उन्हीके पूजनाधिकारको व्यर्थ ठहराना था न कि दस्साओके, जिनके विषयका कोई प्रमाण माँगा ही नही गया। यह तो वह बात हुई कि सबूत किसी विपयका और निर्णय किसी दूसरे ही विषयका। ऐसी जजीपर किसे तर्स अथवा रहम नही आएगा और वह किसके कौतुकका विषय नही बनेगी॥

यदि यह कहा जाय कि शूद्रोके **पूजनाधिकारपर** ही दस्साओका **पूजनाधिकार** अवलम्बित है—वे उनके समानधर्मा हैं—तो फिर शूद्रोके स्पष्ट पूजनाधिकार-सम्बन्धी कथनो अथवा विधिविधानोको ही क्यो नही लिया जाता? और क्यो उन्हे छोडकर शूद्रोके **समवसरणमे** जाने न जानेकी बातको व्यर्थ उठाया जाता है? जैन शास्त्रोमे शूद्रोके द्वारा पूजनके उत्तम फलकी कथाएँ ही नही मिलती, बल्कि शूद्रोको स्पष्ट तौर से नित्यपूजनका अधिकारी घोपित किया गया है। (साथ ही जैनगृहस्थो, अविरत-सम्यग्दृष्टियो, पाक्षिक **श्रावको** और **व्रती श्रावको** सभीको जिनपूजाका अधिकारी बतलाया गया है और शूद्र भी इन सभी कोटियोमे आते हैं) इतना

ही नही, वल्कि श्रावकका ऊँचा दर्जा ११वी प्रतिमा तक धारण कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक भी हो सकते हैं। श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यके शब्दोमे 'दान और पूजा श्रावकके मुख्य धर्म हैं, इन दोनोंके बिना कोई श्रावक होता ही नही, ('दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा') और शूद्र तथा दस्सा दोनो जैनी तथा श्रावक भी होते हैं तब वे पूजनके अधिकारसे कैसे वञ्चित किये जा सकते हैं ? नही किये जा सकते। उन्हे पूजना-धिकारसे वञ्चित करनेवाला अथवा उनके पूजनमे अन्तराय (विघ्न) डालनेवाला घोर पापका भागी होता है, जिसका कुछ उल्लेख कुन्दकुन्दकी रयणसारगत 'खय-कुट्ठ-सूल-मूलो' नामकी गाथासे जाना जाता है। इन सब विषयोंके प्रमाणोका काफी सकलन और विवेचन 'जिनपूजाधिकारमीमासा' मे किया गया है और उनमे आदिपुराण तथा धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाण भी सग्रहीत हैं। उन सब प्रमाणो तथा विवेचनो और पूजन-विषयक जैन-सिद्धान्तकी तरफसे आँखें बन्द करके इस प्रकारके चैलेजकी योजना करना अध्यापकजीके एकमात्र कौटिल्यका द्योतक है। यदि कोई उनकी इस तर्कपद्धतिको अपनाकर उन्हीसे उलटकर यह कहने लगे कि 'महाराज, आपही इन आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके द्वारा शूद्रो-का समवसरणमे जाना निषिद्ध सिद्ध कीजिये, यदि आप ऐसा नही कर सकेंगे तो दस्साओके पूजनाधिकारको निषिद्ध करना आपका सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जायगा' तो इससे अध्यापकजीपर कैसी बीतेगी, इसे वे स्वय समझ सकेंगे। उनका तर्क उन्हीके गलेका हार हो जायगा और उन्हे कुछ भी उत्तर देते बन नही पडेगा, क्योंकि उक्त दोनो ग्रन्थोके आधारपर प्रकृत विषयके निर्णयकी बातको उन्हीने उठाया है और उनमे उनके अनुकूल कुछ भी नही है।

चौथे, 'उस पापका भागी कौन होगा' यह जो अप्रासङ्गिक प्रश्न उठाया गया है वह अध्यापकजीकी हिमाकतका द्योतक है। व्याकरणाचार्यजीने तो आगमके विरुद्ध कोई उपदेश नही दिया, उन्होने तो अधिकारीको उसका अधिकार दिलाकर अथवा अधिकारी घोषित करके पुण्यका ही कार्य किया है। अध्यापकजी अपने विषयमे सोचे कि वे जैनी दस्साओ तथा शूद्रोके सर्व साधारण नित्यपूजनके अधिकारको भी छीनकर कौनसे पापका उपार्जन कर रहे हैं और उस पापफलसे अपनेको कैसे बचा सकेंगे जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथामे क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगन्दर, जलोदर, नेत्रपीडा, शिरोवेदना, शीत-उष्णके आताप और (कुयोनियोमे) परिभ्रमण आदिके रूपमे वर्णित है।

पाँचवे, हरिवंशपुराणका जो श्लोक प्रमाणमे उद्धृत किया गया है वह अध्यापकजीकी सूचनानुसार न तो ५९वें सर्गका है और न १९०वे नम्बरका, बल्कि ५७वे सर्गका १७३वाँ श्लोक है। उद्धृत भी वह गलत रूपमे किया गया है, उसका पूर्वार्ध तो मुद्रित प्रतिमे जैसा अशुद्ध छपा है प्राय वैसा ही रख दिया गया है[1] और उत्तरार्ध कुछ बदला हुआ मालूम होता है। मुद्रित प्रतिमे वह "विकलांगेंद्रियोद्भ्राता परियंति वहिस्तत." इस रूपमे छपा है, जो प्राय ठीक है, परन्तु अध्यापकजीने उसे अपने चैलेजमे "विकलाँगेन्द्रियोज्ञाता पारियन्ति वहिस्तता" यह रूप दिया है, जिसमे 'ज्ञाता', 'पारियन्ति' और 'तताः' ये तीन शब्द अशुद्ध हैं और श्लोकमें अर्थभ्रम पैदा करते हैं। यदि यह रूप अध्यापकजीका दिया हुआ न होकर प्रेसकी किसी गलतीका

---

१. यथा—"पापशीला विकुर्माणा. शूद्राः पाखण्डपांडवा."

परिणाम है तो अध्यापकजीको चैलेजका अङ्ग होनेके कारण उसे अगले अङ्कमे सुधारना चाहिये था अथवा कमसेकम सुधारक-शिरोमणिके पास तो अपने चैलेजकी एक शुद्ध कापी भेजनी चाहिये थी, परन्तु चैलेजके नामपर यदि यो ही वाहवाही लूटनी हो तो फिर ऐसी वातोकी तरफ ध्यान तथा उनके लिए परिश्रम भी कौन करे ? अस्तु उक्त श्लोक अपने शुद्धरूपमे इस प्रकार है :—

पापशीला विकुर्वाणाः शूद्राः पाखण्ड-पाटवाः ।
विकलांगेन्द्रियोद्भ्रान्ताः परियन्ति वहिस्ततः ॥१७३॥

इसमे शूद्रोके समवसरणमे जानेका कही भी स्पष्टतया कोई निपेध नही है, जिसकी अध्यापकजीने अपने चैलेंजमे घोपणा की हैं। मालूम होता है अध्यापकजीको प० गजाधरलालजीके गलत अनुवाद अथवा अर्थपरसे कुछ भ्रम हो गया है, उन्होने ग्रन्थके पूर्वाऽपर सन्दर्भपरसे उसकी जाँच नही की अथवा अर्थको अपने विचारोके अनुकूल पाकर उसे जाँचनेकी जरूरत नही समझी, और यही सम्भवत उनकी भ्रान्ति, मिथ्या धारणा एव अन्यथा प्रवृत्तिका मूल है। प० गजाधरलालजीका हरिवंशपुराणका अनुवाद साधारण चलता हुआ अनुवाद है, इसीसे अनेक स्थलोपर वहुत कुछ स्खलित है और ग्रन्थ-गौरवके अनुरूप नही है। उन्होने अनुवादसे पहले कभी इस ग्रन्थका स्वाध्याय तक नही किया था, सीधा सादा पुराण ग्रन्थ समझकर ही वे इसके अनुवादमे प्रवृत्त हो गये थे और इससे उत्तरोत्तर कितनी ही कठिनाइयाँ झेलकर '**यथा कथञ्चित्**' रूपमे इसे पूरा कर पाये थे, इसका उल्लेख उन्होने स्वय अपनी प्रस्तावना (पृ० ४) मे किया है और अपनी त्रुटियो तथा अशुद्धियोके आभासको भी

साथमें व्यक्त किया है। इस श्लोकके अनुवादपरसे ही पाठक इस विषयका कितना ही अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। उनका वह अनुवाद, जिसे अध्यापकजीने चेलेंजमे उद्धृत किया है, इस प्रकार है—

'जो मनुष्य पापी नीचकर्म करनेवाले शूद्र पाखण्डी विकलांग और विकलेन्द्रिय होते वे समोशरणके बाहर ही रहते और वहाँसे ही प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे।''

इसमें 'उद्भ्रान्ता' पदका अनुवाद तो बिल्कुल ही छूट गया है, 'पापशीलाः' का अनुवाद 'पापी' तथा 'पाखण्डपाटवा'का अनुवाद 'पाखण्डी' दोनो ही अपूर्ण तथा गौरवहीन हैं और ''समोशरणके बाहर ही रहते और वहाँसे ही प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे'' इस अर्थके वाचक मूलमे कोई पद ही नही हैं, भूतकालकी क्रियाका बोधक भी कोई पद नही है, फिर भी अपनी तरफसे इस अर्थकी कल्पना कर ली गई है अथवा 'परियन्ति बहिस्ततः' इन शब्दोपरसे अनुवादकको भारी भ्रान्ति हुई जान पडती है। 'परियन्ति' वर्तमानकाल-सम्बन्धी बहुवचनान्त पद है, जिसका अर्थ होता है 'प्रदक्षिणा' करते हैं'—न कि 'प्रदक्षिणापूर्वक नमस्कार करते थे'। और 'बहिस्तत' का अर्थ है उसके बाहर, उसके किसके ? समवसरणके नही, बल्कि उस श्रीमण्डपके बाहर जिसे पूर्ववर्ती श्लोक[1]मे 'अन्त' पदके द्वारा उल्लेखित किया है, जहाँ भगवान्की गन्धकुटी होती है ओर जहाँ चक्रपीठपर चढकर उत्तम भक्तजन भगवानकी तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं, अपनी शक्ति तथा विभवके अनुरूप यथेष्ट पूजा करते हैं, वन्दना करते हैं और फिर हाथ जोडे हुए अपनी-

१. प्रादक्षिण्येन वन्दित्वा मानस्तम्भमनादित. ।
उत्तमाः प्रविशन्त्यन्तरुत्तमाहितभक्तयः ॥१७२॥

अपनी सोपानोसे उतर कर आनन्दके साथ यथास्थान बैठते हैं।
और जिसका वर्णन आगेके निम्न पद्योमे दिया है :—

छत्रचामरभृङ्गाद्यवहाय जयाजिरे।
आप्तैरनुगताः कृत्वा विशन्त्यंजलिमीश्वराः ॥१७४॥
प्रविश्य विधिवद्भक्त्या प्रणम्य मणिमौलयः।
चक्रपीठं समारुह्य परियन्ति त्रिरीश्वरम् ॥१७५॥
पूजयन्तो यथाकामं स्वशक्तिविभवार्चनैः।
सुराऽसुरनरेन्द्राद्या नामादेशं (?) नमन्ति च ॥१७६॥
ततोऽवतीर्य सौपानैः स्वैः स्वैः स्वाञ्जलिमौलयः।
रोमाञ्चव्यक्तहर्षास्ते यथास्थानं समासते ॥१७७॥

—हरिवंशपुराण सर्ग ५७

इन पद्योके साथमे आदिपुराणके निम्न पद्योको भी ध्यानमे रखना चाहिये, जिनमे भरतचक्रवर्तीके समवसरणस्थित श्रीमण्डप-प्रवेश आदिका वर्णन है और जिनसे सक्षेपमे यह जाना जाता है कि मानस्तम्भोको आदि लेकर समवसरणकी कितनी भूमि और कितनी रचनाओको उल्लघन करनेके बाद अन्त प्रवेशकी नौबत आती है, और इसलिए अन्त प्रवेशका आशय श्रीमण्डप-प्रवेशसे है, जहाँ चक्रपीठादिके साथ गन्धकुटी होती है, न कि समवसरण-प्रवेशसे '—

परीत्य पूजयन्मानस्तम्भानत्यैत्ततः परम्।
खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयम् ॥१८॥
द्वितीयसालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिम्।
स्तूपान्प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥१७॥
ततो दौवारिकैर्देवैः सम्भ्राम्यद्भिः प्रवेशितः।
श्रीमण्डपस्य वैदग्ध्यीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ॥१६॥

ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टयम् ।
लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥१६॥
ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान् ।
सोऽर्चयामास सम्प्रीतः पूतैर्गन्धादिवस्तुभिः ॥२०॥
मध्ये गन्धकुटीद्धर्द्धि परार्घ्ये हरिविष्टरे ।
उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्ष्यत ॥२१॥

—आदिपुराण पर्व २४

इन सब प्रमाणोकी रोशनीमे 'वहिस्ततः' पदोका वाच्य श्रीमण्डपका वाह्य प्रदेश ही हो सकता है—समवणरणका वाह्य प्रदेश नही, जो कि पूर्वाऽपर-कथनोके विरुद्ध पडता है। और इसलिये प० गजाधरलालजीने १७२वें पद्यमे प्रयुक्त हुए 'अन्त.' पदका अर्थ "समवसरणमे" और १७३वे पद्यमे प्रयुक्त 'वहिस्तत ' पदोका अर्थ 'समवसरणके वाहर' करके भारी भूल की है। अध्यापकजीने विवेकसे काम न लेकर अन्धानुसरणके रूपमे उसे अपनाया है और इसलिये वे भी उस भूलके शिकार हुए हैं। उन्हे अब समझ लेना चाहिये कि हरिवंशपुराणका जो पद्य उन्होने प्रमाणमे उपस्थित किया है वह समवसरणमे शूद्रादिकोके जानेका निषेधक नही है, बल्कि उनके जानेका स्पष्ट सूचक है, क्योकि वह उनके लिये समवसरणसे श्रीमण्डपके वाहर प्रदक्षिणा-विधिका विधायक है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि 'शूद्राः' पदके साथमे जो "विकुर्वाणा ' विशेषण लगा हुआ है वह वह उन शूद्रोके असत् शूद्र होनेका सूचक है जो खोटे अथवा नीचकर्म किया करते हैं, और इसलिये सत्शूद्रोसे इस प्रदक्षिणा-विधिका सम्बन्ध नही है—वे अपनी रुचि तथा भक्तिके अनुरूप श्रीमण्डपके भीतर जाकर गन्धकुटीके पाससे भी प्रदक्षिणा कर सकते हैं। प्रदक्षिणाके समवसरणमे दो ही प्रधान मार्ग नियत

होते हैं—एक गन्धकुटीके पास चक्रपीठकी भूमिपर और दूसरा श्रीमण्डपके बाह्य प्रदेशपर। हरिवंशपुराणके उक्त श्लोकमें श्रीमण्डपके बाह्य प्रदेशपर प्रदक्षिणा करनेवालोका ही उल्लेख है और उनमे प्राय वे लोग शामिल हैं जो पाप करनेके आदी हैं—आदतन (स्वभावत) पाप किया करते हैं, खोटे या नीच कर्म करनेवाले असत् शूद्र हैं, धूर्तताके कार्यमे निपुण (महाधूर्त) हैं, अङ्गहीन अथवा इन्द्रियहीन हैं और पागल हैं अथवा जिनका दिमाग चला हुआ है। और इसलिये समवसरणमे प्रवेश न करनेवालोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है।

छठे, अध्यापकजीने व्याकरणाचार्यजीके सामने उक्त श्लोक और उसके उक्त अर्थको रखकर उनसे जो यह अनुरोध किया है कि "आप अन्य इतिहासिक ग्रन्थो (आदिपुराण-उत्तरपुराण) के प्रमाणो द्वारा इसके अविरुद्ध सिद्ध करके दिखलावें और परस्परमे विरोध होनेका भी ध्यान अवश्य रखखे" वह वडा ही विचित्र और वेतुका मालूम होता है। जव अध्यापकजी व्याकरणाचार्यजीके कथनको अगमविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये उनके समक्ष एक आगम-वाक्य और उसका अर्थ प्रमाणमे रख रहे हैं तब उन्होसे उसके अविरुद्ध सिद्ध करनेके लिये कहना और फिर अविरोधमे भी विरोधकी शङ्का करना कोरी हिमाकतके सिवाय और क्या हो सकता है ? और व्याकरणाचार्यजी भी अपने विरुद्ध उनके अनुरोधको माननेके लिये कब तैयार हो सकते हैं ? जान पडता है अध्यापकजी लिखना तो कुछ चाहते थे और लिख गये कुछ और ही हैं, और यह आपकी स्खलित भाषा तथा असावधान-लेखनी-का एक खास नमूना है, जिसके बल-बूतेपर आप सुधारकोको लिखित शास्त्रार्थका चैलेज देने बैठे हैं !!

सातवें, शूद्रोका समवसरणमे जाना जब अध्यापकजीके उपस्थित किये हुए हरिवशपुराणके प्रमाणसे ही सिद्ध है तब वे लोग वहाँ जाकर भगवानकी पूजा-वन्दनाके अनन्तर उनकी दिव्य-वाणीको भी सुनते हैं, जो सारे **समवसरणमे** व्याप्त होती है, और उसके फलस्वरूप **श्रावकके** व्रतोको भी ग्रहण करते हैं, जिनके ग्रहणका पशुओको भी अधिकार है, यह स्वत· सिद्ध हो जाता है। फिर **आदिपुराण-उत्तरपुराणके** आधारपर उसको अलगसे सिद्ध करनेकी जरूरत भी क्या रह जाती है ? कुछ भी नही।

इसके सिवाय, किसी कथनका किसी ग्रन्थमे यदि विधि तथा प्रतिषेध नही होता तो वह कथन उस ग्रन्थके विरुद्ध नही कहा जाता। इस बातको आचार्य **वीरसेनने** धवलाके **क्षेत्रानुयोग-द्वारमें** निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

"ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्तविरुद्धं, तत्थ विधिप्पडिसेधाभावादो।" (पृ० २२)

अर्थात्—लोककी उत्तरदक्षिण सर्वत्र सात राजु मोटाईका जो कथन है वह **'करणानुयोगसूत्र'**के विरुद्ध नही है, क्योकि उस सूत्रमे उसका यदि विधान नही है तो प्रतिपेध भी नही है।

शूद्रोका **समवसरणमे** जाना, पूजावन्दना करना और **श्रावकके** व्रतोका ग्रहण करना इन तीनो बातोका जब **आदिपुराण** तथा **उत्तरपुराणमे** स्पष्टरूपसे कोई विधान अथवा प्रतिपेध नही है तब इनके कथनको **आदिपुराण** तथा **उत्तरपुराणके** विरुद्ध नही कहा जा सकता। वैसे भी इन तीनो बातोका कथन **आदि-पुराणादिकी** रीति, नीति और पद्धतिके विरुद्ध नही हो सकता, क्योकि आदिपुराणमे मनुष्योकी वस्तुत. एक ही जाति मानी है,

उसीके वृत्ति (आजीविका)-भेदसे ब्राह्मणादिके चार भेद बतलाये हैं[1], जो वास्तविक नही हैं। उत्तरपुराणमे भी साफ कहा है कि इन ब्राह्मणादि वर्णों—जातियोका आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोकी तरह मनुष्य-शरीरमे नही पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिकमे गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जातिभेदके विरुद्ध है[2]। इसके सिवाय, आदिपुराणमे दूषित हुए कुलोकी शुद्धि और अनक्षरम्लेच्छो तकको कुलशुद्धि-आदिके द्वारा अपनेमे मिला लेनेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी पाई जाती हैं[3]। ऐसे उदार उपदेशोकी मौजूदगीमे शूद्रोंके समवसरणमे जाने आदिको किसी तरह भी आदिपुराण तथा उत्तरपुराणके विरुद्ध नही कहा जा सकता। विरुद्ध न होनेकी हालतमे उनका 'अविरुद्ध' होना सिद्ध है, जिसे सिद्ध करनेके लिये अध्यापकजी

---

१. मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदा हि तद्भेदाच्चतुर्विध्यमिहाश्नुते ॥३८-४५॥

२. वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिपु शूद्राद्यैर्गर्भाधान-प्रवर्तनात् ॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणा गवाऽश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ (उ. पु. गुणभद्र)

३. कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुल सम्प्राप्तदूपणम्।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्व यदा कुलम् ॥४०-१६८॥
तदाऽस्योपनयार्हत्व पुत्र-पौत्रादि-सन्ततौ।
न निषिद्ध हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजा ॥—१६९॥
स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजा बाधा-विधायिन।
कुलशुद्धि-प्रदानाद्यै स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ ४२-१७९ ॥
—आदिपुराणे, जिनसेन·

१००) रु० के पारितोपिककी घोषणा कर रहे हैं और उन रुपयोको बाबू राजकृष्ण प्रेमचन्दजी दरियागञ्ज कोठी न० २३ देहलीके पास जमा बतलाते हैं।

चैलेञ्ज-लेखमें मेरी '**जिनपूजाधिकारमीमामा**' पुस्तकका एक अश उद्धृत किया गया है, जो निम्न प्रकार है—

["श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणके द्वितीय सर्गमे, महावीरस्वामीके **समवसरण**का वर्णन करते हुए लिखा है — **समवसरण**में जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग मुनि होगये और चारो वर्णोंके स्त्री-पुरुपोने अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोने श्रावकके बारह व्रत धारण किये। इतना ही नही किन्तु उनकी पवित्र वाणीका यहाँ तक प्रभाव पडा कि कुछ तिर्यञ्चोने भी श्रावकके व्रत धारण किये। इससे, पूजा-वन्दना और धर्मश्रवणके लिये शूद्रोका समवसरणमें जाना प्रकट है।"]

इस अशको '**समोशरण**' जैसे कुछ शब्द-परिवर्तनके साथ उद्धृत करनेके बाद अध्यापकजी लिखते हैं—"इस लेखको आप सस्कृत हरिवशपुराणके प्रमाणो द्वारा सत्य सिद्ध करके दिखलावे। आपको इसकी असलियत स्वय मालूम हो जावेगी।"

मेरी **जिनपूजाधिकारमीमांसा** पुस्तक आजसे कोई ३५ वर्ष पहले अप्रैल सन् १९१३ मे प्रकाशित हुई थी। उस वक्त तक जिनसेनाचार्यके हरिवशपुराणकी पं० दौलतरामजी कृत भाषा वचनिका ही लाहौरसे (सन् १९१० में) प्रकाशमे आई थी और वही अपने सामने थी। उसमें लिखा था—

"जिस समय जिनराजने व्याख्यान किया उस समय

समवसरणमे सुर-असुर, नर-तिरयञ्च सभी थे, सो सबके समीप सर्वज्ञने मुनिधर्मका व्याख्यान किया, सो मुनि होनेको समर्थ जो मनुष्य तिनमे केईक नर ससारसे भयभीत परिग्रहका त्याग कर मुनि भये शुद्ध है जाति कहिये मातृपक्ष कुल कहिये पितृपक्ष जिनके ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य सैकडो साधु भये ॥१३१,१३२॥ …और कैएक मनुष्य चारो ही वर्णके पञ्च अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षा व्रत धार श्रावक भये । और चारो वर्णकी कईएक स्त्री श्राविका भईं ॥१३४॥ और सिंहादिक तिर्यंच वहुत श्रावकके व्रत धारते भये, यथाशक्ति नेमविषै तिष्ठे ॥ १३५ ॥"

इस कथनको लेकर ही मैंने जिनपूजाधिकारमीमासाके उक्त लेखाशकी सृष्टि की थी । पाठक देखेंगे, कि इस कथनके आशयके विरुद्ध उसमे कुछ भी नही है । परन्तु अध्यापकजी इस कथनको शायद मूलग्रन्थके विरुद्ध समझते हैं और इसीलिये सस्कृत हरिवशपुराणपरसे उसे सत्य सिद्ध करनेके लिये कहते हैं। उसमे भी उनका आशय प्राय उतने ही अशसे जान पडता है जो शूद्रोंके समवसरणमे उपस्थित होकर व्रत ग्रहणसे सम्वन्ध रखता है और उनके प्रकृत चैलेज-लेखका विषय है। अतः उसीपर यहाँ विचार किया जाता है और यह देखा जाता है कि क्या पडित दौलतरामजीका वह कथन मूलके आशयके विरुद्ध है । श्रावकीय व्रतोके ग्रहणका उल्लेख करनेवाला मूलका वह वाक्य इस प्रकार है —

पंचधाऽणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्री-पुरुषा दधुः ॥१३४॥

इसका सामान्य शब्दार्थ तो इतना ही है कि 'समवसरण-स्थित कुछ स्त्रीपुरुषोंने पंच प्रकार अणुव्रत, तीन प्रकार गुणव्रत

और चार प्रकार **शिक्षाव्रत** ग्रहण किये ।' परन्तु '**विशेषार्थकी** दृष्टिसे' उन स्त्रीपुरुषोको चारो वर्णोंके बतलाया गया है, क्योकि किसी भी वर्णके स्त्री-पुरुषोके लिये **समवसरणमे** जाने और व्रतोके ग्रहण करनेका कही कोई प्रतिवन्ध नही है । इसके सिवाय, ग्रन्थ-के पूर्वाऽपर-कथनोसे भी इसकी पुष्टि होती है और वही अर्थ समीचीन होता है जो पूर्वाऽपर-कथनोको ध्यानमे रखकर अविरोध रूपसे किया जाता है । **समवसरणमे** असत् शूद्र भी जाते हैं यह **श्रीमण्डपसे** बाहर उनके प्रदक्षिणा-विधायक वाक्यके विवेचनसे ऊपर जान चुके हैं । यहाँ पूर्वाऽपर-कथनोके दो नमूने और नीचे दिये जाते हैं ।—

(क) **समवसरणके श्रीमण्डपमे वलयाकार** कोष्ठकोके रूपमें जो वारह सभा-स्थान होते हैं उनमेसे मनुष्योके लिये केवल तीन स्थान नियत होते हैं—पहला **गणधरादि** मुनियोके लिये, तीसरा **आर्यिकाओंके** लिये और ११वाँ शेप सव मनुष्योके लिये । इस ११वे कोठेका वर्णन करते हुए **हरिवंशपुराणके** दूसरे सर्गमें लिखा है—

> **सपुत्र-वनितानेक-विद्याधर-पुरस्सराः ।**
> **न्यषीदन् मानुषा नानाभाषा-वेष-रुचस्ततः ॥ ८६ ॥**

अर्थात्—१०वे कोठेके अनन्तर पुत्र और वनिताओ-सहित अनेक **विद्याधरोको** आगे करके मनुष्य बैठे, जो कि (प्रान्तादिके भेदोसे) नाना भापाओके बोलनेवाले, नाना वेपोको धारण करने-वाले और नाना वर्णों वाले थे ।''

इसमे किसी भी वर्ण अथवा जाति-विशेषके मानवोके लिये ११वें कोठेको रिजर्व नही किया गया है बल्कि '**मानुषाः**' जैसे सामान्य पदका प्रयोग करके और उसके विशेषणको '**नाना**' पदसे

विभूपित करके सवके लिये उसे खुला रक्खा गया है। साथमे **'विद्याधरपुरस्सरा'** विशेषण लगाकर यह भी स्पष्ट कर दिया कि उस कोठेमे विद्याधर और भूमिगोचरी दोनो प्रकारके मनुष्य एक साथ वैठते हैं। विद्याधरका **'अनेक'** विशेपण उनके अनेक प्रकारोका द्योतक है, उनमे मातङ्ग (चण्डाल) जातियोके भी विद्याधर होते हैं और इसलिये उन सवका भी उसके द्वारा समावेश समझना चाहिए।

(ख) ५८वें सर्गके तीसरे पद्यमे भगवान **नेमिनाथ**की वाणीको **'चतुर्वर्णाश्रमाश्रया'** विशेपण दिया गया है, जिसका यह स्पष्ट आशय है कि **समवसरण**मे भगवानकी जो वाणी प्रवर्तित हुई वह चारो वर्णो और चारो आश्रमोका आश्रय लिये हुए थी—अर्थात् चारो वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चारो आश्रमो ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यस्तको लक्ष्यमे रखकर प्रवर्तित हुई थी। और इसलिये वह **समवसरण**मे चारो वर्णों तथा चारो आश्रमोके प्राणियोकी उपस्थितिको और उनके उसे सुनने तथा ग्रहण करनेके अधिकारको सूचित करती है।

ऐसी हालतमे प० दौलतरामजीने अपनी भाषा वचनिकामे **'स्त्रीपुरुषाः'** पदका अर्थ जो 'चारो वर्णके स्त्रीपुरुष' सुझाया है वह न तो असत्य है और न मूलग्रन्थके विरुद्ध है। तदनुसार **जिनपूजाधिकारमीमासा**की उक्त पक्तियोमे मैंने जो कुछ लिखा है वह भी न असत्य है और न ग्रन्थकारके आशयके विरुद्ध है। और इसलिये अध्यापकजीने कोरे शब्दच्छलका आश्रय लेकर जो कुछ कहा है वह बुद्धि और विवेकसे काम न लेकर ही कहा जा सकता है। शायद अध्यापकजी शूद्रोमे स्त्री-पुरुषोका होना ही न मानते

हो और न उन्हे मनुष्य ही जानते हो, और इसीसे **'मानुषा.'** तथा **'स्त्री-पुरुषा'** पदोका उन्हे वाच्य ही न समझते हो !!!

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि जिस **हरिवंशपुराणके** कुछ शब्दोका गलत आश्रय लेकर अध्यापकजी शूद्रो तथा दस्साओको जिनपूजाके अधिकारसे वञ्चित करना चाहते हैं उसके २६वे सर्गमे **वसुदेवकी** मदनवेगा-सहित **'सिद्धकूट-जिनालय'** की यात्राके प्रसङ्गपर उस जिनालयमे पूजावन्दनाके बाद अपने-अपने स्तम्भका आश्रय लेकर बैठे हुए[1] **मातङ्ग** (चाण्डाल) जातिके **विद्याधरोका** जो परिचय[2] कराया गया है वह किसी भी ऐसे आदमीकी आँखे खोलनेके लिये पर्याप्त है जो शूद्रो तथा दस्साओके अपने पूजन-निषेधको हरिवशपुराणके आधारपर प्रतिष्ठित करना चाहता है। क्योकि उससे इतना ही स्पष्ट मालूम नही होता कि **मातङ्ग** जातियोंके चाण्डाल लोग भी तब **जैनमन्दिरमे** जाते और पूजन करते थे, बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशान-भूमिकी हड्डियोके आभूषण पहने हुए, वहांकी राख बदनमे मले हुए तथा मृगछालादि ओढे, चमडेके वस्त्र पहिने और चमडेकी मालाएँ हाथोमे लिये हुए भी जैन-

---

१. कृत्वा जिनमह खेटा: प्रवन्द्य प्रतिमागृहम्।
तस्थुः स्तम्भानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम्॥ ३॥

२. देखो, श्लोक १४ से २३ तथा 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' पृष्ठ ३१ से ३५। यहाँ उन दसमेंसे दो श्लोक नमूनेके तौर पर इस प्रकार हैं—

श्मशानाऽस्थि-कृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसरा:।
श्मशान-निलयास्त्वेते श्मशान-स्तम्भमाश्रिता॥ १६॥
कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बर-स्रज.।
कालनील-स्तम्भमध्येत्य स्थिता. काल-श्व-पाकिन॥ १८॥

मन्दिर मे जा सकते थे[1], और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके स्थान भी नियत थे, जिससे उनका जैनमन्दिरमे जाने आदिका और भी नियत अधिकार पाया जाता है[2]।

मेरे उक्त लेखांश और उसपर अपने वक्तव्यके अनन्तर अध्यापकजीने महावीरस्वामीके समवसरणवर्णनसे सम्बन्ध रखनेवाला धर्मसंग्रहश्रावकाचारका एक श्लोक निम्न प्रकार अर्थ-सहित दिया है—

"मिथ्यादृष्टिरभव्योप्यसंज्ञी कोऽपि न विद्यते।
यश्चानध्यवसायोऽपि यः संदिग्धो विपर्ययः॥ १३६॥

अर्थात्—श्रीजिनदेवके समोशरणमें मिथ्यादृष्टिअभव्यअसंज्ञी-अनध्यवसायी-संशयज्ञानी तथा मिथ्यात्वी जीव नही रहते हैं।"

इस श्लोक और उसके गलत अर्थको उपस्थित करके अध्यापकजी बडी धृष्टता और गर्वोक्तिके साथ लिखते हैं—

"बाबू जुगलकिशोरजीके निराधार लेखको धर्मसंग्रहश्रावकाचारके प्रमाणसहित लेखको आप मिलान करें—पता लग जायगा कि वास्तवमे आगमके विरुद्ध जैनजनताको धोखा कौन देता है ?"

---

१. यहाँपर इस उल्लेखपरसे किसीको यह समझने की भूल न करनी चाहिए कि लेखक आजकल वर्तमान जैनमन्दिरोंमें भी ऐसे अपवित्र वेषसे जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है।

२. श्रीजिनसेनाचार्यने ९वी शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे ऐसे लोगोका जैनमन्दिरमे जाना आदि आपत्तिके योग्य नहीं ठहराया और न उससे मन्दिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचित किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा ?

मेरा **जिनपूजाधिकारमीमासावाला** उक्त लेख निराधार नही है यह सब बात पाठक ऊपर देख चुके हैं, अब देखना यह है कि अध्यापकजीके द्वारा प्रस्तुत **धर्मसंग्रहश्रावकाचारका** लेख कौनसे प्रमाणको साथमे लिये हुए है और उन दोनोके साथ आप मेरे लेखकी किस वातका मिलान कराकर **आगमविरुद्ध** कथन और धोखादेही जैसा नतीजा निकालना चाहते हैं ? **धर्मसंग्रहश्रावकाचारके** उक्त श्लोकके साथ अनुवादको छोडकर दूसरा कोई प्रमाण-वाक्य नही है। मालूम होता है अध्यापकजीने अनुवादको ही दूसरा प्रमाण समझ लिया है, जो मूलके अनुरूप भी नही है और न मेरे उक्त लेखके साथ दोनोका कोई सम्बन्ध ही है। मेरे लेखमे चारो वर्णोके मनुष्योंके **समवसरणमे** जाने और व्रत ग्रहण करनेकी वात कही गई है, जब कि **धर्मसंग्रहश्रावकाचारके** उक्त श्लोक और अनुवादमे उसके विरुद्ध कुछ भी नही है। क्या अध्यापक जी शूद्रोको सर्वथा **मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी** (मनरहित), **अनध्यवसायी, संशयज्ञानी** तथा विपरीत (या अपने अर्थके अनुरूप 'मिथ्यात्वी') ही समझते हैं और इसीसे उनका **समवसरणमे** जाना निपिद्ध मानते हैं ? यदि ऐसा है तो आपके इस आगमज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानपर रोना आता है, क्योकि आगमसे अथवा प्रत्यक्षसे इसकी कोई उपलब्धि नही होती—शूद्र लोग इनमेसे किसी एक भी कोटिमे सर्वथा स्थित नही देखे जाते। और यदि ऐसा नही है अर्थात् अध्यापकजी यह समझते हैं कि शूद्र लोग **सम्यग्दृष्टि, भव्य, संज्ञी, अध्यवसायी, असशय-ज्ञानी** और **अविपरीत** (अमिथ्यात्वी) भी होते हैं तो फिर उक्त श्लोक और उसके अर्थको उपस्थित करनेसे क्या नतीजा ? वह उनका कोरा चित्तभ्रम अथवा पागलपन नही तो और क्या

है ? क्योकि उससे शूद्रोके **समवसरण**मे जानेका तब कोई निषेध सिद्ध नही होता। खेद है कि अध्यापकजी अपने बुद्धिव्यवसायके इसी बल-बूतेपर दूसरोको आगमके विरुद्ध कथन करनेवाले और जनताको धोखा देनेवाले तक लिखनेकी धृष्टता करने बैठे हैं॥

अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि अध्यापकजीका उक्त श्लोकपरसे यह समझ लेना कि **समवसरण**मे मिथ्यादृष्टि तथा **सशयज्ञानी** जीव नही होते कोरा भ्रम है—उसी प्रकारका भ्रम है जिसके अनुसार वे '**विपर्यय**' पदका अर्थ '**मिथ्यात्वी**' करके '**मिथ्यादृष्टि**' और '**मिथ्यात्वी**' शब्दोंके अर्थमे अन्तर उपस्थित कर रहे हैं—और वह उनके आगमज्ञानके दिवालियेपनको भी सूचित करता है। क्योकि आगम मे कही भी ऐसा विधान नही है जिसके अनुसार सभी मिथ्यादृष्टियो तथा सशयज्ञानियोका **समवसरण**मे जाना वर्जित ठहराया गया हो; बल्कि जगह-जगह-पर **समवसरण**मे भगवान्‌के उपदेशके अनन्तर लोगोके सम्यक्त्व-ग्रहणकी अथवा उनके सशयोंके उच्छेद होनेकी बात कही गई है और जो इस बातकी स्पष्ट सूचक है कि वे लोग उससे पहले मिथ्यादृष्टि थे अथवा उन्हे किसी विषयमे सन्देह था। दूर जानेकी भी जरूरत नही, अध्यापकजीके मान्य ग्रन्थ **धर्मसंग्रहश्राव**-काचारको ही लीजिये, उसके निम्न पद्यमे जिनेन्द्रसे अपनी अपनी शङ्काके पूछने और उनकी वाणीको सुनकर सन्देह-रहित होनेकी बात कही गई है—

निजनिज-हृदयाकूतं पृच्छन्ति जिनं नराऽमरा मनसा।
श्रुत्वाऽनक्षरवाणीं बुध्यन्तः स्युर्विसन्देहाः॥३-५४॥

हरिवंशपुराणके ५८वें सर्गमे कहा है कि नेमिनाथकी वाणी-को सुनकर कितने ही जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त हुए, जिससे यह

स्पष्ट होता है कि वे पहले सम्यग्दर्शनसे रहित मिथ्यादृष्टि थे —

ते सम्यग्दर्शनं केचित्संयमासंयमं परे।
संयमं केचिदायाताः संसारावासभीरवः ॥२०७॥

भगवान् आदिनाथके समवसरणमे मरीचि मिथ्यादृष्टिके रूपमे ही गया, जिनवाणीको सुनकर उसका मिथ्यात्व नही छूटा, और सब मिथ्या तपस्वियोकी श्रद्धा बदल गई और वे सम्यक् तपमे स्थित होगये, परन्तु मरीचिकी श्रद्धा नही बदली और इस लिये अकेला वही प्रतिबोधको प्राप्त नही हुआ, जैसा कि जिन-सेनाचार्यके आदिपुराण और पुष्पदन्त-कृत महापुराणके निम्न वाक्योसे प्रकट है—

"मरीचि-वर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः।"
—आदिपुराण २४-८२

"दंसणमोहणीय-पडिरुद्धउ एक्कु मरीइ णेय पडिवुद्धउ"
—महापुराण, सधि ११

वास्तवमे वे ही मिथ्यादृष्टि समवसरणमे नही जा पाते हैं जो अभव्य होते हैं—भव्य मिथ्यादृष्टि तो असख्याते जाते हैं और उनमेसे अधिकाश सम्यग्दृष्टि होकर निकलते हैं—और इस लिये '**मिथ्यादृष्टिः**' तथा '**अभव्योऽपि**' पदोका एक साथ अर्थ किया जाना चाहिये, वे तीनो मिलकर एक अर्थके वाचक हैं और वह अर्थ है—'वह **मिथ्यादृष्टि** जो **अभव्य** भी है'। **धर्मसंग्रहश्रा०के** उक्त श्लोकका मूलस्रोत **तिलोयपण्णत्तीकी** निम्न गाथा है, जिसमे '**मिच्छादिट्ठिअभव्वा**' एक पद है जो एक ही प्रकारके व्यक्तियोका वाचक है—

मिच्छाइट्ठिअभव्वा तेसुमसण्णी ण होंति कइआइं।
तह य अणज्झवसाया संदिद्धा विविहविवरीदा ॥४-९३२

इसी तरह '**संदिग्ध.**' पद भी सशयज्ञानीका वाचक

है—संशयज्ञानी तो असख्याते समवसरणमे जाते हैं और अधिकाश अपनी-अपनी शङ्काओका निरसन करके बाहर आते हैं—बल्कि उन मुश्तभा प्राणियोका वाचक है जो बाह्यवेषादिके कारण अपने विषयमे शङ्कनीय होते हैं अथवा कपटवेषादिके कारण दूसरोके लिये भयङ्कर (dangerous, risky) हुआ करते हैं। ऐसे प्राणी भी समवसरण-सभाके किसी कोठेमे विद्यमान नही होते हैं।

तीसरे नम्बरपर अध्यापकजीने सम्पादक जैनमित्रजीका एक वाक्य निम्न प्रकारसे उद्धृत किया है :—

"**समोशरण**मे मानवमात्रके लिये जानेका पूर्ण अधिकार है चाहे वह किसी भी वर्णका अर्थात् जातिका चाण्डाल ही क्यो न हो।"

इसपर टीका करते हुए अध्यापकजीने केवल इतना ही लिखा है—"सम्पादक जैनमित्रजी अपनेसे विरुद्ध विचारवालेको पोगापन्थी बतलाते हैं और अपने लेख द्वारा **समोशरण**मे चाण्डालको भी प्रवेश करते हैं। बलिहारी आपकी बुद्धिकी।"

इससे सम्पादक जैनमित्रजी बहुत सस्ते छूट गये हैं। नि सन्देह उन्होने बडा गजब किया जो अध्यापकजी जैसे विरुद्ध विचारवालोको 'पोगापन्थी' बतला दिया। परन्तु अपने रामकी रायमे अध्यापकजीने उससे भी कही ज्यादा गजब किया है जो **समवसरण**मे चाण्डालको भी प्रवेश करानेवालेकी बुद्धिपर 'बलिहारी' कह दिया !! क्योकि पद्मपुराणके कर्ता श्रीरविषेणाचार्यने व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण बतलाया है—दूसरे सत्-शूद्रादिकोकी तो बात ही क्या है ?—और स्वय ही नही बतलाया, बल्कि देवोने—**अर्हन्तो** तथा **गणधरोने**—बतलाया है, ऐसा स्पष्ट निर्देश किया है—

"व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।" ११-२०३

ऐसी हालतमे उन चाण्डालोको **समवसरण**मे जानेसे कौन रोक सकता है? ब्राह्मण होनेसे उनका दर्जा तो शूद्रोसे ऊँचा होगया।

और स्वामी **समन्तभद्रने** तो **रत्नकरण्डश्रावकाचार** (पद्य २८) मे अव्रती चाण्डालको भी सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न होनेपर 'देव' कह दिया है और उन्होने भी स्वय नही कहा, बल्कि देवोने वैसा कहा है ऐसा **'देवा देवं विदुः'** इन शब्दोके द्वारा स्पष्ट निर्देश किया है। तब उस देव चाण्डालको **समवसरण**मे जानेसे कौन रोक सकता है, जिसे मानव होनेके अतिरिक्त देवका भी दर्जा मिल गया?

इसके सिवाय, म्लेच्छ देशोमें उत्पन्न हुए म्लेच्छ मनुष्य भी सकल सयम (महाव्रत) धारण करके जैनमुनि हो सकते हैं ऐसा **श्रीवीरसेनाचार्यने** जयधवला टीकामे और **श्रीनेमिचन्द्राचार्य** (द्वितीय) ने लब्धिसार गाथा १९३ की टीकामे व्यक्त किया है[1]। तब उन मुनियोको **समवसरणमे** जानेसे कौन रोक सकता है? वे तो गन्धकुटीके पासके सबसे प्रधान **गणधर**-मुनिकोठेमे बैठेंगे, उनके लिये दूसरा कोई स्थान ही नही है।

ऐसी स्थितिमे अध्यापकजी किस किस आचार्यकी बुद्धिपर 'बलिहारी' होगे? इससे तो बेहतर यही है कि वे अपनी ही बुद्धिपर बलिहारी हो जाएँ और ऐसी अज्ञानतामूलक, उपहास-जनक एव आगमविरुद्ध व्यर्थकी प्रवृत्तियोसे बाज आएँ।

—अनेकान्त वर्ष ९ कि० ५, २-६-१९४८

---

१ देखो, उक्त टीकाएँ तथा 'भगवान महावीर और उनका समय' नामक पुस्तक पृ० २६

प्रास्ताविक

श्रीकुन्दाचार्यकी कृतियोमे 'समयसार' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो आजकल अधिकतर पठन-पाठनका विपय वना हुआ है। इसकी १५वी गाथा अपने प्रचलित रूपमे इस प्रकार है—

जो पस्सदि अप्पाणं अवद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

इसमे वतलाया गया कि 'जो आत्माको अवद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष जैसे रूपमे देखता है वह सारे जिनशासनको देखता है।' इस सामान्य कथन पर मुझे कुछ शकाएँ उत्पन्न हुई और मैंने उन्हे कुछ आध्यात्मिक विद्वानो एव समयसार-रसिकोंके पास भेजकर उनका समाधान चाहा अथवा इस गाथाका टीकादि-के रूपमे ऐसा स्पष्टीकरण मागा जिससे उन शकाओका पूरा समाधान होकर गाथाका विषय स्पष्ट और विशद हो जाए। परन्तु कही से कोई उत्तर प्राप्त नही हुआ। दो एक विद्वानोसे प्रत्यक्षमे भी चर्चा चलाई गई पर सफल-मनोरथ नही हो सका। और इसलिये मैंने इस गाथाकी व्याख्याके लिये १००) रुपएके पुरस्कारकी एक योजना की और उसे अपने ५००) रु० के पुरस्कारोकी उस विज्ञप्तिमे अग्रस्थान दिया जो अनेकान्त वर्प ११ (सन् १९५२) की सयुक्त किरण न० ४–५ मे प्रकाशित हुई है। गाथाकी व्याख्यामे जिन बातोका स्पष्टीकरण चाहा गया वे इस प्रकार हैं:—

(१) आत्माको अबद्ध-स्पृष्ट, अनन्य और अविशेषरूपसे देखनेपर सारे जिनशासनको कैसे देखा जाता है?

(२) उस जिनशासनका क्या रूप हैं जिसे उस द्रष्टाके द्वारा पूर्णत देखा जाता है ?

(३) वह जिनशासन श्रीकुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति और अकलक-जैसे महान् आचार्योंके द्वारा प्रतिपादित अथवा संसूचित जिनशासनसे क्या कुछ भिन्न है ?

(४) यदि भिन्न नही है तो इन सवके द्वारा प्रतिपादित एव ससूचित जिनशासनके साथ उसकी सगति कैसे वैठती है ?

(५) इस गाथामे 'अपदेससतमज्झ' नामक जो पद पाया जाता है और जिसे कुछ विद्वान् 'अपदेससुत्तमज्झ' रूपसे भी उल्लेखित करते हैं, उसे 'जिणसासण' पदका विशेपण वतलाया जाता है और उससे द्रव्यश्रुत तथा भावश्रुतका भी अर्थ लगाया जाता है, यह सव कहाँ तक सगत है अथवा पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्वन्ध क्या होना चाहिए ?

(६) श्रीअमृतचन्द्राचार्य इस पदके अर्थके विपयमे मौन हैं और जयसेनाचार्यने जो अर्थ किया है वह पदमे प्रयुक्त हुए शब्दोको देखते हुए कुछ खटकता हुआ जान पडता है, यह क्या ठीक है अथवा उस अर्थमे खटकने-जैसी कोई वात नही है ?

(७) एक सुझाव यह भी है कि यह पद 'अपवेससत-मज्झ' (अप्रवेशसान्तमध्य) है, जिसका अर्थ अनादिमध्यान्त होता है और यह 'अप्पाण (आत्मान) पदका विशेषण है, न कि 'जिणसासण' पदका। शुद्धात्माके लिये स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्ड (६) में और सिद्धसेनाचार्यने स्वयम्भूस्तुति (प्रथमद्वात्रिंशिका) मे 'अनादिमध्यान्त' पदका प्रयोग किया है। समयसारके एक कलशमे अमृतचन्द्राचार्यने भी 'मध्याद्यन्त-विभागमुक्त' जैसे शब्दो-द्वारा इसी वातका उल्लेख किया है।

इन सब बातोको भी ध्यानमे लेना चाहिये और तब यह निर्णय करना चाहिये कि क्या उक्त सुझाव ठीक है ? यदि ठीक नही है तो क्यो ?

(८) १४वी गाथामे शुद्धनयके विषयभूत आत्माके लिए पाँच विशेषणोका प्रयोग किया गया है, जिनमेसे कुल तीन विशेषणोका ही प्रयोग १५वी गाथामे हुआ है, जिसका अर्थ करते हुए शेष दो विशेषणो 'नियत' और 'असयुक्त'को भी उपलक्षणके रूपमे ग्रहण किया जाता है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि मूलकारका ऐसा ही आशय था तो फिर इस १५वी गाथामे उन विशेषणोको क्रमभग करके रखनेकी क्या जरूरत थी ? १४वी गाथा[1]के पूर्वार्धको ज्योका त्यो रख देने पर भी शेष दो विशेषणोको उपलक्षणके द्वारा ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु ऐसा नही किया गया, तब क्या इसमे कोई रहस्य है, जिसके स्पष्ट होनेकी जरूरत है ? अथवा इस गाथाके अर्थमे उन दो विशेषणोको ग्रहण करना युक्त नही है ?

विज्ञप्तिके अनुसार किसी भी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्याके रूपमे अपना निबन्ध भेजनेकी कृपा नही की, यह खेदका विषय है। हालाँकि विज्ञप्तिमे यह भी निवेदन किया गया था कि '**जो सज्जन पुरस्कार लेनेकी स्थितिमे न हो अथवा उसे लेना न चाहेंगे उनके प्रति दूसरे प्रकारसे सम्मान व्यक्त किया जायगा।** उन्हे अपने अपने इष्ट एव अधिकृत विषय पर लोकहितकी दृष्टिसे लेख लिखनेका प्रयत्न जरूर करना चाहिये।'

---

१. उक्त १४ वीं गाथा इस प्रकार है :—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठ जणण्णयं णियदं।
अविसेसमसजुत्तं तं सुद्धणय वियाणीहि ॥ १४ ॥

इस निवेदनका प्रधान सकेत उन त्यागी महानुभावो—क्षुल्लको, ऐलको, मुनियो, आत्मार्थिजनो तथा नि स्वार्थ-सेवा-परायणोकी ओर था जो अध्यात्मविषयके रसिक हैं और सदा समयसारके अनुचिन्तन एव पठन-पाठनमे लगे रहते हैं। परन्तु किसी भी महानुभावको उक्त निवेदनसे कोई प्रेरणा नही मिली अथवा मिली हो तो उनकी लोकहितकी दृष्टि इस विषयमें चरितार्थ नही हो सकी और इस तरह प्राय छह महीनेका समय यो ही बीत गया। इसे मेरा तथा समाजका एक प्रकारसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

गत माघ मासमे (जनवरी सन् १९५३ में) मेरा विचार वीरसेवामन्दिरके विद्वानो-सहित श्रीगोम्मटेश्वर–बाहुबलीजीके मस्तकाभिषेकके अवसर पर दक्षिणकी यात्राका हुआ और उसके प्रोग्राममे खास तौरसे जाते वक्त सोनगढका नाम रक्खा गया और वहाँ कई दिन ठहरनेका विचार स्थिर किया गया, क्योकि सोनगढ श्रीकानजीस्वामीमहाराजकी कृपासे आध्यात्मिक प्रवृत्तियोका गढ बना हुआ है और समयसारके अध्ययन-अध्यापन-का विद्यापीठ समझा जाता है। वहाँ स्वामीजीसे मिलने तथा अनेक विषयोके शका-समाधानकी इच्छा बहुत दिनोसे चली जाती थी, जिनमे समयसारका उक्त विषय भी था, और इसीलिये कई दिन ठहरनेका विचार किया गया था।

मुझे बडी प्रसन्नता हुई जबकि १२ फरवरीको सुबह स्वामीजी-का अपने लोगोंके सम्मुख प्रथम प्रवचन प्रारम्भ होनेसे पहले ही सभाभवनमें यह सूचना मिली कि '**आजका प्रवचन सययसारकी १५वी गाथा पर मुख्तार साहबकी शंकाओको लेकर उनके समाधान-रूपमे होगा।**' और इसलिये मैंने उस प्रवचनको बडी

उत्सुकताके साथ गौरसे सुना, जो घटा भरसे कुछ ऊपर समय तक होता रहा है। सुनने पर मुझे तथा मेरे साथियोको ऐसा लगा कि इसमे मेरी शकाओका तो स्पर्श भी नही किया गया है—यो ही इधर-उधरकी बहुतसी बाते गाथा तथा गाथेतर-सम्बन्धी कही गई हैं। चुनाँचे सभाकी समाप्तिके बाद मैंने उसकी स्पष्ट विज्ञप्ति भी कर दी और कह दिया कि आजके प्रवचनसे मेरी शकाओका तो कोई समाधान हुआ नही। इसके बाद एक दिन मैंने स्वय अलहदगीमे श्रीकानजीस्वामीसे कहा कि आप मेरी शकाओका समाधान लिखा दीजिए और नही तो अपने किसी शिष्यको ही बोलकर लिखा दीजिए। इसके उत्तरमे उन्होने कहा कि '**न तो मैं स्वयं लिखता हूँ और न किसीको बोलकर लिखाता हूँ, जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनसे ही कह देता हूँ।**' इस उत्तरसे मुझे बहुत बडी निराशा हुई, और इसी लिये यात्रासे वापिस आनेके बाद, अनेकान्त (वर्ष ११) की १२ वी किरणके सम्पादकीयमे, '**समयसारका अध्ययन और प्रवचन**' नामसे मुझे एक नोट लिखनेके लिये बाध्य होना पडा, जो इस विपयके अपने पूर्व तथा वर्तमान अनुभवोको लेकर लिखा गया है और जिसके अन्तमे यह भी प्रकट किया गया है कि—

"निःसन्देह समयसार-जैसा ग्रन्थ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास-जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विपय नहीं है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमें कोरी भावुकतामें बहनेवालोंकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकांत कहते हैं और जो मिथ्यात्वमें

परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।"

साथ ही उक्त किरणके उसी सम्पादकीयमे एक नोटद्वारा, 'पुरस्कारोकी योजनाका नतीजा' व्यक्त करते हुए, यह इच्छा भी व्यक्त कर दी गई थी कि यदि कमसे कम दो विद्वान अव भी समयसारकी १५वी गाथाके सम्बन्धमे अभीष्ट व्याख्यात्मक निवन्ध लिखनेके लिए अपनी आमादगी १५ जून तक जाहिर करेंगे तो उस विषयके पुरस्कारकी पुनरावृत्ति कर दी जाएगी अर्थात् निवन्धके लिये यथोचित समय निर्धारित करके पत्रोमे उसके पुरस्कारकी पुन. घोषणा निकाल दी जाएगी। इतने पर भी किसी विद्वानने उक्त गाथाकी व्याख्या लिखनेके लिए अपनी आमादगी जाहिर नही की और न सोनगढसे ही कोई आवाज़ आई। और इसलिये मुझे अवशिष्ट विषयोके पुरस्कारोकी योजनाको रद्द करके दूसरे नये पुरस्कारोकी योजना करनी पडी, जो वर्ष १२ के अनेकान्त किरण न० २ मे प्रकाशित हो चुकी है। और इस तरह उक्त गाथाकी चर्चाको समाप्त कर देना पडा था।

हालमे कानजीस्वामीके 'आत्मधर्म' पत्रका नया आश्विनका अक न० ७ दैवयोगसे[1] मेरे हस्तगत हुआ, जिसमे 'जिनशासन'

---

१ 'दैवयोगसे' लिखनेका अभिप्राय इतना ही है कि 'आत्मधर्म' अपने पास या वीरसेवामन्दिरमें आता नहीं है, पहले वह 'अनेकान्त' के परिवर्तनमें आता था, जबसे न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजी-जैसोके कुछ लेख स्वामीजीके मन्तव्योंके विरुद्ध अनेकान्तमें प्रकाशित हुए तबसे आत्मधर्म अनेकान्तसे रुष्ट हो गया और उसने दर्शन देना ही बन्द कर दिया। पीछे किसी सज्जनने एक वर्षके लिये उसे अपनी ओरसे वीरसेवा-मन्दिरको भिजवाया था, उसकी अवधि समाप्त होते ही अब फिर उसका

शीर्षकके साथ कानजीस्वामीका एक प्रवचन दिया हुआ है और उसके अन्तमे लिखा है—"श्री **समयसार गाथा १५ पर पूज्य स्वामीजीके प्रवचनसे**।" इस प्रवचनकी कोई तिथि-तारीख साथमे सूचित नही की गई, जिससे यह मालूम होता कि क्या यह प्रवचन वही है जो अपने लोगोके सामने ता० १२ फरवरीको दिया गया था अथवा उसके वाद दिया गया कोई दूसरा ही प्रवचन है। यदि यह प्रवचन वही है जो १२ फरवरीको दिया गया था, जिसकी सर्वाधिक सभावना है, तो कहना होगा कि वह उस प्रवचनका बहुत कुछ सस्कारित रूप है। सस्कारका कार्य स्वय स्वामीजीके द्वारा हुआ है या उनके किसी शिष्य अथवा प्रधान शिष्य श्रीरामजी मानिकचन्दजी दोशी वकीलके द्वारा, जोकि आत्मधर्मके सम्पादक भी हैं, परन्तु वह कार्य चाहे किसीके भी द्वारा सम्पन्न क्यो न हुआ हो, इतना तो सुनिश्चित है कि यह लेखबद्ध हुआ प्रवचन स्वामीजीको दिखला-सुनाकर और उनकी अनुमति प्राप्त करके ही छापा गया है और इसलिए इसकी सारी जिम्मेदारी उन्हींके ऊपर है। अस्तु।

इस लेखबद्ध सस्कारित प्रवचनसे भी मेरी शकाओका कोई समाधान नही होता। आठमेसे सात शकाओको तो इसमे प्रायः छुआ तक भी नही गया है, सिर्फ दूसरी शकाका ऊपरा-ऊपरी

दर्शन देना वन्द है, जवकि अपना 'अनेकान्त' पत्र कई वर्षोंसे वरावर कानजीस्वामीकी सेवामें भेंटस्वरूप जा रहा है। और इसलिए यह अक अपने पास सोनगढके आत्मधर्म-आफिससे भेजा नहीं गया है—जवकि १५ वीं गाथाका विषय होनेसे भेजा जाना चाहिए था—वल्कि दिल्लीमें एक सज्जनके यहाँसे इत्तफाकिया देखनेको मिल गया है। यदि यह अक न मिलता तो इस लेखके लिखे जानेका अवसर ही प्राप्त न होता। इस अकका मिलना ही प्रस्तुत लेखके लिखनेमें प्रधान निमित्त कारण है।

स्पर्श करते हुए जिनशासनके रूप-विपयमे जो कुछ कहा गया है वह बडा ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पडता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्राय: एकान्त मिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिनशासनके स्वरूप-विपयमे लोगोको गुमराह करनेवाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तभोको भी इसमे "लौकिकजन" "अन्यमती" जैसे शब्दोसे याद किया है और प्रकारान्तरसे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होने जिनशासनको ठीक समझा नही, यह सब असह्य जान पडता है। ऐसी स्थितिमे समयाभावके होते हुए भी मेरे लिए यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचनलेखपर अपने विचार व्यक्त करूँ, जिससे सर्वसाधारणपर यह स्पष्ट हो जाय कि प्रस्तुत प्रवचन समयसारकी १५ वी गाथापर की जानेवाली उक्त शकाओका समाधान करनेमें कहाँ तक समर्थ है और जिन-शासनका जो रूप इसमे निर्धारित किया गया है वह कितना सगत अथवा सारवान् है। उसीके लिए प्रस्तुत लेखका यह सब प्रयत्न है। आशा है सहृदय विद्वज्जन दोनो लेखोपर गभीरताके साथ विचार करनेकी कृपा करेंगे और जहाँ कही मेरी भूल होगी उसे प्रेमके साथ मुझे सुझानेका भी कष्ट उठाएँगे, जिससे मैं उसको सुधारनेके लिए समर्थ हो सकूँ।

गाथाके एक पदका ठीक रूप, अर्थ और सम्बन्ध

उक्त गाथाका एक पद 'अपदेससंतमज्झं' इस रूपमे प्रचलित है। प्रवचनलेखमे गाथाको सस्कृतानुवादके रूपमे प्रस्तुत करते हुए इस पदका सस्कृत रूप 'अपदेशसान्तमध्यं' दिया है, जिससे यह जाना जाता है कि श्रीकानजीस्वामीको पदका यह प्रचलित रूप ही इष्ट तथा मान्य है, जयसेनाचार्यने सत (सान्त) के स्थान-

पर जो 'सुत्त' (सूत्र) शव्द रक्खा है वह आपको स्वीकार नही है। अस्तु, इस पदके रूप, अर्थ और सम्वन्धके विपयमे जो विवाद है उसे शका न० ५ मे निवद्ध किया गया है। छठी शका इस पदके उस अर्थसे सम्वन्ध रखती है जिसे जयसेनाचार्यने 'अपदेससुत्तमज्झं' पद मानकर अपनी टीकामे प्रस्तुत किया है और जो इस प्रकार है —

"अपदेससुत्तमज्झं अपदेशसूत्रमध्यं, अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशशव्दः द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति, तेन शव्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति।"

इसमे 'अपदेस' का अर्थ जो 'द्रव्यश्रुत' और 'सुत्तं' का अर्थ 'भावश्रुत' किया गया है वह शव्द-अर्थकी दृष्टिसे एक खटकनेवाली वस्तु है, जिसकी वह खटकन और भी वढ जाती है जव यह देखने मे आता है कि 'मध्य' शव्द का कोई अर्थ नही किया गया—उसे वैसे ही अर्थसमुच्चयके साथमे लपेट दिया गया है।

कानजीस्वामीने यद्यपि 'सुत्त' शव्दकी जगह 'संत (सान्त)' शव्द स्वीकार किया है फिर भी इस पदका अर्थ वही द्रव्यश्रुत-भावश्रुतके रूपमे अपनाया है जिसे जयसेनाचार्यने प्रस्तुत किया है, चुनांचे आपके यहाँसे समयसारका जो गुजराती अनुवाद सन् १९४२ मे प्रकाशित हुआ है उसमे 'सान्त' का अर्थ 'ज्ञानरूपी-भावश्रुत' दिया है, जो और भी खटकनेवाली वस्तु वन गया है।

सातवी शका इस प्रचलित पदके स्थानपर जो दूसरा पद सुझाया गया है उससे सम्वन्ध रखती है। वह पद है 'अपवेससंतमज्झं'। इस ससूचित तथा दूसरे प्रचलित पदमे परस्पर वहुत ही थोडा सिर्फ एक अक्षरका अन्तर है—इसमे 'वे' अक्षर है तो उसमे

'दे', शेप सब ज्यो का त्यो है। लेखकोकी कृपासे 'वे' का 'दे' लिखा जाना अथवा पन्नोके चिपक जाने आदिके कारण 'वे' का कुछ अश उडकर उसका 'दे' बन जाना तथा पढा जाना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इस समूचित पदका अर्थ 'अनादिमध्यान्त' होता है और यह विशेपण शुद्धात्माके लिए अनेक स्थानोपर प्रयुक्त हुआ है, जिसके कुछ उदाहरण शकामे नोट किये गये हैं और फिर पूछा गया है कि यदि पदका यह सुझाव ठीक नही है तो क्यो ? ऐसी स्थितिमे प्रचलित-पद और तद्विपयक यह सुझाव विचारणीय जरूर हो जाता है। इस तरह तीन शकाएँ प्रचलित-पदके रूपादि-विषयसे सम्बन्ध रखती हैं, जिन्हे प्रवचनलेखमे विचारके लिये छुआ तक भी नही गया—समाधानकी तो बात ही दूर है—यह उस लेखको पढकर पाठक स्वय जान सकते हैं। हो सकता है कि स्वामीजीके पास इन शकाओके समाधान-विषयमे कुछ कहनेको न हो और इसीसे उन्होने अपने उस वाक्य ("जो कुछ कहना होता है उसे प्रवचनमे ही कह देता हूँ") के अनुसार कुछ न कहा हो। कुछ भी हो, पर इससे समयसारके अध्ययनकी गहराईको ठेस जरूर पहुँचती हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि गत वर्ष (सन् १९५२ मे) सागरमे वर्णीजयन्तीके अवसर पर और इस वर्ष खास इन्दौरमें यात्राके अवसर पर मेरी इस पदके रूपादि-विपयमे प० वशीधरजी न्यायालकारसे भी, जो कि जैन-सिद्धान्तके एक बहुत बडे ज्ञाता हैं, चर्चा आयी थी, उन्होने उक्त सुझावको ठीक बतलाते हुए कहा कि हम पहलेसे इस पदको 'अप्पाणं' पदका विशेपण मानते आये हैं, और तब इसके 'अपदेससुत्तमज्झं' (अप्रदेशसूत्रमध्य) रूपको लेकर एक दूसरे ही ढगसे

इसके 'अनादिमध्यान्त' अर्थकी कल्पना करते थे जो कि एक क्लिष्ट कल्पना थी। अब इसके प्रस्तावित रूपसे अर्थ बहुत ही स्पष्ट तथा सरल (सहज बोधगम्य) हो गया है। साथ ही यह भी बतलाया कि श्रीजयसेनजीने इस पदका जो अर्थ किया है और उसके द्वारा इसे '**जिणसासणं**' पदका विशेषण बनाया है वह ठीक तथा सगत नही है।

गाथाके अर्थमें अतिरिक्त विशेषण

प्रस्तुत गाथाका अर्थ करते हुए उसमे आत्माके लिये पूर्व गाथा-प्रयुक्त '**नियत**' और '**असयुक्त**' विशेषणोको उपलक्षणसे ग्रहण किया जाता है, जो कि इस गाथामे प्रयुक्त नही हुए हैं। इन्ही अप्रयुक्त एव अतिरिक्त विशेषणोके ग्रहणसे शका न० ८ का सम्बन्ध है और उसमे यह जिज्ञासा प्रकट की गई है कि इन विशेषणोका ग्रहण क्या मूलकारके आशयानुसार है? यदि है तो फिर १४वी गाथामे प्रयुक्त हुए पॉच विशेषणोको इस गाथामे क्रमभग करके क्यो रखा गया है जब कि १४वी गाथाके पूर्वार्धको ज्योका त्यो रख देनेपर भी काम चल सकता था अर्थात् शेप दो विशेषणो '**अविशेष**' और '**असंयुक्त**' को उपलक्षण-द्वारा ग्रहण किया जा सकता था? और यदि नही है, तो फिर अर्थमें इनका ग्रहण करना ही अयुक्त है। इस शकाको भी स्वामीजीने अपने प्रवचनमे छूआ तक नही है, और इसलिए इसके विपयमे भी वही बात कही जा सकती हैं, जो पिछली तीन शकाओके विषयमे कही गई है—अर्थात् इस शकाके विषयमे भी उन्हे कुछ कहनेके लिए नही होगा और इसीसे कुछ नही कहा गया।

यहाँ पर एक बात और प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि कुछ अर्सा हुआ मुझे एक पत्र रोहतक (पूर्वपजाब) से डाक-

द्वारा प्राप्त हुआ था जिसपर स्थानके साथ पत्र लिखनेकी तारीख तो है, परन्तु बाहर भीतर कही भी पत्र भेजनेवाले सज्जनका कोई नाम उपलब्ध नही होता। सभवत वे सज्जन बाबू नानकचन्दजी एडवोकेट जान पडते हैं, जो कि समयसारके स्वाध्यायके प्रेमी हैं और उस प्रेमी होनेके नाते ही पत्रमे कुछ लिखनेके प्रयासका उल्लेख भी किया गया है। इस पत्रमें आठवी शकाके विषयमे जो कुछ लिखा है उसे उपयोगी समझकर यहाँ उद्धृत किया जाता है —

'गाथा न० १५ के पहले चरणमें जो क्रम-भग है वह बहुत ही रहस्यमय है। यदि गाथा न० १५ मे गाथा न० १४ का पूर्वार्ध दे दिया जाता तो दो विशेषण **'अविशेष'** और **'असंयुक्त'** छूट जाते। ये विशेषण किसी दूसरे विशेषणके उपलक्षण नही हो सकते। क्रमभग करने पर दो विशेषण **'नियत'** और **'असयुक्त'** छूटे हैं सो इनमेंसे **'नियत'** विशेषण तो **'अनन्य'** का उपलक्षण है। जो वस्तु अनन्य होती है वह **'नियत'** अवश्य होती है, इस कारण अनन्य कह देनेसे नियतपना आ ही गया। इसी तरह 'अविशेष' कहनेसे असयुक्तपना आ ही गया। सयोग विशेषोमे ही हो सकता है सामान्यमें नही—सामान्य तो दो द्रव्योका सदा ही जुदा जुदा रहता है। सयुक्तपना किसी द्रव्यके एक विशेषका दूसरे द्रव्यके विशेषसे एकत्व हो जाना है। श्रीकुन्दकुन्दने क्रमभग करके अपनी (निर्माण) कलाका प्रदर्शन किया है और गाथा न० १५ मे भी शुद्धनयके पूर्णस्वरूपको सुरक्षित रक्खा है। अविशेष और असयुक्तका इस प्रकारका सम्बन्ध अन्य तीन विशेषणो-से नही है जिस प्रकारका नियतका अनन्यसे असयुक्तका अविशेषसे है।'

शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन

प्रस्तुत गाथामे आत्माको अबद्धस्पृष्टादि-रूपसे देखनेवाले शुद्धात्मदर्शीको सम्पूर्ण जिनशासनका देखनेवाला बतलाया है। इसीसे प्रथमादि चार शकाओका सम्बन्ध है। पहली शंका सारे जिनशासनको देखनेके प्रकार तरीके अथवा ढग (पद्धति) आदिसे सम्बन्ध रखती है, दूसरीमे उस द्रष्टा-द्वारा देखे जानेवाले जिनशासनका रूप पूछा गया है, तीसरीमे उस रूपविशिष्ट जिनशासनका कुछ महान् आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित अथवा ससूचित जिनशासनके साथ भेद-अभेदका प्रश्न है, और चौथीमे भेद न होनेकी हालतमे यह सवाल किया गया है कि तब इन आचार्यों-द्वारा प्रतिपादित एव ससूचित जिनशासनके साथ उसकी सगति कैसे बैठती है ? इनमेसे पहली, तीसरी और चौथी इन तीन शकाओके विषयमे प्रवचनलेख प्राय मौन है। उसमें बार-बार इस बातको तो अनेक प्रकारसे दोहराया गया है कि जो शुद्धात्माको देखता-जानता है वह समस्त जिनशासनको देखता-जानता है अथवा उसने उसे देख-जान लिया, परन्तु उन विशेषणोके रूपमें शुद्धात्माको देखने-जानने-मात्रसे सारे जिन-शासनको कैसे देखता-जानता है या देखने-जाननेमे समर्थ होता है अथवा किस प्रकारसे उसने उसे देख-जान लिया है, इसका कही भी कोई स्पष्टीकरण नही है और न भेदाऽभेदकी बातको उठाकर उसके विषयमें ही कुछ कहा गया है, सिर्फ दूसरी शकाके विषयभूत जिनशासनके रूप-विपयको लेकर उसीके सम्बन्धमे जो कुछ कहना था वह कहा गया है। अव आगे उसीपर विचार किया जाता है।

श्रीकानजीस्वामी महाराजका कहना है कि 'जो शुद्ध आत्मा

है वह **जिनशासन है'** यह आपके प्रवचनका मूल सूत्र है, जिसे प्रवचनलेखमे अग्रस्थान दिया गया है और इसके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि शुद्धात्मा और जिनशासन दोनो एक ही हैं, नामका अन्तर है, जिनशासन ही शुद्धात्माका दूसरा नाम है। परन्तु शुद्धात्मा तो जिनशासनका एक विपय प्रसिद्ध है, वह स्वय जिनशासन अथवा समग्र जिनशासन कैसे हो सकता है ? जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं, अशुद्धात्मा भी उसका विपय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेप पाँच द्रव्य भी उसके विपय हैं, कालचक्रके अवसर्पिणी उत्सर्पिणी आदि भेद-प्रभेदोका तथा तीन लोककी रचनाका विस्तृत वर्णन भी उसके अन्तर्गत है। वह सप्त तत्त्वो, नव पदार्थो, चौदह गुणस्थानो, चतुर्दशादि जीवसमासो, षट् पर्याप्तियो, दस प्राणो, चार सज्ञाओ, चौदह मार्गणाओ, द्विविध-चतुर्विध्यादि उपयोगो और नयो तथा प्रमाणोकी भारी चर्चाओ एव प्ररूपणाओको आत्मसात् किये अथवा अपने अक (गोद) मे लिये हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुवा रत्नत्रयादि धर्म-विधानो, कुमार्गमथनो और कर्मप्रकृतियोके कथनोपकथनसे भरपूर है। सक्षेपमें जिनशासन जिनवाणीका रूप है, जिसके द्वादश अग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिये हुए प्रसिद्ध हैं। ऐसी हालतमे जब कि शुद्धात्मा जिनशासनका एकमात्र विषय भी नही है तव उसका जिनशासनके साथ एकत्व कैसे स्थापित किया जा सकता है ? उसमे तो गुणस्थानो तथा मार्गणाओ आदिके स्थान तक भी नही हैं, जैसा कि स्वय कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमे प्रतिपादित किया है[1]।

---

[1] देखो, समयसार गाथा ५२ से ५५

यहाँ विषयको ठीक हृदयङ्गम करनेके लिए इतना और भी जान लेना चाहिए कि जिनशासनको जिनवाणीकी तरह जिन-प्रवचन, जिनागम-शास्त्र, जिनमत, जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिन-धर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग भी कानजी स्वामीने अपने प्रवचनमे जिनशासनके स्थानपर उसी तरह किया है जिस तरह कि '**जिनवाणी**' और '**भगवानकी वाणी**' जैसे शब्दो-का किया है। इससे जिन-भगवानने अपनी दिव्य-वाणीमे जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुए सूत्रो-शास्त्रोमे निबद्ध है वह सब जिनशासनका अग है, इसे खूब ध्यानमे रखना चाहिये।

अब मैं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत 'समयसार'के शब्दोमे ही यह बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिनभगवानने अपनी वाणीमे उन सब विषयोकी देशना (शास्ति) की है जिनकी ऊपर कुछ सूचना दी गई है। वे शब्द गाथाके नम्बर सहित इस प्रकार हैं—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते.................. ॥४८॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥
तह जीवे कम्माण णोकम्माण च परिसदु वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥
एवं गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥
पज्जत्ताऽपज्जता जे सुहमा वादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥
उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥
जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ जीवो ॥१४१॥
सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठी त्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्त-पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहियं ।
तस्सोदएण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥
तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९१॥
उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ॥१९८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ॥२४८॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ॥२५१॥
अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥
वद समिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥
ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

इन सब उद्धरणोंसे तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने प्रवचनसारमें जिनशासनके साररूपमें जिन जिन बातोंका उल्लेख अथवा ससूचन किया है उन सबको देखनेसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि (एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नहीं है, जिनशासन

निश्चय और व्यवहार दोनो नयो तथा उपनयोंके कथनको साथ-साथ लिये हुए ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप सारे अर्थसमूहको उसकी सब अवस्थाओ-सहित अपना विषय किये हुए है।

यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पाँच विशेषण—अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असयुक्त—कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होगे। परन्तु जिनशासनको अबद्धस्पृष्टादिक-रूपमे कैसे कहा जा सकता है? जिनशासन जिनका शासन अथवा जिनसे समुद्भूत शासन होनेके कारण जिनके साथ सम्बद्ध है, जिस अर्थसमूहकी प्ररूपणाको वह लिये हुए है उसके साथ भी वह सम्बद्ध है, जिन शब्दोंके द्वारा अर्थसमूहकी प्ररूपणा की जाती है उनके साथ भी उसका सम्बन्ध है। इस तरह शब्द-समय, अर्थ-समय और ज्ञान-समय तीनोके साथ जब जिनशासनका सम्बन्ध है तब उसे अबद्धस्पृष्ट कैसे कहा जा सकता है? नही कहा जा सकता। और कर्मोंकि बन्धनादिकी तो उसके साथ कोई कल्पना ही नही बनती, जिससे उस दृष्टिके द्वारा उसे अबद्धस्पृष्ट कहा जाय। 'अनन्य' विशेषण भी उसके साथ घटित नही होता, क्योकि वह शुद्धात्माको छोडकर अशुद्धात्माओ तथा अनात्माओको भी अपना विषय किये हुए है अथवा यो कहिए कि वह अन्य शासनो मिथ्यादर्शनोको भी अपनेमे स्थान दिये हुए है। श्री सिद्धसेनाचार्यके शब्दोमे तो वह जिनप्रवचन '**मिथ्यादर्शनोका समूहमय** है, इतने पर भी भगवत्पदको प्राप्त है, अमृतका सार है और सविग्न-सुखाधिगम्य है, जैसा कि सन्मतिसूत्रके अन्तमे उसकी मगलकामनाके लिये प्रयुक्त किये गये निम्न वाक्यसे प्रकट है'—

भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमियसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥३-७०॥

इस तरह जिनशासनका 'अनन्य' विशेपण नही बनता। 'नियत' विशेपण भी उसके साथ घटित नही होता, क्योकि प्रथम तो सब जिनो–तीर्थंकरोका शासन फोनोग्राफके रिकार्डकी तरह एक ही अथवा एक ही प्रकारका नही रहा है अर्थात् ऐसा नही कि जो वचनवर्गणा एक तीर्थंकरके मुँहसे खिरी वही जँची-तुली दूसरे तीर्थंकरके मुँहसे निकली हो—बल्कि अपने अपने समयकी परिस्थिति, आवश्यकता और प्रतिपाद्योके अनुरोधवश कथनशैली-की विभिन्नताके साथ कुछ-कुछ दूसरे भेदको भी वह लिये हुए रहा है, जिसका एक उदाहरण मूलाचारकी निम्न गाथासे जाना जाता है :—

वावीसं तित्थयरा सामाइयं संजमं उवदिसंति।
छेदोवट्ठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥७-३६॥

इसमे वतलाया है कि 'अजितसे लेकर पार्श्वनाथपर्यन्त वाईस तीर्थंकरोने 'सामायिक' सयमका और ऋषभदेव तथा वीर भगवानने 'छेदोपस्थापना' सयमका उपदेश दिया है।' अगली गाथाओमे उपदेशकी इस विभिन्नताके कारणको, तात्कालिक परिस्थितियोका कुछ उल्लेख करते हुए, स्पष्ट किया गया है तथा और भी कुछ विभिन्नताओका सकारण सूचन किया गया है। इस विषयका विशेप परिचय प्राप्त करनेके लिये **'जैनतीर्थंकरोका शासनभेद'** नामक वह निवन्ध देखना चाहिए जो प्रथमतः अगस्त सन् १९१६ के **'जैन हितैषी'** पत्रमे और वादको **'जैनाचार्योंका शासनभेद'** नामक ग्रन्थके परिशिष्टो 'क, ख' मे परिवर्धनादिके साथ प्रकाशित हुआ है और जिसमे दिगम्वर तथा श्वेताम्वर दोनो सम्प्रदायोके अनेक प्रमाणोका सकलन है। साथ

ही, यह भी प्रदर्शित किया गया है कि उन भेदोंके कारण मुनियोंके मूलगुणोंमें भी अन्तर रहा है।

दूसरे जिनवाणीके जो द्वादश अंग हैं उनमें अन्तकृद्दश, अनुत्तरौपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण और दृष्टिवाद जैसे कुछ अंग ऐसे हैं जो सब तीर्थंकरोंकी वाणीमें एक ही रूपको लिये हुए नहीं हो सकते।

तीसरे, विविध नयभंगोंको आश्रय देने और स्याद्वादन्यायको अपनानेके कारण जिनशासन सर्वथा एक रूपमें स्थिर नहीं रहता—वह एक ही बातको कहीं कभी निश्चय नयकी दृष्टिसे कथन करता है तो उसीको अन्यत्र व्यवहारनयकी दृष्टिसे कथन करनेमें प्रवृत्त होता है और एक ही विषयको कहीं गौण रखता है तो दूसरी जगह उसीको मुख्य बनाकर आगे ले आता है। एक ही वस्तु जो एक नयदृष्टिसे विधिरूप है वही उसमें दूसरी नयदृष्टिसे निषेधरूप भी है। इसी तरह जो नित्यरूप है वही अनित्यरूप भी है और जो एक रूप है वही अनेकरूप भी है। इसी सापेक्ष नयवादमें उसकी समीचीनता संनिहित और सुरक्षित रहती है, क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है। इसीसे उसका व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ या असत्यार्थ नहीं होता। यदि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ होता तो श्री जिनेन्द्रदेव उसे अपनाकर उसके द्वारा मिथ्या उपदेश क्यों देते? जिस व्यवहारनयके उपदेश अथवा वक्तव्यसे सारे जैनशास्त्र अथवा जिनागमके अंग भरे पड़े हैं वह तो निश्चयनयकी दृष्टिमें अभूतार्थ है, जबकि व्यवहारनयकी दृष्टिमें वह शुद्धनय या निश्चयनय भी अभूतार्थ—असत्यार्थ है जोकि वर्तमानमें अनेक प्रकारके सुदृढ कर्मबन्धनोंसे बँधे हुए, नाना प्रकारकी परतन्त्रताओंको

धारण किये हुए, भवभ्रमण करते और दु ख उठाते हुए ससारी जीवात्माओको सर्वथा कर्मवन्धनसे रहित अवद्धस्पृष्टादिके रूपमे उल्लेखित करता है और उन्हे पूर्णज्ञान तथा आनन्दमय वतलाता है, जो कि प्रत्यक्षके विरुद्ध ही नही, किन्तु आगमके भी विरुद्ध है—आगममें आत्माके साथ कर्मवन्धनका वहुत विस्तारके साथ वर्णन है। जिसका कुछ सूचन कुन्दकुन्दके समयसारादि ग्रन्थोमें भी पाया जाता है। यहाँ प्रसगवश इतना और प्रकट किया जाता है कि शुद्ध या निश्चयनयको द्रव्यार्थिक और व्यवहार-नयको पर्यायार्थिकनय कहते हैं। ये दोनो मूलनय पृथक् रहकर एक दूसरेके वक्तव्यको किस दृष्टिसे देखते हैं और उस दृष्टिसे देखते हुए सम्यग्दृष्टि हैं या मिथ्यादृष्टि, इसका अच्छा विवेचन श्रीसिद्धसेनाचार्यने अपने सन्मतिसूत्रकी निम्न गाथाओमें किया है—

दव्वट्ठिय वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जवत्थ अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥१०॥
उप्पज्जंति वियंति य भावा पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पण्णमविणट्ठ ॥११॥
दव्व पज्जव-विउयं दव्व-विजुत्ता य पज्जवा णत्थि।
उप्पाय-ट्ठिइ-भगा होदि दवियलक्खण एयं ॥१२॥
एए पुण सगहओ पाडिक्कमलक्खण दुवेण्हं पि।
तम्हा मिच्छदिट्ठी पत्तेय दो वि मूलणया ॥१३॥

इन गाथाओमे वतलाया है कि—'पर्यायार्थिकनयकी दृष्टिमें द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य (सामान्य) नियमसे अवस्तु है। इसी तरह द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक नयका वक्तव्य (विशेष) अवस्तु है। पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिमे सब पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं। द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिमे न कोई पदार्थ कभी उत्पन्न होता है और न नाशको प्राप्त होता

है । द्रव्य पर्यायके (उत्पाद-व्ययके) विना और पर्याय द्रव्यके (ध्रौव्यके) विना नही होते, क्योकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनो द्रव्य-सत्का अद्वितीय लक्षण हैं, ये (उत्पादादि) तीनो एक दूसरेके साथ मिलकर ही रहते हैं, अलग-अलग रूपमे ये द्रव्य (सत्) के कोई लक्षण नही होते और इसलिये दोनो मूलनय अलग-अलग रूपमे—एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए—मिथ्यादृष्टि हैं । अर्थात् दोनो नयोमेसे जब कोई भी नय एक दूसरेकी अपेक्षा न रखता हुआ अपने ही विषयको सत् रूप प्रतिपादन करनेका आग्रह करता है तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अशमे पूर्णताका माननेवाला होनेसे मिथ्या है और जब वह अपने प्रतिपक्षीनयकी अपेक्षा रखता हुआ प्रवर्तता है—उसके विषयका निरसन न करता हुआ तटस्थ रूपसे अपने विपय (वक्तव्य) का प्रतिपादन करता है—तब वह अपने द्वारा ग्राह्य वस्तुके एक अशको अशरूपमे ही (पूर्णरूपमे नही) माननेके कारण सम्यक् व्यपदेशको प्राप्त होता सम्यग्दृष्टि कहलाता है ।'

ऐसी हालतमे जिनशासनका सर्वथा 'नियत' विशेषण नही बनता । चौथा 'अविशेष' विशेपण भी उसके साथ सगत नही बैठता, क्योकि जिनशासन अनेक विषयोके प्ररूपणादि-सम्बन्धी भारी विशेषताओको लिये हुए है, इतना ही नही, बल्कि अनेकान्तात्मक स्याद्वाद उसकी सर्वोपरि विशेषता है, जो अन्य शासनोमे नही पाई जाती । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने स्वयभूस्तोत्रमे लिखा है कि **'स्याच्छब्दस्तावके न्याये नाऽन्येषामात्मविद्विषाम्** (१०२) अर्थात् 'स्यात्' शब्दका प्रयोग आपके ही न्यायमे है, दूसरोके न्यायमे नही, जो कि अपने वाद (कथन) के पूर्व उसे न अपनानेके कारण अपने शत्रु आप बने हुए हैं ।

साथ ही यह भी प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रका 'स्यात्' शब्द-पुरस्सर-कथनको लिये हुए जो स्याद्वाद है—अनेकान्तात्मक प्रवचन (शासन) है—वह दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगमादिक) का अविरोधक होनेसे अनवद्य (निर्दोष) है, जब कि दूसरा 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथनसे रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन (शासन) नही है, क्योकि दृष्ट और इष्ट दोनोके विरोधको लिये हुए है (१३८)। अकलकदेवने तो स्याद्वादको जिनशासनका अमोघलक्षण बतलाया है, जैसाकि उनके निम्न सुप्रसिद्ध वाक्यसे प्रकट है—

श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादाऽमोघलांछनम्।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम्॥

स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' मे, श्रीवीरजिनके शासनको, एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न बतलाते हुए, जिन विशेषोकी विशिष्टतासे अद्वितीय प्रतिपादित किया है वे निम्न कारिकासे भली प्रकार जाने जाते हैं—

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थं।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥

इसमे बताया है कि वीरजिनका शासन दया, दम, त्याग और समाधिकी निष्ठा-तत्परताको लिये हुए हैं, नयो तथा प्रमाणोके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करनेवाला है और अनेकान्तवादसे भिन्न दूसरे सभी प्रवादो (प्रकल्पित एकान्तवादो) से अबाध्य है, (यही सब उसकी विशेषता है) और इसीलिये वह अद्वितीय है—सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है।

और श्रीसिद्धसेनाचार्यने जिन-प्रवचन (शासन) के लिए

'मिथ्यादर्शन-समूहमय' 'अमृतसार' जैसे जिन विशेषणोका प्रयोग सन्मतिसूत्रकी अन्तिम गाथामे किया है उनका उल्लेख ऊपर आ चुका है, यहाँ उक्त सूत्रकी पहली गाथाको और उद्धृत किया जाता है जिसमे जिनशासनके दूसरे कई महत्वके विशेषणोका उल्लेख है .—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमय-विसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं॥

इसमे भवको जीतनेवाले जिनो—अर्हन्तोके शासनको चार विशेषणोसे विशिष्ट बतलाया है—१ सिद्ध (अकल्पित एवं प्रतिष्ठित), २ सिद्धार्थोका स्थान (प्रमाणसिद्ध पदार्थोंका प्रतिपादक), ३ शरणागतोके लिये अनुपम सुखस्वरूप (मोक्षसुख) तककी प्राप्ति करानेवाला ४ कुसमयोके शासनका निवारक (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेकर शासनारूढ बने हुए सब मिथ्यादर्शनोके गर्वको चूर-चूर करनेकी शक्तिसे सम्पन्न)।

स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलकदेव—जैसे महान् जैनाचार्योंके उपर्युक्त वाक्योसे जिनशासनकी विशेषताओ या उसके सविशेषरूपका ही पता नही चलता, बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूलस्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। परन्तु इस स्वरूप-कथनमे कही भी शुद्धात्माको जिनशासन नही बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई सज्जन उक्त महान् आचार्योंको, जो कि जिनशासनके स्तम्भस्वरूप माने जाते हैं, **'लौकिकजन'** या **'अन्यमती'** कहने लगे और यह भी कहने लगे कि **'उन्होंने जिनशासनको जाना या समझा तक नही'** तो विज्ञ पाठक उसे क्या कहेगे, किन शब्दोसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेगे यह मैं नही जानता, विज्ञ पाठक

इस विषयके स्वतन्त्र अधिकारी हैं और इसलिये इसका निर्णय मैं उन्हीं पर छोडता हूँ। यहाँ तो मुझे जिनशासन-सम्बन्धी इन उल्लेखोके द्वारा सिर्फ इतना ही बतलाना या दिखलाना इष्ट है कि सर्वथा 'अविशेष' विशेपण उसके साथ सगत नही हो सकता। और उसीके साथ क्या, किसीके भी साथ वह पूर्णरूपेण सगत नही हो सकता, क्योकि ऐसा कोई भी द्रव्य, पदार्थ या वस्तु-विशेप नही हैं जो किसी भी अवस्था, पर्याय, भेद, विकल्प या गुणको लिये हुए न हो। इन अवस्था तथा पर्यायादिका नाम ही 'विशेष' है और इसलिये जो इन विशेपोसे सर्वथा शून्य है, वह अवस्तु है। पर्यायके विना द्रव्य और द्रव्यके विना पर्याय होते हो नही, दोनोमे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। इस सिद्धान्तको स्वयं कुन्दकुन्दाचार्यने भी अपने पचास्तिकायग्रन्थकी निम्न गाथामे स्वीकार किया है और उसे श्रमणोका सिद्धान्त बतलाया है—

> **पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।**
> **दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥**

ऐसी हालतमे शुद्धात्मा भी इस श्रमण-सिद्धान्तसे वहिर्भूत नही हो सकता, उसे जो 'अविशेप' कहा गया है वह किस दृष्टिको लिये हुए है, इसे कुछ गहराईमे उतरकर जाननेकी जरूरत है। मात्र यह कह देनेसे काम नही चलेगा कि शुद्धनयकी दृष्टिसे वैसा कहा गया है, क्योकि कोई भी सम्यक्नय ऐसा नही है जो नियमसे शुद्धजातीय हो—अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो। जैसा कि सिद्धसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> **दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा णात्थि णओ णियम शुद्धजाईओ।**
> **ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोई भयणाय उ विसेसो ॥६॥**

जो नय अपने ही पक्षके साथ प्रतिबद्ध हो वह सम्यक्नय न

होकर मिथ्यानय है। आचार्य सिद्धसेनने सन्मतिसूत्र (३-४६) मे उसे दुर्निक्षिप्त शुद्धनय (अपरिशुद्धनय) बतलाया है और लिखा है कि वह स्व-पर दोनो पक्षोका विघातक होता है।

[रहा पाँचवाँ '**असंयुक्त**' विशेषण, वह भी जिनशासनके साथ लागू नही होता, क्योकि जो शासन अनेक प्रकारके विशेषोसे युक्त है, अभेद-भेदात्मक अर्थतत्त्वोकी विविध कथनीसे संगठित है और अगो आदिके अनेक सम्बन्धोको अपने साथ जोडे हुए है उसे सर्वथा असयुक्त कैसे कहा जा सकता है? नही कहा जा सकता।]

इस तरह शुद्धात्मा और जिनशासनको एक बतलानेसे शुद्धात्माके जो पाँच विशेषण जिनशासनको प्राप्त होते हैं वे उसके साथ सगत नही बैठते। इसके सिवा शुद्धात्मा केवलज्ञानस्वरूप है, जब कि जिनशासनके द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ऐसे दो मुख्य भेद किये जाते हैं, जिनमे भावश्रुत श्रुतज्ञानके रूपमे हैं जिसका केवलज्ञानके साथ और नही तो प्रत्यक्ष परोक्षका भेद तो है ही। रहा द्रव्यश्रुत, वह शब्दात्मक हो या अक्षरात्मक, दोनो ही अवस्थाओमे जड रूप है—ज्ञानरूप नही। चुनाँचे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी '**सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण जाणए किंचि। तम्हा अण्ण णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति॥**' इत्यादि गाथाओमे ऐसा ही प्रतिपादन किया है और शास्त्र तथा शब्दको ज्ञानसे भिन्न बतलाया है। ऐसी हालतमे शुद्धात्माके साथ द्रव्यश्रुतका एकत्व स्थापित नही किया जा सकता और यह भी शुद्धात्मा तथा जिनशासनको एक बतलानेमे बाधक है।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि कानजी स्वामीके प्रवचनलेखके प्रथम पैराग्राफमे जो यह लिखा है कि—

'**शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने**

शुद्धआत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है। —यह वात श्री आचार्यदेव समयसारकी पन्द्रहवी गाथामें कहते हैं :—'

यह सर्वांशमे ठीक नही है, क्योकि उक्त गाथामे श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यने ऐसा कही भी नही कहा कि 'जो शुद्ध आत्मा है वह जिन शासन है' और न 'इसलिये' अर्थका वाचक कोई शब्द ही गाथामे प्रयुक्त हुआ है। यह सब कानजी स्वामीकी निजी कल्पना है। गाथामे जो कुछ कहा गया है उसका फलितार्थ इतना ही है कि जो आत्माको अबद्धस्पृष्टादि विशेपणोके रूपमे देखता है वह समस्त जिनशासनको भी देखता है।' परन्तु कैसे देखता है? शुद्धात्मा होकर देखता है या अशुद्धात्मा रहकर देखता है? किस दृष्टिसे या किन साधनोसे देखता है और आत्माके इन विशेषणोका जिनशासनको पूर्णरूपमे देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है और वह किस रीति-नीतिसे कार्यमे परिणत किया जाता है, यह सब उसमे कुछ बतलाया नही। इन्ही सब बातोको स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत थी और इन्हीसे पहली शंकाका सम्बन्ध था, जिन्हे न तो स्पष्ट किया गया है और न शकाका कोई दूसरा समाधान ही प्रस्तुत किया है—दूसरी बहुत सी फालतू बातोको प्रश्रय देकर प्रवचनको लम्बा किया गया है।

सारे जिनशासनको देखनेमें हेतु

श्रीकानजीस्वामीने अपने प्रवचनमे कहा है कि—'शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है, इसलिए जो जीव अपने शुद्ध आत्माको देखता है वह समस्त जिनशासनको देखता है।' इस तर्कवाक्यसे यह फलित होता है कि अपने शुद्ध आत्माको देखने-जाननेवाला जीव जो समस्त जिनशासनको देखता-जानता है उसके उस

देखने-जाननेमे हेतु शुद्धात्मा और जिनशासनका (स्वरूपादिसे) एकत्व है। यह हेतु कानजी स्वामीके द्वारा नया ही आविष्कृत हुआ है, क्योकि प्रस्तुत मूल गाथामे न तो ऐसा उल्लेख है कि 'जो शुद्धात्मा वह जिनशासन है' और न सारे जिनशासनकी जानकारीको सिद्ध करनेके लिए किसी हेतुका ही प्रयोग किया गया है—उसमे तो 'इसलिये' अर्थका वाचक कोई पद वा शब्द भी नही है जिससे बलात् हेतुप्रयोगकी कुछ कल्पना की जाती। ऐसी हालतमे स्वामीजीने अपने उक्त तर्कवाक्यकी बातको जो आचार्य कुन्दकुन्द-द्वारा गाथामे कही गई बतलाया है वह कुछ सगत मालूम न होकर उनकी निजी कल्पना ही जान पडती है। अस्तु, इस कल्पनाके द्वारा जिस नये हेतुकी ईजाद की गई है वह असिद्ध है अर्थात् शुद्धात्मा और समस्त जिनशासनका एकत्व किसी प्रमाणसे सिद्ध नही होता, दोनोको एक माननेमे अनेक असंगतियो अथवा दोषापत्तियाँ उपस्थित होती हैं, जिनका कुछ दिग्दर्शन एव स्पष्टीकरण ऊपर 'शुद्धात्मदर्शी और जिनशासन' शीर्षकके नीचे किया जा चुका है।

जब यह हेतु असिद्धसाधनके रूपमे स्थित है तब इसके द्वारा समस्त जिनशासनको देखने-जानने रूप साध्यकी सिद्धि नही बनती। अभी तक सम्पूर्ण जिनशासनको देखने-जाननेका विषय विवादापन्न नही था—मात्र देखने-जाननेका प्रकारादि ही जिज्ञासाका विषय बना हुआ था—अब इस हेतु-प्रयोगने सपूर्ण जिनशासनके देखने-जाननेको भी विवादापन्न बनाकर उसे ही नही, किन्तु गाथाके प्रतिपाद्य-विषयको भी झमेलेमे डाल दिया है।

कानजी स्वामीने जिस प्रकार अपने उक्त तर्कवाक्यकी बातको श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-द्वारा गाथामे कही गई बतलाया है उसी प्रकार

यह भी बतलाया है कि "**इस गाथामे आचार्यदेवने जैनदर्शनका मर्म खोलकर रखा है**।" यह कथन भी आपका कुछ सगत मालूम नही होता, क्योकि गाथाके मूलरूपको देखते हुए उसमे जैनदर्शन अथवा जिनशासनके मर्मको खोलकर रखने-जैसी कोई बात प्रतीत नही होती। जिनशासनका लक्षण या स्वरूप तक भी उसमे दिया हुआ नही है। यदि दिया हुआ होता तो दूसरी शकाका विपयभूत वह प्रश्न ही पैदा न होता कि '**उस जिनशासनका क्या रूप है जिसे उस दृष्टाके द्वारा पूर्णतः देखा जाता है**?" गाथामे सारे जिनशासनको देखने मात्रका उल्लेख है—उसे सार या सक्षेपादिके रूपमे देखनेकी भी कोई बात नही है। **सारा** जिन-शासन अथवा जिनप्रवचन द्वादशाग-जिनवाणीके विशालरूपको लिये हुए है, उसे शुद्धात्मदर्शीके द्वारा—शुद्धात्माके द्वारा नही—कैसे देखा जाता है, किस दृष्टि या किन साधनोसे देखा जाता है, साक्षात्‌रूपमे देखा जाता है या असाक्षात्‌रूपमे और आत्माके उन **पाँच विशेषणोका** जिनशासनको पूर्ण रूपमे देखनेके साथ क्या सम्बन्ध है अथवा वे कैसे उसे देखनेमे सहायक होते हैं, ये सब बाते गाथामे जैनदर्शनके मर्मकी तरह रहस्यरूपमे स्थित हैं। उनमेसे किसीको भी आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने गाथामें खोलकर नही रखा है। जैनदर्शन अथवा जिनशासनके मर्मको खोलकर बतानेका कुछ प्रयत्न कानजीस्वामीने अपने प्रवचनमे जरूर किया है; परन्तु वे उसे यथार्थरूपमे खोलकर बता नही सके—भले ही आत्मधर्मके सम्पादक उक्त प्रवचनको उद्धृत करते हुए यह लिखते हो कि '**उस (१५ वीं गाथा) मे भरा हुआ जैन-शासनका अतिशय महत्वपूर्ण रहस्य पूज्य स्वामीजीने इस प्रवचनमे स्पष्ट किया है (खोलकर रखा है)**।' यह बात आगे चलकर पाठकोको स्वतः मालूम पड़ जायगी। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही

बतलाना चाहता हूँ कि अपने द्वारा खोले गये मर्म या रहस्यको कानजीस्वामीका श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके मत्थे मढना किसी तरह भी समुचित नही कहा जा सकता। इससे साधारण जनता व्यर्थ ही भ्रमका शिकार बनती है। अस्तु, कानजीस्वामीने जिन-शासनका जो भी मर्म या रहस्य अपने प्रवचनमे खोलकर रक्खा है उसका मूलसूत्र यही है कि 'जो शुद्ध आत्मा है वह जिनशासन है।' यह सूत्र कितना सारवान् अथवा दोषपूर्ण है और जिन-शासनके विषयमे लोगोको कितना सच्चा ज्ञान देनेवाला या गुमराह करनेवाला है इसका कुछ दिग्दर्शन इस लेखमे पहले कराया जा चुका है। अब मैं जिनशासनसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रवचनकी कुछ दूसरी बातोको लेता हूँ।

जिनशासनका सार

प्रवचनमे आगे चलकर समस्त जिनशासनकी बातको छोडकर उसके सारकी बातको लिया गया है और उसके द्वारा यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि शुद्धात्मदर्शनके साथ सपूर्ण जिनशासनके दर्शनकी सगति बिठलाना कठिन है। चुनाँचे स्वामीजी सारका प्रसग न होते हुए भी स्वय प्रश्न करते हैं कि "**समस्त जैन-शासनका सार क्या है?**" और फिर उत्तर देते हैं—"**अपने शुद्ध आत्माका अनुभव करना**"। जब उक्त सूत्रके अनुसार शुद्धात्मा और जिनशासन एक हैं तब जिनशासनका सार वही होना चाहिये था जो कि शुद्धात्माका सार है न कि शुद्धात्माका अनुभव करना, परन्तु शुद्धात्माका सार कुछ बतलाया नही गया, अत जिनशासनका सार जो शुद्धात्माका अनुभवन प्रकट किया गया है वह विवादापन्न हो जाता है। वास्तवमे देखा जाय तो वह संसारी अशुद्धात्माके कर्तव्यका एक आशिक सार है—पूरा

सार भी नही है, क्योकि एकमात्र शुद्धात्माका अनुभव करके रह जाना वा उसीमे अटके रहना उसका कर्तव्य नही है, वल्कि उसके आगे भी उसका कर्तव्य है और वह है कर्मोपाधिजनित अपनी अशुद्धताको दूर करके शुद्धात्मा वननेका प्रयत्न, जिसे एकान्त-दृष्टिके कारण छोड दिया गया जान पडता है। और इसलिये वह जिनशासनका सार नही है। जिनशासन वस्तुत निश्चय और व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनो मूल नयोके कथनोपकथनोको आत्मसात् किये हुए है और इसलिये उसका सार वही हो सकता है जो किसी एक ही नयके वक्तव्यका एकान्त पक्षपाती न होकर दोनोके समन्वय एव अविरोधको लिए हुए हो। इस दृष्टिसे अति सक्षेपमे यदि जिनशासनका सार कहना हो तो यह कह सकते हैं कि—**नयविरोधसे रहित जीवादि तत्त्वो तथा द्रव्योके विवेक सहित जो आत्माके समीचीन विकास-मार्गका प्रतिपादन है वह जिनशासन है।**' ऐसी हालतमे केवल अपने शुद्धात्माका अनुभव करना यह जिनशासनका सार नही कहला सकता। अशुद्धात्माओके अनुभव विना शुद्धात्माका अनुभव वन भी नही सकता और न अशुद्धात्माके कथन विना शुद्धात्मा कहनेका व्यवहार ही वन सकता है। अत जिनशासनसे अशु-द्धात्माके कथनको अलग नही किया जा सकता और जव उसे अलग नही किया जा सकता तव सारे जिनशासनके देखने और अनुभव करनेमे एकमात्र शुद्धात्माको देखना या अनुभव करना नही आता, जिसे जिनशासनके साररूपमे प्रस्तुत किया गया है।

वीतरागता और जैनधर्म

श्रीकानजीस्वामी अपने प्रवचनमे कहते हैं कि "शुद्ध आत्माके अनुभवसे वीतरागता होती है, और वही (वीतरागता ही) जैन-

धर्म है, जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नहीं है।" यह कथन आपका सर्वथा एकान्त-दृष्टिसे आक्रान्त है—व्याप्त है, क्योंकि जैनदर्शनका ऐसा कोई भी नियम नही जिससे शुद्धात्मानुभवके साथ वीतरागताका होना अनिवार्य कहा जा सके—वह होती भी है और नही भी होती। शुद्ध आत्माका अनुभव हो जानेपर भी रागादिककी परिणति चलती है, इन्द्रियोके विषय भोगे जाते हैं, राज्य किये जाते हैं, युद्ध लडे जाते हैं और दूसरे भी अनेक राग-द्वेषके काम करने पडते हैं, जिन सबके उल्लेखोसे जैनशास्त्र भरे पड़े हैं। इसकी वजह है दोनोके कारणोका अलग अलग होना। शुद्धात्माका अनुभव जिस सम्यग्दर्शनके द्वारा होता है उसके प्रादुर्भावमे दर्शनमोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वादि तीन और चरित्रमोहनीयकी अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी चार ऐसी सात कर्मप्रकृतियोके उपशमादिक निमित्त कारण हैं और वीतरागता जिस वीतरागचरित्रका परिणाम है उसकी प्रादुर्भूतिमे चारित्रमोहनीयकी समस्त कर्म-प्रकृतियोका क्षय निमित्त कारण है। दोनोके निमित्त कारणोका एक साथ मिलना अवश्यंभावी नही है और इसलिये स्वात्मानुभवके होते हुए भी बहुधा वीतरागता नही होती।

इस विषयमे यहाँ दो उदाहरण पर्याप्त होगे—एक सम्यग्दृष्टि देवोका और दूसरा राजा श्रेणिकका। राजा श्रेणिकको मोहनीयकर्मकी उक्त सातो प्रकृतियोके क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ और इसलिए उसके द्वारा अपने शुद्धात्माका अनुभव तो हुआ परन्तु वीतरागताका कारण उपस्थित न होनेके कारण वीतरागता नही आ सकी और इसलिये उसने राज्य किया, भोग भोगे, अनेक प्रकारके राग-द्वेषोको अपनेमे आश्रय दिया तथा अपघात करके

२९ किया। वह मरकर पहले नरकमे गया, वहाँ भी उसके

वह क्षायिक सम्यक्त्व और स्वात्मानुभव मौजूद है परन्तु प्रस्तुत वीतरागता पास नही फटकती, नित्य ही नरक-पर्यायाश्रित अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम और अशुभतर देह वेदना तथा विक्रियाका शिकार वना रहना होता है, साथ ही दु खोको समभाव-विहीन होकर सहना पडता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि देव, जिनके क्षायिक सम्यक्त्व तक होता है, अपने आत्माका अनुभव तो रखते हैं, परन्तु प्रस्तुत वीतरागता उनके भी पास नही फटकती है—वे सदा रागादिकमे फँसे हुए, अपना जीवन प्राय आमोद-प्रमोद एव क्रीडाओमें व्यतीत करते हैं, पर्यायधर्मके कारण चरित्रके पालनेमे सदा असमर्थ भी वने रहते हैं, फिर भी चारित्रसे अनुराग तथा धर्मात्माओसे प्रेम रखते हैं और उनमेसे कितने ही जैन तीर्थंकरोके पचकल्याणकके अवसरो पर आकर उनके प्रति अपना बडा ही भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं, ऐसा जैनशास्त्रोसे जाना जाता है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि शुद्धात्माके अनुभवसे वीतरागताका होना लाजिमी नही है और इसलिए कानजी स्वामीका एकमात्र अपने शुद्धात्माके अनुभवसे वीतरागताका होना वतलाना कोरा एकान्त है।

इसी तरह 'वीतरागता ही जैनधर्म है, जिससे रागकी उत्पत्ति हो वह जैनधर्म नही है' यह कथन भी कोरी एकान्त कल्पनाको लिये हुए है, क्योकि इससे केवल वीतरागता अथवा सर्वथा वीतरागता ही जैनधर्मका एकमात्र रूप रहकर उस समीचीन चरित्रधर्मका विरोध आता है जिसका लक्षण अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्ति है, जो व्रतो, समितियो तथा गुप्तियो आदिके रूपमे स्थित है और जिसका जिनेन्द्रदेवने व्यवहारनयकी दृष्टिसे अपने

शासनमे प्रतिपादन किया है, जैसा कि द्रव्यसग्रहकी निम्न गाथासे प्रकट है —

अशुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥ ४५ ॥

साथ ही, मुनिधर्म और श्रावक (गृहस्थ) धर्म दोनोंके लोपका भी प्रसग आता है, क्योकि दोनो ही प्रायः सरागचरित्रके अग हैं, जिसे व्यवहारचारित्र भी कहते हैं। इनके लोपसे जिन-शासनका विरोध भी सुघटित होता है; क्योकि जिनशासनमे इनका केवल उल्लेख ही नही, बल्कि गृहस्थो तथा गृहत्यागियोंके लिये इन धर्मोंके अनुष्ठानका विधान है और इन दोनो धर्मोंके कथनो तथा उल्लेखोसे अधिकाश जैन ग्रन्थ भरे हुए हैं जिनमे श्रीकुन्दकुन्दके चारित्तपाहुड आदि ग्रन्थ भी शामिल हैं। इन दोनो धर्मोंको जिनशासनसे अलग करदेनेपर जैनधर्मका फिर क्या रूप रह जायगा उसे विज्ञ पाठक सहजमे ही अनुभव कर सकते हैं।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि सरागचारित्र, जो सब ओरसे शुभभावोकी सृष्टिको साथमें लिये होता है तथा शुभोपयोगी कहलाता है, वीतरागचारित्रका साधक है—बाधक नही[1]। उसकी भूमिकामे प्रवेश किये बिना वीतराग-चारित्र तक किसीकी गति भी नही होती। वीतरागचारित्र मोक्षका यदि साक्षात् हेतु है तो वह पारम्पर्य हेतु है[2]। दोनो

१. इसीसे स्वामी समन्तभद्रने 'रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः' इस वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि चारित्रका अनुष्ठान—चाहे वह सकल हो या विकल—रागद्वेषकी निवृत्तिके लिये किया जाता है।

२. "स्वशुद्धात्मानुभूतिरूपशुद्धोपयोगलक्षण-वीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधक सरागचारित्र प्रतिपादयति।"—द्रव्यसग्रहटीकायां, ब्रह्मदेवः

मोक्षके हेतु हैं तब एकका दूसरेके साथ विरोध कैसा ? इसीसे जिस निश्चयनयका विषय वीतरागचारित्र है वह अपने साधक अथवा सहायक व्यवहारनयके विषयका विरोधी नही होता, बल्कि अपने अस्तित्वके लिये उसकी अपेक्षा रखता है। जो निश्चयनय व्यवहारकी अपेक्षा नही रखता, व्यवहारनयके विषयको जैनधर्म न बतलाकर उसका विरोध करता है और एकमात्र अपने ही विषयको जैनधर्म बतलाता हुआ निरपेक्ष होकर प्रवर्तता है वह शुद्ध–सच्चा निश्चयनय न होकर अशुद्ध एव मिथ्या निश्चयनय है और इसलिये वीतरागतारूप अपनी अर्थक्रियाके करनेमे असमर्थ है, क्योंकि निरपेक्ष सभी नय मिथ्या होते हैं तथा अपनी अर्थ-क्रिया करनेमे असमर्थ होते हैं और सापेक्ष सभी नय सच्चे वास्तविक होते तथा अपनी अर्थक्रिया करनेमे समर्थ होते हैं, जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् (देवागम)

ऐसी हालतमे जो निरपेक्ष निश्चयनयका अवलम्बन लिये हुए हो वे वीतरागताको प्राप्त नही होते। इसीसे श्रीअमृतचन्द्र-सूरि और जयसेनाचार्यने पचास्तिकायकी १७२वी गाथाकी टीकामे लिखा है कि 'व्यवहार तथा निश्चय दोनो नयोके अवि-रोधसे (सापेक्षसे) ही अनुगम्यमान हुआ वीतरागभाव अभीष्ट-सिद्धि (मोक्ष) का कारण बनता है, अन्यथा दोनो नयोंके परस्पर निरपेक्षसे नही —

तदिदं वीतरागत्वं व्यवहार-निश्चयाऽविरोधेनैवानुगम्य-मानं भवति समीहितसिद्धये न पुनरन्यथा।'—(अमृतचंद्रः)
'तच्च वीतरागत्वं निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां साध्य-साधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षा-भ्यामिति वार्तिकं।　　—(जयसेनः)

यदि जैनधर्ममे रागमात्रका सर्वथा अभाव माना जाय तो जैनधर्मानुयायी जैनियोके द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनो प्रकारके धर्ममेसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान नही बन सकेगा। सन्तान-पालन और प्रजा-सरक्षणादि जैसे लौकिक धर्मोंकी बात छोडिये, देवपूजा, अर्हन्तादिकी भक्ति, स्तुति-स्तोत्रोका पाठ, स्वाध्याय, संयम, तप, दान, दया, परोपकार, इन्द्रियनिग्रह, कषाय-जय, मन्दिर-मूर्तियोका निर्माण, प्रतिष्ठापन, व्रतानुष्ठान, धर्मोपदेश, प्रवचन, धर्मश्रवण, वात्सल्य, प्रभावना, सामायिक और ध्यान जैसे कार्योंको ही लीजिये, जो सब पारलौकिकक धर्मकार्योंमे परिगणित हैं और जैन धर्मानुयायियोके द्वारा किये जाते हैं। ये सब अपने-अपने विषयके रागभावको साथमे लिये हुए होते हैं और उत्तरोत्तर अपने विषयकी रागोत्पतिमे बहुधा कारण भी पडते हैं। रागभावको साथमे लिये हुए होने आदिके कारण ये सब कार्य क्या जैनधर्मके कार्य नही हैं? यदि जैनधर्मके कार्य नही हैं तब क्या जैनेतरधर्मके कार्य हैं या अधर्मके कार्य हैं? श्रीकानजी स्वामी इनमेसे बहुतसे कार्योंको स्वय करते-कराते तथा दूसरोके द्वारा अनुष्ठित होने पर उनका अनुमोदन करते हैं, तब क्या उनके ये कार्य जैनधर्मके कार्य नही हैं? मैं तो कमसे कम इसे माननेके लिये तैयार नही हूँ और न यही माननेके लिये तैयार हूँ कि ये सब कार्य उनके द्वारा बिना रागके ही जड़ मशीनोकी तरह सचालित होते हैं। मैंने उन्हे स्वय स्वेच्छासे प्रवचन करते, शका-समाधान करते और अर्हन्तादिकी भक्तिमे भाग लेते देखा है, उनकी सस्था 'जैनस्वाध्यायमन्दिरट्रस्ट' तथा उसकी प्रवृत्तियोको भी देखा है और साथ ही यह भी देखा है कि वे रागरहित नही हैं। परन्तु यह सब कुछ देखते हुए भी मेरे हृदय पर ऐसी कोई छाप नही पडी जिसका फलितार्थ यह हो कि आप जैन नही या आपके कार्य

जैनधर्मके कार्य नही। मैं आपको पक्का जैन समझता हूँ, आपके कार्योंको रागमिश्रित होने पर भी जैनधर्मके कार्य मानता हूँ और यह भी मानता हूँ कि उनके द्वारा जैनधर्म तथा समाजकी कितनी ही सेवा हुई है। इसीसे आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा बहुमान है—आदर है और मैं आपके सत्सगको अच्छा समझता हूँ, परन्तु फिर भी सत्यके अनुरोधसे मुझे यह मानने तथा कहनेके लिये बाध्य होना पडता है कि आपके प्रवचन बहुधा एकान्तकी ओर ढले होते हैं—उनमे जाने-अनजाने वचनाऽनयका दोष बना रहता है। जो वचन-व्यवहार समीचीन नय-विवक्षाको साथमे लेकर नही होता अथवा निरपेक्षनय या नयोका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त किया जाता है वह वचनानयके दोपसे दूपित कहलाता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें यह प्रकट करते हुए कि वीरजिनेन्द्रका अनेकान्त-शासन सभी अर्थक्रियार्थी जनोके द्वारा अवश्य आश्रयणीय ऐसी एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका स्वामी होनेकी शक्तिसे सम्पन्न है, फिर भी वह जो विश्वव्यापी नही हो रहा है उसके कारणोमें प्रवक्ताके इस वचनाऽनय दोषको प्रधान एव असाधारण बाह्य कारणके रूपमे स्थित बतलाया है[1]—कलिकाल तो उसमे साधारण बाह्य कारण है—और यह ठीक ही है, प्रवक्ताओके प्रवचन यदि वचनानयके दोषसे रहित हो और वे सम्यक् नयविवक्षाके द्वारा वस्तुतत्त्वको स्पष्ट एव विशद करते हुए बिना किसी अनुचित पक्षपातके श्रोताओंके सामने रक्खे जायँ तो उनसे श्रोताओका कलुषित आशय भी बदल सकता है और तब कोई ऐसी खास वजह नही रहती

१, काल. कालर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु प्रवक्तुवचनाऽनयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तरपवादहतु ॥ ५ ॥

जिससे जिनशासन अथवा जैनधर्मका विश्वव्यापी प्रचार न हो सके। स्वामी समन्तभद्रके प्रवचन स्याद्वादन्यायकी तुलामे तुले हुए होनेके कारण वचनानयके दोषसे रहित होते थे, इसीसे वे अपने कलियुगी समयमे श्रीवीरजिनके शासनतीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं, जिसका उल्लेख कनडीके एक प्राचीन शिलालेखमे पाया जाता है[1] और जिस तीर्थ-प्रभावनाका अकलकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने भी बडे गौरवके साथ अपने अष्ट-शती भाष्यमे उल्लेख किया है[2]।

श्रीकानजीस्वामी अपने प्रवचनो पर यदि कडा अकुश रखें, उन्हे निरपेक्ष-निश्चयनयके एकान्तकी ओर ढलने न दें, उनमें निश्चय-व्यवहार दोनो नयोका समन्वय करते हुए उनके वक्तव्यो-का सामजस्य स्थापित करें, एक दूसरेके वक्तव्यको परस्पर उपकारी मित्रोके वक्तव्यकी तरह चित्रित करें—न कि स्व-पर-प्रणाशी शत्रुओके वक्तव्यकी तरह—और साथ ही कुन्दकुन्दा-चार्यके 'ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे' इस वाक्य-को खास तौरसे ध्यानमे रखते हुए उन लोगोको जो कि अपरम-भावमे स्थित हैं—वीतरागचरित्रकी सीमातक न पहुँचकर साधक-अवस्थामे स्थित हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन कर रहे हैं—व्यवहारनयके द्वारा उस व्यवहारधर्मका उपदेश दिया करें जिसे तरणोपायके रूपमे 'तीर्थ' कहा गया है, तो उनके द्वारा

---

१ देखो, युक्त्यनुशासनकी प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित समन्तभद्रका सक्षिप्त परिचय।

२ तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेर्भव्यानामकल्कभाव-कृतये प्राभावि काले कलौ। येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नम. सन्तत, कृत्वा विव्रियते' ।

जिनशासनकी अच्छी ठोस सेवा बन सकती है और जैनधर्मका प्रचार भी काफी हो सकता है। अन्यथा, एकान्तकी ओर ढल जानेसे तो जिनशासनका विरोध और तीर्थका लोप ही घटित होगा।

हाँ, जब स्वामीजी रागरहित वीतराग नही और उनके कार्य भी रागसहित पाये जाते हैं तब एक नई समस्या और खडी होती है, जिसे समयसारकी निम्न दो गाथाये उपस्थित करती हैं—

परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणमयं तु सव्वागमधरो वि ॥ २०१ ॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥ २०२ ॥

इन गाथाओमे बतलाया है कि 'जिसके परमाणुमात्र भी रागादिक विद्यमान है वह सर्वागमधारी (श्रुतकेवली-जैसा) होने पर भी आत्माको नही जानता, जो आत्माको नही जानता वह अनात्माको भी नही जानता, (इस तरह) जो जीव-अजीवको नही जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ?—नही हो सकता। आचार्य श्रीकुन्दकुन्दके इस कथनानुसार क्या श्रीकानजी स्वामीके विषयमे यह कहना होगा कि वे रागादिके सद्भावके कारण आत्मा-अनात्मा (जीव-अजीव) को नही जानते और इसलिए सम्यग्दृष्टि नही है ? यदि नही कहना होगा और नही कहना चाहिए तो यह बतलाना होगा कि वे कौनसे रागादिक हैं जो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यको विवक्षित हैं। उन रागादिकके सामने आने पर यह सहजमे ही फलित हो जायगा कि दूसरे रागादिक ऐसे भी हैं जो जैनधर्ममे सर्वथा निषिद्ध नही हैं।

जहाँ तक मैंने इस विषयमे विचार किया है और स्वामी समन्तभद्रने अपने युक्त्यनुशासनकी 'एकान्तधर्माभिनिवेशमूला.' इत्यादि कारिकासे मुझे उसकी दृष्टि प्रदान की है, उक्त गाथोक्त

रागादिक वे रागादिक हैं जो एकान्त-धर्माभिनिवेशमूलक होते हैं—एकान्तरूपसे निश्चय किये हुए वस्तुके किसी भी धर्ममे अभिनिवेशरूप जो मिथ्याश्रद्धान है वह उनका मूल कारण होता है—और मोही–मिथ्यादृष्टि जीवोंके मिथ्यात्वके उदयमे जो अहकार-ममकारके परिणाम होते हैं उनसे वे उत्पन्न होते है। ऐसे रागादिक जिन्हे अमृतचन्द्राचार्यने उक्त गाथाओकी टीकामे मिथ्यात्वके कारण 'अज्ञानमय' लिखा है, वे जहाँ जीवादिकके सम्यक् परिज्ञानमे बाधक होते हैं वहाँ समतामे—वीतरागतामे—भी बाधक होते हैं इसीसे उन्हे निषिद्ध ठहराया गया है। प्रत्युत इसके, जो रागादिक एकान्त धर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमे चरित्रमोहके उदयवश होते हैं वे उक्त गाथाओंमें विवक्षित नही हैं। वे ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमे बाधक हैं और न समता–वीतरागताकी साधनामे ही बाधक होते हैं। सम्यक्दृष्टि जीव विवेकके कारण उन्हे कर्मोदयजन्य रोगके समान समझता है और उनको दूर करनेकी बराबर इच्छा रखता एवं चेष्टा करता है। इसीसे जिनशासनमे उन रागादिके निषेधकी ऐसी कोई खास बात नही जैसी कि मिथ्यादर्शनके उदयमे होनेवाले रागादिककी है। सरागचारित्रके धारक श्रावको तथा मुनियोमे ऐसेही रागका सद्भाव विवक्षित है—जो रागादिक दृष्टिविकारके शिकार हैं वे विवक्षित नही हैं।"

इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि न तो एकमात्र वीतरागता ही जैनधर्म है और न जैनशासनमे रागका सर्वथा निषेध ही निर्दिष्ट है। अत कानजीस्वामीका 'वीतरागता ही जैनधर्म है' इत्यादि कथन केवल निश्चयावलम्बी एकान्त है, व्यवहारनयके

वक्तव्यका विरोधी है, वचनानग्रके दोषसे दूषित है और जिन-शासनके साथ उसकी सगति ठीक नही बैठती ।

क्या शुभ भाव जैनधर्म नहीं ?

श्री कानजीस्वामीने अपने प्रवचन-लेखमे आचार्य कुन्दकुन्दके भावप्राभृतकी गाथाको उद्धृत करके यह बतलानेकी चेष्टा की है कि जिनशासनमे पूजादिक तथा व्रतोके अनुष्ठानको 'धर्म' नही कहा है, किन्तु 'पुण्य' कहा है । धर्म दूसरी चीज है और वह मोह-क्षोभसे रहित आतमाका परिणाम हैं —

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणिय ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

इस गाथामें पूजा-दान-व्रतादिकके धर्मरूप होनेका कोई निषेध नही, 'पुण्ण' पदके द्वारा उन्हे पुण्य-प्रसाधक धर्मके रूपमें उल्लेखित किया गया है । धर्म दो प्रकारका होता है—एक वह जो शुभ-भावोके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्ध-भावोके द्वारा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकारके कर्मास्रवका कारण नही होता । प्रस्तुत गाथामे दोनो प्रकारके धर्मोका उल्लेख है । यदि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकी दृष्टिमे पूजा-दान-व्रतादिक धर्म-कार्य न होते तो वे रयणसारकी निम्न गाथामे दान तथा पूजाको श्रावकोका मुख्य धर्म और ध्यान तथा अध्ययनको मुनियोका मुख्य धर्म न बतलाते —

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा ।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि ॥११॥

और न चारित्रप्राभृतकी निम्नगाथामे अहिंसादिव्रतोके अनुष्ठान-रूप सयमाचरणको श्रावकधर्म तथा मुनिधर्मका नाम ही देते .—

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥२६॥

उन्होने तो चारित्रप्राभृतके अन्तमे सम्यक्त्व-सहित इन दोनो धर्मोका फल अपुनर्भव (मुक्त–सिद्ध) होना लिखा है। तब वे दान-पूजा-व्रतादिकको धर्मकी कोटिसे अलग कैसे रख सकते हैं ? यह सहज ही समझा जा सकता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार) मे सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ' इस वाक्यके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको वह समीचीनधर्म बतला कर जिसे धर्मके ईश्वर तीर्थंकरादिकने निर्दिष्ट किया है उस धर्मकी व्याख्या करते हुए सम्यक्चारित्रके वर्णनमे 'वैयावृत्त्य' को शिक्षाव्रतोमें अन्तर्भूत धर्मका एक अग बतलाया है, जिसमे दान तथा सयमियोकी अन्य सब सेवा और देव-पूजा ये तीनो शामिल हैं, जैसा कि उक्त ग्रन्थके निम्न वाक्योसे प्रकट है —

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११॥
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२॥
देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥ ११३ ॥

साथ ही यह भी बतलाया है कि धर्म नि श्रेयस तथा अभ्युदय दोनो प्रकारके फलोको फलता है, जिसमे अभ्युदय पुण्यप्रसाधक अथवा पुण्यरूप धर्मका फल होता है और वह पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्यको वल, परिजन और काम-भोगोकी समृद्धि एव अतिशयको लिये रहता है, जैसा कि तत्स्वरूप-निर्देशक निम्न पद्यसे जाना जाता है '—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बल-परिजन-काम-भोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥३५॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब वाक्योसे स्पष्ट है कि पूजा तथा दानादिक धर्मके अंग हैं, वे मात्र अभ्युदय अथवा पुण्य-फलको फलनेकी वजहसे धर्मकी कोटिसे नही निकल जाते। धर्म अभ्युदयरूप पुण्य-फलको भी फलता है, इसीसे लोकमे भी पुण्यकार्यको धर्मकार्य और धर्मको पुण्य कहा जाता है। जिस पुण्यके विषयमे 'पुण्यप्रसादात्कि किं न भवति' (पुण्यके प्रसादसे क्या कुछ नही होता) जैसी लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, वह यो ही धर्मकी कोटिसे निकाल कर उपेक्षा किये जानेकी वस्तु नही है। तीन लोकके अधिपति धर्म-तीर्थंकरके पदकी प्राप्ति भी उस सर्वातिशायि पुण्यका ही फल है—पुण्यसे भिन्न किसी दूसरे धर्मका नही, जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।

ऐसी हालतमे कानजीस्वामीका पूजा-दान तथा व्रतादिकको धर्मकी कोटिसे निकाल कर यह कहना कि उनका करना 'धर्म' नही है और इसके लिये जैनमत तथा जिनेन्द्र भगवानकी दुहाई देते हुए यह प्रतिपादन करना कि 'जैनमतमे जिनेश्वर भगवानने व्रत-पूजादिके शुभ भावोको धर्म नही कहा है—आत्माके वीतरागभावको ही धर्म कहा है।'[1] कितना असगत तथा वस्तु-स्थितिके विरुद्ध है, इसे विज्ञ पाठक स्वय समझ सकते हैं।

---

[1] श्रीकानजी स्वामीकी सोनगढीय सस्थासे प्रकाशित समयसार (गुटका) में भी धर्मका अर्थ 'पुण्य' किया है।

(देखो गाथा २१० पृ० १५७)

मैं तो यहाँ सिर्फ इतना ही कहूँगा कि यह सब कथन जिन-शासनके एकागी अवलोकन अथवा उसके स्वरूप-विषयक अधूरे एव विकृत ज्ञानका परिणाम है। जब श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् एवं पुरातन आचार्य, जो कि जैनधर्मके आधारस्तम्भ माने जाते हैं, पूजा-दान-व्रतादिकको धर्मका अग बतलाते हैं, तब जैनमत और जिनेश्वरदेवका वह कौनसा वाक्य हो सकता है जो धर्मरूपमे इन क्रियाओका सर्वथा उत्थापन करता हो ? कोई भी नही हो सकता। शायद इसीसे वह प्रमाणमे उपस्थित नही किया जा सका। इतने पर भी जो विद्वान् आचार्य पूजा-दान-व्रतादिको 'धर्म' प्रतिपादन करते हैं उन्हे "लौकिक जन" तथा "अन्यमती" तक कहनेका दु साहस किया गया है, यह बडा ही चिन्ताका विषय है। इस विषयमे कानजी महाराजके शब्द इस प्रकार हैं —

"कोई-कोई लौकिकजन तथा अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक तथा व्रत-क्रिया सहित हो वह जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नहीं है। देखो, जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं, उन्हें "लौकिक जन" और "अन्यमती" कहा है।"

इन शब्दोकी लपेटमे, जाने-अनजाने, श्रीकुन्द-कुन्द, समन्तभद्र, उमास्वामी, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलक और विद्यानन्दादि सभी महान् आचार्य आ जाते हैं, क्योकि इनमेंसे किसीने भी शुभभावोका जैनधर्ममे निषेध नही किया है, प्रत्युत इसके, उन्होने अनेक प्रकारसे उनका विधान किया है। ऐसे चोटीके महान् आचार्योंको भी "लौकिकजन" तथा "अन्यमतो" बतलाना दुःसाहसकी ही नहीं, किन्तु धृष्टताकी भी हद हो जाती है। ऐसी अविचारित एवं बेतुकी वचनावली शिष्टजनोंको बहुत ही अखरती तथा असह्य जान पड़ती है।

जिन कुन्दकुन्दाचार्यका कानजी स्वामी सबसे अधिक दम भरते हैं और उन्हे अपना आराध्य गुरुदेव बतलाते हैं वे भी जब पूजा-दान-व्रतादिकका धर्मके रूपमे स्पष्ट विधान करते हैं तब अपने उक्त वाग्बाणोको चलाते हुए उन्हे कुछ आगा-पीछा सोचना चाहिए था । क्या उन्हे यह समझ नही पडा कि इससे दूसरे महान् आचार्य ही नहीं, किन्तु उनके आराध्य गुरुदेव भी निशाना बने जा रहे हैं ?

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी दोनो प्रकारके श्रमणो (मुनियो) को जैन-धर्म-सम्मत माना है । जिनमेसे एक अनास्रवी और दूसरा सास्रवी होता है, अर्हन्तादिमे भक्ति और प्रवचनाभियुक्तोमे वत्सलताको मुनियोकी शुभचर्या बतलाया है, शुद्धोपयोगी श्रमणोके प्रति वन्दन, नमस्करण, अभ्युत्थान और अनुगमन द्वारा आदर-सत्कारकी प्रवृत्तिको, जो सब शुद्धात्मवृत्ति-के सत्राणकी निमित्तभूत होती है, सरागचारित्रकी दशामें मुनियोकी चर्यामे सम्यग्दर्शन-ज्ञानके उपदेश, शिष्योके ग्रहण-पोपण और जिनेन्द्र पूजाके उपदेशको भी विहित बतलाया है, साथ ही यह भी बतलाया है कि जो मुनि काय-विराधनासे रहित हुआ नित्य ही चातुर्वर्ण्य श्रमण-सघका उपकार करता है वह रागकी प्रधानताको लिये हुए श्रमण होता है, परन्तु वैयावृत्यमे उद्यमी हुआ मुनि यदि काय-खेदको धारण करता है तो वह श्रमण नहीं रहता, किन्तु गृहस्थ (श्रावक) बन जाता है, क्योकि उस रूपमे वैयावृत्य करना श्रावकोका धर्म है; जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथाओंसे प्रकट है —

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥३-४५॥

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥-४६॥
वंदण-णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥-४७॥
दंसण-णाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ -४८ ॥
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो सो ॥ -४९ ॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि, हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ -५० ॥

[श्री कुन्दकुन्दाचार्यके इन वचनोसे स्पष्ट है कि जैन-धर्म या जिनशासनमे शुभ भावोको अलग नही किया जा सकता और न मुनियो तथा श्रावकोके सरागचरित्रको ही उससे पृथक् किया जा सकता है।] ये सब उसके अग हैं, अगोसे हीन अगी अधूरा या लङ्गरा होता है। तब कानजी स्वामीका उक्त कथन जिनशासनके दृष्टिकोणसे कितना वहिर्भूत एव विरुद्ध है उसे बतलाने की जरूरत नही रहती। खेद है कि उन्होने पूजा-दान-व्रतादिकके शुभ भावोको धर्म मानने तथा प्रतिपादन करने वालोको "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" तो कह डाला, परन्तु यह बतलानेकी कृपा नही की कि उनके उस कहनेका क्या आधार है—किसने कहाँपर वैसा मानने तथा प्रतिपादन करने-वालोको "लौकिक जन" आदिके रूपमे उल्लेखित किया है? जहाँ तक मुझे मालूम है ऐसा कही भी उल्लेख नही हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारमे 'लौकिक जन' का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है :—

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि।३-६९

इसमे आचार्य जयसेनकी टीकानुसार, यह बतलाया गया है कि—'जो वस्त्रादि परिग्रहका त्यागकर निर्ग्रन्थ बन गया और दीक्षा लेकर प्रव्रजित हो गया है ऐसा मुनि यदि ऐहिक कार्योंमे प्रवृत्त होता है अर्थात् भेदाभेदरूप रत्नत्रयभावके नाशक ख्याति-पूजा-लाभके निमित्तभूत ज्योतिष-मन्त्रवाद और वैद्यकादि जैसे जीवनोपायके लौकिक कर्म करता है, तो वह तप-सयमसे युक्त हुआ भी 'लौकिक' (दुनियादार) कहा गया है।

इस लक्षणके अन्तर्गत वे आचार्य तथा विद्वान् कदापि नही आते जो पूजा दान-व्रतादिके शुभ भावोको 'धर्म' बतलाते हैं। तब कानजी महाराजने उन्हे 'लौकिक जन' ही नही, किन्तु 'अन्यमती' तक बतलाकर जो उनके प्रति गुरुतर अपराध किया है उसका प्रायश्चित्त उन्हे स्वय करना चाहिए। ऐसे वचनाऽनयके दोपसे दूपित निरर्गल वचन कभी कभी मार्गको बहुत बडी हानि पहुँचानेके कारण बन जाते हे। शुद्धभाव यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्तिका मार्ग है—साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नही होती, फिर साधनकी अवहेलना कैसी ? साधनरूप मार्ग ही जैन तीर्थकरोका तीर्थ है, धर्म है, और उस मार्गका निर्माण व्यवहारनय करता है। शुभ-भावोके अभावमे अथवा उस मार्गके कट जानेपर कोई शुद्धत्वको प्राप्त नही होता। शुद्धात्माके गीत गाये जायें और शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग अपने पास हो नही, तब उन गीतोसे क्या नतीजा ? शुभभावरूप मार्गका उत्थापन सचमुचमें जैनशासनका उत्थापन है और जैन तीर्थके लोपकी ओर कदम बढाना है—भले ही वह कैसी भी भूल, गलती, अजानकारी या नासमझीका परिणाम क्यो न हो ?

शुभमे अटकनेसे डरनेकी भी बात नही है। यदि कोई शुभमे

अटका रहेगा तो शुद्धत्वके निकट तो रहेगा—अन्यथा शुभसे किनारा करनेपर तो इधर-उधर अशुभ राग तथा द्वेषादिकमे भटकना पडेगा और फलस्वरूप अनेक दुर्गतियोमे जाना होगा। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने इष्टोपदेशमें ठीक कहा है :—

> वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम्।
> छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अर्थात्—व्रतादि शुभ राग-जनित पुण्यकर्मोके अनुष्ठान-द्वारा देवपद (स्वर्ग) का प्राप्त करना अच्छा है, न कि हिंसादि अव्रतरूप पापकर्मोको करके नरक-पदको प्राप्त करना। दोनोमे वहुत बडा अन्तर उन दो पथिकोके समान है जिनमेसे एक छायामे स्थित होकर सुखपूर्वक अपने साथीकी प्रतीक्षा कर रहा है और दूसरा वह है जो तेज धूपमे खडा हुआ अपने साथीकी बाट देख रहा है और आतपजनित कष्ट उठा रहा है। साथीका अभिप्राय यहाँ उस सुद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी सामग्रीसे है जो मुक्तिकी प्राप्तिमे सहायक अथवा निमित्तभूत होती है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी इसी बातको मोक्खपाहुडकी '**वरं वय-तवेहि सग्गो**' इत्यादि गाथा न० २५ मे निर्दिष्ट किया है। फिर शुभमे अटकनेसे डरनेकी ऐसी कौनसी बात है जिसकी चिन्ता कानजी महाराजको सताती है ? खासकर उस हालतमे जबकि वे नियतिवादके सिद्धान्तको मान रहे हैं और यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय जिस क्रमसे जिस समय होनेकी है वह उस क्रमसे उसी समय होगी उसमें किसी भी निमित्तसे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमे शुभभावोको अधर्म बतलाकर उनको मिटाने अथवा छुडानेका उपदेश देना भी व्यर्थका प्रयास जान पडता है। ऐसा करके वे उलटा अशुभ-राग-द्वेषादि-

की प्रवृत्तिका मार्ग साफ कर रहे हैं, क्यो कि शुद्धभाव छद्मस्थावस्थामे सदा स्थिर नही रहता, कुछ क्षणमे उसके समाप्त होते ही दूसरा भाव आएगा। वह भाव यदि धर्मकी मान्यताके निकल जानेसे शुभ नही होगा तो लोगोकी अनादिकालीन कुसस्कारोके वश अशुभमे ही प्रवृत्त होना पडेगा।

अब यहाँ एक प्रश्न और पैदा होता है वह यह कि जब कानजी महाराज पूजादिके शुभ रागको धर्म नही मानते तब वे मन्दिर, मूर्तियो तथा मानस्तम्भादिके निर्माणमें और उनकी पूजा-प्रतिष्ठाके विधानमे योग क्यो देते हैं ? क्या उनका यह योगदान उन कार्योंको अधर्म एव अहितकर मानते हुए किसी मजबूरीके वशवर्ती है ? या तमाशा देखने-दिखलानेकी किसी भावनाको साथमे लिये हुए हैं ? अथवा लोक-सग्रहकी भावनासे लोगोको अपनी ओर आकर्षित करके उनमे अपने किसी मत-विशेषके प्रचार करनेकी दृष्टिसे प्रेरित है ? यह सब एक समस्या है, जिसका उनके द्वारा शीघ्र ही हल होनेकी बडी जरूरत है, जिससे उनकी कथनी और करनीमे जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके।

उपसंहार और चेतावनी

कानजी महाराजके प्रवचन बराबर एकान्तकी ओर ढले चले जा रहे हैं और इससे अनेक विद्वानोका आपके विषयमें अब यह खयाल हो चला है कि आप वास्तवमे कुन्दकुन्दाचार्यको नही मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान् जैन आचार्यों को ही वस्तुत. मान्य करते हैं, क्योकि उनमेसे कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनोमेसे किसी एक ही नयके एकान्त-पक्षपाती नही हुए हैं, बल्कि दोनो नयोको परस्पर साक्षेप,

अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए, एक दूसरेके मित्र-रूपमे मानते तथा प्रतिपादन करते आये हैं, जब कि कानजी महाराजकी नीति कुछ दूसरी ही जान पडती है। वे अपने प्रवचनोमे निश्चय अथवा द्रव्यार्थिकनयके इतने एकान्त पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नयके वक्तव्यका विरोध तक कर बैठते हैं—उसे शत्रुके वक्तव्य-रूपमें चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहनेके लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तताको लक्षित कराता है और उन्हे श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योके उपासकोकी कोटिसे निकाल कर अलग करता है अथवा उनके वैसा होनेमे सन्देह उत्पन्न करता है। और इसीलिए उनका अपनी कार्य-सिद्धिके लिए कुन्दकुन्दादिकी दुहाई देना प्राय वैसा ही समझा जाने लगा है जैसा कि काग्रेस सरकार गाँधीजीके विषयमे कर रही है—वह जगह-जगह गाँधीजी की दुहाई देकर और उनका नाम ले-लेकर अपना काम तो निकालती है परन्तु गाँधीजीके सिद्धान्तोको वस्तुत मान कर देती हुई नजर नही आती।

कानजी स्वामी और उनके अनुयायियोकी प्रवृत्तियोको देख-कर कुछ लोगोको यह भी आशका होने लगी है कि कही जैन-समाजमे यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नही जा रहा है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायोकी कुछ-कुछ ऊपरी बातोको लेकर तीनोके मूलमे ही कुठाराघात करेगा और उन्हे आध्यात्मिकताके एकान्त गर्तमे धकेल कर एकान्त-मिथ्यादृष्टि बनानेमे यत्नशील होगा, श्रावक तथा मुनिधर्मके रूपमे सच्चारित्र एव शुभ भावोका उत्थापन कर लोगोको केवल **'आत्मार्थी'** बनानेकी चेष्टामे सलग्न रहेगा, उसके द्वारा शुद्धात्मा-

के गीत तो गाये जायँगे, परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग पासमें न होनेसे लोग "इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा" की दशाको प्राप्त होगे, उन्हें अनाचारका डर नही रहेगा, वे समझेगे कि जव आत्मा एकान्तत अवद्धस्पृष्ट है—सर्व प्रकारके कर्म-वन्धनोसे रहित शुद्ध-बुद्ध है और उस पर वस्तुत किसी भी कर्मका कोई असर नही होता, तव वन्धनसे छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका यत्न भी कैसा ? और पापकर्म जव आत्माका कुछ भी विगाड नही कर सकते तव उनमे प्रवृत्त होनेका भय भी कैसा ? पाप और पुण्य दोनो समान, दोनो ही अधम, तव पुण्य जैसे कष्ट-साध्य कार्यमे कौन प्रवृत्त होना चाहेगा ? इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी समय पिछले तीनो सम्प्रदायोका हित-शत्रु बनकर भारी सघर्ष उत्पन्न करेगा और जैन-समाजको वह हानि पहुँचाएगा जो अब तक तीनो सम्प्रदायोके सघर्ष-द्वारा नही पहुँच सकी है, क्योकि तीनोमे प्राय कुछ ऊपरी बातोमें ही सघर्ष है—भीतरी सिद्धान्तकी बातोमे नही। इस चौथे सम्प्रदायके द्वारा तो जिन-शासनका मूलरूप ही परिवर्तित हो जायगा—वह अनेकान्तके रूपमे न रह कर आध्यात्मिक एकान्तका रूप धारण करनेके लिये वाध्य होगा।

यदि यह आशका ठीक हुई तो नि सन्देह भारी चिन्ताका विषय है और इसलिए कानजी स्वामीको अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट कर देनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराजका ऐसा कोई अभिप्राय नही होगा जो उक्त चौथे जैन-सम्प्रदायके जन्मका कारण हो। परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायियोकी जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो गई हैं उनसे वैसी आशकाका होना अस्वाभाविक नही है और न भविष्यमें वैसे सम्प्रदायकी सृष्टिको ही

अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अत कानजी महाराजकी इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदायको जन्म देनेकी नही है, तो उन्हे अपने प्रवचनोके विषयमे बहुत ही सतर्क एव सावधान होनेकी जरूरत है—उन्हे केवल वचनो-द्वारा अपनी पोजीशनको स्पष्ट करनेकी ही जरूरत नही है, बल्कि व्यवहारादिके द्वारा ऐसा सुदृढ प्रयत्न करनेकी भी जरूरत है जिससे उनके निमित्तको पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्यमे खडा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदयमे जो आशंका उत्पन्न हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानोका विचार उनके विषयमें कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाय।

आशा है अपने एक प्रवचन-लेखके कुछ अशोपर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेख पर[1] कानजी महाराज सविशेषरूपसे ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और उसका सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एव प्रवचन-शैलीकी समुचित तब्दीलीके रूपमे शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।[2]

---

१ प्रस्तुत प्रवचन-लेखमे और भी बहुत सी बातें आपत्तिके योग्य हैं, जिन्हें इस समय छोडा गया है—नमूनेके तौर पर कुछ बातोंका ही यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है—जरूरत होनेपर फिर किसी समय उनपर विचार प्रस्तुत किया जा सकेगा।

२. अनेकान्त वर्ष १२, किरण ६,८ और वर्ष १३ कि०, १ नवम्बर १९५३, जनवरी और जुलाई १९५४।

हीराचन्दजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ : १६ :

प्राथमिक

'समयसारकी १५वी गाथा और श्रीकानजी स्वामी' नामक मेरे लेख[1]के तृतीय भाग[2]को लेकर बा० हीराचन्दजी बोहरा बी० ए०, विशारद अजमेरने 'श्री प० मुख्तार सा० से नम्र निवेदन' नामका एक लेख अनेकान्तमे प्रकाशनार्थ भेजा है, जो उनकी इच्छानुसार अविकलरूपसे[3] अनेकान्त वर्ष १३ किरण ५ मे प्रकाशित किया गया है। लेखसे ऐसा मालूम होता है कि बोहराजीने मेरे पिछले दो लेखोको—लेखके पूर्ववर्ती दो भागोको—नही देखा या पूरा नही देखा, देखा होता तो वे मेरे समूचे लेखकी दृष्टिको अनुभव करते और तब उन्हे इस लेखके लिखनेकी जरूरत ही पैदा न होती। मेरा समग्र लेख प्राय जिनशासनके स्वरूप-विषयक विचारसे सम्बन्ध रखता है और

---

१ यह लेख इस निबन्धावलीमें 'कानजी स्वामी और जिनशासन' नामसे मुद्रित है।

२. 'क्या शुभभाव जैनधर्म नहीं ?'

३ अविकल रूपसे प्रकाशित करनेमें बोहराजीके लेखमें कितनी ही गलत उल्लेखादिके रूपमें ऐसी मोटी भूलें स्थान पा गई हैं जिन्हें अन्यथा (सम्पादित होकर प्रकाशनकी दशामें) स्थान न मिलता, जैसे 'क्या शुभ भाव जैनधर्म नहीं ?' इसके स्थान पर 'क्या शुभभाव धर्म नहीं ?' इसे लेखका उपशीर्षक बतलाना।

कानजीस्वामीके 'जिन-शासन' शीर्षक प्रवचन-लेखको लेकर लिखा गया है, जो 'आत्मधर्म' के अतिरिक्त 'अनेकान्त' वर्ष १२, सन् १९५३ की किरण ६ में भी प्रकाशित हुआ है। "जिनशासन-को जिनवाणीकी तरह जिनप्रवचन, जिनागम-शास्त्र, जिनमत, जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिनधर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग स्वामीजीने अपने प्रवचन-लेखमें जिनशासनके स्थानपर उसी तरह किया है जिस तरह कि 'जिनवाणी' और 'भगवानकी वाणी' जैसे शब्दोका किया है। इससे जिन-भगवानने अपनी दिव्य वाणीमे जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुए सूत्रो–शास्त्रोमें निवद्ध हे वह सव जिनशासनका-अग है, इसे खूव ध्यानमें रखना चाहिये।" ऐसी स्पष्ट सूचना भी मेरी ओरसे लेखके प्रथम भागमें की जा चुकी है, जो अनेकान्तकी उसी छठी किरणमे प्रकाशित हुआ है। और इस सूचनाके अनन्तर श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत समयसारके शब्दोमे यह भी वतलाया जा चुका है कि "एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नही है", जैसा कि कानजी स्वामी "जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है" इन शब्दो-द्वारा दोनोका एकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। शुद्धात्मा जिनशासनका एक विषय प्रसिद्ध है वह स्वय जिनशासन अथवा समग्र जिनशासन नही है। "जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं। अशुद्धात्मा भी उसका विषय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेष पाँच द्रव्य भी उसके अन्तर्गत हैं। वह सप्ततत्त्वो, नवपदार्थों, चौदह गुणस्थानो, चतुर्दशादि जीव-समासो, षट्पर्याप्तियो, दस प्राणो, चार सज्ञाओ, चौदह मार्गणाओ, द्विविध-चतुर्विध्यादि उपयोगो और नयो तथा

प्रमाणोकी भारी चर्चाओ एव प्ररूपणाओको आत्मसात् किये अथवा अपने अक (गोद) मे लिये हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुआ रत्नत्रयादि धर्मविधानो, कुमार्गमथनो और कर्मप्रकृतियोके कथनोपकथनसे भरपूर है। सक्षेपमे जिनशासन जिनवाणीका रूप है, जिसके द्वादश अग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिए हुए प्रसिद्ध हैं।" इस कथनकी पुष्टिमे समयसारकी जो गाथाएँ उद्धृत की जा चुकी हैं उनके नम्बर हैं—४६, ४८, ५६, ५६, ६०, ६७, ७०, १०७, १४१, १६१, १६२, १६३, १६१, १६८, २५१, २६२, २७३, ३५३, ४१४। इन गाथाओको उद्धृत करनेके वाद प्रथम लेखमे लिखा था —

"इन सव उद्धरणोसे तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने प्रवचन-सारमे जिनशासनके साररूपमे जिन-जिन वातोका उल्लेख अथवा समूचन किया है उन सवको देखनेसे यह बात विल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि 'एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नही है। जिन-शासन निश्चय और व्यवहार दोनो नयो तथा उपनयोके कथनको साथ-साथ लिये हुए ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप सारे अर्थसमूहको उसकी सव अवस्थाओ-सहित अपना विषय किये हुए हैं'।"

साथ ही यह भी वतलाया था कि "यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पांच विशेपण अवद्ध-स्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेप और असयुक्त कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होगे, और फिर यह स्पष्ट किया गया था कि जिनशासन उक्त विशेपणोंके रूपमे परिलक्षित नही होता। वे उसके साथ घटित नही होते अथवा सगत नही वैठते और इसलिए दोनोकी एकता वन नही सकती। इस स्पष्टीकरणमे

स्वामी समन्तभद्र, जिनसेन और अकलकदेव-जैसे महान् आचार्योंके कुछ वाक्योको भी उद्धृत किया गया था, जिनसे जिनशासनका बहुत कुछ मूल स्वरूप सामने आ जाता है, और फिर फलितार्थरूपमें विज्ञ पाठकोसे यह निवेदन किया गया था कि—

"स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अलकदेव जैसे महान् जैनाचार्योंके उपर्युक्त वाक्योमे जिनशासनकी विशेषताओ या उसके सविशेषरूपका ही पता नही चलता, बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूलस्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। परन्तु इस स्वरूप-कथनमे कही भी शुद्धात्माको जिनशासन नही बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई सज्जन उक्त महान् आचार्योंको, जो कि जिनशासनके स्तम्भस्वरूप माने जाते हैं, 'लौकिकजन' या 'अन्यमती' कहने लगे और यह भी कहने लगे कि 'उन्होने जिनशासनको जाना या समझा तक नही' तो विज्ञ पाठक उसे क्या कहेगे, किन शब्दोसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेंगे (इत्यादि)।"

कानजी स्वामीका उक्त प्रवचन-लेख जाने-अनजाने ऐसे महान् आचार्योंके प्रति वैसे शब्दोके सकेतको लिये हुए है, जो मुझे बहुत ही असह्य जान पड़े और इसलिए अपने पास समय न होते हुए भी मुझे उक्त लेख लिखनेके लिए विवश होना पडा, जिसकी सूचना भी प्रथम लेखमे निम्न शब्दो द्वारा की जा चुकी है-

"जिनशासनके रूपविषयमे जो कुछ कहा गया है वह बहुत ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पडता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्रायः एकान्तमिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिनशासनके स्वरूप-विषयमें लोगोको गुमराह करनेवाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तम्भोको

भी इसमे "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" जैसे शब्दो से याद किया है और प्रकारान्तरसे यहाँ तक कह डाला है कि उन्होने जिनशासनको ठीक समझा नही, यह सब असह्य जान पडता है। ऐसी स्थितिमें समयाभावके होते हुए भी मेरे लिये यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचन-लेख पर अपने विचार व्यक्त करूँ (इत्यादि)।"

कानजी स्वामीके व्यक्तित्वके प्रति मेरा कोई विरोध नही है, मैं उन्हे आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ, चुनाचे अपने लेखके दूसरे भागमे मैंने यह व्यक्त भी किया था कि—"आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा बहुमान है—आदर है और मैं आपके सत्सगको अच्छा समझता हूँ, परन्तु फिर भी सत्यके अनुरोधसे मुझे यह मानने तथा कहनेके लिये बाध्य होना पडता है कि आपके प्रवचन बहुधा एकान्तकी ओर ढले होते हैं—उनमे जाने-अनजाने वचनानयका दोष बना रहता है। जो वचन-व्यवहार समीचीन नय-विवक्षाको साथमे लेकर नही होता अथवा निरपेक्षनय या नयोका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त किया जाता है वह वचनानयके दोषसे दूषित कहलाता है।"

साथ ही यह भी प्रकट किया था कि—"श्री कानजी स्वामी अपने वचनोपर यदि कडा अकुश रक्खें, उन्हे निरपेक्ष-निश्चय-नयके एकान्तकी ओर ढलने न दे, उनमे निश्चय-व्यवहार दोनो नयोका समन्वय करते हुए उनके वक्तव्योका सामजस्य स्थापित करें, एक दूसरेके वक्तव्यको परस्पर उपकारी मित्रोके वक्तव्यकी तरह चित्रित करें—न कि स्व-परप्रणाशी-शत्रुओके वक्तव्यकी तरह—और साथ ही कुन्दकुन्दाचार्यके '**ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे**' इस वाक्यको खास तौरसे ध्यानमे रखते हुए

उन लोगोको जो कि अपरमभावमे स्थित हैं—वीतराग चारित्र-की सीमातक न पहुँचकर साधक-अवस्थामे स्थित हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन कर रहे हैं—व्यवहारनय के द्वारा उस व्यवहारधर्मका उपदेश दिया करें जिसे तरणोपायके रूपमे 'तीर्थ' कहा जाता है, तो उनके द्वारा जिनशासनकी अच्छी सेवा हो सकती है और जिनधर्मका प्रचार भी काफी हो सकता है। अन्यथा, एकान्तकी ओर ढल जानेसे तो जिनशासनका विरोध और तीर्थका लोप ही घटित होगा।''

इसके सिवा समयसारकी दो गाथाओ नं० २०१, २०२ को लेकर जब यह समस्या खडी हुई थी कि इन गाथाओके अनुसार जिसके परमाणुमात्रमे भी रागादिक विद्यमान हैं वह आत्मा अनात्मा (जीव-अजीव) को नही जानता और जो आत्मा अनात्माको नही जानता वह सम्यग्दृष्टि नही हो सकता। कानजी स्वामी चूँकि राग-रहित वीतराग नही और उनके उपदेशादि कार्य भी रागसहित पाये जाते हैं, तब क्या रागादिकके सद्भावके कारण यह कहना होगा कि वे आत्मा-अनात्माको नही जानते और इसलिए सम्यग्दृष्टि नही हैं ? इस समस्याको हल करते हुए मैंने लिखा था कि 'नहीं कहना चाहिए' और फिर स्वामी समन्तभद्रके एक वाक्यकी सहायतासे उन रागादिकको स्पष्ट करके बतलाया था जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथाओमे विवक्षित हैं—अर्थात् यह प्रकट किया था कि मिथ्यादृष्टिजीवोके मिथ्यात्वके उदयमे जो अहंकार-ममकारके परिणाम होते हैं उन परिणामोसे उत्पन्न रागादिक यहाँ विविक्षित हैं—जो कि मिथ्यात्वके कारण 'अज्ञानमय' होते एव समतामे बाधक पडते हैं। वे रागादिक यहाँ विवक्षित नही हैं जोकि एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमे चारित्र-

मोहके उदय-वश होते हैं और जो ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमे बाधक हैं और न समता—वीतरागताकी साधनामे ही बाधक होते हैं। और इस तरह कानजी स्वामीपर घटित होनेवाले आरोपका परिमार्जन किया था।

इन सब बातोसे तथा इस बातसे भी कि कानजीस्वामीके चित्रोको अनेकान्तमें गौरवके साथ प्रकाशित किया गया है यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कानजी स्वामीके व्यक्तित्वके प्रति अपनी कोई बुरी भावना नही, उनकी वाक्परिणति एव वचनपद्धति सदोष जान पडती है, उसीको सुधारने तथा गलतफहमीको न फैलने देनेके लिये ही सद्भावनापूर्वक उक्त लेख लिखनेका प्रयत्न किया गया था। उसी सद्भावनाको लेकर लेखके पिछले (तृतीय) भागमें इस बातको स्पष्ट करके बतलाते हुए कि 'श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योने पूजा-दान-व्रतादिरूप सदाचार (सम्यक्-चारित्र) को—तद्विषयक शुभभावोको—धर्म बतलाया है—जैनधर्म अथवा जिनशासनके अगरूपमे प्रतिपादन किया है। अतः उनका विरोध (उन्हे जिनशासनसे बाह्यकी वस्तु एव अधर्म प्रतिपादन करना) जिनशासनका विरोध है, उन महान् आचार्योका भी विरोध है और साथ ही अपनी उन धर्मप्रवृत्तियोके भी वह विरुद्ध पडता है जिनमे शुभभावोका प्राचुर्य पाया जाता है', कानजी स्वामीके सामने एक समस्या हल करनेके लिये रक्खी थी और उसके शीघ्र हल होनेकी जरूरत व्यक्त की गई थी, जिससे उनकी कथनी और करणीमें जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके। साथ ही, उन पर यह प्रकट किया था कि उन्होने जो ये शब्द कहे हैं कि "जो जीव पूजादिके शुभ-

रागको धर्म मानते हैं उन्हे 'लौकिक जन' और 'अन्यमती' कहा है" उनकी लपेट मे, जाने-अनजाने, श्री कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वामी, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दादि सभी महान् आचार्य आ जाते हैं, क्योकि उनमेसे किसीने भी शुभभावोका जैनधर्म(जिनशासन)मे निषेध नही किया है, प्रत्युत इसके अनेक प्रकार से उनका विधान किया है और इससे उनपर (कानजी स्वामीपर) यह आरोप आता है कि उन्होंने ऐसे चोटी-के महान् जैनाचार्योंको 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' कहकर अपराध किया है, जिसका उन्हे स्वय प्रायश्चित्त करना चाहिये।

इसके सिवा, उनपर यह भी प्रकट किया गया था "कि अनेक विद्वानोका आपके विषयमे अब यह मत हो चला है कि आप वास्तवमे कुन्दकुन्दाचार्यको नही मानते, और न स्वामी समन्तभद्र-जैसे दूसरे महान् जैन आचार्योको ही वस्तुतः मान्य करते हैं— यो ही उनके नामका उपयोग अपनी किसी कार्यसिद्धिके लिए उसी प्रकार कर रहे हैं जिस प्रकार कि सरकार अक्सर गाधीजी के नामका करती है और उनके सिद्धान्तोको मानकर नही देती, और इस तरह एक दूसरे बडे आरोपकी सूचना की गई थी। साथ ही अपने परिचयमे आए कुछ लोगोकी उस आशकाको भी व्यक्त किया गया था जो कानजी स्वामी और उसके अनुयायियोकी प्रवृत्तियोको देखकर लोकहृदयोमे उठने लगी हैं और उनके मुखसे ऐसे शब्द निकलने लगे हैं कि "कही जैन-समाजमे यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नही जा रहा है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायोकी कुछ-कुछ ऊपरी बातोको लेकर तीनोके मूलमे ही कुठाराघात करेगा" (इत्यादि)। और उसके बाद यह निवेदन किया गया था :—

"यदि यह आशका ठीक हुई तो नि सन्देह भारी चिन्ताका विषय है और इस लिए कानजी स्वामीको अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट कर देनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराजका ऐसा कोई अभिप्राय नही होगा जो उक्त चौथा जैन-सम्प्रदायके जन्मका कारण हो। परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायिओकी जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हो गई हैं उनसे वैसी आशकाका होना अस्वाभाविक नही है और न भविष्यमे वैसे सम्प्रदायकी सृष्टिको ही अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अत कानजी महाराजकी इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदायको जन्म देने की नही है, तो उन्हे अपने प्रवचनोके विषयमे बहुत ही सतर्क एव सावधान होने की जरूरत है—उन्हे केवल वचनो द्वारा ही अपनी पोजीशनको स्पष्ट करनेकी जरूरत नही है, बल्कि व्यवहारादिकके द्वारा भी ऐसा सुदृढ प्रयत्न करने की जरूरत है जिससे उनके निमित्तको पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्यमें खडा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदयमे जो आशका उत्पन्न हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानोका विचार उनके विषयमे कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाय। आशा है अपने एक प्रवचनके कुछ अशो पर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेखपर कानजी महाराज सविशेष रूपसे ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और उसका सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एव प्रवचन-शैली की समुचित तब्दीलीके रूपमे शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।"

मेरे इस निवेदन को पाँच महीनेका समय बीत गया, परन्तु खेद है कि अभीतक कानजी स्वामीकी ओरसे उनका कोई वक्तव्य मुझे देखनेको नही मिला, जिससे अन्य बातोको छोडकर कमसे

कम इतना तो मालूम पडता कि उन्होंने अपनी पोजीशनका क्या कुछ स्पष्टीकरण किया है, उस समस्याका क्या हल निकाला है जो उनके सामने रखी गई है, उन आरोपोका किस रूपमे परि-मार्जन किया है जो उनपर लगाये गये हैं, और लोकहृदयमे उठी एव मुँह पर आई हुई आशका को निर्मूल करनेके लिए क्या कुछ प्रयत्न किया है। मैं बरावर श्रीकानजी महाराजके उत्तर तथा वक्तव्यकी प्रतीक्षा करता रहा हूँ और एक दो बार श्री हीराचन्दजी वोहराको भी लिख चुका हूँ कि वे उन्हे प्रेरणा करके उनका वक्तव्यादि शीघ्र भिजवाएँ, जिससे लगे हाथो उस-पर भी विचार किया जाय और अपनेसे यदि कोई गलती हुई हो तो उसे सुधार दिया जाय, परन्तु अन्तमे वोहराजीके एक पत्रको पढकर मुझे निराश हो जाना पडा। जान पडता है कानजी स्वामी सब कुछ पी गये हैं—इतने गुरुतर आरोपोकी भी अवाछनीय उपेक्षा कर गये हैं—और कोई प्रत्युत्तर, स्पष्टीकरण या वक्तव्य देना नही चाहते। वे जिस पदमे स्थित हैं उसकी दृष्टिसे उनकी यह नीति बडी ही घातक जान पडती है। जब वे उपदेश देते हैं और उसमे दूसरोका खण्डन-मण्डन भी करते हैं तब मेरे उक्त लेखके विषयमे कुछ कहने अथवा अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिये उन्हे कौन रोक सकता था? वक्तव्य तो गलतियो-गलतफहमियोको दूर करने के लिये अथवा दूसरोंके समाधानकी दृष्टिसे बड़े-बडे मन्त्रियो, सेनानायको, राजेमहाराजो, राष्ट्रपतियो और धर्म-ध्वजियो तक को देने पडते हैं, तब एक ब्रह्मचारी श्रावकके पदमे स्थित कानजी स्वामीके लिये ऐसी कौन बात उसमे बाधक है, यह कुछ समझमे नही आता! वक्तव्य न देनेसे उल्टा उनके अहकारका द्योतन होता है और दूसरी भी कुछ कल्पनाओको अवसर मिलता है। अस्तु, उनका इस विषयमे

यह मौन कुछ अच्छा मालूम नही देता—उससे भविष्यमे हानि होनेकी भारी सभावना है। भविष्यमे यदि वैसा कोई चौथा सम्प्रदाय स्थापित होनेको हो तो स्वामीजीके शिष्य-प्रशिष्य कह सकते हैं कि यदि स्वामीजीको यह सम्प्रदाय इष्ट न होता तो वे पहले ही इसका विरोध करते जव उन्हे इसकी कुछ सूचना मिली थी, परन्तु वे उस समय मौन रहे हैं अतः 'मौन सम्मति-लक्षण' की नीतिके अनुसार वे इस चौथे सम्प्रदायकी स्थापनासे सहमत थे, ऐसा समझना चाहिये। साथ ही किसी विपयमे परस्पर मत-भेद होने पर उन्हे यह भी कहनेका अवसर मिल सकेगा कि स्वामीजी कुन्दकुन्दादि आचार्योंका गुणगान करते हुए भी उन्हे वस्तुत. जैनधर्मी नही मानते थे—'लौकिक जन' तथा 'अन्यमती' समझते थे, इसीसे जब उन महान आचार्योंको वैसा कहनेका आरोप लगाया गया था तो वे मौन हो रहे थे—उन्होने उसका कोई विरोध नही किया था।

ऐसी वर्तमान और सम्भाव्य वस्तु-स्थितिमे मेरे समूचे लेखकी दृष्टिको ध्यानमे रखते हुए यद्यपि श्रीवोहराजीके लिये प्रस्तुत लेख लिखने अथवा उसको छापनेका आग्रह करनेके लिए कोई माकूल वजह नही थी, फिर भी उन्होंने उसको लिखकर जल्दी अनेकान्तमे छापनेका जो आग्रह किया है वह एक प्रकारसे 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' की नीतिको चरितार्थ करता है।

लेखके शुरूमे कुछ शकाओको उठाकर मुझसे उनका समाधान चाहा गया है और फिर सबूतके रूपमे कतिपय प्रमाणोको—अप्टपाहुडके टीकाकार पं० जयचन्दजी और मोक्षमार्गके रचयिता प० टोडरमलजीके वाक्योको साथ ही कुछ कानजी स्वामीके वाक्योको भी—उपस्थित किया गया है, जिससे मैं शकाओका

समाधान करते हुए कही कुछ विचलित न हो जाऊँ; इस कृपाके लिए मैं श्री बोहराजीका आभारी हूँ। उनकी शकाओका समाधान आगे चल कर किया जायगा, यहाँ पहले उनके प्रमाणो पर एक दृष्टि डाल लेना और यह मालूम करना उचित जान पडता है कि वे कहाँ तक उनके अभिमत विषयके समर्थक होकर प्रमाण कोटिमे ग्रहण किये जा सकते हैं।

प्रमाण और उनकी जॉच

(१) श्रीकुन्दकुन्दके भावपाहुडकी ८३वी गाथाके प० जयचन्दजीकृत 'भावार्थ' को डबल इनवर्टेडकामाज" ··· " के भीतर इस ढगसे उद्धृत किया गया है जिससे यह मालूम होता है कि वह उक्त गाथाका पूरा भावार्थ है—उसमे कोई घटा-बढी नही हुई अथवा नही की गई है। परन्तु जाँचसे वस्तु-स्थिति कुछ दूसरी ही जान पडी। उद्धृत भावार्थका प्रारम्भ निम्न शब्दोमे होता है :—

"लौकिकजन तथा अन्यमती केई कहे हैं जो पूजा आदिक शुभ क्रिया तिनिविषै अर व्रतक्रियासहित है सो जिनधर्म है सो ऐसा नाही है। जिनमतमे जिनभगवान ऐसा कह्या है जो पूजादिक विषै अर व्रतसहित होय सो तो पुण्य है।"

इस अश पर दृष्टि डालते ही मुझे यहाँ धर्मका 'जिन' विशेषण अन्यमतीका कथन होनेसे कुछ खटका तथा असगत जान पडा, और इसलिये मैंने इस टीकाग्रन्थकी प्राचीन प्रतिको देखना चाहा। खोज करते समय दैवयोगसे देहलीके नये मन्दिरमे एक अति सुन्दर प्राचीन प्रति मिल गई जो टीकाके निर्माणसे सवा दो वर्षबाद (स० १८६६ पौष वदी २ को) लिखकर समाप्त हुई है। इस टीका-प्रतिसे बोहरा जीके उद्धरणका मिलान करते

समय स्पष्ट मालूम हो गया कि वहाँ धर्मके साथ 'जिन' या कोई दूसरा विशेषण लगा हुआ नही है। साथ ही यह भी पता चला कि मोह-क्षोभसे रहित आत्माके निज परिणामको धर्म बतलाते हुए भावार्थका जो अन्तिम भाग "तथा एकदेश मोहके क्षोभकी हानि होय है ताते शुभ परिणामकूँ भी उपचारसे धर्म कहिये है" इस वाक्य से प्रारम्भ होता है उसके पूर्वमे निम्न दो वाक्य छूट गये अथवा छोड दिए गये हैं :—

"ऐसे धर्मका स्वरूप कह्या है। अर शुभ परिणाम होय तब या धर्मकी प्राप्तिका भी अवसर होय है।"

इस भावार्थमे प० जयचन्दजीने दो दृष्टियोसे धर्मकी बातको रक्खा है—एक कुछ लौकिकजनो तथा अन्यमतियो के कथनकी दृष्टिसे और दूसरी जिनमत (जैनशासन) की अनेकातदृष्टिसे। अनेकान्तदृष्टिसे धर्म निश्चय और व्यवहार दोनो रूपसे स्थित है। व्यवहारके विना निश्चयधर्म बन नही सकता, इसी बातको प० जय-चन्दजी ने "अर शुभ परिणाम (भाव) होय तो या धर्मकी प्राप्ति-का भी अवसर होय है" इन शब्दोके द्वारा व्यक्त किया है। जब शुभ भावके बिना शुद्धभावरूप निश्चयधर्मकी प्राप्तिका अवसरही प्राप्ति नही हो सकता तब धर्मकी देशनामे शुभभावोको जिनशासनसे अलग कैसे किया जा सकता है और कैसे यह कहा जा सकता है कि शुभभाव जैनधर्म या जिनशासनका कोई अग नही, इसे साधारण पाठक भी सहज ही समझ सकते हैं।

इसके सिवा पं० जयचन्दजीने उक्त भावार्थमें यह कही भी नही लिखा और न उनके किसी वाक्यसे यह फलित होता है कि "जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हे 'लौकिक

जन' और 'अन्यमती' कहा है।'' लौकिकजन और अन्यमतीके इस लक्षणको यदि कोई भावार्थके उक्त प्रारम्भिक शब्दो परसे फलित करने लगे तो वह उसकी कोरी नासमझीका ही द्योतक होगा, क्योकि वहाँ 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' ये दोनो पद प्रथम तो लक्ष्यरूपमे प्रयुक्त नही हुए हैं दूसरे इनके साथ 'केई' विशेषण लगा हुआ है जिसके स्थान पर कानजी स्वामीके वाक्यमे 'कोई कोई' विशेषणका प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ है कि कुछ थोडे से लौकिकजन तथा अन्यमती ऐसा कहते हैं—सब नही कहते; तब जो नही कहते उनपर वह लक्षण उनके लौकिक जन तथा अन्यमती होते हुए भी कैसे घटित हो सकता है? नही हो सकता, और इसलिए कानजीस्वामीका उक्त लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित ठहरता है और चूँकि उसकी गति उन महान् पुरुषो तक भी पाई जाती है जिन्होने सरागचारित्र तथा शुभभावोको भी जैनधर्म तथा जिनशासनका अग बतलाया है और जो न तो लौकिकजन है और न अन्यमती, इसलिए उक्त लक्षण अतिव्याप्तिके कलकसे भी कलकित है? साथ ही उसमे 'धर्मके' स्थान पर 'जैनधर्म' का गलत प्रयोग किया गया है। अत उक्त 'भावार्थमे' 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' शब्दोके प्रयोगमात्रसे यह नही कहा जा सकता कि "जो वाक्य श्रीकानजी स्वामीने लिखे हैं वे इनके नही, अपितु श्री प० जयचदजीके हैं।" श्रीबोहराजीने यह अन्यथा वाक्य लिखकर जो कानजी स्वामीकी वकालत करनी चाही है और उन्हे गुरुतर आरोपसे मुक्त करनेकी चेष्टा की है यह वकालतकी अति है और उन जैसे विचारकोको शोभा नही देती। ऐसी स्थितिमें उक्त वाक्यके अनन्तर मेरे ऊपर जो निम्न शब्दोकी कृपावृष्टि की गई है उनका आभार किन शब्दोमे व्यक्त करूँ यह मुझे कुछ सूझ नही पड़ता—विज्ञ

पाठक तथा स्वय बोहराजी इस विषयमे मेरी असमर्थताको अनुभवकर सकेगे, ऐसी आशा है। वे शब्द इस प्रकार हैं—

"तो क्या मुख्तार सा० की दृष्टिमे श्री प० जयचन्द्रजी भी उन्ही विशेपणोके पात्र हैं जो पडितजीने इन्ही शब्दोंके कारण श्रीकानजी स्वामीके लिये खुले दिलसे प्रयोग किये हैं। यदि नही तो ऐसी भूलके लिए खेद शीघ्र प्रकट किया जाना चाहिए।"

हाँ, यहाँ पर मैं इतना जरूर कहूँगा कि श्रीकानजी स्वामी पर जो यह आरोप लगाया गया था कि उन्होने अपने उक्त वाक्य-द्वारा जाने-अनजाने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलकदेव और विद्यानन्दादि–जैसे महान् आचार्योंको 'लौकिकजन" और "अन्यमती" बतलाकर भारी अपराध किया है, जिसका उन्हे स्वय प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका श्रीबोहराजीके उक्त प्रमाणसे कोई परिमार्जन नही होता—वह ज्योका त्यो खडा रहता है, और इसलिए उनका यह प्रमाण कोई प्रमाण नही, किन्तु प्रमाणाभासकी कोटिमे स्थित है, जिससे कुछ भोले भाई ही ठगाये जा सकते हैं।

(२) प० टोडरमलजी-कृत मोक्षमार्गप्रकाशकके जो वाक्य प्रमाणरूपमे उपस्थित किए गए हैं वे प्राय सब अप्रासगिक असगत अथवा प्रकृत-विषयके साथ सम्बन्ध न रखनेवाले हैं, क्योकि वे द्रव्यलिंगी मुनियो तथा मिथ्यादृष्टि-जैनियोको लक्ष्य करके कहे गये हैं, जबकि प्रस्तुत पूजा-दान-व्रतादिरूप सराग-चारित्र एव शुभ-भावोका विपय सम्यक्चारित्रका अग होनेसे वैसे मुनियो तथा जैनियोसे सम्बन्ध नही रखता, वल्कि उन मुनियो तथा जैन-श्रावकोसे सम्बन्ध रखता है जो सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसीसे पचमादि-गुणस्थानवर्ति-जीवोके लिये उन पूजा-दान-व्रतादिका

सविशेष रूपसे विधान है। स्वामी समन्तभद्रने, सम्यक्चारित्रके वर्णनमें उन्हे योग्य स्थान देते हुए, उनकी दृष्टिको निम्न वाक्यके द्वारा पहले ही स्पष्ट कर दिया है —

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
राग-द्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

इसमें बतलाया है कि 'मोहान्धकाररूप अज्ञानमय मिथ्यात्वका अपहरण होनेपर—उपशम, क्षय या क्षयोपशमकी दशाको प्राप्त होनेपर—सम्यग्दर्शनकी—निर्विकार दृष्टिकी—प्राप्ति होती है, और उस दृष्टिकी प्राप्तिसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ जो साधुपुरुष है वह राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यक्चारित्रका अनुष्ठान करता है। इससे स्पष्ट है कि जिस चारित्रका उक्त-ग्रन्थमें आगे विधान किया जा रहा है वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान-पूर्वक होता है—उनके विना अथवा उनसे शून्य नही होता—और उसका लक्ष्य है राग-द्वेषकी निवृत्ति। अर्थात् राग-द्वेषकी निवृत्ति साध्य है और व्रतादिका आचरण, जिसमे पूजा-दान भी शामिल हैं, उसका साधन है। जब तक साध्यकी सिद्धि नही होती तब तक साधनको अलग नही किया जा सकता—उसकी उपादेयता बराबर बनी रहती है। सिद्धत्वकी प्राप्ति होनेपर साधनकी कोई आवश्यकता नही रहती और इस दृष्टिसे वह हेय ठहरता है। जैसे कोठेकी छतपर पहुँचनेपर यदि फिर उतरना न हो तो सीढी (नसेनी) बेकार हो जाती है अथवा अभिमत स्थानपर पहुँच जानेपर यदि फिर लौटना न हो तो मार्ग बेकार हो जाता है; परन्तु उससे पूर्व अथवा अन्यथा नही। कुछ लोग एकमात्र साधनोको ही साध्य समझ लेते हैं—असली साध्यकी ओर उनकी दृष्टि ही नही होती—ऐसे साधकोको लक्ष्य

करके भी प० टोडरमलजीने कुछ वाक्य कहे हैं, परन्तु वे लोग दृष्टिविकारके कारण चूँकि मिथ्यादृष्टि होते हैं अत उन्हे लक्ष्य करके कहे गये वाक्य भी अपने विषयसे सम्बन्ध नही रखते और इसलिये वे प्रमाण कोटिमे नही लिये जा सकते—उन्हे भी प्रमाणबाह्य अथवा प्रमाणाभास समझना चाहिये। और उनसे भी कुछ भोले भाई ही ठगाये जा सकते हैं—दृष्टिविकारसे रहित आगमके ज्ञाता व्युत्पन्न पुरुप नही।

प० टोडरमल्लजीके वाक्य जिन रागादिके सर्वथा निपेधको लिये हुए हैं वे प्राय वे रागादिक हैं जो दृष्टिविकारके शिकार हैं तथा जो समयसारकी उपर्युल्लिखित गाथा न० २०१, २०२ में विवक्षित हैं और जिनका स्पष्टीकरण स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनकी 'एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्' इत्यादि कारिकाके आधारपर पिछले लेखमें, कानजी-स्वामीपर आनेवाले एक आरोपका परिमार्जन करते हुए, प्रस्तुत किया गया था—वे रागादिक नही हैं जो कि एकान्तधर्माभिनिवे-शरूप मिथ्यादर्शनके अभावमे चारित्रमोहके उदयवश होते हैं और जो ज्ञानमय होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमे बाधक हैं और न समता-वीतरागताकी साधनामें ही बाधक होते हैं। इसीसे जिन-शासनमे सरागचारित्रकी उपादेयताको अगीकार किया गया है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है और वह यह कि जब सम्यक्चारित्रका लक्ष्य 'रागद्वेपकी निवृत्ति' है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, तब सरागचारित्र उसमे सहायक कैसे हो सकता है? वह तो रागसहित होनेके कारण लक्ष्यकी सिद्धिमे उल्टा बाधक पड़ेगा। परन्तु बात ऐसी नही है, इसके लिये 'कटको-न्मूलन' सिद्धान्तको लक्ष्यमे लेना चाहिये। जिस प्रकार पैरमे चुभे

हुए और भारी वेदना उत्पन्न करनेवाले काँटेको हाथमे दूसरा अल्पवेदनाकारक एव अपने कन्ट्रोलमे रहनेवाला काँटा लेकर और उसे पैरमें चुभाकर उसके सहारेसे निकाला जाता है उसी प्रकार अल्पहानिकारक एक शत्रुको उपकारादिके द्वारा अपनाकर उसके सहारेसे दूसरे महाहानिकारक प्रबल शत्रुका उन्मूलन (विनाश) किया जाता है। राग-द्वेष और मोह ये तीनो ही आत्माके शत्रु हैं, जिनमे राग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकार है और अपने स्वामियो सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिके भेदसे और भी भेदरूप हो जाता है। सम्यग्दृष्टिका राग पूजा-दान-व्रतादिरूप शुभ भावोके जालमे बँधा हुआ है और इससे वह अल्पहानिकारक शत्रुके रूपमे स्थित है, उसे प्रेमपूर्वक अपनानेसे अशुभराग तथा द्वेप और मोहका सम्पर्क छूट जाता है, उनका सम्पर्क छूटनेसे आत्माका बल बढता है और तब सम्यग्दृष्टि उस शुभरागका भी त्याग करनेमे समर्थ हो जाता है और उसे वह उसी प्रकार त्याग देता है जिस प्रकार कि पैरका काँटा निकल जाने पर हाथके काँटेको त्याग दिया जाता अथवा इस आशकासे दूर फेंक दिया जाता है कि कही कालान्तरमे वह भी पैरमे न चुभ जाय, क्योंकि उस शुभरागसे उसका प्रेम कार्यार्थी होता है, वह वस्तुत उसे अपना सगा अथवा मित्र नही मानता और इसलिए कार्य होजाने-पर उसे अपनेसे दूर कर देना ही श्रेयकर समझता है। प्रत्युत इसके, मिथ्यादृष्टिके रागकी दशा दूसरी होती है, वह उसे शत्रुके रूपमे न देखकर मित्रके रूपमे देखता है, उससे कार्यार्थी प्रेम न करके सच्चा प्रेम करने लगता है और इसी भ्रमके कारण उसे दूर करनेमे समर्थ नही होता। यही सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिके शुभरागमे परस्पर अन्तर है—एक रागद्वेषको निवृत्ति

अथवा बन्धनसे मुक्तिमे सहायक है तो दूसरा उसमें बाधक है। इसी दृष्टिको लेकर सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको मोक्षमार्गमे परिगणित किया गया है और उसे वीतरागचारित्रका एक साधन माना गया है।

जो लोग एकमात्र वीतराग अथवा यथाख्यातचारित्रको ही सम्यक्चारित्र मानते हैं उनकी दशा उस मनुष्य-जैसी है जो एकमात्र ऊपरके डडेको ही सीढी अथवा भूमिके उस निकटतम भागको ही मार्ग समझता है जिससे अगला कदम कोठेकी छतपर अथवा अभिमत स्थानपर पडता है, और इस तरह बीचका मार्ग कट जानेसे जिस प्रकार वह मनुष्य ऊपरके डडे या कोठेकी छतपर नही पहुँच सकता और न निकटतम अभिमत स्थानको ही प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार वे लोग भी न तो यथाख्यात-चारित्रको ही प्राप्त होते हैं और न मुक्तिको ही प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे लोग वास्तवमे जिनशासनको जानने-समझने और उसके अनुकूल आचरण करनेवाले नही कहे जा सकते, बल्कि उसके दूपक विघातक एव लोपक ठहरते हैं, क्योकि जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनो मूलनयोके कथनको साथ लेकर चलता है और किसी एक ही नयके वक्तव्यका एकान्त पक्षपाती नही होता। प० टोडरमलजीने दोनो नयोकी दृष्टिको साथमें रक्खा है और इसलिए किसी शब्दछलके द्वारा उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। हाँ, जहाँ कही वे चूके हो वहाँ श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंके वचनोसे ही उसका समाधान हो सकता है। प० टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशकके ७वें अधिकार-मे ही यह साफ लिखा है कि—

"सो महाव्रतादि भए ही वीतरागचारित्र हो है ऐसा सम्बन्ध

जानि महाव्रतादिविषै चारित्रका उपचार (व्यवहार) किया है।"

"शुभोपयोग भए शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) होय जाय बहुरि जो शुभोपयोगही को भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे होय।"

इन वाक्योमे वीतरागचारित्रके लिए महाव्रतादिके पूर्व अनुष्ठानका और शुद्धोपयोगके लिए शुभोपयोग रूप पूर्वपरिणति-के महत्वको ख्यापित किया गया है।

ऐसी स्थितिमे जिस प्रयोजनको लेकर पं० टोडरमलजीके जिन वाक्योको उद्धृत किया गया है उनसे उसकी सिद्धि नही होती।

यहाँ पर मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि श्री बोहराजीने प० टोडरमल्लजीके वाक्योको भी डबल इन्वर्टेड कामाज़ "—" के भीतर रक्खा है और वैसा करके यह सूचित किया तथा विश्वास दिलाया है कि वह उनके वाक्योका पूरा रूप है—उसमे कोई पद-वाक्य छोडा या घटाया-बढाया गया नही है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी मालूम नही होती—वाक्योंके उद्धृत करनेमे घटा-बढी की गई है जिसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। बोहराजी का वह उद्धरण, जो मिश्र-भावोंके वर्णनसे सबध रखता है, निम्न प्रकार है:—

"जे अंश वीतराग भए तिनकरि सवर ही है—अर जे अश सराग रहे तिनकरि पुण्यबन्ध है—एकप्रशस्त रागहीतै पुण्यास्रव भी मानना और सवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। सम्यग्दृष्टि अवशेष सरागताको हेय श्रद्धहै है, मिथ्यादृष्टि सरागभावविषै सवरका भ्रम करि प्रशस्तराग रूप कर्मनिको उपादेय श्रद्धहै है।"

इस उद्धरणका रूप प० टोडरमल्लजीकी स्वहस्तलिखित

प्रति परसे सशोधितकर छपाये गये सस्ती ग्रन्थमालाके सस्करणमें निम्न प्रकार दिया है :—

"जे अश वीतराग भए तिनकरि सवर है अर जे अश सराग रहे तिनकरि बध है। सो एक भावतै तौ दोयकार्य बनै परन्तु एक प्रशस्त रागहीतै पुण्यास्रव भी मानना और सवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव विषै भी यह सरागता है, यह वीतरागता है ऐसी पहचानि सम्यग्दृष्टि हीके होय तातै अवशेष सरागताको हेय श्रद्धहै है मिथ्यादृष्टिके ऐसी पहचानि नाही तातै सरागभाव विषै सवरका भ्रम करि प्रशस्तरागरूप कार्यनिकौं उपादेय श्रद्धहै है।"

श्रीबोहराजीके उद्धरणकी जब इस उद्धरणसे तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि उन्होने अपने उद्धरणमें उन पद-वाक्यो को छोड दिया है जिन्हे यहाँ रेखाङ्कित किया गया है और जो सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिकी वैसी श्रद्धाके सम्बन्धमें हेतुके उल्लेखको लिये हुए हैं। उनमेंसे द्वितीय तथा तृतीय रेखाङ्कित वाक्योके स्थान पर क्रमश 'सम्यग्दृष्टि' तथा 'मिथ्यादृष्टि' पदोका प्रयोग किया गया है और उद्धरणकी पहली पक्तिमे 'सवर है' के आगे 'ही' और दूसरी पक्तिमें 'बन्ध' के पूर्व 'पुण्य' शब्दको बढाया गया है। और इस तरह दूसरेके वाक्योमे मनमानी काट-छाँट कर उन्हे असली वाक्योके रूपमे प्रस्तुत किया गया है, जो कि एक बडे ही खेदका विषय है। जो लोग जिज्ञासुकी दृष्टिसे इधर तो अपनी शकाओका समाधान चाहे अथवा वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय करनेके इच्छुक बनें और उधर जान-बूझकर प्रमाणोको गलत रूपमे प्रस्तुत करें, यह उनके लिए शोभास्पद नही है। इससे तो यह जिज्ञासा तथा निर्णयबुद्धिकी कोई बात नही रहती,

बल्कि एक विषयकी अनुचित वकालत ठहरती है, जिसमे झूठे-सच्चे जाली और बनावटी सब साधनोसे काम लिया जाता है।

कानजीस्वामीके वाक्य

(३) श्री बोहराजीने कानजीस्वामीके कुछ वाक्योको भी (आत्मधर्म वर्ष ७ के ४ थे अकसे) प्रमाणरूपमे उपस्थित किया है और अपने इस उपस्थितीकरणका यह हेतु दिया है कि इससे मेरी तथा मेरे समान अन्य विद्वानोकी धारणा कानजीस्वामीके सम्बन्धमे ठीक तौरपर हो सकेगी। अत मैंने आपकी प्रेरणाको पाकर आपके द्वारा उद्धृत कानजीस्वामीके वाक्योको कई बार ध्यानसे पढा, परन्तु खेद है कि वे मेरी धारणाको बदलनेमे कुछ भी सहायक नही हो सके। प्रत्युत इसके, वे भी प्राय असगत और प्रकृत-विषयके साथ असम्बद्ध जान पडे। इन वाक्योको भी श्रीबोहराजीने डबल इन्वर्टेड कामाज "——" के भीतर रक्खा है और वैसा करके यह सूचित किया तथा विश्वास दिलाया है कि वह कानजीस्वामीके उन वाक्योका पूरा रूप है जो आत्मधर्मके उक्त अकमे पृष्ठ १४१-१४२ पर मुद्रित हुए हैं—उसमे कोई घटा-बढी नही की गई है। परन्तु जाँचनेसे यहाँ भी वस्तुस्थिति अन्यथा पाई गई, अर्थात् यह मालूम हुआ कि कानजीस्वामीके वाक्योको भी कुछ काट-छाँट कर रक्खा गया है—कही 'तो' शब्दको निकाला तो कही 'भी', 'ही' तथा 'और' शब्दोको अलग किया, कही शब्दोंको आगे-पीछे किया तो कही कुछ शब्दोको बदल दिया, कही डैश (—) को हटाया तो कही उसे बढाया, इस तरह एक पेजके उद्धरणमे १५-१६ जगह काट-छाँटकी कलम लगाई गई। हो सकता है कि काट-छाँटका यह कार्य कानजीस्वामीके साहित्यको कुछ सुधारकर रखनेकी

दृष्टिसे किया गया हो, जब कि वैसा करनेका लेखकजीको कोई अधिकार नही था, क्योकि उससे उद्धरणकी प्रामाणिकताको बाधा पहुँचती है। कुछ भी हो, इस काट-छाँटके चक्करमे पड कर उद्धरणका अन्तिम वाक्य सुधारकी जगह उलटा विकारग्रस्त हो गया है, जिसका उद्धृत रूप इस प्रकार है :—

"जीवको पापसे छुडा कर मात्र पुण्यमे नही लगा देना है किन्तु पाप और पुण्य इन दोनोसे रहित धर्म—उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।"

जब कि कानजीस्वामीके उक्त लेखमे वह निम्न प्रकारसे पाया जाता है :—

"जीवको पापसे छुडा कर मात्र पुण्यमे नही लगा देना है, किन्तु पाप और पुण्य दोनोसे रहित ज्ञायकस्वभाव बतलाना है। इसलिये पुण्य-पाप और उन दोनोसे रहित धर्म,—उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।"

इस वाक्यसे रेखाङ्कित शब्दोके निकल जानेके कारण बोहराजीके द्वारा उद्धृत वाक्य कितना बेढगा बन गया है, इसे बतलानेकी जरूरत नही रहती। अस्तु, अब मैं कानजीस्वामीके वाक्योपर एक नजर डालता हुआ यह बतलाना चाहता हूँ कि प्रकृत-विषयके साथ वे कहाँ तक सगत हैं और कानजीस्वामीकी ऐसी कौनसी नई एव समीचीन-विचारधाराको उनके द्वारा सामने लाया गया है जो कि विद्वानोकी धारणाको उनके सम्बन्धमें बदलनेके लिये समर्थ हो सके।

अपना प्रकृत-विषय जिनशासन अथवा जैनधर्मके स्वरूपका और उसमे यह देखनेका है कि पूजा-दान व्रतादिके शुभभावोको अथवा सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको वहाँ धर्मरूपसे कोई स्थान

प्राप्त है या कि नही। श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंके ऐसे वाक्योको प्रमाण में उपस्थित किया गया था जो साफ तौरपर पूजा-दान-व्रतादिके भावो एव सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको 'धर्म' प्रतिपादन कर रहे हैं, उन पर तो श्री बोहराजीने दृष्टि नही डाली अथवा उन्हे यो ही नजरसे ओझल कर दिया—और कानजीस्वामीके ऐसे वाक्योको उद्धृत करने बैठे हैं जिनसे उनकी कोई सफाई भी नही होती। और इससे मालूम होता है कि आप उक्त महान् आचार्योंके वाक्योपर कानजीस्वामीके वाक्योको बिना किसी हेतुके ही महत्व देना चाहते हैं। यह श्रद्धा-भक्तिकी अति है 'और ऐसी ही भक्तिके वश कुछ भक्तजन यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'भगवान् महावीरके बाद एक कानजीस्वामी ही धर्मकी सच्ची देशना करनेवाले पैदा हुए हैं, ऐसा सुना जाता है, मालूम नही यह कहाँ तक ठीक है। यदि ठीक है तो ऐसे भक्तजन, उत्तरवर्ती केवलियो श्रुतकेवलियो तथा दूसरे ऋद्धिधारी एव भावलिंगी महान् आचार्योंकी अवहेलनाके अपराधी हैं। अस्तु, कानजीस्वामीके जिन वाक्योको उद्धृत किया गया है वे पुण्य, पाप और धर्मके विवेकसे सम्बन्ध रखते हैं। उनमे वही एक राग अलापा गया है कि पुण्यकर्म किसी प्रकार धर्म नही होता, धर्मका साधन भी नही, बन्धन होनेसे मोक्षमार्गमे उसका निषेध है, पुण्य और पाप दोनोसे जो रहित है वह धर्म है। कानजीस्वामीने एक वाक्यमे व्यवहारसे पुण्यका निषेध न करनेकी बात तो कह दी, परन्तु उसे 'धर्म' कहकर या मानकर नही दिया, ऐसी एकान्त धारणा समाई है। जब कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, जिन्हे वे अपना आराध्य गुरुदेव बतलाते हैं, उसे धर्म भी प्रतिपादन करते हैं अर्थात् पूजादान-

व्रतादिके वैसे शुभ भावोको पुण्य और धर्म दोनो नामोसे उल्लेखित करते हैं, जिसका स्पष्टीकरण पहले उस लेखमें किया जा चुका है जिसके विरोधमे ही बोहराजीके प्रस्तुत विचारलेखका अवतार हुआ है और जिसे उनकी इच्छानुसार अनेकान्त वर्ष १३ की किरण ५मे प्रकाशित किया जा चुका है। वह वाक्य इस प्रकार है —

"पुण्य बधन है इसलिये मोक्षमार्गमे उसका निषेध है—यह बात ठीक है, किन्तु व्यवहारसे भी उसका निषेध करके पापमार्ग प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विषके समान है, अकेले पापसे तो नरक निगोदमे जायेगा।"

यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि इस वाक्यमें जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है वह प्रतिपाद्य वस्तु कानजी स्वामीकी अपनी निजी है या किसी अन्य मत से ली गई है अथवा जिन-शासनका अग होनेसे जैनधर्मके अन्तर्गत है ? यदि यह कहा जाय कि वह कानजीस्वामीकी अपनी निजी वस्तु है तो एक तो उसका यहाँ विचारमें प्रस्तुत करना असगत है, क्योकि प्रस्तुत विचार जिनशासनके विषयसे सम्बन्ध रखता है, न कि कानजीस्वामीकी किसी निजी मान्यतासे। दूसरे, कानजीस्वामीके सर्वज्ञादिरूप कोई विशिष्ट ज्ञानी न होनेसे उनके द्वारा नरक-निगोदमें जानेके फतवेकी बात भी साथमें कुछ बनती नही—निराधार ठहरती है। तीसरे, पुण्यरूप विकारकार्य इस तरह करने योग्य हो जाता है और कानजीस्वामीका यह कहना है कि "विकारका कार्य करने योग्य है—ऐसा माननेवाला जीव विकारको नही हटा सकता।" तब फिर ऐसे विकार-कार्यका विधान क्यो, जिससे कभी छुटकारा न हो सके ? यह उनके विरुद्ध एक नई आपत्ति खडी

होती है। यदि उसे अन्यमतकी वस्तु बतलाया जाय तो भी यह उसका प्रस्तुतीकरण असगत है, साथ ही जैनधर्म एव जिन-शासनसे बाह्य ऐसी वस्तुके प्रतिपादनका उन पर आरोप आता है जिसे वे मिथ्या और अभूतार्थ समझते हैं।' और यदि यह कहा जाय कि वह जिनशासनकी ही प्रतिपाद्य वस्तु है तो फिर कानजी-स्वामीके द्वारा यह कहना कैसे सगत हो सकता है कि पूजा-दान-व्रतादिके रूपमे शुभभाव जैनधर्म नही है?—दोनो बातें परस्पर विरुद्ध पडती हैं। इसके सिवाय, कानजी स्वामीका मोक्षमार्गमें पुण्यका निषेध बतलाना और उसे धर्मका साधन भी न मानना जैनागमोके विरुद्ध जाता है, क्योंकि जैनागमोमे मोक्षके उपाय अथवा साधन-रूपमे उसका विधान पाया जाता है, जिसके दो नमूने यहाँ दिये जाते हैं —

(क) असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य.।
सविपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

इसमे श्री अमृतचन्द्राचार्यने बतलाया है कि 'रत्नत्रयकी विकलरूपसे (एक देश या आशिक) आराधना करनेवालेके जो शुभभावजन्य पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह मोक्षकी साधनामें सहायक होनेसे मोक्षोपाय (मोक्षमार्ग) के रूपमे ही परिगणित है, बन्धनोपायके रूपमे नही।'

श्री अमृतचन्द्राचार्य-जैसे परम आध्यात्मिक विद्वान् भी जब सम्यग्दृष्टिके पुण्य-बन्धक शुभभावोको मोक्षोपायके रूपमें मानते तथा प्रतिपादन करते हैं तब कानजीस्वामीका वैसा माननेसे इनकार करना और यह प्रतिपादन करना कि 'जो कोई शुभभा-वमय पुण्य कर्मको धर्मका साधन माने उसके भी भवचक्र कम

नही होगे' उनकी आध्यात्मिक एकान्तताका यदि सूचक समझा जाय तो शायद कुछ भी अनुचित नही होगा ।

(ख) मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः ।
तत्राऽऽद्य साध्यरूप स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥
—तत्त्वानुशासन

इसमें श्रीरामसेनाचार्यने यह निर्दिष्ट किया है कि मोक्ष-मार्ग दो भेदोमे विभक्त है—एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार-मोक्षमार्ग । निश्चय-मोक्षमार्ग साध्यरूपमें स्थित है और व्यवहार-मोक्षमार्ग उसका साधन है । साधन साध्यका विरोधी नही होता, दोनोमे परस्पर अविनाभाव-सबध रहता है और इसलिये एकको दूसरेसे अलग नही किया जा सकता । ऐसी स्थितिमे निश्चय-मोक्षमार्ग यदि जिनशासनका अग है तो व्यवहार-मोक्षमार्ग भी उसीका अग है, और इसलिए जिनशासनका यह लक्षण नही किया जा सकता कि 'जो शुद्धआत्मा वह जिनशासन है' और न यही कहा जा सकता कि 'पूजा-दान व्रतादिके शुभभाव जैनधर्म नही हैं ।' ऐसा विधान और प्रतिपादन दृष्टि-विकारको लिये हुए एकान्तका द्योतक है, क्योकि व्यवहार-मोक्षमार्गमे जिस सम्यक्चारित्रका ग्रहण है वह अशुभसे निवृत्ति और शुभमे प्रवृत्तिको लिये हुए प्राय अहिसादि-व्रतो, ईर्यादि-समितियो और सम्यग्योग-निग्रह-लक्षण-गुप्तियोके रूपमें होता है[1], जैसा कि द्रव्यसग्रहकी निम्न गाथासे जाना जाता है —

१. इस सम्यक्चारित्रको 'सरागचारित्र' भी कहते हैं और यह निश्चय मोक्षमार्गमें परिगृहीत 'वीतरागचारित्र' का उसी प्रकार साधन है जिस प्रकार कॉटेको कॉटेसे निकाला जाता अथवा विषको विषसे मारा जाता है । सरागचारित्रकी भूमिकामें पहुँचे विना वीतरागचारित्र तक कोई पहुँच भी

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं व्यवहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

इस गाथामे स्पष्ट रूपसे यह भी बतलाया गया है कि चारित्रका यह स्वरूप व्यवहारनयकी दृष्टिसे जिनेंद्र भगवानने कहा है; जब जिनेन्द्रका कहा हुआ है तब जिनशासनसे उसे अलग कैसे किया जा सकता है ? अतः कानजी स्वामीके ऐसे वचनोको प्रमाणमे उद्धृत करनेसे क्या नतीजा, जो जिनशासनकी दृष्टिसे बाह्य एकान्तके पोषक हैं अथवा अनेकान्ताभासके रूपमे स्थित हैं और साथ ही कानजीस्वामीपर घटित होनेवाले आरोपोकी कोई सफाई नही करते ।

एक प्रश्न

कानजीस्वामीके वाक्योको उद्धृत करनेके अनन्तर श्रीबोहरा-जीने मुझसे पूछा है कि "आत्मा एकान्तत अबद्धस्पृष्ट है" यह वाक्य कानजीस्वामीके कौनसे प्रवचन या साहित्यमे मैंने देखा है। परन्तु यह बतलानेकी कृपा नही की कि मैंने अपने लेखमे किस स्थान पर यह लिखा है कि कानजीस्वामीने उक्त वाक्य कहा है, जिससे मेरे साथ उक्त प्रश्नका सम्बन्ध ठीक घटित होता। मैंने वैसा कुछ भी नही लिखा, जो कुछ लिखा है वह लोगोकी आशकाका उल्लेख करते हुए उनकी समझके रूपमे लिखा है, जैसा कि लेखके निम्न शब्दोसे प्रकट है :—

नहीं सकता। वीतरागचारित्र यदि मोक्षका साक्षात् साधक है तो सराग-चारित्र परम्परा साधक है, जैसा कि द्रव्यसग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है :—

"स्वशुद्धात्मानुभूतिरूप-शुद्धोपयोगलक्षण वीतरागचारित्रस्य पारम्पर्येण साधक सरागचारित्रम् ।"

"शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग पासमे न होनेसे लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टा' की दशाको प्राप्त होगे, उन्हे अनाचारका डर नही रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्तत' अवद्धस्पृष्ट है—सर्व प्रकारके कर्मवन्धनोसे रहित शुद्ध-वुद्ध है—और उस पर वस्तुत. किसी भी कर्मका कोई असर नही होता, तव वन्धनसे छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका यत्न भी कैसा ?" इत्यादि ।

ये शब्द कानजीस्वामीके किसी वाक्यके उद्धरणको लिये हुए नही है, इतना स्पष्ट है, और इनमे आध्यात्मिक एकान्तताके शिकार मिथ्यादृष्टि लोगोकी जिस समझका उल्लेख है वह कानजीस्वामी तथा उनके अनुयायियोकी प्रवृत्तियोको देखकर फलित होनेवाली है ऐसा उक्त शब्दवाक्योके पूर्वसम्बन्धसे जाना जाता है—न कि एकमात्र कानजीस्वामीके किसी वाक्यविशेपसे अपनी उत्पत्तिको लिये हुए है । ऐसी स्थितिमे उक्त शब्दावलीमे प्रयुक्त "आत्मा एकान्तत अवद्धस्पृष्ट है" इस वाक्यको मेरे द्वारा कानजीस्वामीका कहा हुआ वतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त एव सगत नही कहा जा सकता—वह उक्त शब्दविन्यासको ठीक न समझ सकनेके कारण किया गया मिथ्या आरोप है ।

इसके सिवाय, यदि कोई दूसरा जन कानजीस्वामीके सबधमे अपनी समझको उक्त वाक्यके रूपमें चरितार्थ करे तो वह कोई अद्‌भुत या अनहोनी बात भी नही होगी, जिसके लिये किसीको आश्चर्यचकित होकर यह कहना पडे कि हमारे देखने-सुननेमे तो वैसी बात आई नही, क्योंकि कानजी महाराज जव सम्यग्दृष्टिके शुभभावो तथा तज्जन्य पुण्यकर्मोंको मोक्षोपायके रूपमे नही मानते —मोक्षमार्गमे उनका निपेध करते हैं— तब वे आध्यात्मिक एकान्तकी ओर पूरी तौरसे ढले हुए है ऐसी कल्पना करने और

तदनुकूल कहनेमे किसीको क्या सकोच हो सकता है ? शुद्ध या निश्चयनयके एकान्तसे आत्मा अबद्धस्पृष्ट है ही। परन्तु वह सर्वथा अबद्धस्पृष्ट नही है, और यह वही कह सकता है जो दूसरे व्यवहारनयको भी साथमे लेकर चलता है—उसके वक्तव्यको मित्रके वक्तव्यकी दृष्टिसे देखता है, शत्रुके वक्तव्यकी दृष्टिसे नही, और इसलिये उसका विरोध नही करता। जहाँ कोई एक नयके वक्तव्यको ही लेकर दूसरे नयके वक्तव्यका विरोध करने लगता है वही वह एकान्तकी ओर चला जाता और उसमे ढल जाता है। कानजीस्वामीके ऐसे दूसरे भी अनेकानेक वाक्य हैं जो व्यवहारनयके वक्तव्यका विरोध करनेमे तुले हुए हैं, उनमेसे कुछ वाक्य उनके उसी 'जिनशासन' शीर्षक प्रवचन-लेखसे यहाँ उद्धृत किये जाते है, जिसके विषयमे मेरी लेखमाला प्रारम्भ हुई थी :-

१ "आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त देखना वह वास्तवमे जैनशासन नही, परन्तु कर्मके सम्बधसे रहित शुद्ध देखना वह जैनशासन है।"

२ "आत्माको कर्मके सम्बन्ध वाला और विकारी देखना वह जैनशासन नही है।"

३ "जैनशासनमे कथित आत्मा जब विकाररहित और कर्मसम्बन्धररित है तब फिर इस स्थूल शरीरके आकार वाला तो वह कहाँसे हो सकता है ?"

४ "वास्तवमे भगवानकी वाणी कैसा आत्मा बतलानेमें निमित्त है ?—अबद्धस्पृष्ट एक शुद्ध आत्माको भगवानकी वाणी बतलाती है, और जो ऐसे आत्माको समझता है वही जिनवाणीको यथार्थतया समझा।"

५. "बाह्यमे जड़ शरीरकी क्रियाको आत्मा करता है और

उसकी क्रियासे आत्माको धर्म होता है—ऐसा जो देखता है (मानता है) उसे तो जैनशासनकी गध भी नही है। तथा कर्मके कारण आत्माको विकार होता है या विकारभावसे आत्माको धर्म होता है—यह बात भी जैनशासनमे नही है।"

६ "आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह बाह्यमें शरीर आदिकी क्रिया नही करता, शरीरकी क्रियासे उसे धर्म नही होता, कर्म उसे विकार नही करता और न शुभ-अशुभ विकारी भावोसे उसे धर्म होता है। अपने शुद्ध विज्ञानघन स्वभावके आश्रयसे ही उसे वीतरागभावरूप धर्म होता है।"

इस प्रकारके स्पष्ट वाक्योकी मौजूदगी मे यदि कोई यह समझने लगे कि 'कानजीस्वामी आत्माको 'एकान्तत अबद्धस्पृष्ट' वतलाते हैं तो इसमे उसकी समझको क्या दोप दिया जा सकता है ? और कैसे उस समझका उल्लेख करनेवाले मेरे उक्त शब्दोको आपत्तिके योग्य ठहराया जा सकता है ? जिनमे आत्माके 'एकान्तत' अबद्धस्पृष्ट' का स्पष्टीकरण करते हुए डैश (—) के अनन्तर यह भी लिखा है कि वह "सर्व प्रकारके कर्मबन्धनोसे रहित शुद्धबुद्ध है और उस पर वस्तुत किसी भी कर्मका कोई असर नही होता।" कानजीस्वामी अपने उपर्युक्त वाक्योमे आत्माके साथ कर्मसम्बन्धका और कर्मके सम्बन्ध से आत्माके विकारी होने अथवा उस पर कोई असर पडनेका साफ निपेध कर रहे हैं और इस तरह आत्मामें आत्माकी विभावपरिणमनरूप वैभाविकी शक्तिका ही अभाव नही बतला रहे, बल्कि जिनशासनके उस सारे कथनका भी उत्थापन कर रहे और उसे मिथ्या ठहरा रहे हैं जो जीवात्माके विभाव परिणमनको प्रदर्शित करनेके लिए गुणस्थानो जीवसमासो और मार्गणाओ आदिकी प्ररूपणाओमें

ओत-प्रोत है और जिससे हजारो जैनग्रन्थ भरे हुए हैं। श्रीकुन्द-कुन्दाचार्य 'समयसार' तकमे आत्माके साथ कर्मके बन्धनकी चर्चाएँ करते हैं और एक जगह लिखते हैं कि 'जिस प्रकार जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं उसी प्रकार पुद्गलकर्मोका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है' और एक दूसरे स्थान पर ऐसा भाव व्यक्त करते हैं कि 'प्रकृतिके अर्थ चेतनात्मा उपजता विनशता है, प्रकृति भी चेतनके अर्थ उपजती विनशती है, इस तरह एक दूसरेके कारण दोनोका बन्ध होता है और इन दोनोके सयोगसे ही संसार उत्पन्न होता है। यथा —

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंते।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जोवो वि परिणमइ ॥८०॥"
"चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि य चेयट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णपच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥"

परन्तु कानजी महाराज अपने उक्त वाक्यो-द्वारा कर्मका आत्मा पर कोई असर ही नही मानते, आत्माको विकार और सम्बन्धसे रहित प्रतिपादित करते हैं और यह भी प्रतिपादित करते हैं कि भगवानकी वाणी अवद्धस्पृष्ट एक शुद्धात्माको बतलाती है (फलत. कर्मबन्धनसे युक्त अशुद्ध भी कोई आत्मा है इसका वह निर्देश ही नही करती)। साथ ही उनका यह भी विधान है कि आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह शरीरादिकी (मन-वचन-कायकी) कोई क्रिया नही करता—अर्थात् उनके परिणमनमें कोई निमित्त नही होता और न मन-वचन-कायकी क्रियासे उसे किसी प्रकार धर्मकी प्राप्ति ही होती है। यह सब जैन आगमो अथवा

महर्षियोंकी देशनाके विरुद्ध आत्माको एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट प्रति-
पादन करना नहीं तो और क्या है? आत्मा यदि सदा शुद्ध
विज्ञानघन है तो फिर संसार-पर्याय कैसे बनेगी? संसार-पर्यायके
अभावमें जीवोंके संसारी तथा मुक्त ये दो भेद नहीं बन सकेंगे,
संसारी जीवोंके अभावमें मोक्षमार्गका उपदेश किसे? अतः वह
भी न बन सकेगा और इस तरह सारे धर्मतीर्थके लोपका ही
प्रसंग उपस्थित होगा। और आत्मा यदि सदा शुद्ध विज्ञानघनके
रूपमें नहीं है तो फिर उसका शुद्ध विज्ञानघन होना किसी समय
का अन्तसमयकी बात ठहरेगा, उसके पूर्व उसे अशुद्ध तथा अज्ञानी
मानना होगा, ऐसा माननेपर उसकी अशुद्धि तथा अज्ञानताकी
अवस्थाओं और उनके कारणोंको बतलाना होगा। साथ ही, उन
उपायों-मार्गोंका भी निर्देश करना होगा जिनसे अशुद्धि आदि दूर
होकर उसे शुद्ध विज्ञानघनत्वकी प्राप्ति हो सकेगी, तभी आत्मद्रव्य-
को यथार्थरूपमें जाना जा सकेगा। आत्माका सच्चा तथा पूरा
बोध करानेके लिए जिनशासनमें यदि इन सब बातोंका वर्णन है
तो फिर एकमात्र शुद्ध आत्माको 'जिनशासन' नाम देना नहीं
बन सकेगा और न यह कहना ही बन सकेगा कि पूजादान-व्रता-
दिके राग भावों तथा व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप व्यवहारचारित्रको
जिनशासनमें कोई स्थान नहीं—वे मोक्षमार्गके रूपमें धर्मका
कोई अंग ही नहीं हैं। ऐसी हालत में कानजी महाराज पर
पंडित सोनीजीने आपत्तिके परिमार्जनमें जो प्रयत्न श्रीबोहराजी-
ने किया है वह समुचित प्रतीत नहीं होता।

शंका और समाधान

अब मैं बोहराजीकी शंकाओंको लेता हूँ, जो संख्यामें
११ हैं। शंकाओंके समर्थनमें प्रस्तुत किये गये प्रमाणोंका ऊपर

निरसन एव कदर्थन हो जानेपर जब वे प्रमाण-कोटिमे स्थिर नही रह सके—परीक्षाके द्वारा प्रमाणाभास करार दे दिये गये—तव उनके बलपर प्रतिष्ठित होनेवाली शंकाओमे यद्यपि कोई खास सत्त्व या दम नही रहता, विज्ञ पाठकोद्वारा ऊपरके विवेचनकी रोशनीमे उनका सहज ही समाधान हो जाता है, फिर भी चूँकि श्रीबोहराजीका अनुरोध है कि मैं उनकी शकाओका समाधान करके उसे भी अनेकान्तमें प्रकाशित कर दूँ और तदनुसार मैंने अपने इस उत्तर-लेखके प्रारम्भमे यह सूचित भी किया था कि "उनकी शंकाओंका समाधान आगे चलकर किया जायगा, यहाँ पहले उनके प्रमाणोपर एक दृष्टि डाल लेना और यह मालूम करना उचित जान पड़ता है कि वे कहाँ तक उनके अभिमत-विषयके समर्थक होकर प्रमाणकोटिमे ग्रहण किये जा सकते हैं।" अत· यहाँ बोहराजीकी प्रत्येक शकाको क्रमश उद्‌धृत करते हुए उसका यथावश्यक सक्षेपमे ही समाधान नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

शंका १—दान, पूजा, भक्ति, शील, सयम, महाव्रत, अणुव्रत आदिके परिणामोसे कर्मोंका आस्रव बन्ध होता है या सवर निर्जरा ?

समाधान—इन दान, पूजा और व्रतादिकके परिणामोका स्वामी जब सम्यग्दृष्टि होता है, जो कि मेरे लेखमें सर्वत्र विवक्षित रहा है, तब वे शुभ परिणाम अधिकाशमे सवर-निर्जराके हेतु होते हैं, आस्रवपूर्वक बन्धके हेतु कम पडते हैं, क्योकि उस स्थितिमे वे सराग सम्यक्‌चारित्रके अग कहलाते हैं। सम्यक् चारित्रके साथ जितने अशोमे रागभाव रहता है उतने अशोमे ही कर्मका बन्ध होता है, शेष सब चारित्रोके अशोसे कर्मबन्धन नही

होता—वे कर्मनिर्जरादिके कारण बनते हैं, जैसाकि श्रीअमृतचद्राचार्यके निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनाऽस्य वन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य वन्धनं भवति॥ (पु० सि०)

इसी बातको श्रीवीरसेनाचार्यने, अपनी जयधवला टीकामें, और भी स्पष्ट करके बतलाया है। वे सरागसयममें मुनियोकी प्रवृत्तिको युक्तियुक्त वतलाते हुए लिखते हैं कि उससे बन्धकी अपेक्षा असख्यातगुणी निर्जरा (कर्मोंसे मुक्ति) होती है। साथ ही यह भी लिखते हैं कि भावपूर्वक अरहतनमस्कार भी—जो कि भक्तिभावरूप सरागचारित्रका ही एक अग है—बन्धकी अपेक्षा असख्यात गुणकर्मक्षयका कारण है, उसमे भी मुनियोकी प्रवृत्ति होती है.—

"सरागसंजमो गुणसेढिणिज्जराए कारणं, तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्जगुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं। अरहंतणमोक्कारो सपहिय बधादो असखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उत्तंच—

अरहंतणमोक्कारं भावेण जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥"

इसके सिवाय, मूलाचारके समयसाराधिकारमे यत्नाचारसे चलनेवाले दयाप्रधान साधुके विपयमे यह साफ लिखा है कि उसके नये कर्मका बन्ध नही होता और पुराने बँधे कर्म झड जाते हैं अर्थात् यत्नाचारसे पाले गये महाव्रतादिक सवर और निर्जराके कारण होते हैं—

जदं तु चरमाणस्य दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण वज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि॥२३॥

यत्नाचारके विषयमे महाव्रती मुनियो और अणुव्रती श्रावकोकी स्थिति प्रायः समान है, और इसलिये यत्नाचारसे पाले गये अणुव्रतादिक भी श्रावकोके लिये सवर-निर्जराके कारण हैं ऐसा समझना चाहिये।

यहाँ पर मैं इतना और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सम्यक्चारित्रके अनुष्ठानमे, चाहे वह महाव्रतादिकके रूपमें हो या अणुव्रतादिकके रूपमे, जो भी उद्यम किया जाता या उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' है, जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजाणो य जो होइ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणियं असढं चरंतस्स॥१०॥

इसी तरह इच्छाके निरोधका नाम भी 'तप' है, जैसा कि चारित्रसारके '**रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः**' इस वाक्यसे जाना जाता है। मुनियो तथा श्रावकोके अपने-अपने व्रतोंके अनुष्ठान एव पालनमे कितनी ही इच्छाका निरोध करना पडता है और इस दृष्टिसे भी उनका व्रताचरण तपश्चरणको लिये हुए है और '**तपसा निर्जरा च**' इस सूत्रवाक्यके अनुसार तपसे सवर और निर्जरा दोनो होते हैं, यह सुप्रसिद्ध है।

ऐसी स्थितिमे यह नही कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टिकेउक्त शुभभाव एकान्तत. बन्धके कारण हैं, बल्कि यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अधिकाशमे कर्मोंके सवर तथा निर्जराके कारण हैं।

शंका २—यदि इन शुभ भावोसे कर्मोंकी सवर निर्जरा होती है तो शुद्धभाव (वीतरागभाव) क्या कार्यकारी रहे ? यदि कार्यकारी नही तो उनका महत्व शास्त्रोमे कैसे वर्णित हुआ ?

समाधान—शुभ भावोसे कर्मोंकी सवर तथा निर्जरा होनेपर

शुद्ध भावोकी कार्यकारितामे कोई बाधा नही पडती, वे सवर-निर्जराके कार्यको सविशेषरूपसे सम्पन्न करनेमे समर्थ होते हैं। शुभ और शुद्ध दोनो प्रकारके भाव कर्मक्षयके हेतु हैं। यदि ऐसा नही माना जायगा तो कर्मोका क्षय ही नही बन सकेगा, जैसा कि श्रीवीरसेनाचार्यके जयधवला-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सुह-सुद्ध-परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।
(पृष्ठ ६)

इसके अनन्तर आचार्य वीरसेनने एक पुरातन गाथाको उद्धृत किया है जिसमें "उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा" वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव कर्मक्षयके कारण हैं। इससे प्रस्तुत शकाके समाधानके साथ पहली शकाके समाधानपर और भी अधिक प्रकाश पडता है और यह दिनकर-प्रकाशकी तरह स्पष्ट हो जाता है कि शुभभाव भी कर्मक्षयके कारण हैं। शुद्धभावोका तो प्रादुर्भाव भी शुभभावोका आश्रय लिये बिना होता नही। इस बातको प० जयचन्दजी और प० टोडरमलजीने भी अपने निम्न वाक्योके द्वारा व्यक्त किया है, जिनके अन्य वाक्योको बोहराजीने प्रमाणमे उद्धृत किया है और इन वाक्योका उद्धरण छोड दिया है।

"अर शुभ परिणाम होय तब या धर्म (मोह-क्षोभसे रहित आत्माके निज परिणाम) की प्राप्तिका भी अवसर होय है।"
(भावपाहुड-टीका)

"शुभोपयोग भए शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) हो जाय।" (मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ७)

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि

मुनियो और श्रावकोके शुद्धोपयोगका क्या स्वरूप होता है, इस विषयमे अपराजितसूरिने भगवती-आराधनाकी गाथा नं० १८३४ की टीकामे कुछ पुरातन पद्योको उद्धृत करते हुए जो प्रकाश डाला है वह भी इस अवसर पर जान लेनेके योग्य है। प० हीरालालजी शास्त्रीने उसे अनेकान्त वर्ष १३, किरण ८ मे 'मुनियो और श्रावकोका शुद्धोपयोग' शीर्षकके साथ प्रकट किया है। यहाँ उसके अनुवाद रूपमे[1] प्रस्तुत किये गये कुछ अशोको ही उद्धृत किया जाता है :—

'मैं जीवोको नही मारूँगा, असत्य नही बोलूँगा, चोरी नही करूँगा, भोगोको नही भोगूँगा, धनको नही ग्रहण करूँगा, शरीरको अतिशय कष्ट होने पर भी रातमे नही खाऊँगा, मैं पवित्र जिनदीक्षाको धारण करके क्रोध, मान, माया और लोभके वश बहुदुख देनेवाले आरम्भ-परिग्रहसे अपनेको युक्त नही करूँगा। ···· इस प्रकार आरभपरिग्रहादिसे विरक्त होकर शुभ-कर्मके चिन्तनमे अपने चित्तको लगाना सिद्ध अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, जिनचैत्य, सघ और जिनशासनकी भक्ति करना और इनके गुणोमे अनुरागी होना तथा विषयोसे विरक्त रहना, यह मुनियोका शुद्धोपयोग है।'

'विनीतभाव रखना, सयम धारण करना, अप्रमत्तभाव रखना, मृदुता, क्षमा, आर्जव और सन्तोष रखना, आहार भय मैथुन परिग्रह इन चार सज्ञाओको, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योको तथा रस ऋद्धि और सात गौरवोको जीतना, उपसर्ग और परीषहोपर विजय प्राप्त करना, सम्यग्दर्शन,

---

१. मूल वाक्योंके लिये उक्त टीका ग्रथ या अनेकान्तकी उक्त आठवीं (फरवरी १९५५ की) किरण देखनी चाहिए।

सम्यग्ज्ञान तथा सरागसयम धारण करना, दश प्रकारके धर्मोका चिन्तवन करना, जिनेन्द्र-पूजन करना, पूजा करनेका उपदेश देना, नि शकितादि आठ गुणोको धारण करना, प्रशस्तरागसे युक्त तपकी भावना रखना, पाँच समितियोका पालना, तीन गुप्तियोका धारण करना, इत्यादि यह सब भी मुनियोका शुद्धोपयोग है।'

'ग्रहण किये हुए व्रतोके धारण और पालनकी इच्छा रखना, एक क्षणके लिए भी व्रतभगको अनिष्टकारक समझना, निरन्तर साधुओकी सगति करना, श्रद्धा-भक्ति आदिके साथ विधिपूर्वक उन्हे आहारादि दान देना, श्रम या थकान दूर करनेके लिए भोगोको भोगकर भी उनके परित्याग करनेमें अपनी असामर्थ्यकी निन्दा करना, सदा घरबारके त्याग करनेकी वाछा रखना, धर्म-श्रवण करनेपर अपने मनमे अति आनन्दित होना, भक्तिसे पच-परमेष्ठियोकी स्तुति-प्रणाम-द्वारा पूजा करना, अन्य लोगोको भी स्वधर्ममे स्थित करना, उनके गुणोको बढाना, और दोषोका उपगूहन करना, साधर्मियोपर वात्सल्य रखना, जिनेन्द्रदेवके भक्तो-का उपकार करना, जिनेन्द्रशास्त्रोका आदर-सत्कार-पूर्वक पठन-पाठन करना, और जिनशासनकी प्रभावना करना, इत्यादि गृहस्थोका शुद्धोपयोग है।'

इन सब कथनसे स्पष्ट जाना जाता है कि जिन दान, पूजा, भक्ति, शील, सयम और व्रतादिके भावोको हमने केवल शुभ परिणाम समझ रक्खा है उनके भीतर कितने ही शुद्ध भावोका समावेश रहता है, जिन पर हमारी दृष्टि ही नही है—हमने शुद्ध भावोकी एकान्तत· कुछ विचित्र ही कल्पना मनमे करली हैं—यहाँ तो अहिंसादि शुभकर्मोंके चित्तमें चिन्तनको भी शुद्धो-पयोगमे शामिल किया है।

शंका ३—जिन शुभभावोसे कर्मोका आस्रव होकर बंध होता है, क्या उन्ही शुभभावोसे मुक्ति भी हो सकती है? क्या एक ही परिणाम जो बधके भी कारण हैं, वे ही मुक्तिका कारण भी हो सकते हैं। यदि ये परिणाम बधके ही कारण हैं तो इन्हे धर्म (जो मुक्तिका देनेवाला) कैसे माना जाय?

समाधान—सम्यग्दृष्टिके वे कौनसे शुभ भाव हैं जिनसे केवल कर्मोंका आस्रव होकर बन्ध ही होता है, मुझे उनका पता नही। शंकाकारको उन्हे बतलाना चाहिए था। पहली-दूसरी शंकाओके समाधानसे तो यह जाना जाता है कि सम्यग्दृष्टिके पूजा-दान-व्रतादि रूप शुभमाव अधिकाशमे कर्मक्षय अथवा कर्मो-की निर्जराके कारण हैं और इसलिए मुक्तिमे सहायक हैं। मिश्र-भावकी अवस्थामे ऐसा होना सभव है कि एक परिणामके कुछ अश बन्धके कारण हो और शेष अश बन्धके कारण न होकर कर्मोंकी निर्जरा अथवा मुक्ति के कारण हो। सराग सम्यक् चारित्रकी अवस्थामे प्रायः ऐसा ही होता है और इसका खुलासा पहली शकाके समाधानमे आगया है। सम्यग्दृष्टिके शुभ परिणाम जब सर्वथा बन्धके कारण नही तब शकाके तृतीय अशके लिए कोई स्थान ही नही रहता। धर्मको ब्रेकटके भीतर 'जो मुक्ति-का देने वाला' बतलाया है वैसा एकान्त भी जिनशासनमें नही है। जिनशासनमे धर्म उसे प्रतिपादित किया है जिससे अभ्युदय तथा नि.श्रेयसकी सिद्धि होती है, जैसा कि सोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है जो स्वामी समतभद्रके 'नि.श्रेयसमभ्युदय' इत्यादि कारिकाके वचनको लक्ष्यमे लेकर लिखा गया है :—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (नीतिवाक्यामृत)

शंका ४—उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी मुनि शुभोपयोगरूप उच्चतम

निर्दोष क्रियाओका परिपालन करते हुए भी (यहाँ तक कि अनतवार मुनिव्रत धारण करके भी) मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही क्यो पडा रह जाता है ? आपके लेखानुसार तो वह शुद्धत्वके निकट (मुक्तिके निकट) होना चाहिए। फिर शास्त्रकारोने उसे असयमी सम्यग्दृष्टिसे भी हीन क्यो माना है ?

समाधान—द्रव्यलिंगी मुनि चाहे वह उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी हो या जघन्य, सम्यग्दृष्टि नही होता और इस लिए उसकी क्रियाएँ सम्यक्चारित्रकी दृष्टिसे उच्चतम तथा निर्दोष नही कही जा सकती। निर्दोप क्रियाएँ वही होती हैं जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक न होनेवाली क्रियाएँ मिथ्याचारित्रमें परिगणित हैं, चाहे वे बाहरसे देखनेमे कितनी ही सुन्दर तथा रुचिकर क्यो न मालूम देती हो, उन्हे सत्क्रियाभास कहा जायगा और वे सम्यक्चारित्रके फलको नही फल सकेंगी। जब तक उस द्रव्यलिंगी मुनिके आत्माको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही होगी तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थानमे ही चला जायगा।

मेरे उस लेखमे कही भी द्रव्यलिंगी मुनियोकी क्रियाएँ विवक्षित नही है—शुभभावरूप जो भी क्रियाएँ विवक्षित हैं वे सब सम्यग्दृष्टिकी विवक्षित हैं चाहे वह मुनि हो या श्रावक। अतः मेरे लेखानुसार वह द्रव्यलिंगी मुनि शुद्धत्वके निकट होना चाहिये ऐसा लिखना मेरे लेख तथा उसकी दृष्टि को न समझनेका ही परिणाम कहा जा सकता है।

शंका ५—यदि शुभभवोमे अटके रहनेसे डरनेकी कोई बात नही है तो ससारी जीवको अभी तक मुक्ति क्यो नही मिली ? अनादिकालसे जीवका परिभ्रमण क्यो हो रहा है ? क्या वह अनादिकालसे पापभाव ही करता आया है ? यदि नही, तो उसके

भवभ्रमणमे पापके ही समान पुण्य भी कारण है या नही ? यदि पुण्यभाव भी वन्धभाव होनेसे भवभ्रमणमे कारण हैं तो उसमे अटके रहनेसे हानि हुई या लाभ ?

समाधान—शुद्धत्वका लक्ष्य रखते हुए द्रव्य-क्षेत्र-कालभावादिकी परिस्थितियोके अनुसार शुभमे अटके रहनेसे सम्यग्दृष्टिको सचमुच डरनेकी कोई बात नही है—वह यथेष्ट साधन-सामग्रीकी प्राप्तिपर एक दिन अवश्य मुक्तिको प्राप्त होगा। असख्य ससारी जीवोको अब तक ऐसा करके ही मुक्ति मिली है। अनादिकालसे जिनका परिभ्रमण हो रहा था वेही सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर शुद्धत्वका लक्ष्य रखते हुए शुभभावोका आश्रय लेकर—उनमे कुछ समय तक अटके रह कर—भवभ्रमणसे छूटे हैं। और इस लिये यह कहना कि ससारी जीवको अभी तक मुक्ति क्यो नही मिली वह कोरा भ्रम है। ससारी जीवोमेसे जिनको अभी तक मुक्तिकी प्राप्ति नही हुई उनके विषयमे समझना चाहिये कि उन्हे सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्तिके साथ दूसरी योग्य साधन-सामग्रीकी अभी तक उपलब्धि नही हुई है। सम्यग्दर्शनसे विहीन कोरे शुभभाव मुक्तिके साधन नही और न कोरा पुण्यबन्ध ही मुक्तिका कारण होता है वह तो कषायोकी मन्दतादिमे मिथ्यादृष्टिके भी हुआ करता है। वह पुण्यभाव अपने लेखमे विवक्षित नही रहा है। ऐसी स्थितिमे शकाके शेष अशके लिये कोई स्थान नही रहता। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके पुण्यभाव तथा उनमे अटके रहनेकी दृष्टिमे बहुत बडा अन्तर है—एक उसे सर्वथा उपादेय मानता है तो दूसरा उसे कथचित् उपादेय मानता हुआ हेय समझता है, और इसलिए दोनोकी मान्यतानुसार उनके हानि-लाभमे अन्तर पड जाता है। पुण्यबन्ध सर्वथा ही हानिकारक तथा भवभ्रमणका

कारण हो, ऐसी कोई बात भी नही है। तीर्थंकर-प्रकृति और सर्वार्थसिद्धिमे गमन करानेवाले पुण्यकर्मका बध जल्दी ही मुक्ति-को निकट लानेवाला होता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसार (गा० ४५) में 'पुण्णफला अरहता' वाक्यके द्वारा ऐसे ही सातिशय पुण्यका उल्लेख किया है जिसका फल अर्हत्पदकी प्राप्ति है और अर्हत्पदप्राप्ति तद्भव मुक्तिकी गारटी है।

शका ६—यदि शुभमें अटके रहनेमे कोई हानि नही है तो फिर शुद्धत्वके लिये पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? क्योकि आपके लेखानुसार जब इनसे हानि नही तो जीव इन्हे छोडनेका उद्यम ही क्यो करे। क्या आपके लिखनेका यह तात्पर्य नही हुआ कि इसमें अटके रहनेसे कभी न कभी तो ससार परिभ्रमण रुक जावेगा? शुभक्रिया करते करते मुक्ति मिल जावेगी, ऐसा आपका अभिप्राय हो तो शास्त्रीय प्रमाण द्वारा इसे और स्पष्ट कर देनेकी कृपा करें।

समाधान—शुद्धत्वकी प्राप्तिका लक्ष्य रखते हुए जब किसीको परिस्थितियोके वश शुभमे अटकना पडता है तो उसके लिए शुद्ध-त्वके पुरुषार्थकी आवश्यकता कैसे नही रहती? आवश्यकता तो उसको नही रहती जो शुद्धत्वका कोई लक्ष्य ही नही रखता और एकमात्र शुभभावोको ही सर्वथा उपादेय समझ बैठा है, ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी स्थिति दूसरी है, उसका लक्ष्य शुद्ध होते हुए परिस्थितियोके वश कुछ समय शुभमे अटके रहनेसे कोई विशेष हानि नही होती। यदि वह शुभका आश्रय न ले तो उसे अशुभराग-द्वेषादिके वश पडना पडे और अधिक हानि-का शिकार बनना पडे। शुभका आश्रय लिये बिना कोई शुद्धत्व-को प्राप्त भी नही होता, यह बात पहले भी प्रकट की जा चुकी

है। अत. मेरे लिखनेका जो तात्पर्य निकाला गया है वह लेख तथा उसकी दृष्टिको न समझनेका ही परिणाम है। लेखमें "शुद्धत्व यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्तिका मार्ग है—साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नही होती, फिर साधनकी अवहेलना कैसी ?" इत्यादि वाक्योके द्वारा लेखकी दृष्टिको भली प्रकार समझा जा सकता है। जिसका लक्ष्य शुद्धत्व है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवको लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि उसे शुभमें अटकनेसे डरनेकी भी ऐसी कोई बात नही है, ऐसा जीव ही यदि शुभमे अटका रहेगा तो शुद्धत्वके निकट रहेगा।

शंका ७—यदि पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं तो शास्त्रकारोने पुण्यको भिन्न सज्ञा क्यो दी ?

समाधान—यह शका कुछ विचित्र-सी जान पडती है। मैंने ऐसा कही लिखा नही कि 'पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं।' जो कुछ लिखा है उसका रूप यह है कि "धर्म दो प्रकारका होता है—एक वह जो शुभभावोके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्धभावके द्वारा किसी भी प्रकारके (बन्धकारक) कर्मास्रवका कारण नही होता[1]। इससे यह साफ फलित होता है कि धर्मका विषय बडा है—वह व्यापक है, पुण्यका विषय उसके अन्तर्गत आ जाता है, इसलिये वह व्याप्य है। इस दृष्टिसे दोनोको एक ही नही कहा जा सकता, धर्मका एक प्रकार होनेसे पुण्यको भी धर्म कहा जाता है। इसके सिवाय, एक ही वस्तुकी दृष्टिविशेषसे यदि अनेक सज्ञाएँ हो तो उसमे बाधाकी कौन सी बात है ? एक-एक वस्तुकी अनेक-अनेक सज्ञाओसे तो ग्रन्थ भरे पडे हैं, फिर

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १३, किरण १, पृ० ५

धर्मको पुण्य सज्ञा देने पर आपत्ति क्यो ? श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने जब स्वय पूजा-दान-व्रतादिको एक जगह 'धर्म' लिखा है और दूसरी जगह 'पुण्य' रूपमें उल्लेखित किया है[1] तब उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि धर्मके एक प्रकारका उल्लेख करनेकी दृष्टिसे ही उन्होने पुण्यप्रसाधक धर्मको 'पुण्य' सज्ञा दी है। अत दृष्टि-विशेषके वश एकको अनेक सज्ञाएँ दिये जानेपर शंका अथवा आश्चर्य की कोई बात नही।

शंका ८—यदि पुण्य भी धर्म है तो सम्यग्दृष्टि श्रद्धामें पुण्यको दण्डवत् क्यो मानता है ?

समाधान—यदि सम्यग्दृष्टि श्रद्धामे पुण्यको दण्डवत् मानता है तो यह उसका शुद्धत्वकी ओर बढा हुआ दृष्टिविशेषका परिणाम हो सकता है—व्यवहारमे वह पुण्यको अपनाता ही है और पुण्यको सर्वथा अधर्म तो वह कभी भी नही समझता। यदि पुण्यको सर्वथा अधर्म समझे तो यह उसके दृष्टिविकारका सूचक होगा, क्योकि पुण्यकर्म किसी उच्चतम भावनाकी दृष्टिसे हेय होते हुए भी सर्वथा हेय नही है।

शंका ९—यदि शुभभाव जैनधर्म है तो अन्यमती जो दान, पूजा, भक्ति आदिको धर्म मानकर उसीका उपदेश देते हैं, क्या वे भी जैनधर्मके समान हैं ? उनमें और जैन धर्ममें क्या अन्तर रहा ?

समाधान—जैनधर्म और अन्यमत-सम्मत दान, पूजा, भक्ति आदिकी जो क्रियाएँ है वे दृष्टिभेदको लिये हुए हैं और इसलिए बाह्यमे प्राय समान होते हुए भी दृष्टिभेदके कारण उन्हें सर्वथा

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष १३, किरण १, पृ० ५

समान नही कहा जा सकता। दृष्टिका सबसे बडा भेद सम्यक् तथा मिथ्या होता है। वस्तुतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाको लिये हुए जो दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, जिसमे कारणविपर्यय स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेदविपर्यय के लिए कोई स्थान नही होता और वह दृष्टि अनेकान्तात्मक होती है, प्रत्युत इसके जो दृष्टि वस्तुतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाको लिये हुए नही होती, वह सब मिथ्यादृष्टि कहलाती है उसके साथ कारणविपर्ययादि लगे रहते हैं और वह एकान्तदृष्टि कही जाती है। सम्यग्दृष्टिके दान-पूजादिकके शुभभाव सम्यक्-चारित्रका अग होनेसे धर्मंमे परिगणित हैं, जबकि मिथ्यादृष्टिके वे भाव मिथ्याचारित्रका अग होनेसे धर्ममे परिगणित नही हैं। यही दोनोमे मोटे रूपसे अन्तर कहा जा सकता है। जो जैनी सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि हैं उनकी क्रियाएँ भी प्राय. उसी कोटिमे शामिल हैं।

शंका १०—धर्म दो प्रकारका है—ऐसा जो आपने लिखा है तो उसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कोई जीव दोनोमेसे किसी एकका भी आचरण करे तो वह मुक्तिका पात्र हो जाना चाहिए, क्योकि धर्मका लक्षण आचार्य समन्तभद्रस्वामीने यही किया है कि जो उत्तम अविनाशी सुखको प्राप्त करावे वही धर्म है। तो फिर द्रव्यलिंगी मुनि मुक्तिका पात्र क्यो नही हुआ ? उसे मिथ्यात्व गुणस्थान ही कैसे रहा ? आपके लेखानुसार तो उसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी ?

समाधान—यह शका भी कुछ बड़ी ही विचित्र जान पडती है। मैने धर्मको जिस दृष्टिसे दो प्रकारका बतलाया है उसका उल्लेख शका ७ के समाधानमे आ गया है और उससे वैसा कोई तात्पर्य फलित नही होता। द्रव्यलिंगीकी कोई क्रियाएँ मेरे लेखमें

विवक्षित ही नही हैं। शका ४ के समाधानानुसार जब द्रव्यलिगी मुनि ऊँचे दर्जेकी क्रियाएँ करता हुआ भी शुद्धत्वके निकट नही तब वह मुक्तिका पात्र कैसे हो सकता है? मुक्तिका पात्र सम्यग्दृष्टि होता है, मिथ्यादृष्टि नही। मेरे लेखानुसार द्रव्य-लिंगी मुनिको मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी, ऐसा समझना बुद्धिका कोरा विपर्यास है, क्योकि मेरे लेखमे सम्यग्दृष्टिके ही शुभ भाव विवक्षित हैं—मिथ्यादृष्टि या द्रव्यलिगी मुनिके नही। शकाकारने धर्मका जो लक्षण स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया है वह भी भ्रमपूर्ण है। स्वामी समन्तभद्रने धर्मका यह लक्षण नही किया कि 'जो उत्तम अविनाशीसुखको प्राप्त करावे वही धर्म है।' उन्होंने तो 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु' इस वाक्यके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्मका लक्षण प्रतिपादन किया है—उत्तम अविनाशी सुखको प्राप्त करना तो उस धर्मका एक फलविशेप है, लक्षण नही। फल, उसका अभ्युदय-सुख भी है, जो 'नि श्रेयसमभ्युदयं' इत्यादि कारिका (१३०) में सूचित किया गया है, जो उत्तम होते हुए भी अविनाशी नही होता और जिसका स्वरूप 'पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्य-बंल' इत्यादि कारिका (१३५) मे दिया हुआ है, जिसे मैंने अपने लेखमे उद्धृत भी किया था, फिर भी ऐसी शकाका किया जाना कोई अर्थ नही रखता।

शंका ११—धर्म मोक्षमार्ग है या संसारमार्ग? यदि शुभ-भाव भी मोक्षमार्ग है तो क्या मोक्षमार्ग दो हैं?

समाधान—धर्म मोक्षमार्ग है या ससारमार्ग, यह धर्मकी जाति अथवा प्रकृतिकी स्थितिपर अवलम्बित है। सामान्यत: धर्ममात्रको सर्वथा मोक्षमार्ग या संसारमार्ग नही कहा जा सकता।

धर्म लौकिक भी होता है और पारलौकिक अर्थात् परमार्थिक भी। गृहस्थोके लिये दो प्रकारके धर्मका निर्देश मिलता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक, जिसमे लौकिक धर्म लोकाश्रित—लोककी रीति-नीतिके अनुसार प्रवृत्त—और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित—आगमशास्त्रकी विधि-व्यवस्थाके अनुरूप प्रवृत्त—होता है, जैसाकि आचार्य सोमदेवके निम्नवाक्यसे प्रकट है :—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥ (यशस्तिलक)

लौकिकधर्म प्राय ससारमार्ग है और पारलौकिक (पारमार्थिक) धर्म प्राय' मोक्षमार्ग। धर्म सुखका हेतु है इसमे किसीको विवाद नही (धर्म. सुखस्य हेतु) चाहे वह मोक्षमार्गके रूपमे हो या संसारमार्गके रूपमे और इसलिये मोक्षमार्गका आशय है मोक्षसुखकी प्राप्तिका उपाय और ससारमार्गका अर्थ है ससारसुखको प्राप्तिका उपाय। जो पारमार्थिक धर्म मोक्षमार्गके रूपमे स्थित है वह साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो भागोमे विभाजित है, साक्षात्मे प्राय. उन परमविशुद्ध भावोका ग्रहण है जो यथाख्यातचारित्रके रूपमे स्थित होते हैं, और परम्परामे सम्यक्दृष्टिके वे सब शुभ तथा शुद्ध भाव लिये जाते हैं जो सामायिक, छेदोपस्थापनादि दूसरे सम्यक्चारित्रोंके रूपमे स्थित होते हैं और जिनमे सद्दान-पूजा-भक्ति तथा व्रतादिके अथवा सरागचारित्रके शुभ-शुद्ध-भाव शामिल हैं। जो धर्म परम्परा-रूपमे मोक्षसुखका मार्ग है वह अपनी मध्यकी स्थितिमे अक्सर ऊँचेसे ऊँचे दर्जेके ससारसुखका हेतु बनता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्रमे ऐसे समीचीन-धर्मके दो फलोका निर्देश किया है—एक नि श्रेयससुखरूप और दूसरा अभ्युदयसुख-स्वरूप

(१३०)। नि श्रेयससुखको सर्वप्रकारके दु खोसे रहित, सदा स्थिर रहनेवाले शुद्धसुखके रूपमें उल्लेखित किया है, और अभ्युदयसुखको पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्य (स्वामित्व) से युक्त हुआ बल, परिजन, काम तथा भोगोकी प्रचुरताके साथ लोकमें अतीव उत्कृष्ट और आश्चर्यकारी बतलाया है। और इसलिए वह धर्म ससारके उत्कृष्ट सुखका भी मार्ग है, यह समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमे सम्यग्यदृष्टिके शुभ-भावोको मोक्षमार्ग कहना न्याय-प्राप्त है और मोक्षमार्ग अवश्य ही दो भागोमे विभक्त है—एकको निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरेको व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूपमे स्थित है तो व्यवहारमोक्षमार्ग उसके साधनरूपमे स्थित है, जैसा कि रामसेनाचार्य-कृत तत्त्वानुशासनके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

मोक्षहेतु. पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः।
तत्राऽऽद्य' साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥२८॥

साध्यकी सिद्धि होनेतक साधनको साध्यसे अलग नही किया जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि 'साध्य तो जिन-शासन है, किन्तु उसका साधन जिनशासनका कोई अश नही है'। सच पूछा जाय तो साधनरूप मार्ग ही जैनतीर्थंकरोका तीर्थ है—धर्म है, और उस मार्गका निर्माण व्यवहारनय[1] करता है। शुभ-

---

१ श्री वीरसेनाचार्यने जयधवलामें लिखा है कि 'व्यवहारनय बहु-जीवानुग्रहकारी' है और वही आश्रय किये जानेके योग्य है, ऐसा मनमें अवधारण करके ही गोतम गणधरने महाकम्मपयडीपाहुडकी आदिमें मगलाचरण किया है :—

"जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सि-दव्वो त्ति मणेणावधारिय गोदमथेरेण मंगल तत्थ कद ॥"

भावोके अभावमे अथवा उस मार्गके कट जाने पर कोई शुद्धत्वको प्राप्त ही नही होता। शुभभावरूप मार्गका उत्थापन सचमुचमें जैनशासनका उत्थापन है—भले ही वह कैसी भी भूल, गलती, अजानकारी या नासमझीका परिणाम क्यो न हो, इस बातको मैं अपने उस लेखमे पहले प्रकट कर चुका हूँ। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, सल्लेखना अथवा एकादश प्रतिमादिके रूपमे जो श्रावकाचार समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) आदिमे वर्णित है और पच-महाव्रत, पचसमिति, त्रिगुप्ति, पचेन्द्रियरोध, पचाचार, षडा-वश्यक, दशलक्षण, परीषहजय अथवा अट्ठाईस मूलगुणो आदिके रूपमे जो मुनियोका आचार, मूलाचार, चारित्तपाहुड और भगवती आराधना आदिमे वर्णित है, वह सब प्राय व्यवहारमोक्षमार्ग है और उसे धर्मेश्वर जिनेंद्रदेवने 'धर्म' या 'सच्चारित्र' कहा है, जैसा कि कुछ निम्न वाक्योसे भी जाना जाता है :—

१. धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। अभ्युदयं फलति सद्धर्मः (रत्नकरण्ड)

२. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
'वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं (द्रव्यस०)

३. एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं सजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे॥ (चारित्तपा०)

४ दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सो वि॥ (रयणसार)

५. एयारस-दसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहि॥ (वारसाणुपेक्खा)
"णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।"

६ दशविधमनगाराणमेकादशधोत्तरं तथा धर्मं।
देशयमानो व्यहरत् त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः॥ (निर्वाणभक्ति

७. तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः ।
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितय. पंचव्रतानीत्यपि ।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै—
राचारं परमेष्ठिनोजिनपतेर्वीरं नमामो वयम् ॥ (चारित्रभक्ति)

इनमेसे पहले न० के दो वाक्य स्वामी समन्तभद्रके हैं, जिनमे यह सूचित किया गया है कि रत्नकरण्डमें जिस धर्मका वर्णन है वह धर्मेश्वर (वीर-वर्द्धमानतीर्थंकर) के द्वारा कहा गया है और वह समीचीनधर्म अभ्युदयफलको भी फलता है। दूसरे न० का वाक्य नेमिचन्द्राचार्यका है, जिसमे अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको सच्चारित्र बतलाया है और लिखा है कि वह व्रत, समिति तथा गुप्तिके रूपमे है और उसे व्यवहारनयकी दृष्टिसे जिनेन्द्रने प्रतिपादित किया है। तीसरे, चौथे और पाँचवें नम्बरके वाक्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत ग्रन्थोके हैं, जिनमे अणुव्रतादि तथा एकादश प्रतिमाओके रूपमे आचारको श्रावकधर्म और महाव्रतादि तथा दशलक्षणादिरूप आचारको मुनिधर्मके रूपमें निर्दिष्ट किया है। साथ ही, यह भी निर्दिष्ट किया है कि दान, पूजा श्रावकका मुख्य धर्म है—उसके बिना कोई श्रावक नही होता, और ध्यान तथा अध्ययन यतिका मुख्य धर्म है उसके बिना कोई यति—मुनि नही होता। इसके सिवाय, बारसअणुपेक्खामे यह भी प्रतिपादित किया गया है कि निश्चयनयसे जीव सागार (गृहस्थ) अनगार (मुनि) के धर्मसे भिन्न है अर्थात् गृहस्थ और मुनिका धर्म निश्चयनयका विषय नही है—वह सब व्यवहारनयका ही विषय है। छठे-सातवे नबरके वाक्य पूज्यपादाचार्यके हैं जिनमेसे एकमे उन्होने यह सूचित किया है कि मुनियोके दस प्रकार धर्म-की और गृहस्थोंके ग्यारह प्रकार धर्मकी देशना करते हुए श्रीवीर-

जिनेन्द्रने तीस वर्ष तक विहार किया है, और दूसरेमें यह प्रतिपादित किया है कि तीन गुप्तियों, पाँच समितियों और पंचव्रतोंके रूपमें जो तेरह प्रकारका चारित्र (धर्म) है वह वीरजिनेन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

उपसंहार

हमारे नित्यके 'चत्तारि मंगल' नामके प्राचीनतम पाठमें 'केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगल, 'केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमो, और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' इन वाक्योंके द्वारा केवलि-जिन-प्रणीत धर्मको मंगलभूत और लोकोत्तम मानते हुए उसके शरणमें प्राप्त होनेकी नित्य भावना की जाती है। तब प्रश्न यह पैदा होता है कि श्रीकुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्रादि महान् आचार्योंके प्राचीन ग्रन्थोंमें श्रावकों तथा मुनियोंके जिस धर्मकी देशना-प्ररूपणा की गई है और जिसका स्पष्ट आभास ऊपर उद्धृत वाक्योंसे होता है वह केवलि-जिन-प्रणीत है या कि नहीं? यदि है तो वह धर्म जिनशासनका अंग हुआ, उसे जिनशासनसे बाह्य कैसे किया जा सकता है और कैसे कानजीस्वामीके ऐसे कथनको संगत ठहराया जा सकता है जो सम्यग्दृष्टिके पूजा-दान-व्रतादिके शुभभावोंको जैनधर्म ही नही बतलाता, प्रत्युत इसके, जिनशासनमें उन्हें धर्मरूपसे प्रतिपादनका ही निषेध करता है और फलतः उन प्राचीन आचार्योंपर अन्यथा कथनका दोषारोपण भी करता है जो उसे जिनोपदिष्ट धर्म बतला रहे हैं? और यदि कानजीस्वामीकी दृष्टिमें वह सब धर्म केवलिजिन-प्रणीत नही है, तब वह न तो मंगलभूत है न लोकोत्तम है, न हमें उसकी शरणमें ही जाना चाहिए या उसे अपनाना चाहिए, ऐसी कानजीस्वामीकी यदि धारणा है और इसीसे वे उसका निषेध करके उसे

गृहस्थो तथा मुनियोसे छुडाना चाहते हैं, तो फिर वे चतुर्थसम्प्रदायको जन्म देना चाहते हैं ऐसी यदि कोई कल्पना करे तो उसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है, जिससे बोहराजी कुछ क्षुब्ध होकर विरोधमें प्रवृत्त हुए जान पडते हैं—खासकर ऐसी हालतमे जब कि कानजीस्वामी अपना वक्तव्य देकर कोई स्पष्टीकरण भी करना नही चाहते ? क्योकि जैनियोके वर्तमान तीनो सम्प्रदाय प्राचीन ग्रन्थोमे निर्दिष्ट हुए मुनियो तथा श्रावकोके आचारको केवलजिन-प्रणीत धर्म मानते हैं और इसीसे उसकी शरण प्राप्त करना तथा उसे अपनाना अपना कर्तव्य समझते हैं। अपने-अपने महान् आचार्योंके इस कथनकी प्रामाणिकतापर उन्हे अविश्वास नही है, जब कि कानजीस्वामीकी बाहर-भीतरकी स्थिति कुछ दूसरी ही प्रतिभासित होती हैं।

आशा है मेरे इस समग्र विवेचनसे श्रीबोहराजीको समुचित समाधान प्राप्त होगा और वे श्रीकानजीस्वामीकी अनुचित वकालतके सम्बन्धमे अपनी भूलको महसूस करेगे[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष १३, किरण ५, ६, ७, ८, ११, १२ नवम्बर १९५४–जून १९५५

: २ :

समालोचनात्मक निबन्ध

(क) ग्रन्थ-समालोचनात्मक

१. द्रव्य-संग्रहका अंग्रेजी संस्करण

२. 'जयधवला'का प्रकाशन

३ प्रवचनसारका नया संस्करण

(ख) ग्रन्थेतर-समालोचनात्मक

४ नया सन्देश (समालोचना करनेवाला जैनी नही)

५. चिन्ताका विषय और कर्तव्य

६ एक ही अमोघ उपाय

७. लेखक जिम्मेदार या सम्पादक

८ भट्टारकीय-मनोवृत्तिका नमूना

९ डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल

१०. समाजका वातावरण दूषित

द्रव्य-संग्रहका अंग्रेजी संस्करण : १ :

आरासे श्रीयुत कुमार देवेंद्रप्रसादजीके आधिपत्यमे 'दि सैक्रेड बुक्स आफ दि जैन्स' अर्थात् 'जैनियोके पवित्र ग्रथ' नामकी एक ग्रथमाला निकलनी आरम्भ हुई है, जिसके जनरल एडीटर या प्रधान सम्पादक श्रीयुत प्रोफेसर शरच्चन्द्र घोपाल एम० ए०, बी० एल०, सरस्वती, काव्यतीर्थ, विद्याभूपण, भारती नामके एक बगाली विद्वान हैं। इस ग्रथमालाका पहला ग्रथ 'द्रव्य-सग्रह' जो अभी हालमे प्रकाशित हुआ है, मेरे सामने उपस्थित है। द्रव्य-सग्रह, श्रीनेमिचन्द्राचार्यका बनाया हुआ जैनियोका एक प्रसिद्ध ग्रथ है, जिसमे कुल ५८ गाथाएँ हैं और जिसपर ब्रह्मदेवकी बनाई हुई एक विस्तृत सस्कृत टीका भी पाई जाती है। अनेक वार यह मूल ग्रथ हिन्दी-मराठी आदि अनुवादसहित छपकर प्रकाशित हो चुका है। इस तरह इस ग्रथके कई सस्करण निकल चुके हैं। परन्तु अभी तक अग्रेजी ससारके लिये इस ग्रथका दरवाजा बन्द था—वह प्राय इसके लाभोसे वचित ही था। उक्त ग्रथमालाके उत्साही कार्यकर्ताओकी कृपासे अव वह दरवाजा उक्त ससारके लिए भी खुल गया है, यह वडे ही सतोष और हर्ष की बात है। ग्रथके उपोद्घात (Preface) मे, उक्त ग्रथमालाके प्रकाशित करनेका उद्देश्य और अभिप्राय प्रकट करते हुए लिखा है कि 'इस ग्रथमालामे जैनियोके उन सम्पूर्ण पवित्र ग्रथोको प्रकाशित करनेका विचार है जिन्हे जैनियोंके सभी सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं और उन्हे भी जो जैनियोके किसी खास सम्प्रदाय-द्वारा प्रमाण माने गये हैं।' साथ ही यह भी

सूचित किया गया है कि 'इस ग्रथमालामे सभी जैन सप्रदायोके पवित्र ग्रथ विना किसी तरफदारी या पक्षपातके समान आदरके पात्र वनेंगे ।' इस तरह इस ग्रथमालाके द्वारा जैनियोंके सम्पूर्ण उत्तम और प्रामाणिक ग्रथोंको (प्राचीन सस्कृत टीकाओ तथा अग्रेजी अनुवादादि-सहित) प्रकाशित करके जैन-अजैन सभीके लिये पक्षपात-रहित अनुसंधान करनेके वास्ते एक विशाल क्षेत्र तैयार करनेका अनुष्ठान किया गया है, जिससे अजैन लोक जैनियो-के तत्त्वोका यथार्थ स्वरूप जानकर और जैनी भाई अपने-अपने सम्प्रदायके वास्तविक भेदो तथा उनके कारणोको पहचानकर परस्परका अज्ञानजन्य मनोमालिन्य दूर कर सके । ग्रथमालाके सस्थापको और सचालकोके ये सव आशय और विचार वडे ही स्तुत्य और अभिनन्दनीय हैं । मैं हृदयसे उनके इस उद्देश्यका समर्थन करता हुआ इसके शीघ्र सफल होनेकी भावना करता हूँ ।

उक्त ग्रथमालाका यह आलोच्य ग्रथ, द्रव्य-सग्रह, वडी सुन्दरताके साथ वढिया कागज पर छपाया गया है । सुवर्णाक्षरोसे अकित मनोहर जिल्द वधी हुई है, और छपाई सफाई सव उत्तम हुई है । ग्रथमे, मूलग्रथका प्रत्येक प्राकृत पद्य पहले देवनागरी अक्षरोमे, फिर अग्रेजी अक्षरोमे छापा गया है और उसकी सस्कृत छाया दोनो प्रकारके अक्षरोमे नीचे फुटनोटके तौरपर दी गई है । प्रत्येक मूल पद्यको उभयाक्षरोमे छापनेके वाद सबसे पहले उसका 'पदपाठ' दोनो प्रकारके अक्षरोमे, अग्रेजी अनुवाद-सहित, भिन्न टाइपमे, दिया गया है और फिर कुछ मोटे टाइपमे उसका क्रमवद्ध अग्रेजी अनुवाद साथमे लगाया गया है । अनुवादमे जीव-अजीवादि पारिभाषिक शब्दोको प्राय ज्योका त्यो रखकर ब्रैकटो आदिमे उनका स्पष्टीकरण किया गया है और इस तरह पाठकोको समझनेकी गडवडीसे वचाया गया है । इसके वाद

अग्रेजी टीका (Commentary) रक्खी गई है। यह टीका ब्रह्मदेवकी सस्कृत टीकाका अनुवाद नही है। सस्कृतकी उक्त टीका, आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय और व्यवहारका पृथक्करण करते हुए, कुछ विस्तारके साथ लिखी गई है, परन्तु यह अग्रेजी टीका उक्त दृष्टिको छोडकर एक दूसरे ही ढग पर, सक्षेपके साथ, तैयार की गई है। इसके तैयार करनेमे दूसरे ग्रथोके जिन वाक्योसे सहायता ली गई है, अथवा जिनका आशय तथा अनुवाद इस टीकामे शामिल किया गया है, उन सबका उल्लेख भी मय पतेके फुटनोट्स आदिमे कर दिया गया है। यही इस टीकामे एक खास खूबी है और इससे एक विपयपर अनेक विद्वानोके मतोका एक साथ वोध हो जाता है। परन्तु यह कार्य कुछ अधिक विस्तार और खोजके साथ होता तो और भी अच्छा रहता। अस्तु।

टीकामे अनेक वातें ऐसी भी लिखी गई हैं, जिनका कोई प्रमाण नही दिया गया और जिनका दिग्दर्शन पाठकोको आगे चलकर कराया जायगा। इस टीकाके सिवाय ब्रह्मदेवकी उक्त सस्कृत टीका भी, अलग पृष्ठसख्या डालकर, ग्रथके साथ शामिल की गई है, परन्तु उसका कोई अनुवाद नही दिया गया। ग्रथमे ५ पृष्ठके उपोद्घातके अतिरिक्त, ३० पेजकी एक प्रस्तावना (Introduction) भी लगाई गई है, जिसमे चामुडरायके द्वारा गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके वनने तथा नेमिचन्द्रके समयादिका विचार किया गया है। इस प्रस्तावनाका अधिकाश शरीर मिस्टर लेविस राइस आदि दूसरे विद्वानोके शब्दोसे वना हुआ है, जिन्हे लेखक महाशयने उक्त विद्वानोके ग्रथोसे ज्योका त्यो उद्धृत करके रक्खा है और स्थान-स्थान पर इस विपयकी सूचना देकर अपनी उदारताका परिचय दिया है। प्रस्तावनासे सम्वन्ध रखनेवाले

गोम्मटेश्वरकी मूर्ति, मन्दिर, पहाड और शिलालेख आदि ९ फोटो-चित्र भी साथमे लगे हुए हैं, जिनमेसे अधिकाश चित्र पहले जैनसिद्धान्त-भास्करादिकमे निकल चुके हैं। 'नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीका चामुंडरायको शास्त्रोपदेश करना' नामका एक चित्र किसी स्त्रीके सौजन्यसे प्राप्त हुआ है, जिसका नाम नही दिया गया। इस चित्रके सम्बन्धमे लिखा है कि वह त्रिलोकसारकी एक अत्यन्त प्राचीन, सुन्दर चित्रमय, हस्तलिखित प्रतिपरसे लिया गया है, परन्तु वह प्रति कहाँपर मौजूद है और किस सन्-सवत्की लिखी हुई है, इन सब बातोको सूचित करनेकी शायद जरूरत नही समझी गई।

चित्रको देखनेसे मालूम होता है कि, वह किसी ग्रथके एक पत्रका फोटो है। उसके ऊपरके भागमे 'श्रीजिनदेवजी' के बाद 'बलगोविन्द सिहामणि' इत्यादि त्रिलोकसारकी पहली गाथा लिखी हुई है और बाई ओरके हाशियेपर उसकी सस्कृत टीका अकित की गई है। नीचेके भागमे एक ओर भगवान् नेमिनाथका मूर्ति-सहित सुन्दर मन्दिर बनाया गया है, जिसके दोनो तरफ क्रमश बलभद्र और नारायण बैठे हुए भक्तिसे नम्रचित्त होकर हाथ जोडे भगवान् नेमिनाथका स्तवन कर रहे हैं, और दूसरी ओर श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती एक ऊँचे आसन पर बैठे तथा सिद्धान्त-पुस्तक सामने रक्खे हुए चामुण्ड राजा और इतर सभ्य लोगोको शास्त्रके अर्थका व्याख्यानकर रहे हैं, ऐसा भाव दिखलाया गया है। चित्र अनेक दृष्टियोसे अच्छा बना है और त्रिलोकसारकी उक्त गाथाको लेकर ही बनाया गया है।

इन ९ चित्रोसे अलग दो चित्र अगरेजी टीकाके साथ भी लगाए गये हैं, जिनमे एक अलोकाकाशका सूचक और दूसरा पचपरमेष्ठीके ध्यानका व्यजक है। अन्तिम चित्र रगीन और

देखनेमे मनोहर मालूम होता है। इस प्रकार इस ग्रथमे ११ चित्र हैं, जो जिल्दके साथ बँधे हुए हैं और उनकी सूचना भी ग्रथमे एक सूची-द्वारा दी गई है। ये सब चित्र बहुत बढिया कागज पर छपाये गये हैं और इनकी रक्षाके लिये साथमे एक-एक बारीक कागज भी लगाया गया है। इन सब चित्रोके सिवाय ग्रन्थमे तीन चित्र और भी रक्खे हुए हैं, जो ग्रथके सब प्रकारसे तैयार हो जानेके बाद पीछेसे शामिल किये गये हैं और इसलिये उनकी बाइडिंग भी नही हो सकी। इनमेसे पहला चित्र श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका किसी प्राचीन मूर्तिपरसे उतारा हुआ फोटो है। परन्तु वह मूर्ति कहाँपर मौजूद है और उसपर नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीका सूचक क्या चिह्न पाया गया है, यह सब उक्त चित्रमे कुछ भी नही बतलाया गया, जो बतलाना चाहिए था। दूसरा चित्र द्रव्यसग्रहके अगरेजी अनुवाद, टीका, उपोद्घात, प्रस्तावना और नोट्स आदिके प्रधान सपादक तथा लेखक प्रोफेसर शरच्चन्द्रजी घोपालका है। ये दोनो चित्र भी जिल्दके साथ बँधने चाहियें थे। रहा तीसरा चित्र, वह जैनियोके कुछ चिह्नोका द्योतक है और उसका इस ग्रथसे प्राय कुछ भी सम्बन्ध नही है। दूसरे, यह चित्र 'बुकमार्कर' नामके एक अलग पत्रखड पर भी अकित है जो ग्रथमे, रेशमी फीतेसे अलग, पठित पाठको सूचित करनेके लिये रक्खा गया है। इसलिये इसको अलगसे छपाकर रखनेमे फिजूल ही अर्थव्यय किया गया है।

चित्रोको छोडकर ग्रन्थमे, अनेक प्रकारकी सूचियाँ भी लगाई गई हैं। जैसे १ साधारण विपय-सूची, २ उन पुस्तको तथा पत्रोकी नाम-सूची जिनसे इस ग्रन्थके तैयार करनेमे सहायता ली गई अथवा परामर्श किया गया, ३ स्वर-व्यजनोको अगरेजी अक्षरोमे किस प्रकारसे लिखा गया उसकी निदर्शक सूची, ४ मूल

ग्रन्थकी विपय-सूची, ५ गाथासूची, ६ छायासूची, ७ प्रस्तावनामे उल्लिखित खास-खास शब्दो तथा नामोकी वृहत् सूची (General Index)। पहली और चौथे नम्बरकी दोनो विपय-सूचियोको छोडकर शेप सव सूचियाँ अकारादि क्रमसे लिखी गई हैं। अन्तिम वृहत्सूचीके अन्तमे मुझे यह देखकर वहुत प्रसन्नता हुई कि वह सूची कुमार देवेन्द्रप्रसादजीकी धर्मपत्नी श्रीमती 'श्रीकान्तकुमारी देवी' के द्वारा तैयार हुई है। भारतकी स्त्रियाँ यदि योग्यता प्राप्त करके अपने पुरुपोको उनके कार्योमे इस प्रकार सहायता देकर वास्तविक सहधर्मिणी वनने लगें तो देशका वहुत कुछ उद्धार हो सकता है। अस्तु।

ग्रन्थमे एक १८ पेजका परिशिष्ट भी लगाया हुआ है, जिसमे (A) जिन और जिनेश्वर, (B) जैन देवता, (C) द्वीपायन-की कथा, (D) शब्द, (E) धर्म और अधर्मास्तिकाय, (F) ध्यान, इन सव वातोके सम्बन्धमे कुछ जरूरी सूचनाएँ दी गई हैं। इस प्रकार द्रव्यसग्रहके इस सस्करणको एक उत्तम और उपयोगी सस्करण वनानेकी हर तरहसे चेष्टा की गई है। इसके तैयार करनेमे जो परिश्रम किया गया है वह नि सन्देह वहुत प्रशसनीय है। और यह कहनेमे मुझे कोई सकोच नही हो सकता कि हिन्दीमे अभीतक इसकी जोडका कोई सस्करण प्रकाशित नही हुआ। सव मिलाकर इस सस्करणकी पृष्ठ-सख्या ३१८ है (३८१ नही, जैसाकि पहली सूचीके अन्तमे सूचित किया गया है)। मूल्य इस सस्करणका, पृष्ठ-नोटिस्से साढे पाँच रुपये मालूम होता है, परन्तु किसी नोटिसमे मैंने साढे चार रुपये भी देखा है। यह ग्रन्थ एक दूसरे मोटे किन्तु हलके कागज पर भी छपा है। शायद वह मूल्य उसका हो।

इस ग्रथके प्रकाशित करनेमे जो अर्थव्यय हुआ है, उसका

छठा भाग रायसाहब बाबू प्यारेलालजी, वकील चीफकोर्ट, देहलीने अपने पुत्र आदीश्वरलालके विवाहोत्सवकी खुशीमे प्रदान किया है और दूसरा छठा भाग करनालके रईस लाला मुन्शीलालजीकी धर्मपत्नी, अर्थात् देहरादूनके सरकारी खजानची ला० अजित प्रसादकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेली देवीकी माताकी ओरसे दिया गया है। इन उदार व्यक्तियोकी तरफमे यह ग्रन्थ ओरियटल लायब्रेरियो और उन विद्वानोको भेटस्वरूप दिया जाता है जो जैनफिलासोफी और जैन-साहित्यसे विशेष अनुराग रखते हैं, ऐसा इस ग्रथके शुरूमे प्रकाशक-द्वारा सूचित किया गया है।

इस प्रकार ग्रन्थका साधारण परिचय देने अथवा सामान्यालोचनाके बाद अब कुछ विशेप समालोचना की जाती है, जिससे इस ग्रथमालाके द्वारा भविष्यमे जो ग्रथ निकलें उनके प्रकाशित करनेमे विशेष सावधानी रक्खी जाय और इस ग्रथमे जो खास-खास भूलें हुई हैं उनका निराकरण और सुधार हो सके —

१ ग्रथके अन्तमे एक पेजका शुद्धिपत्र लगा हुआ है। इसमे विन्दु-विसर्ग और मात्रा तककी जिन अशुद्धियोको शुद्ध किया गया है उनके देखनेसे मालूम होता है कि ग्रथका सशोधन बडी सूक्ष्म-दृष्टिके साथ हुआ है और इसलिये उसमे कोई अशुद्धि नही रहनी चाहिये। परन्तु तो भी सस्कृत प्राकृतके पाठोमे उस प्रकारकी अनेक अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। अगरेजीमे सूत्रकृताङ्गको 'सूत्रक्रिताङ्ग', विष्णुवर्धनको 'विष्नुवर्धन', सज्ञाको 'सञ्ज्ञा', भवनवासीको 'भुवनवासी', अनुप्रवेशको 'अनुप्रबेश', और आभ्यन्तरको 'आव्यतर' गलत लिखा है[1]। इस प्रकारकी साधारण अशुद्धियोको छोडकर कुछ मोटी अशुद्धियाँ भी देखनेमे आती हैं, जैसे पृष्ठ २ पर प्रमेय-रत्नमालाके स्थानमे 'परीक्षा-

१. देखो, पृ० न० XII, XXVIII, XL, LIV, 57, 87

मुख,' पृ० ३८ पर अप्रत्याख्यानकी जगह 'प्रत्याख्यान' और प्रत्याख्यानकी जगह 'अप्रत्याख्यान,' पृ० ४८ पर अजीवविपयको 'जीवविषय' गलत लिखा है। पृ० XXXIII पर पेज न० X का हवाला गलत दियागया, पृ० XLV पर द्रव्यसग्रहकी कुछ गाथाओंके नम्बर ठीक नही लिखे गये और पृ० XLI पर गोम्मटसारके 'जीवकाड' का सपादन प० मनोहरलालजीके द्वारा सन् १९१४ मे होना लिखा है जो ठीक नही, उसका सपादन प० खूबचदजीने सन् १९१६ मे किया है। इन सब बातोंके सिवाय शुद्धिपत्रमे पृ० XLV का जो सशोधन दिया है उसके द्वारा शुद्ध पाठको उलटा अशुद्ध बनाया गया है, क्योकि द्रव्य-सग्रहके द्वितीय भागमे पुण्य-पापकी जगह जीव-अजीवका कथन नही है। इतना होने पर भी संपूर्ण ग्रथ अपेक्षाकृत बहुत शुद्ध और साफ छपा है, यह कहनेमे कोई सकोच नही हो सकता।

२ ग्रन्थके उपोद्घातमे दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार चार अनुयोगोके नाम क्रमश चरणानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और द्रव्यानुयोग दिये हैं और लिखा है कि 'चरणानुयोगको प्रथमानुयोग भी कहते है, क्योकि वह अनुयोगोकी सूचीमे सबसे पहले आता है।' परन्तु यह लिखना बिल्कुल प्रमाणरहित है। चरणानुयोगको प्रथमानुयोग नही कहते और न दिगम्बर सम्प्रदायमे उपयुंक्त क्रमसे चार अनुयोग माने ही गये हैं। रत्नकरड-श्रावकाचारादि ग्रन्थोसे प्रथमानुयोग और चरणानुयोगका स्पष्ट भेद पाया जाता है। उनमे प्रथमानुयोगसे अभिप्राय धर्मकथानु-योगसे है और चरणानुयोगको तीसरे नम्बर पर रक्खा है। इसी उपोद्घातमे 'चन्द्रप्रज्ञप्ति' को द्वादशाङ्गमेसे एक अग सूचित किया है, जो अग न होकर एक ग्रन्थका नाम है, अथवा दृष्टिवाद नामके अगका एक अश-विशेष है।

३ उपोद्‌घातमे एक स्थान पर, श्रीकुदकुदाचार्यके प्रवचन-सारादि ग्रथोको उमास्वामीके तत्वार्थसूत्र और सिद्धसेनके सम्मतिप्रकरणसे पीछेके बने हुए ग्रथ (Later works) लिखा है। परन्तु बिना किसी प्रमाणके ऐसा लिखना ठीक नही। कुद-कुदका अस्तित्व सिद्धसेनादिकसे पहले पाया जाता तथा माना जाता है।

४ प्रस्तावनामे, नेमिचन्द्राचार्यके 'त्रिलोकसार' का परिचय देते हुए, लिखा है कि 'इस ग्रन्थमे पृथ्वीके घूमनेसे दिन और रात कैसे होते है, इस बातका कथन किया गया है' —"And there is a mention how night and day are caused by motion of the earth." परन्तु त्रिलोकसारमे पृथ्वीके घूमने आदिका कोई कथन नही है। उसमे सूर्यादिककी गतिसे दिन और रातका होना बतलाया है। अत इस लिखनेको लेखक-महाशयकी निरी कल्पना अथवा पश्चिमी सस्कारोका फल कहना चाहिये।

५ चामुडरायने गोम्मटसारपर जो अपने कर्णाटकदेशकी भाषामे टीका लिखी थी उसका नाम, इस ग्रन्थकी प्रस्तावनामे, 'वीरमार्तण्डी' बतलाया गया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'चामुडरायकी उपाधियोमेसे एक उपाधि 'वीरमार्तण्ड' होनेसे उसने अपनी उस टीकाका नाम 'वीरमार्तण्डी' रक्खा है, जिसका अर्थ है वीरमार्तण्डके द्वारा रची हुई', परन्तु इसके लिए कोई खास प्रमाण नही दिया गया। गोम्मटसारके कर्मकाडकी जिस अन्तिम गाथा (न० ९७२) परसे यह सारी कल्पना की गई है उससे इसका भले प्रकार समर्थन नही होता। उसके '**सो राओ चिरकाल णामेण य वीरमत्तंडी**' इस वाक्यमे 'वीरमार्तण्डी' चामुड-रायका विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वीरमार्तण्ड' नामकी

उपाधिका धारक। श्रीयुत पण्डित मनोहरलालजीने भी अपनी टीकामे, जिसे उन्होने सस्कृतादि टीकाओके आधार पर बनाया है, ऐसा ही अर्थ सूचित किया है।

६ इस ग्रन्थके सम्पादक प्रोफेसर शरच्चन्द्रजी घोषालने अपने एक पत्रमे, जो सन् १९१६ के जैनहितैषीके छठे अकमे मुद्रित हुआ है, चामुडराय और नेमिचद्रका समय ईसाकी ११वी शताब्दि प्रगट किया था, और गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके प्रतिष्ठित होने का समय ईस्वी सन् १०७४ बतलाया था। इसके प्रत्युत्तर-मे मैने कुछ प्रमाणोके साथ उक्त समयको ईसाकी १०वी शताब्दि सूचित करते हुए प्रोफेसर साहबसे यह निवेदन किया था कि वे उसपर फिरसे विचार करें। यद्यपि प्रोफेसर साहबने उक्त लेखका कोई उत्तर नही दिया, परन्तु इस ग्रथकी प्रस्तावनासे मालूम होता है कि उन्होने उस पर विचार जरूर किया है। और इसीलिए उन्होने अपने पूर्वविचारको बदलकर मेरी उस सूचनाके अनुसार चामुडरायका समय वही ईसाकी १० वी शताब्दि, इस प्रस्तावनामे, स्थिर किया है। साथ ही इतना विशेष और लिखा है कि गोम्मटेश्वरकी मूर्ति ईस्वी सन् ९८० मे, २ री अप्रैलको प्रतिष्ठित हुई है। आपके लेखानुसार इस तारीख (२ अप्रैल ९८०) मे ज्योतिषशास्त्रानुसार वे सब योग पूरी तौरसे घटित होते हैं जो बाहुबलिचरित्रके 'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये इत्यादि पद्यमे वर्णित हैं। अर्थात् दूसरी अप्रैल सन् ९८० को 'विभव' सम्वत्सर, 'चैत्र शुक्ल पचमी' तिथि, रविवारका दिन, सौभाग्य योग और मृगशिरा नक्षत्र था। उसी दिन कुभ लग्नमे यह प्रतिष्ठा हुई है। रही कल्कि सवत् ६०० की बात, उसके सबधमे आपने यह कल्पना उपस्थित की है कि 'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये' का अर्थ कल्कि सवत् ६०० के स्थानमे

'कल्किकी छट्ठी शताब्दी' किया जाय, जिसके अनुसार कल्कि सवत् ५०८ उक्त ईस्वी सन् ६८० के बरावर होता है। कल्पना अच्छी की गई है और इसके माननेमे कोई हानि नही, यदि अन्य प्रकारसे सब योग पूर्णतया घटित होते हो। परन्तु ईस्वी सन् ६८० शक सवत् ६०२ के वरावर है। ज्योतिपशास्त्रानुसार शक सवत्मे १२ जोडकर ६० का भाग देनेसे जो शेप रहता है उससे प्रभव-विभवादि सवतोका क्रमश नाम मालूम किया जाता है। यथा—

"शकेन्द्रकालाऽर्कयुत कृत्वा शून्यरसैः हृतः।
शेषा संवत्सरा ज्ञेया. प्रभवाद्या बुधै. क्रमात्॥"

इस हिसाबसे शक सवत ६०२ मे १२ जोडकर ६० का भाग देनेसे अवशेप १४ रहते हैं, और १४ वॉ सवत् 'विक्रम' है, जिससे शक सवत् ६०२ का नाम 'विक्रम' होता है, 'विभव' नही। 'विभव' सवत् दूसरे नम्बर पर है जैसा कि, ज्योतिप-शास्त्रोमे कहे हुए, 'प्रभवो विभव शुक्ल' इत्यादि सवतोके नाम-सूचक पद्योसे पाया जाता है। ऐसी हालतमे, जब ईस्वी सन् ६८० मे 'विभव' सवत्सर ही नही वनता, तव गणित करके अन्य योगोके जाँच करनेकी जरूरत नही है। और इसलिये जब-तक ज्योतिपशास्त्रके वे खास नियम प्रकट न किये जायँ जिनके आधारपर शक स० ६०२ का नाम 'विभव' बन सके तथा अन्य योग भी घटित हो सकें, तबतक मिस्टर लेविस राइस आदि विद्वानोके कथनानुसार यही मानना ठीक होगा कि गोम्मटेश्वरकी मूर्ति ईस्वी सन् ९७८ और ९८४ के मध्यवर्ती किसी समयमे प्रतिष्ठित हुई है।

७ प्रस्तावनामे, ब्रह्मदेवकी सस्कृत टीकाका परिचय देते हुए, लिखा है कि यह टीका द्रव्यसग्रहके कर्ता नेमिचन्द्रसे कई

शताब्दी वादकी वनी हुई है। परन्तु इसका कोई प्रमाण नही दिया गया। सिर्फ, विक्रमकी १७ वी शताब्दिमे वनी हुई स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकाम इस टीकाके कुछ अश उदधृत किये गये हैं, इतने परसे ही उक्त निश्चय दृढ किया गया है, जो ठीक नही है। ऐसा करना तर्क-पद्धतिसे विल्कुल गिरा हुआ है। इसके लिये कुछ विशेष अनुसधानोकी जरूरत है।

ब्रह्मदेवने अपनी इस टीकाकी प्रस्तावनामे लिखा है कि 'यह द्रव्यसग्रह नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवके द्वारा, भाण्डागारादि अनेक नियोगोके अधिकारी सोमनामके राजश्रेष्ठिके निमित्त, आश्रमनाम नगरके मुनिसुव्रत चैत्यालयमे रचा गया है, और वह नगर उस समय धाराधीश महाराज भोजदेव कलिकालचक्रवर्तिसंवन्धी श्रीपाल मडलेश्वरके अधिकारमे था।' साथ ही यह भी सूचित किया है कि 'पहले २६ गाथा-प्रमाण लघुद्रव्यसग्रहकी रचना की गई थी, पीछेसे, विशेष तत्त्वपरिज्ञानार्थ, उसे वढाकर यह वृहद्द्रव्यसग्रह वनाया गया है। प्रोफेसर साहवने ब्रह्मदेवके इस कथनको अस्वीकार किया है और उसके दो कारण वतलाये हैं—एक यह कि, खुद द्रव्यसग्रहमे इस विषयका कोई उल्लेख नही है, तथा ग्रथके अन्तिम पद्यमे ग्रथका नाम 'वृहद्द्रव्यसग्रह' न देकर 'द्रव्यसग्रह' दिया है। और दूसरा यह कि, यदि इस कथनके अनुसार नेमिचन्द्रका अस्तित्व मालवाके राजा भोजके राजत्वकालमे माना जाय तो नेमिचन्द्रका समय उस समयसे पीछे हो जाता है जो कि शिलालेखो और दूसरे प्रमाणोके आधारपर इससे पहले सिद्ध किया जा चुका है (अर्थात् ईसाकी १० वी शताब्दिके स्थानमे ११ वी शताब्दि हो जाता है)। इन दोनो कारणोमेसे पहला कारण वहुत साधारण है और उससे कुछ भी साध्यकी सिद्धि नही हो सकती। ग्रथकर्ताके लिये ग्रथमे इस

प्रकारका उल्लेख करना कोई जरूरी नही है, खासकर ऐसे ग्रथमे जो सूत्ररूपसे लिखा गया हो। लघु और बृहत् ये सज्ञायें एक नामके दो ग्रथोमे परस्पर अपेक्षासे होती हैं, परन्तु जब एक ग्रथकार अपनी उसी कृतिमे कुछ वृद्धि करता है तो उसे उसका नाम बदलने या उसमे बृहत् शब्द लगानेकी जरूरत नही है। हाँ, ब्रह्मदेवकी तरह दूसरा व्यक्ति उसकी सूचना कर सकता है।

रहा दूसरा कारण, वह तभी उपस्थित किया जा सकता है, जब पहले यह सिद्ध हो जाय कि यह द्रव्यसग्रह ग्रथ उन्ही नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है जो गोम्मटसार ग्रथके कर्ता हैं। प्रोफेसर साहबने द्रव्यसग्रहको उक्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी कृति मानकर ही यह दूसरा कारण उपस्थित किया है। परन्तु ग्रथभरमे इस बातके सिद्ध करनेकी कोई चेष्टा नही की गई (जिसकी बहुत बडी जरूरत थी) कि यह ग्रथ वास्तवमे उक्त सिद्धान्तचक्रवर्तीका ही बनाया हुआ है। कोई भी ऐसा प्राचीन ग्रथ प्रमाणमे नही दिया गया, जिसमे यह ग्रथ गोम्मटसारके कर्ताकी कृतिरूपसे स्वीकृत हुआ हो, और न यह बतलाया गया कि द्रव्यसग्रहके कर्ताका समय कुछ पीछे मान लेनेसे कौन-सी बाधा उपस्थित होती है। ऐसी हालतमे ब्रह्मदेवके उक्त कथनको सहसा अप्रमाण या असत्य नही ठहराया जा सकता। ब्रह्मदेवका वह कथन ऐसे ढगसे और ऐसी तफसीलके साथ लिखा गया है कि, उसे पढते समय यह खयाल आये बिना नही रहता कि या तो ब्रह्मदेवजी उस समय मौजूद थे, जब कि द्रव्यसग्रह बनकर तैयार हुआ था, अथवा उन्हे दूसरे किसी खास-मार्गसे इन सब बातोका पूरा ज्ञान प्राप्त हुआ है। द्रव्यसग्रहकी गाथाओपरसे भी उसके पहले लघु और फिर बृहत् बननेकी कुछ

कल्पना जरूर उत्पन्न होती है[1]। इसके सिवाय सस्कृत टीकामे अनेक स्थानो पर नेमिचन्द्रका सिद्धान्तदेव नामसे उल्लेख किया गया है, 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' नामसे नही, और गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' कहलाते हैं। उन्होने कर्मकाडकी एक गाथा (न० ३९७) मे स्वय अपनेको चक्रवर्ती प्रकट भी किया है। साथ ही, एक वात और भी नोट किये जानेके योग्य है और वह यह है कि द्रव्यसग्रहके कर्ताने भावास्रवके भेदोमें 'प्रमाद' का भी वर्णन किया है और अविरतके पाँच तथा कपायके चार भेद ग्रहण किये हैं। परन्तु गोम्मटसार के कर्ताने 'प्रमाद' को भावास्रवके भेदोमे नही माना और अविरतके (दूसरे ही प्रकारके) वारह तथा कपायके पच्चीस भेद स्वीकार किये हैं, जैसा कि दोनो ग्रन्थोकी निम्न गाथाओसे प्रकट है —

मिच्छताविरदिपमादजोगकोहादओ थ विण्णेया।
पण पण पणदह तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स॥

—द्रव्यसग्रह ३०

मिच्छत्तमविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पण वारस पणवीसं पन्नरसा होंति तब्भेया॥

—गोम्मटसार, कर्मकाड ७८६

एक ही विपय पर, दोनो ग्रथोके इन विभिन्न कथनोसे ग्रथ कर्ताओकी विभिन्नताका वहुत कुछ वोध होता है। इन सव वातो-के मौजूद होते हुए कोई आश्चर्य नही कि द्रव्यसग्रहके कर्ता गोम्मटसारके कर्तासे भिन्न कोई दूसरे ही नेमिचन्द्र हो। जैन-समाजमे नेमिचन्द्र नामके धारक अनेक विद्वान आचार्य हो गये हैं। एक नेमिचन्द्र ईसाकी ग्यारहवी शताव्दिमे भी हुए हैं जो

---

१. वादको लघुद्रव्यसंग्रहकी खोज होकर वह सर्वप्रथम अनेकान्त वर्ष १२ की किरण ५ में प्रकाशित भी किया जा चुका है।

वसुनन्दि सैद्धान्तिकके गुरु थे और जिन्हे वसुनन्दि-श्रावकाचारमे 'जिनागमरूपी समुद्रकी वेलातरगोसे धूयमान और सम्पूर्ण जगतमे विख्यात' लिखा है। वहुत सम्भव है कि, यही नेमिचन्द्र द्रव्य-सग्रहके कर्ता हो। परन्तु मेरी रायमे अभी तक यह असिद्ध है कि, द्रव्यसग्रह कौनसे नेमिचन्द्राचार्यका वनाया हुआ है, और जवतक यह सिद्ध न हो जाय कि द्रव्यसगह तथा गोम्मटसारके कर्ता दोनो एक ही व्यक्ति थे उस समय तक प्रोफेसर साहवकी उक्त ३० पेजकी सारी प्रस्तावना प्राय व्यर्थ और असम्वन्धित ही रहेगी। क्योकि वह बहुधा गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्र और उनके शिष्य चामुण्डरायको लक्ष्य करके ही लिखी गई है।

८ ग्रथभरमे, यद्यपि अनुवादकार्य आमतौरसे अच्छा हुआ है, परन्तु कही-कही उसमे भूलें भी की गई हैं, जिनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं —

(क) सम्यग्दर्शनादिकका अनुवाद करते हुए 'सम्यक्' शब्दका अनुवाद (Right) आदिकी जगह (Perfect) अर्थात् 'पूर्ण' किया है, और इस तरह पर पूर्णश्रद्धान, पूर्णज्ञान[1] (केवलज्ञान) और पूर्णचारित्रहीको मोक्षकी प्राप्तिका उपाय वतलाया है। परन्तु श्रद्धानादिककी यह पूर्णता कौनसे गुणस्थानमे जाकर होती है और उससे पहलेके गुणस्थानोमे सम्यग्दर्शनादिकका अस्तित्व माना गया है या कि नही, साथ ही इसी ग्रंथकी मूल गाथाओमे रत्नत्रयका जो स्वरूप दिया है उससे उक्त कथनका कितना विरोध आता है, इन सब बातो पर अनुवादक महाशयने कुछ भी ध्यान नही दिया। इसलिए यह अनुवाद ठीक नही हुआ।

---

१. देखो इसी ग्रन्थका पृ० ११४ जहाँ Perfect Knowledge (पूर्णज्ञान) उस ज्ञानको वतलाया है जो ज्ञानवरणीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है।

(ख) पृष्ठ ११४ पर, दर्शनावरणीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले अनन्तदर्शनका अनुवाद Perfect Faith अर्थात् 'पूर्णश्रद्धान' अथवा सम्यक् श्रद्धान किया है, जो जैन दृष्टिसे बिल्कुल गिरा हुआ है। इस अनुवादके द्वारा मोहनीय कर्मके उपशमादिकसे सम्बन्ध रखनेवाले सम्यग्दर्शनको और दर्शनावरणीय कर्मके क्षयोपशमादिकसे उत्पन्न होनेवाले दर्शनको एक कर दिया गया है।

(ग) पृ०५ पर 'माण्डलिक ग्रन्थकार' का अर्थ 'अन्य समस्त ग्रन्थकार' (All other writers) किया है जो ठीक नही है। माडलिकसे अभिप्राय वहाँ मतविशेषसे है।

(घ) प्रस्तावनामे एक स्थानपर, 'सुयोगे सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित-भगणे'का अनुवाद दिया है—(When the Auspicious mrigsira star was visible अर्थात् जिस समय शुभ मृगशिरा नक्षत्र प्रकाशित था। इस अनुवादमे 'सुयोगे सौभाग्ये' का कोई ठीक अर्थ नही किया गया। मालूम होता है कि इन पदोमे ज्योतिषशास्त्रविहित 'सौभाग्य' नामके जिस योगका उल्लेख था, उसे अनुवादक महाशयने नही समझा और इसीलिये सौभाग्यका (Auspicious) (शुभ) अर्थ करके उसे मृगशिराका विशेषण बना दिया है। इस प्रकारकी भूलोके सिवाय अनुवादकी तरतीब (रचना) मे भी कुछ भूलें हुई हैं, जिनसे मूल आशयमे कुछ गडबडी पड गई है ? जैसे कि गाथा न० ४५का अनुवाद। इस अनुवादमे दूसरा वाक्य इस ढगसे रक्खा गया है, जिससे यह मालूम होता है कि पहले वाक्यमे चारित्रका जो स्वरूप कहा गया है, वह व्यवहारनयको छोडकर किसी दूसरी ही नय-विवक्षासे कथन किया गया है। परन्तु

वास्तवमे मूलका ऐसा अभिप्राय नही है। इसी तरह २१ वें नम्बरकी गाथाका अनुवाद करते हुए निश्चय और व्यवहार कालके स्वरूपमे परस्पर गडबडी की गई हैं। ४४ वी गाथाके अनुवादकी भी ऐसी ही दशा है।

अब ग्रन्थकी अगरेजी टीकामे जो दूसरे शास्त्रविरुद्ध कथन पाये जाते हैं, उनके भी दो-चार नमूने दिखलाकर यह समालो-चना पूरी की जाती है —

(क) पृष्ठ १२ पर गणधरोको केवलज्ञानी लिखा है, जो ठीक नही। गणधर अपनी उस अवस्थामे सिर्फ चार ज्ञानके धारक होते हैं।

(ख) पृ० १५ पर 'प्रत्यभिज्ञान' और हिन्दूफिलासोफीके 'उपमान प्रमाण' को एक बतलाया है। परन्तु स्वरूपसे ऐसा नही है। प्रत्यभिज्ञानका सिर्फ एक भेद, जिसे सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं, उपमान प्रमाणके बराबर हो सकता है।

(ग) पृ० ३६ पर यह सूचित किया है कि, जो जीव एक बार निगोदसे निकल जाता है—उन्नति करना प्रारभ कर देता है—वह फिर कभी उस निगोद-दशाको प्राप्त नही होता, उसके पतनका फिर कोई अवसर नही रहता। परन्तु यह कथन जैन-शासनके विरुद्ध है। जैनधर्मकी शिक्षाके अनुसार निगोदसे निकला हुआ जीव फिर भी निगोदमे जा सकता है और उन्नतिकी चरम सीमाको पहुँचनेके पहले जो उत्थान होता है उसका पतन भी कथञ्चित् हो सकता है।

(घ) गाथा न० ३० की टीकामे पाँच प्रकारके मिथ्यात्वो-का जो स्वरूप लिखा है वह प्राय शास्त्र-सम्मत मालूम नही होता। जैसे विपरीत मिथ्यात्व उसे बतलाया है 'जिसमे यह खयाल किया जाता है कि यह या वह दोनो सत्य हो सकते हैं'

और अज्ञान मिथ्यात्व उसे, 'जिसमे श्रद्धानका सर्वथा अभाव होता है अर्थात किसी प्रकारका कोई श्रद्धान नही होता।' इस प्रकारके स्वरूपका तत्वार्थसार और तत्वार्थ-राजवार्तिकादि ग्रन्थो-से मेल नही मिलता।

(५) गाथा न० ४४ की टीकामे ज्ञानावरणीय कर्मके उपशमसे 'ज्ञान' और दर्शनावरणीय कर्मके उपशमसे 'दर्शनका' उत्पन्न होना लिखा है, और इस तरहपर ज्ञान तथा दर्शनको 'औपशमिक' भी प्रगट किया है, जो जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे विल्कुल गिरा हुआ है, क्योकि ज्ञान तथा दर्शन 'क्षायिक' और 'क्षापोपशमिक' इस तरह दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार ग्रन्थके परिशिष्टमे, जो यह लिखा है कि केवलज्ञानीको कर्मोका कोई आस्रव नही होता, वह भी जैनसिद्धान्तकी दृष्टिसे ठीक नही है। क्योकि सयोगकेवलीके योग विद्यमान होनेसे कर्मोका आश्रव जरूर होता है—भलेही कषायका अभाव होनेसे स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध न हो।

अन्तमे मैं अपने मित्र श्रीयुत कुमार देवेन्द्रप्रसादजीको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ, जिन्होने प्राचीन जैनगथोको इस प्रकार टीका-टिप्पणादि-सहित, उत्तमताके साथ प्रकाशित करनेका यह महान् बीडा उठाया है। साथ ही, उनसे यह प्रार्थना भी करता हूँ कि, वे भविष्यमे इस बातका पूरा खयाल रक्खें कि उनके यहाँसे प्रकाशित हुए ग्रन्थोमे इस प्रकारकी भूले न रहने पायँ, और इस तरहसे उनकी ग्रन्थमाला एक आदर्श ग्रन्थमाला बनकर अपने उस उद्देश्यको पूरा करे जिसको लेकर वह अव-तरित हुई है[1]।

---

१. जैनहितैषी, भाग १३, पृ० ५४१ । ता० ३-१-१९१८

'जयधवला' का प्रकाशन : २ :

श्रीगुणधराचार्य-विरचित 'कसायपाहुड' नामक सिद्धान्तग्रथ-पर वीरसेनाचार्यकी रची हुई 'जयधवला' टीका है, जो यतिवृपभाचार्यकी चूर्णिको भी साथ मे लिये हुए है और 'जयधवल' सिद्धान्तके नामसे प्रसिद्ध है। हालमे इस ग्रथरत्नके प्रकाशनकी एक योजना प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम० ए०, एल० एल० वी० की ओरसे प्रकट हुई है, जिसके साथमे ग्रथकी रचनाका इतिहास ही नही, वल्कि ग्रथ जिस रूपमे—मूलप्राकृत, सस्कृतछाया, हिन्दी अनुवाद व टिप्पणीसहित जिस ढगसे—प्रकाशित किया जायगा उसका नमूना भी ग्रथके प्रारम्भिक अशको ११ पृष्ठोमे (पृ० ६ से १६ तक) छाप कर दिया है। ग्रथके सम्पादनका सारा भार अकेले प्रोफेसर साहबने अपने कन्धोपर उठाया है और प्रकाशककी जिम्मेदारीको भेलसाके श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द सितावरायजीने अपने ऊपर लिया है। सेठजीके ११ हजारके दानद्रव्यकी सहायतासे ही यह गुरुतर कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है। ग्रथको प्राय सौ सौ पृष्ठोके खडोमे द्विमासिक या त्रैमासिक रूपसे निकालनेका विचार प्रकट किया गया है, जनतासे अधिक सख्यामें ग्राहक होनेकी अपील की गई है और उसकी सहायता व सहानुभूति माँगी गई है।

जिस प्राचीन महत्वके ग्रन्थका वर्षोंसे सिर्फ नाम ही सुना जाता था, कुछ अपवादोको छोडकर शेपको जिसका दर्शन भी अभी तक प्राप्त नही हुआ था और जो मूडविद्रीकी कालकोठरीसे किसी तरह बाहर आकर भी अलभ्य बना हुआ था उसके एकदम प्रकाशनकी योजनाके समाचारोको सुनकर किस पुरातन जैन-

साहित्यके प्रेमीको प्रसन्नता न होगी ? मेरे लिए तो यह और भी अधिक प्रसन्नताका विषय है, क्योकि कुछ अर्सेसे यह ग्रथ मेरे विशेष परिचयमे आया हुआ है। गतवर्ष (सन् १६३३) कोई चार महीने आरामे रहकर तथा ६–१० घटेका प्रतिदिन परिश्रम करके मैंने धवल और जयधवल दोनो ही सिद्धान्त-ग्रथोका अवलोकन किया है और लगभग एक हजार पृष्ठके उपयोगी नोट्स भी उनपरसे उतारे हैं, जिससे समाजको इन ग्रथोका विस्तृत परिचय दिया जा सके। उस वक्तसे इन ग्रथोके विषयमे रिसर्च (अनुसधान) का भी कितना ही कार्य चल रहा है।

इस अवलोकनादिपरसे मुझे इन ग्रथो, ग्रथप्रतियोके लेखन-कार्य और उनके कुछ विभिन्न पाठोका जैसा कुछ अनुभव हुआ है उसे सामने रखकर जब मैं प्रकाशनकी उक्त योजनाको पढता हूँ तो मुझे यह कहने मे ज़रा भी सकोच नही होता कि इन ग्रथोके प्रकाशनमे आवश्यकतासे कही अधिक शीघ्रतासे काम लिया जा रहा है। ये ग्रन्थ जितने अधिक महत्वके हैं उतनी ही अधिक सावधानीसे प्रकाशित किये जानेके योग्य हैं। खुद प्रोफेसर साहबने इस बातको स्वीकार किया है कि 'इतने बडे ग्रन्थोके सम्पादनादिकी व्यवस्थाका बारबार होना कठिन है' और यह ठीक ही है। ऐसी हालतमे प्रथम बार ही बहुत अधिक सावधानी तथा परिश्रमके साथ इनका सम्पादनादि कार्य उत्तमरीतिसे होना चाहिये, जिससे मूलग्रन्थ अपने असली रूपमे पाठकोंके सामने आ सके और उसके विषयमे किसी प्रकारकी अशुद्धियाँ, गलतफहमियाँ अथवा भ्रान्तियाँ रूढ न होने पावें। इसके लिये निम्नलिखित बातोकी खास जरूरत है :—

(१) सबसे पहला मुख्य कार्य यह है कि जिस प्रतिपरसे ग्रन्थ छपाया जाय उसे मूडबिद्रीकी उस प्राचीन प्रतिपरसे मुका-

चला करके पहले ठीक कर लिया जाय, जो वहाँ ताडपत्रादिपर सुरक्षित है। मूडबिद्रीके पञ्च जब 'महाधवल' नामसे प्रसिद्ध होनेवाले ग्रथकी कॉपी तक देनेके लिए रजामन्द सुने जाते हैं तब वहाँ ठहरकर मुकाबलेका यह कार्य हो जाना कोई बडी बात नही है। सेठ रावजी सखाराम दोशी आदिके प्रयत्न करनेपर इसके लिए भी उनकी स्वीकृति मिल सकती है। यदि किसी तरहपर भी मुकाबलेका यह कार्य न हो सके तो फिर प० गजपति शास्त्रीकी कन्नडी अक्षरोमे लिखी हुई उस प्रतिपरसे मुकाबला किया जाना चाहिए जो ला० प्रद्युम्नकुमार जी रईस सहारनपुरके मन्दिरमे मौजूद है और जिस परसे ही उत्तर भारतमे ग्रन्थप्रतिका कार्य प० सीताराम शास्त्री-द्वारा प्रारम्भ हुआ है। साथ ही, देवनागरी अक्षरोमे लिखी हुई प० सीताराम शास्त्रीके पासकी उस प्रथम प्रतिको भी तुलनात्मक दृष्टिसे देख लेना चाहिए जो गजपति शास्त्रीकी प्राय बोल कर लिखाई हुई अथवा उनकी देखरेखमे लिखी हुई कही जाती है और जिसके आधारपर ही प० सीताराम-द्वारा सहारनपुर आदिकी प्रतियाँ तय्यार हुई हैं। इस प्रतिकी भी अप्राप्तिमे, प० सीताराम शास्त्री की लिखी हुई प्राय उन सभी प्रतियोको मुकाबलेके लिए सामने रखना चाहिए जो सहारनपुर, आरा, शोलापुर, आदिमे मौजूद हैं, क्योकि उक्त शास्त्रीकी लिखी हुई इन प्रतियोमे अनेक स्थानोपर पाठभेद पाया जाता है—किसी किसी प्रतिमे कोई पाठ छूट गया है तो दूसरी प्रतिमे वह उपलब्ध होता है अथवा अतिरिक्त या परिवर्तित रूपमे भी पाया जाता है। सबको सामने रखकर मुकाबला करनेसे ही वह 'पूर्ण सशोधन' का कार्य ठीक बन सकेगा जिसकी योजनापत्रकमे सूचना की गई है।

(२) हिन्दी अनुवाद ठीक ठीक होनेके साथ सुव्यवस्थित,

प्रभावक और मूलकी अर्थ-गहराई अथवा उसकी नयविवक्षाको प्रकट करनेवाला होना चाहिये—मात्र शब्दानुवादसे काम नही चलेगा।

(३) तुलनात्मक अध्ययनको लिये हुए महत्वपूर्ण टिप्पणियोसे ग्रन्थ सर्वत्र विभूषित किया जाना चाहिये।

(४) छपाई अच्छे व्यवस्थित ढगको लिये हुए बहुत ही शुद्ध तथा साफ होनी चाहिये, जिसके लिये यथायोग्य सुन्दर टाइपोकी योजनाके साथ प्रेस-कापी और प्रूफ-रीडिगमे अत्यन्त सावधानी रखनेकी जरूरत है। साथ ही कागज अच्छा पुष्ट, सुदृढ एव स्थायी होना चाहिये।

प्रकाशनकार्यको हाथमे लेनेसे पहले इन सब बातोपर ठीक तौरसे ध्यान दिया गया मालूम नही होता—मूलादि प्रतियोपरसे मुकाबलेकी तो कोई बात भी योजनापत्रमे नही कही गई। इसीसे प्रोफेसर साहबने इतिहास आदिका जो भी नमूना प्रस्तुत किया है वह बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण जान पडता है—कही-कही मूलपाठ तक छूट गया है, सशोधनमे कमी रह गई है, गलत सशोधन भी हुआ है, छापेकी भी अशुद्धियाँ पाई जाती हैं, छपाईका ढग भी स्खलित है, टिप्पणियाँ बहुत साधारण हैं, अनुवाद जैसा चाहिये वैसा निर्दोष एव प्रभावक नही है, और ग्रथरचनाका इतिहास तो सम्पादकजीकी अध्ययनादि-विषयक बहुत बडी असावधानीको व्यक्त करता है। उदाहरणके तौरपर यहाँ इन सब त्रुटियोका पाठकोको थोडा-थोडासा परिचय कराया जाता है —

(क) जयधवला टीकाकी रचनाका इतिहास देते हुए, प्रोफेसर साहबने महावीर स्वामीके निर्वाणके पश्चात् एकसौ वर्षमे पाँच श्रुतकेवलियोका होना बतलाया है, अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् १७३ वर्षमे ग्यारह अंग-दशपूर्वके पाठी ग्यारह

आचार्योंका होना लिखा है, महावीरके निर्वाणसे ६११ वर्ष पीछे द्वादशागका लुप्त होना प्रकट किया है और इस वीरनिर्वाण सवत् ६११ के बादके किसी समयमे ही, जो विक्रम सवत् ८६५ से पीछेका न होना चहिये, गुणधराचार्यके अस्तित्वको सूचित किया है। **समय-सम्बन्धी यह सब कथन और तो क्या, खुद जयधवला टीकाके ही विरुद्ध है।** क्योकि इस टीकामे, ग्रन्थावतारके कालक्रमको सूचित करते हुए महावीरके निर्वाणसे १६२ (६२ + १००) वर्षके अन्दर क्रमश तीन केवलियो और पॉच श्रुत-केवलियो का होना लिखा है, भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् १८३ वर्षके समयमे ग्यारह अग दशपूर्वके पाठियोका होना वतलाया है ("तेसिं कालो तेसीदि सदवस्साणि"), महावीरके निर्वाणसे ६८३ ("छस्सदवासाणि तेसीदिवाससमयाहियाणि") वर्षके वाद आचारागके (अथवा द्वादशागके) विच्छेद होनेको सूचित किया है और इस ६८३ वर्षके बादकी आचार्य-परम्परामें गुणधराचार्यके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। धवलसिद्धान्त और मुख्य मुख्य ग्रन्थोमे भी यही सव ६८३ वर्षका समय आचारागके विच्छेद होने तकका दिया है। प्रोफेसर साहवका इसे बिना किसी ऊहापोहके ६११ वर्षका समय वतलाना भ्रमपूर्ण है। जान पडता है वे शीघ्रतामे केवलियोंके ६२ वर्षके समयकी गणना करना ही भूल गये और "तेसीदिसद" का अर्थ अङ्कादिकी किसी गलतीसे १८३ की जगह १७३ वर्ष समझ गये हैं। फिर भी निर्वाणसे अङ्गविच्छेद तकके सर्वकालपरिमाणको सूचित करनेके लिये शब्दो तथा अङ्कोमे स्पष्टरूपसे लिखी हुई ६८३ वर्षकी सख्याकी उन्होने क्यो उपेक्षा की, यह कुछ समझमे नही आता ॥

(ख) पृष्ठ ११ पर 'गुणहरभडारएण' के अनन्तर और 'गाहासुत्ताणमादीए' से पहले निम्न पाठ छूट गया है, जो आरा

आदि की प्रतियोमे पाया जाता है और जो इस टीकाग्रन्थके रचने-की प्रतिज्ञाको लिये हुए है —

"तित्थवोच्छेदभयेणुवइट्ठगाहाणं अवगाहियसयतायाहुउत्थाण सचुण्णिसुत्ताण विवरणं कस्सामो। सपहि गुणहरभडारएण"

यदि दूसरी उपलब्ध प्रतियोसे ही मुकावला कर लिया होता तो इस प्रकारकी त्रुटि न रहती।

(ग) पृष्ठ १४ पर मूलका पाठ इस प्रकार दिया है —

"पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण गुणीणं कम्मक्खयकखुवानमिदि ण वोत्तुं जुत्तं पुण्णबंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो मंगलस्सेव सरागसंजमस्स विपरिच्चागप्प-संगादो।

ण च संजमप्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभाव-प्पसंगादो सरागसंजमो गुणस्सेडि-णिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज-गुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पञ्च-वट्टाणं कायव्वं। अरहंत-णमोक्कारो संपहियबंधादो असखेज्ज-गुण-कम्म-क्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उत्तं च—"

इसके प्रथम पैरेग्राफमे 'गुणीण' की जगह 'मुणीण' पाठका संशोधन होना चाहिये था। पूर्वापर सम्बन्धको देखते हुए 'मुणीण' पाठ ही ठीक बैठता है—अगले पैरेग्राफमे भी दो स्थानो पर 'मुणीण' पद ही प्रयुक्त हुआ है। 'परिच्चाग' से पहले 'वि' शब्द को अलग रखना चाहिये था, वह वहाँ 'अपि' का वाचक है, उसे 'परिच्चाग' का अग बनाकर और 'विपरित्याग' रूपसे छायानुवाद करके जो सशोधन किया गया है वह ठीक नही है। इस गलत सशोधन अथवा शुद्धको अशुद्ध बनानेके परिणाम-स्वरूप ही 'मगलस्सेव' का छायानुवाद 'मंगलस्येव' की जहग

'मगलस्यैव' किया गया है और तदनुसार उसका अर्थ भी गलत करना पडा है ।

'ण च सजम-प्पसगभावेण' यह पाठ प्रसगको देखते हुए कुछ अशुद्ध एव अधूरासा जान पडता है और सशोधनकी अपेक्षा रखता है ।

(घ) पृष्ठ १४ पर उक्त पाठका जो हिन्दी अनुवाद प्रोफेसर साहवने दिया है वह इस प्रकार है —

"जो पुण्यकर्मबन्धके अभिलाषी देशव्रती (श्रावक) हैं उन्हे मगल करना उचित है, कर्मक्षयकी आकाक्षा रखनेवाले गुणी (मुनियो) को नही' ऐसा कहना भी उचित नही है, क्योकि पुण्यवन्धको हेतुत्वके प्रति उन्हे कोई विशेप भाव नही है, तथा इससे तो जो मगल सराग सयम है उसके ही सर्वथा त्यागका प्रसग आयगा ।

और सयम प्रसगके भावमे निर्वाणगमनके अभावका प्रसग नही हो सकता । सरागसंयम गुणश्रेणि निर्जराका कारण है और वन्धसे मोक्ष असख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है, इसीसे सराग-सयममे मुनियोका वर्तना योग्य है । अत (मगलका) प्रत्यवस्थान अर्थात् निराकरण नही करना चाहिये । अरहतका नमस्कार साम्प्रतिक वन्धसे असख्येय गुणा कर्मक्षयकारक है इससे उसमे भी मुनियोकी प्रवृत्तिका प्रसग आता है ।"

इस अनुवाद परसे विपयका ठीक स्पष्टीकरण नही होता—वह कितनी ही गडवडको लिये हुए जान पडता है । प्रथम पैरेग्राफमे 'क्योकि' से प्रारम्भ होनेवाला अनुवाद विशेष आपत्तिके योग्य मालूम होता है । वहाँ मूलका भाव इस प्रकार है—

'क्योकि पुण्यवन्धके हेतुत्वके प्रति (दोनोमे) कोई विशेप नही है—ऐसा नियम नही कि श्रावक तो पुण्यवन्धके कारणका

आचरण करें, परन्तु मुनि न करें। (यदि ऐसा विशेष अथवा नियम किया जायगा तो) मगलकी तरह सरागसयमके भी त्याग का प्रसंग आएगा—पुण्यबन्धका कारण होनेसे वह भी मुनियोंके नही बन सकेगा।'

यदि विषयका स्पष्टीकरण करते हुए इस रूपमे ही अनुवाद रख दिया जाता तो, मैं समझता हूँ, पाठकोको मूलका आशय समझनेमे ज़रा भी दिक्कत न होती।

इसी तरह दूसरे पैरेग्राफका अनुवाद भी आपत्तिके योग्य है। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि 'ण च सजमप्पसगभावेण' यह पाठ प्रसंगको देखते हुए कुछ अशुद्ध एव अधूरासा जान पडता है और वह ठीक ही है, क्योकि 'णिव्वुइगमणाभाव-प्पसगादो' यह वाक्य हेतुरूपमे प्रयुक्त हुआ है इसलिये अपने पूर्वमे एक पूरे वाक्यके सद्भावकी अपेक्षा रखता है जो उक्त पाठसे पूरी नही होती। सम्भवत वह वाक्य 'ण च सरागसजमस्स परिच्चागो जुत्तो' ऐसा कुछ होना चाहिये और उसके अनन्तर 'असजमप्पसगभावेण' यह वाक्यखड उक्त हेतुवाक्यके पूर्वमे रहना चाहिये। इससे मूलका यह आशय स्पष्ट हो जायगा कि—'सराग-सयमका परित्याग ठीक नही है, क्योकि इस तरह असयमका प्रसग उपस्थित होनेसे निर्वाणगमनके अभावका ही प्रसग आएगा।'

इस अनुवादमे 'और बन्धसे मोक्ष असख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है' यह अश विशेष आपत्तिके योग्य है। इसमे 'तेण' का अर्थ 'और' और 'असख्येयगुणा' का भाव 'अधिक उत्तम' गलत दिया गया है। मूलका आशय इस प्रकार जान पडता है—

'इससे उसमे बन्धकी अपेक्षा मोक्ष असख्येयगुणा (असख्यात-गुणी कर्मनिर्जराको लिये हुए) है।'

'अत ' के बाद ब्रैकेटमें 'मगल' के स्थानपर 'सरागसयग' होना चाहिये था और 'निराकरण' की जगह 'परित्याग' शब्दका प्रयोग प्रकरणके अधिक अनुकूल रहता। और अन्तिम वाक्यमे 'प्रसग' आता है' ऐसा जो अनुवाद दिया गया है वह भी आपत्तिके योग्य है; क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है 'मानो वह प्रसग सरागसयमके परित्यागकी तरह अनिष्ट है'। परन्तु अरहन्तोंके नमस्कारमे मुनियोंकी प्रवृत्तिका होना कोई अनिष्ट नही है। अत उस प्रवृत्तिका 'प्रसग पाया जाता है' या 'प्रसग ठीक बैठता है' ऐसा कुछ अनुवाद होना चाहिये था। अथवा अनुवादका दूसरा ही ढग अख्तियार किया जाना चाहिये था।

इसी प्रकारसे अन्यत्र भी अनुवादकी त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जो सब अनुवादको अन्यथा एव श्रीहीन बनाये हुए हैं और जिनका एक दूसरा नमूना मङ्गलाचरणकी पाँचवी गाथाके अनुवादमे 'णमह' के लिये 'नमस्कार करो' शब्दोंके प्रयोगसे व्यक्त होता है, जब कि प्रकरणको देखते हुए वहाँ 'नमस्कार करता हूँ' या 'नमस्कार है' ऐसा कुछ होना चाहिये था; क्योंकि वहाँ ग्रन्थकार महोदय नमस्कारादि रूपसे स्वय मङ्गलाचरण कर रहे हैं, न कि दूसरोको नमस्कारादिकी कोई प्रेरणा कर रहे हैं। 'णमह' का 'नमत' ऐसा छायानुवाद भी ठीक नही है। छायानुवाद अन्यत्र भी कुछ त्रुटिको लिये है, जैसे पहली मूलगाथा मे प्रयुक्त हुए 'पेज्ज' शब्दका सस्कृतछायानुवाद 'पेज्ज' ही रख दिया गया है, जब कि वह 'प्रेय' होना चाहिये था।

(ड) मगलाचरणकी दूसरी गाथाके अनुवादमे लिखा है—'वे चौवीस तीर्थंकर मुझपर प्रसन्न होवें'। यह शब्दानुवाद तो है, परन्तु अर्थानुवाद नही। ग्रथकारका यह कथन किस दृष्टिको लिये हुए है उसका इससे कोई स्पष्टीकरण नही होता। प्रश्न

यह होता है कि परम वीतरागी चौवीस तीर्थङ्कर क्या किसी पर अप्रसन्न या हीनाधिक रूपमे प्रसन्न भी होते हैं ? यदि ऐसा नहीं है तो फिर इसे लिखनेका अभिप्राय ? अभिप्राय जिसे आगे डैश (—) डालकर अथवा अर्थात् शव्दके साथ व्यक्त करना चाहिये था, यह है कि 'मैं प्रसन्नतापूर्वक उनके गुणोको अपने हृदयमे धारण करूँ । सदेहास्पद स्थलोपर इस प्रकारका स्पष्टीकरण साथमे रहनेसे, जिसकी वडी जरूरत है, सिद्धान्तके समझनेमे कोई भ्रम नही होता ।

(च) ग्रथके नमूने रूप इन ११ पृष्ठोमे छोटी-छोटी-सी कुल पॉच टिप्पणियाँ हैं और वे भी एक ही प्रकारकी— अर्थात् आदर्शप्रतिमे क्या पाठ है मात्र इसी वातको सूचित करनेवाली हैं, जवकि अनेक महत्वपूर्ण टिप्पणियोका स्थान खाली ही जान पडता है । अस्तु, वह 'आदर्शप्रति' कौनसी अथवा कहाँकी है यह किसी जगह पर भी व्यक्त नही किया गया । आदर्शप्रतिके जिन पाठभेदोका सशोधन किया गया है वे प्राय लेखकीय मूर्खताके द्योतक अशुद्ध पाठ हैं अथवा शीघ्रतादिवश अक्षरोको ठीक तौर से न पढने और न लिखनेसे सम्बन्ध रखते हैं । ऐसे पाठभेदोको वास्तवमे पाठभेद ही न कहना चाहिये और न उन्हे दिखलानेकी ऐसी कोई खास जरूरत है, जैसे पहली गाथाकी टिप्पणीमे 'भवण' की जगह आदर्शप्रतिके अर्थशून्य 'वभण' पाठका उल्लेख किया गया है, जो शीघ्रतादिवश अक्षरोंके आगे पीछे लिखे जानेका परिणाम है । आराकी प्रतिमे शुद्ध 'भवण' पाठ ही पाया जाता है । इससे टिप्पणीका कार्य बहुत ही साधारण हुआ जान पडता है ।

(छ) छापेकी भी कितनी ही अशुद्धियाँ देखनेमे आती हैं और वे प्राकृत, सस्कृत तथा हिन्दी तीनो मे ही पाई जाती हैं ।

जैसे पृष्ठ १८ पर 'पेज्जसद्दो' की जगह 'पेज्जसद्दा', पृष्ठ १० पर 'गुणधरमपि' की जगह 'गुणधर-विमपि' और पृष्ठ १४ पर 'उन्हे' 'नही' जैसे शब्दोको अनुस्वारहीन छापा गया है।

छापते समय कही-कही पैरेग्राफका विभाग भी कुछ गडबडा गया है, जैसे पृष्ठ १८ पर 'सपहि गाहाए' इत्यादिको नया पैरेग्राफ डालकर छापना चाहिये था—उसे पूर्वके चालू पैरेग्राफमे ही शामिल कर दिया गया है। पृष्ठ १६ पर चूर्णिकी टीकाको तो नया पैरेग्राफ डालकर छापा गया है, परन्तु उसके हिन्दी अनुवादको छापते समय पैरेग्राफके विभाग को भुला दिया है—उसे चूर्णिके अनुवादमे ही शामिल कर दिया है। और चूर्णिको छापते समय उसके शुरूमे पैरेग्राफका व्यञ्जक कोई स्थान ही नही छोडा गया। इससे एक नजर डालते ही ऐसा मालूम होता है कि चूर्णिका कुछ अश छूट गया है अथवा वह पूर्ववर्ती पृष्ठ पर दिया हुआ है, जब कि ऐसा कुछ भी नही है। चूर्णिसूत्रोको यदि अच्छे इटैलिक टाइपमे छापा जाता तो ज्यादा अच्छा रहता।

मूलगाथा तथा चूर्णिमे प्रयुक्त हुए शब्दो अथवा पदोकी टीका छापते समय टीकामे उन्हे कुछ बडे अथवा ब्लॉक टाइपमे छपाना चाहिये था, जिससे दृष्टि डालते ही अभिमत शब्दका अर्थादि मालूम करनेमे पाठकोको सुविधा रहती।

इस प्रकार त्रुटियोका यह कुछ दिग्दर्शन है। और वह मेरे इस कथनको पुष्ट करता है कि इस ग्रन्थके प्रकाशनमे जरूरतसे कही अधिक शीघ्रतासे काम लिया जा रहा है। मुझे इस प्रकारका त्रुटियोसे भरा हुआ चलता काम पसन्द नही है। यदि प्रकाशक सेठजी इतनेपरसे ही सन्तुष्ट हो तो यह उनकी इच्छा है। मेरी रायमे तो इन सिद्धान्त-ग्रन्थोके प्रकाशनके लिये काम करनेके

ढग आदिसे परिचित कुछ उदारहृदय अनुभवी विद्वानोका एक सम्पादकीय वोर्ड नियत किया जाना चाहिये और उसके द्वारा वहुत ही व्यवस्थित रूपसे सम्पादनादिका सव कार्य उत्तमताके साथ चलाना चाहिये । खासकर ऐसी हालतमे जवकि अपना पूरा समय और योग लगानेकी सुविधा भी प्राप्त नही है और वे खुद ही समयादिकी सकीर्णतामय अपनी उस स्थितिका पहलेसे ही उल्लेख कर रहे हैं ।

सम्पादकीय वोर्डमे प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय एम० ए० का भी खास स्थान रहना चाहिये, जोकि दिगम्बर समाजमे प्राकृत-भाषाके एक मुख्य विद्वान हैं, कोल्हापुरके राजाराम कॉलिजमे प्राकृत-भाषाके सिखानेका ही काम कर रहे हैं और वहुपरिश्रमी होनेके साथ-साथ साहित्यादि-विषयक शोध-खोजके ऐसे कामोमे विशेष रुचि रखनेवाले सज्जन हैं ।

ग्रन्थके साथमे जव कि हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है तव प्राकृतका सस्कृत छायानुवाद रखने की मेरी रायमे कोई जरूरत नही है । हमारे पडित लोग प्राय सस्कृतके आधारपर प्राकृतको लगानेके आदी हो गए हैं, उनकी यह आदत छुडानी चाहिये । उन्हे अपने आगमोकी मूलभाषाका अथवा उस प्राकृत-भाषाका स्वतत्ररूपसे वोध होना चाहिये जिसमे उनके प्राचीन मौलिक ग्रन्थ लिखे हुए हैं । इस प्रकारके प्रयत्नो-द्वारा यह सव कुछ हो सकेगा । सस्कृत-छाया के साथमे न रहनेसे व्यर्थका कितना ही परिश्रम वचेगा, ग्रन्थका परिमाण भी एक तिहाईके करीव कम हो जायगा, जिससे लागत कम आएगी और मूल्य भी कम रक्खा जा सकेगा, जिसकी वडी जरूरत है ।

यहाँ पर मुझे यह देखकर खेद होता है कि ११ पृष्ठोका जो अश नमूनेके तौर पर प्रकाशित किया गया है उसका मूल्य चार

आने रक्खा गया है—समाचारपत्रोमे, चार चार आनेके टिकट भेजकर लोगोको इस अशकी खरीदारी कर जयधवलका दर्शन करनेकी प्रेरणा की जा रही है। जब नमूनेका ही इतना मूल्य है तब ऐसा मालूम होता है कि ग्रथका मूल्य बहुत अधिक रक्खा जायगा, जिसे मैं किसी तरह भी उचित नही समझता। इस विषयमे दिगम्बर समाजको अपने श्वेताम्बरी भाइयोसे शिक्षा लेनी चाहिये, जो आगमोदयसमिति आदिके द्वारा बहुत कुछ सस्तेमे अपने आगम ग्रन्थोका प्रचार करके अपनी श्रुतभक्तिका परिचय दे रहे हैं।

इसमे सन्देह नही कि यह ग्रथ जिस रूपमे भी प्रकाशित होगा निकल जायगा जरूर—और नही तो सस्थाओ तथा मन्दिरोमे ही इसकी एक एक कॉपी मँगा ली जायगी, क्योकि लोग मुनिदर्शनकी तरह इसके भी दर्शनोके भूखे हैं, परन्तु ऐसा त्रुटिपूर्ण सस्करण निकालनेसे गलतियाँ और गलतफहमियाँ बहुत कुछ रूढ हो जायँगी, जिनका सुधार होना फिर अत्यन्त ही कठिन कार्य होगा। इसीसे प्रकाशित अश पर अपनी सम्मतिका कुछ विस्तार के साथ लिख देना ही मैंने उचित समझा है। आशा है दूसरे विद्वान् भी इस पर अपनी योग्य सम्मति देनेकी कृपा करेंगे और जहाँ तक हो सके ऐसा यत्न करेंगे जिससे इन सिद्धान्त-ग्रन्थोका प्रथम सस्करण बहुत ही शुद्ध, स्पष्ट, अभ्रान्त और उपयोगी प्रकाशित होवे[1]।

---

१. जैन जगत वर्ष १०, अक ३, ता० १–१–१९३४

प्रवचनसारका नया संस्करण

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका प्रवचनसार (पवयणसार) जैन वाङ्-मयका एक वहुत ही प्रसिद्ध मान्य ग्रन्थ है और अनेक विषयोमे अपनी खास विशेषता रखता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायोमे यह समानरूपसे आदरका पात्र वना हुआ है और सभी इसे गौरवभरी दृष्टिसे देखते हैं। कुछ वर्ष हुए, जव मैं अहमदावादमे था, तव मैंने अनेक श्वेताम्बर विद्वानोको यह कहते सुना है कि प्रवचनसारकी जोडका दूसरा ग्रथ जैन-साहित्यमे नही है। और इसमे कुछ भी अत्युक्ति मालूम नही होती—अनेक दृष्टियोसे यह ग्रथ है भी वास्तवमे ऐसा ही। इस ग्रथरत्न-को सवसे पहले प्रकाशित करनेका श्रेय वम्बईकी 'रायचन्द्र जैन-शास्त्रमाला' को प्राप्त है, जो कि 'परमश्रुतप्रभावक-मडल' नामकी एक उदार श्वेताम्बरीय सस्थाद्वारा सचालित है। इसका प्रथम सस्करण वीर-निर्वाण-संवत् २४३६ विक्रम स० १९६६ मे, प० मनोहरलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था और उसी समय मैंने उसको मँगा लिया था। उस वक्त ग्रथ-के साथमे श्रीअमृतचन्द्र सूरिकी 'तत्त्वप्रदीपिका', जय सेनाचार्यकी 'तात्पर्यवृत्ति', पाडे हेमराजकी 'वालाववोध' नामकी हिन्दी भापा-टीका—इस प्रकार तीन टीकाएँ—एक विषयानुक्रमणिका और एक साधारणसी डेढ पेजकी हिन्दी भूमिका (प्रस्तावना) लगी हुई थी। पृष्ठ-सख्या सव मिलाकर ३९० थी और मूल्य था सजिल्द ग्रथका तीन रुपये। ग्रथका यह सस्करण वर्षोसे अप्राप्य था और इसीलिये वम्वई विश्वविद्यालयने इस ग्रथको अपने कोर्स (पाठ्यक्रम) से निकाल दिया था।

हालमे उक्त ग्रथका नया सस्करण (सन् १९३५ का छपा हुआ) मुझे प्राप्त हुआ है, जिसके प्रकाशनका सौभाग्य भी उक्त शास्त्रमाला और सस्थाको प्राप्त है। यह सस्करण अपने पहले सस्करणसे कितनी ही बातोमे बढा-चढा है और इसके सम्पादक हैं समाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर ए० एन० (नेमिनाथ-तनय आदिनाथ) उपाध्याय, एम० ए०, जो कि कोल्हापुरके राजाराम कॉलेजमे अर्धमागधी भाषाके शिक्षक हैं, सम्पादन-कलामे प्रवीण हैं और एक बडे ही विनम्र एव प्रगतिशील इतिहासज्ञ हैं। आपके सम्पादकत्वमे ग्रथका यह सस्करण चमक उठा है। इसमे मूल गाथाओका अच्छा सशोधन हुआ है—जबकि पहले सस्करणमे भाषादिककी यथेष्ट जानकारी न होनेके कारण वे कितनी ही अशुद्धियोको लिये हुए छाप दी गई थी, टीकाओका भी कुछ-कुछ सशोधन हो सका है और विषयानुक्रमणिकाको भी कही-कही सुधारा गया है। इसके सिवाय जो-जो बातें अधिक हैं और जो प्रस्तुत सस्करणकी विशेषताएँ हैं वे निम्न प्रकार हैं —

(१) प्रस्तुत सस्करणकी अच्छी सक्षिप्त विषय सूची (Contents), अग्रेजी मे।

(२) ग्रन्थ-सम्पादनादि-विषयक अग्रेजोकी भूमिका (Preface) प्रथम सस्करणकी डेढ पेजी भूमिकाके स्थान पर।

(३) कुन्दकुन्द, उनके समय और उनके ग्रन्थो आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली एक विस्तृत आलोचनात्मक प्रस्तावना (Introduction) अग्रेजीमे १२६ पृष्ठो पर।

(४) ग्रन्थका एक अच्छा अग्रेजी अनुवाद (English translation) अनेक उपयोगी फुटनोट्सके साथ ३४ पृष्ठो पर।

(५) ग्रन्थमे प्रयुक्त हुए पारिभाषिक शब्दोकी एक अनु-

क्रमणिका (Index) अग्रेजीमे उनके तुल्यार्थक शब्दो अथवा अर्थोके साथ गाथाओके पते सहित ।

(६) ग्रन्थकी अनेक प्रतियोमे पाये जानेवाले पाठ-भेदोकी सूची (Variant readings) ।

(७) ग्रन्थकी गाथानुक्रमणिका ।

(८) अमृतचन्द्राचार्यकी टीकामे प्रयुक्त हुए उद्धृताऽनुधृत-पद्योकी वर्णानुक्रम-सूची ।

(९) जयसेनाचार्यकी टीकामे उद्धृत हुए पद्योकी अनुक्रम-सूची ।

(१०) अग्रेजी प्रस्तावनामे प्रयुक्त हुए ग्रन्थो, ग्रन्थकारो तथा दूसरे नामो आदिकी वडी सूची (Index to Introduction) ।

इन सब विशेषताओ एव वृद्धियोके साथ ग्रथकी पृष्ठ-सख्या भी वढी है और वह सब मिलकर ५८० हो गई है—अर्थात् प्रथमसस्करणसे इस सस्करणमे प्राय २०० पृष्ठ अधिक हैं। कागज पहलेसे अच्छा, जिल्द सुन्दर और गेटअप सब-अप-टु-डेट है । इन सब विशेषताओके साथ ग्रन्थका मूल्य ५) रु० अधिक नही है—भले ही वह उनलोगोको कुछ अखरता हो जो अग्रेजी नही जानते हैं। अब यह ग्रथ अग्रेजी पढे लिखे विद्वानोके लिए भी बहुत ही उपयोगी हो गया है और प्रत्येक लायब्रेरी, पुस्तकालय, शास्त्रभडार तथा उच्चकोटिकी शिक्षा-सस्थाओमे सग्रह किये जानेके योग्य है । अस्तु ।

इस संस्करणकी सबसे बड़ी खूबी और विशेषता इसकी ऐतिहासिक प्रस्तावना (Introduction) है, जिसे प्रोफेसर साहबने वडे ही परिश्रमसे तैयार किया है ओर जो उनके पाण्डित्य, तुलनात्मक अध्ययन तथा गहरे अध्यवसायका द्योतन

करनेके लिये पर्याप्त है। यह प्रस्तावना ग्रथका गौरव ख्यापित करने और जनताके ज्ञानकी वृद्धि करनेमे बहुत कुछ सहायक है। वम्बई-विश्वविद्यालयने इसकी उपयोगिताको समझते हुए इसके प्रकाशनार्थ ढाई सौ रुपये की सहायता प्रदान की है तथा ग्रथको अपने एम० ए० के कोर्समे रक्खा हे, और इस तरह सम्पादक व प्रकाशक दोनोको ही सम्मानित किया है। अच्छा होता यदि इस अग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी-अनुवाद भी साथमे दे दिया जाता, और इस तरह वर्तमान सस्करणकी उपयोगिताको और भी ज्यादा बढा दिया जाता अथवा इस सस्करणके दो विभाग कर दिये जाते। एकमे अग्रेजीकी प्रस्तावना और अग्रेजी अनुवादादिको रख दिया जाता और दूसरेमे प्रस्तावनाका अच्छा प्रामाणिक हिन्दी-अनुवाद दे दिया जाता। साथ ही कुछ अनु-क्रमणिकाओ अथवा सूचियोको भी हिन्दीका रूप देकर रख दिया जाता। इससे हिन्दी-जनताको मूल्यकी भी फिर कोई शिकायत नही रहती और इस सस्करणकी माग भी ज्यादा बढ जाती।

यहाँ पर मैं उक्त प्रस्तावनाका पूर्ण परिचय देनेके लिये असमर्थ हूँ—वह तो उसे देखनेसे ही सम्बन्ध रखता है। फिर भी इतना जरूर बतला देना चाहता हूँ कि इस प्रस्तावनाके छह स्थूल विभाग हैं—१. श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, २ कुन्दकुन्दका समय, ३ कुन्दकुन्दके ग्रन्थ, ४ कुन्दकुन्दका प्रवचनसार, ५ प्रवचनसारके टीकाकार और ६ प्रवचनसारकी प्राकृत भाषा। पहले विभागमे, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका परिचय, उनके पाँच नामोकी चर्चा, तद्विषयक-विचारणा, साम्प्रदायिक कथाओकी आलोचना और उनकी गुरु-परम्पराके विचार-विमर्शको लिये हुए, दिया गया है।

दूसरे विभागमे, कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमे साम्प्रदायिक धारणाके साथ चार विद्वानो (प० नाथूराम प्रेमी, डा० पाठक,

प्रो० चक्रवर्ती, जुगलकिशोर मुख्तार) के मतोका उल्लेख करते हुए उनपर कुछ प्रकाश डाला गया है और समयकी पूर्वोत्तर सीमाएँ निर्धारित की गई हैं। साथ ही, इन आनुषङ्गिक विषयो पर विचार किया गया है कि क्या कुन्दकुन्दाचार्य (क) दिगम्बर-श्वेताम्बर विभागके वाद हुए हैं ? (ख) भद्रवाहुके शिष्य थे ? (ग) षट् खण्डागमके टीकाकार थे ? (घ) शिवकुमार राजा के समकालीन थे ? (ङ) तामिल काव्य 'कुरल' के रचयिता थे ?

तीसरे विभागमे, प्रवचनसारको छोडकर, कुन्दकुन्दके नामसे नामाङ्कित होनेवाले सभी ग्रन्थोकी चर्चा करते हुए, उपलब्ध ग्रन्थोका सक्षेप-विस्तारमे परिचय दिया गया है। अष्ट पाहुडो, रयणसार, वारसअणुवेक्खा, नियमसार, पचास्तिकायसार और समयसार ग्रन्थोका जो अलग-अलग परिचय, उनके विषयविभाग-को लक्ष्यमे रखते हुए, गाथाओके नम्बरोकी सूचनाके साथ दिया है वह नि सन्देह वडे ही महत्वका है और उससे उन ग्रन्थोका सारा विषय सक्षेपमे वडे ही अच्छे ढगसे सामने आ जाता है। इस परिचयके तैयार करनेमे प्रोफेसर साहवने जो परिश्रम किया है वह वहुत ही प्रशसनीय है। परिचयके वाद उक्त ग्रन्थो-पर विवेचनात्मक नोट्स (Critical remarks) भी दिये गये हैं, जो कुछ कम महत्वके नही हैं और विचारकी कितनी ही सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

चौथे विभागमे, प्रवचनसारका विचार किया गया है और उसे पाँच उपविभागोमे बाँटा गया है। एकमे, प्रवचनसारके अध्य-यनकी चर्चा करते हुए उसके देरसे पूर्वदेशीय भाषा-विज्ञो (orientalists) के हाथोमे पहुँचनेका उल्लेख है। दूसरेमे प्रवचनसारकी मूल गाथाओकी चर्चा की गई है और दोनो टीकाओ-परसे गाथाओकी कमी-बेशीका जो भेद उपलब्ध होता है उसे

दर्शाते हुए वढी हुई गाथाओकी प्रकृति आदिका विचार प्रस्तुत किया गया है। तीसरेमें, प्रवचनसारका अध्याय-क्रमसे सक्षेपमे वडा ही सुन्दर सार दिया गया है और उसे देते हुए विपय-विभाग-को लक्ष्यमे रखकर गाथाओके नम्बरोकी सूचना भी साथमे कर दी गई है, जिससे वह बहुत ही उपयोगी हो गया है। इसके सिवाय प्रवचनसार पर कुछ विवेचनात्मक नोट्स (critical remarks) भी दिये हैं। चौथे उपविभागमे, प्रचनसारके दार्शनिक रूपका ६ धाराओमे अच्छी विवेचनाओ तथा उपयोगी फुटनोटोके साथ प्रदर्शन किया गया है और दूसरे दर्शनो तथा सिद्धान्तोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन एव विचारकी कितनी ही सामग्री सामने रक्खी गई है। धाराओमे ग्रन्थके प्रतिपाद्य दार्शनिक विषयोका अपने ढगसे मूल गाथाओके पते सहित निरूपण है और उपधाराएँ उनकी व्याख्या, आलोचना, विचारणा अथवा तुलना आदिको लिये हुए हैं। ३६ पृष्ठका यह उपविभाग नि सन्देह बडे ही महत्वका है और लेखकके विशाल अध्ययन तथा गुरुतर परिश्रम-का अच्छा परिचायक है। और पाँचवेमे प्रवचनसारके तृतीय अध्यायानुसार आदर्श जैन मुनि (श्रमण) का रूप देकर उसके कुछ आचारोकी आलोचना की गई है।

उक्त ६ धाराओका विषय-विभाग उपधाराओकी सख्या सहित इस प्रकार है —

१—वैधिकी पृष्ठभूमि अथवा जैन पदार्थविद्या (उपधा० १)
२—द्रव्य, गुण और पर्याय (उपधा० ४)।
३ —जीव और पुद्गलका स्वरूप (उपधा० २)।
४—उपयोयत्रय-वाद (उपधा० १)
५—सर्वज्ञता-सिद्धान्त (उपधा० ८)

६—परमाणु-वाद (उपधा० ३)

७—स्याद्वाद, अथवा सापेक्ष-विधानका सिद्धान्त (उपधा०६)

८—देवता-विषयक जैन-अवधारणा (उपधा० ५)।

९—भारतीय धार्मिक विचारणामे जैन धर्मका स्थान।

पाचवे विभागमे प्रवचनसारके छह टीकाकारोका—१ अमृत-चन्द्र, २ जयसेन, ३ बालचन्द्र, ४ प्रभाचन्द्र, ५ मल्लिषेण, ६ पाडे हेमराजका और उनकी टीकाओका कुछ परिचय दिया गया है और साथ ही उनके समयादिकका विचार भी किया गया है।

छठे विभागमे, प्रवचनसारकी प्राकृत-भाषाको लेकर, उसके व्याकरण-सम्बन्धी विषयो-नियमो उपनियमोकी कितनी ही छान-बीन की गई है, प्राकृतके सौरसेनी और महाराष्ट्री भेदोकी चर्चा करते हुए प्रवचनसारकी भाषाको डा० पिश्चेल (pishel) के मतानुसार, 'जैनसौरसेनी' ठहराया है और श्वेताम्बरीय आगमोत्तरग्रथोकी भाषाको 'जैनमहाराष्ट्री' बतलाया है। साथ ही, यह सहेतुक प्रकट किया है कि प्रवचनसार जैसे पुरातनजैन सौर-सेनी भाषाके ग्रन्थ, जोकि देशी शब्दोसे रहित है, उन प्रचलित श्वेताम्बरीय आगमग्रन्थोसे प्राचीन हैं जिनमे देशी शब्दोका कितना ही मिश्रण पाया जाता है। १५ पृष्ठोका यह विभाग-प्राकृत-भाषाकी आलोचनाके साथ एक भाषापर दूसरी भाषा-के प्रभाव आदिको व्यक्त करते हुए तथा भाषा-विषयक कितनी ही ऐतिहासिक चर्चाको स्थान देते हुए और उसपरसे अनेक निष्कर्षोको निकालते हुए बडे ही ऊहापोहके साथ विद्वत्तापूर्ण ढगसे लिखा गया है। और इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रो० साहब जिस अर्धमागधी एव प्राकृतभाषाके शिक्षक हैं उसका आपको कितना गहरा अभ्यास है।

अब मैं इन विभागोमे आई हुई प्रस्तावनाकी कुछ खास-खास बातोका थोडा-सा परिचय, यथावश्यक अपनी समालोचना-के साथ, और भी करा देना चाहता हूँ।

प्रथम विभागमे, पट्टावली आदिके अन्तर्गत एक साम्प्रदायिक पद्यके आधारपर कुन्दकुन्दाचार्यके पाँच नामोकी चर्चा करते हुए और यह बतलाते हुए कि उनका मूलनाम 'पद्मनन्दि' उत्तरनाम कोडकुन्दाचार्य था, 'वक्रग्रीव' तथा 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामोको अप्रामाणिक सिद्ध किया है और प्रकट किया है कि इन नामोके दूसरे ही आचार्य हुए हैं। परन्तु 'एलाचार्य' नामके विषयमें निश्चित रूपसे ऐसा कुछ न कहकर उसपर अपना सन्देह ही व्यक्त किया है। सन्देहका प्रधान कारण[1] 'ज्वालिनी-मत' नामक ग्रन्थमे उसके मूल-कर्तृत्व रूपसे हेलाचार्य अथवा एलाचार्य नामका उल्लेख है, जिसका जीवनकाल प्रो० साहब कुछ अधिक पहलेका अनुमान करते हैं। परन्तु इन्द्रनन्दिके ज्वालिनीमतमे उसके मूलकर्ता हेलाचार्यका जिस रूपमे उल्लेख किया है उसपरसे वह कुन्दकुन्द ही नही, किन्तु कुन्दकुन्दके समकालीन कोई दूसरा व्यक्ति भी नही हो सकता, क्योकि ज्वालिनीमत शक सवत् ८६१ (वि० स० ९९६) का बना हुआ है और उसमें उक्त हेलाचार्यकी अविच्छिन्न शिष्य-परम्परामे गाङ्गमुनि, नीलग्रीव, बीजावाब्य, आर्याक्षान्तिरसब्बा और क्षुल्लक विरूवट्ट का उल्लेख करके यह स्पष्ट लिखा है कि **इति अनया गुरुपरिपाट्याऽविच्छिन्नसम्प्रदायेण चागच्छत् कन्दर्पण**

१. गौणकारण, चिक्कहनसोगेका एक लेखनकालविहीन शिलालेख है, जिसमें देशीगण और पुस्तक-गच्छके एक एलाचार्यका उल्लेख है, परन्तु उसके साथ कुन्दकन्दकी एकता अथवा अनेकताका कोई पता नहीं चलता है, ऐसा लिखा है।

ज्ञात" अर्थात् इस गुरुपरिपाटीसे अविच्छिन्न-सम्प्रदाय-द्वारा चला आया यह शास्त्र कन्दर्पाचार्यको प्राप्त हुआ। कन्दर्पाचार्य और उनके शिष्य गुणनन्दि दोनो के पाससे ('पार्श्वे तयोर्द्वयोरपि') इन्द्रनन्दिने उस शास्त्रको पढकर भाषादिके परिवर्तनद्वारा 'ज्वालिनीमत' की नई सरल रचना की है। इससे कन्दर्पाचार्य-का समय इस ग्रथरचनाके करीबका ही जान पडता है, और उनकी अविच्छिन्न गुरु-परम्परामें कुल पाँच नामोका उल्लेख होनेसे वह प्राय १२५ या १५० वर्षसे अधिक पूर्वकी मालूम नही होती। ऐसी हालतमे उक्त एलाचार्यका समय विक्रमकी ६वीं शताब्दीसे पूर्वका मालूम नही होता। तब कुन्दकुन्दाचार्यके साथ उसका एक-व्यक्तित्व भी नही बन सकता और न इस आधार पर 'एलाचार्य' नामकी प्रामाणिकताको सन्देहकी दृष्टिसे ही देखा जा सकता है। ज्वालिनीमतके मूलकर्त्ता एलाचार्यको तो वैसे भी द्राविडसघका आचार्य लिखा है—जिस संघकी स्थापना कुन्दकुन्दाचार्यसे बहुत बाद हुई है, कथापरसे उनका समय भी भिन्न जान पड़ता है और स्थान भी उनका मलय-देशस्थ हेमग्राम (होन्नूर) बतलाया है, जब कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका स्थान कोडकुन्दपुर प्रसिद्ध है और उसीपरसे वे 'कोडकुन्दाचार्य' कहलाते थे, जिसका श्रुतिमधुर रूप 'कुन्दकुन्दाचार्य' हुआ है। इसके सिवाय, एलाचार्य नामके दूसरे भी प्रसिद्ध आचार्य हुए ही हैं, जो कि धवलादिके रचयिता वीरसेनके गुरु थे, तब वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छ नामोकी तरह एलाचार्य नामको भी यदि कल्पित एव भ्रान्तिमूलक मान लिया जाय तो इसमें कोई विशेष आपत्ति उस वक्त तक मालूम नही होती जब तक इसके विरुद्ध कोई नया पुष्ट प्रमाण उपस्थित न हो जाय।

इसी प्रथम विभागमे, कथाओ आदिके आधार पर कुन्द-

कुन्दके विदेहगमन और श्रीमधरस्वामीके समवसरणमे पहुँच कर धार्मिक प्रकाश प्राप्त करनेका उल्लेख करते हुए, यह वतलाया है कि विदेहगमनकी ऐसी ही कथाएँ उमास्वाति तथा पूज्यपादाचार्यके विपयमे भी पाई जाती हैं, जिससे कुन्दकुन्दके विदेहगमनकी घटना सदिग्ध-सी हो जाती है। साथही उसे सदिग्धताकी कोटिसे निकालनेकी कुछ इच्छा से यह भी सुझाया है कि 'कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारकी तीसरी गाथामे जो मानुष क्षेत्रमे स्थित वर्तमान अर्हन्तोको नमस्कार किया है उसी पर कथा-वर्णित इस वातकी कल्पना की गई मालूम होती है कि 'कुन्दकुन्दने यहाँसे विदेह-स्थित श्रीमधरस्वामीको नमस्कार किया था और उसीके फलस्वरूप उन्हे विदेह-क्षेत्रकी यात्राका अवसर प्राप्त हुआ था।' कुछ विद्वानोने प्रो० साहवकी इस सूचना एव कल्पनाकी प्रशसा भी की है और उसे "गजबकी सूझ" तक लिखा है। परन्तु मुझे वह निर्दोप मालूम नही होती, क्योकि एक तो उक्त गाथामे **'वदामि य वट्टते अरहंते माणुसे खेत्ते'** शब्दोंके द्वारा मनुष्यक्षेत्रमे वर्तमान सभी अर्हन्तोको बिना किसी विशेपके—श्रीमधरका नामोच्चारण तक न करके—नमस्कार किया गया है, जिससे उस प्रचलित कथाका कोई समर्थन नही होता है जिसमे ध्यानस्थ होकर मन-वचन-कायकी शुद्धि-पूर्वक पूर्वविदेहक्षेत्रके मात्र श्रीमधरस्वामीको नमस्कार करनेकी बात कही गई हैं। दूसरे, यदि ऐसे निर्विशेप नमस्कारसे श्रीमधर-स्वामीको ही नमस्कार किया जाना मान लिया जाय तो यह नही कहा जा सकता कि पूज्यपादने श्रीमधरस्वामीको नमस्कार नही किया है, क्योकि उन्होने अपनी सिद्धभक्तिके अन्तिम पद्यमे **"भवन्त सकलजगति ये"** आदि पदोंके द्वारा जगत-भरके सभी वर्तमान देवाधिदेवोको नमस्कार किया है, जिसमे विदेहक्षेत्रके

श्रीमंधरस्वामी भी आ जाते हैं। जब पूज्यपादने भी श्रीमंधर-स्वामीको नमस्कार किया है तब नमस्कार-सामान्यपरसे कुन्द-कुन्दके विदेहगमनकी घटना को सत्य, और पूज्यपादके विदेह-गमनकी घटनाको असत्य (पीछेसे जोडी हुई) भी नही कहा जा सकता। तीसरे, जब विदेह-क्षेत्रमें वर्तमान तीर्थंकरोका होना आगमोदित है और सामायिकादि आवश्यक कृति-कर्मके अवसर-पर सभी मुनिजन नित्य ही विदेहक्षेत्रके उन वर्तमान तीर्थ-करोको नमस्कार करते हैं—जब कि वे "अड्ढाइज्जदीव-दोस-मुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु जाव अरहंताणं भयवताणं · · सदा करेमि किरियम्मं" इत्यादि प्रकारके पाठ बोलते हैं, तब विदेह-क्षेत्रके अर्हन्तोको अपने ग्रंथमें नमस्कार करना एक साधारण-सी बात है, उसपरसे किसीके विदेहगमनका नतीजा नही निकाला जा सकता। और न वैसी कोई कल्पना ही की जा सकती है। यो तो बहुतसे ग्रथकारोने अपने-अपने ग्रथोमे विदेह-क्षेत्रवर्ती तीर्थंकरोको नमस्कार किया है। क्या वे सभी विदेह-क्षेत्र हो आए हैं? अथवा उनके ऐसे नमस्कारादिपरसे लोगोने उनके विदेहक्षेत्र-गमनकी कल्पना की है? कदापि नही। अत गाथाके उक्त शब्दोपरसे कुन्दकुन्दके विदेहगमनकी कल्पनाका जन्म होना मुझे तो समुचित प्रतीत नही होता और न ऐसे उल्लेखोपरसे वह कुछ सत्य ही कहा जा सकता है। वास्तवमे विदेहगमन—जैसी असाधारण घटनाका स्वय कुन्दकुन्दके द्वारा कोई उल्लेख न होना सन्देहसे खाली नही है।

दूसरे विभागमे—पृष्ठ १६, १७ पर—मेरे इस मतपर कुछ आपत्ति की गई है कि कुन्दकुन्द भद्रबाहु द्वितीयके शिष्य थे और यह सभावना व्यक्त की गई है कि मैंने बोधपाहुडकी गाथा न० ६१ के साथ, जिसमे **'सीसेण य भद्दबाहुस्स'** शब्दोके

द्वारा कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य सूचित किया है, गाथा न० ६२ का अवलोकन नही किया है अथवा उस पर ध्यान नही दिया है, जिसमे श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयघोष किया गया है। परन्तु ऐसा नही है, विचारके समय मेरे सामने दोनो गाथाएँ मौजूद थी और मैं इस बातसे भी अवगत था कि परम्परा-शिष्य भी अपनेको शिष्यरूपसे उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं—परम्परा-शिष्यके उदाहरणोके लिये Annals of the B. O R I. vole xv मे प्रकाशित जिस लेखको देखनेकी प्रेरणा की गई है वह भी मेरा ही लिखा हुआ है। फिर भी दोनो गाथाओकी स्थिति और कथन-शैलीपरसे मैंने यही निश्चय किया है कि उनमे अलग-अलग दो भद्रबाहुओका उल्लेख है। पहली गाथामे वर्णित भद्रबाहु श्रुतकेवली मालूम नही होते, क्योकि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमे जिन-कथित श्रुतमे ऐसा कोई खास विकार उपस्थित नही हुआ था जिसे उक्त गाथामे **'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु ज जिणे कहिय'** इन शब्दो-द्वारा सूचित किया गया है—वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमे वह स्थिति नही रही थी—कितना ही श्रुतज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषासूत्रोमे परिवर्तित हो गया था। इससे ६१ वी गाथाके भद्रबाहु द्वितीय ही जान पडते हैं। ६२ वी गाथामे उसी नामसे प्रसिद्ध होनेवाले प्रथम भद्रबाहुका अन्त्य मगलके तौरपर जयघोष किया गया है और उन्हे साफ तौरसे 'गमक गुरु' लिखा है। इस तरह दोनो गाथाओमे दो अलग-अलग भद्रबाहुओका उल्लेख होना अधिक युक्ति-युक्त और बुद्धिगम्य जान पडता है।

तीसरे विभागमें, कुन्दकुन्दके पाहुड ग्रथोका विचार करते हुए, २४ वें पृष्ठपर यह सूचना की गई है कि कुछ श्वेताम्बर

ग्रथ भी पाहुड (प्राभृत) सज्ञाके धारक है और उदाहरणके तौर पर 'जोणीपाहुड' तथा 'सिद्धपाहुड' ऐसे दो नाम भी पेश किये गये हैं, जो 'जैनग्रथावली' के पृष्ठ ६२ और ६६ पर दर्ज है। परन्तु इनके श्वेताम्बर होनेका और कोई प्रमाण नही दिया है। मात्र श्वेताम्बरो-द्वारा प्रकाशित 'जैनग्रथावली' मे दर्ज होनेसे ही वे श्वेताम्बर नही हो जाते। इस ग्रथावलीमे तो पचासो ग्रथ ऐसे दर्ज हैं जो दिगम्बर हैं और इस बातसे प्रो० साहब भी अपरिचित नही हैं। सभव है उन्हे किसी दूसरे आधारसे इन ग्रथोंके श्वेताम्बर होनेका कुछ पता चला हो और वे उसका उल्लेख करना भूल गये हो। परन्तु कुछ भी हो, जोणीपाहुड तो दिगम्बर ग्रंथ है ही। उक्त ग्रथावलीमे भी उसे धरसेनाचार्य-कृत लिखा है, जो कि एक दिगम्बराचार्य हुए हैं, और उसीके पुष्ट करनेके लिये बृहट्टिप्पणीका यह वाक्य भी उद्धृत किया है—"**योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्**"। अस्तु, इस ग्रथकी जो जीर्ण-शीर्ण एव खण्डित प्रति पूनाके भण्डारकर इन्स्टीटयूटमे मौजूद है और जिसे देखकर प० बेचरदासजीने एक नोट लिखा था उससे मालूम होता है कि यह ग्रथ 'पण्ह-सवण' (प्रश्नश्रवण) मुनिके द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्योंके लिये लिखा गया है। '**इय पण्हसवण-रइए भूयबली-पुष्कयंत-आलिहिए**' इत्यादि वाक्यो परसे उसका समर्थन होता है। चूँकि भूतबलि और पुष्पदन्त मुनिके गुरुका प्रसिद्ध नाम 'धरसेन' था इसीसे शायद बृहट्टिप्पणीमे 'प्रश्नश्रवण' की जगह 'धरसेन' नामका उल्लेख किया गया जान पडता है। 'धवला' टीकामे भी '**जोणीपाहुडे भणिदमंततंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेतव्वा**' इस प्रकारके वाक्य-द्वारा इसी ग्रथका उल्लेख पाया जाता है। रही 'सिद्धपाहुड' की बात, उसके और उसकी टीका तकके

कर्तृत्व-विषयमे उक्त ग्रथावली बिल्कुल मौन है, लिम्बडीके भण्डारमे भी उसका अस्तित्व है परन्तु उसकी सूची भी कर्तृत्व-विषयमे कोई सूचना नही देती। इससे 'सिद्धपाहुड' ग्रथ दिगम्बर है या श्वेताम्बर, यह अभी कुछ भी नही कहा जा सकता। हो सकता है कि वह कुन्दकुन्दके ८४ पाहुडोमेसे ही कोई पाहुड हो।

'षट्खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डो पर कुन्दकुन्द-द्वारा रची हुई 'परिकर्म' नामकी टीकाका विचार करते हुए और उसकी रचनाको कुछ कारणोसे सन्दिग्ध बतलाते हुए पृष्ठ न० १८ पर, यह भी प्रकट किया गया है कि 'धवला' और 'जयधवला' नामकी टीकाओमे उसके कोई चिह्न नही पाये जाते। परन्तु धवला टीकामें तो 'परिकर्म' नामक ग्रथका उल्लेख, **'परियम्मे वुत्तं'** **'परियम्मसुत्तेण सह विरुज्झइ'** इत्यादि रूपसे अनेक स्थानोपर पाया जाता है। यह 'परिकर्म ग्रथ वह तो हो नही सकता जो 'दृष्टिवाद' नामक १२वें अगका एक खास विभाग—अनेक उपविभागोको लिये हुए—है, जिसका अस्तित्व बहुत समय पहलेसे उठ चुका था और जो शायद कभी लिपिबद्ध-भी नही हुआ था। तब यह 'परिकर्म' ग्रथ षट्खण्डागमकी टीका-रूपमे इन्द्रनन्दिश्रुतावतारके कथनानुसार कुन्दकुन्दकृत है या विबुध श्रीधरके मतानुसार कुन्दकुन्दके शिष्य कुन्दकीर्तिका बनाया हुआ है? अथवा षट्खण्डागमकी टीका न होकर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ है और उक्त दोनोमेसे एकने या किसी तीसरेने ही इसकी रचनाकी है? ये सब बातें विचार किये जानेके योग्य हैं। टीकारूपमे प्रथम दोमेसे किसीकी भी कृति होनेपर कुन्दकुन्दके समय निर्णयपर इससे कितना ही प्रकाश पड सकता है। मालूम होता है 'धवला' का सामान्य रूपसे अवलोकन

करते हुए प्रोफेसर साहबके सामने 'परिकर्म'—विषयक उल्लेख नही आए, और इसीसे उन्हे उनपर विचार करनेका अवसर नही मिल सका। आशा है वे भविष्यमे गहरी जाँचके बाद उनपर जरूर प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

कुन्दकुन्दके नामसे प्रसिद्ध होनेवाले 'रयणसार' ग्रथका विचार करते हुए, २६वें पृष्ठ पर जो यह प्रकट किया गया है वह ठीक ही है कि 'रयणसार' ग्रथ गाथा-विभेद, विचार-पुनरावृत्ति, अपभ्रशपद्योकी उपलब्धि गण-गच्छादि उल्लेख और वेतरतीवी आदिको लिए हुए जिस स्थितिमे अपनेको उपलब्ध है उस परसे वह पूरा ग्रथ कुन्दकुन्दका नही कहा जा सकता, कुछ अतिरिक्त गाथाओकी मिलावटने उसके मूलमे गडबड उपस्थित कर दी है और इसलिये जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायँ तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस रयणसार ग्रथके कर्ता हैं।

पृष्ठ ४२ पर यह सुझाया गया है कि 'नियमसार' मे द्वादशश्रुतस्कध-रूपसे जो परिच्छेदभेद पाया जाता है वह मूलकृत नही है—मूल परसे उसकी कोई उपलब्धि नही होती, उससे मूलके समझनेमे किसी तरहकी सुगमता भी नही होती और न यही मालूम होता है कि ग्रथकार कुन्दकुन्दका अभिप्राय अपने ग्रथमे ऐसे कोई विभाग रखनेका था और इसलिये उक्त विभागोकी सारी जिम्मेदारी टीकाकार पद्मप्रभमलधारी देव पर है, और यह प्राय ठीक जान पडता है।

चौथे विभागमे, प्रवचनसारकी गाथाओका विचार करते हुए, यह प्रकट किया गया है कि अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार गाथा-सख्या २७५ है, जबकि जयसेनकी टीका परसे वह ३११ उपलब्ध होती हैं और ये बढी हुई गाथाएँ तीन भागोमे बाँटी

जा सकती हैं—१ नमस्काराद्यात्मक, २ व्याख्यान-विस्तार-विषयक और ३ अपरविपय-विज्ञापनात्मक। साथ ही, यह भी प्रकट किया गया है कि प्रथम दो विभागोकी कुछ गाथाएँ ऐसी तटस्थ प्रकृतिकी हैं कि उनका अभाव महसूस नही होता और यदि वे मौजूद रहे तो उनसे प्रवचनसारके विषयमे वस्तुत कोई खास वृद्धि नही होती और इसलिये तृतीय विभागकी गाथाएँ ही खास तौरसे विचारणीय हैं। इन गाथाओमे १४ गाथाएँ ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ साधुओके लिये वस्त्र-पात्रादिका और स्त्रियो के लिये मुक्तिका निषेध करती हैं। इन गाथाओका विषय, यद्यपि, कुन्दकुन्दके दूसरे ग्रन्थोके विरुद्ध नही है—प्रत्युत अनुकूल है—परन्तु श्वेताम्वर सम्प्रदायके विरुद्ध जरूर है और इसलिये अमृतचन्द्राचार्यके द्वारा इनके छोडे जानेके विषयमे प्रोफेसर साहवने भावी अनुसधानके लिये यह कल्पना की है अथवा परीक्षार्थ तर्क उपस्थित किया है कि—'अमृतचन्द्र इतने अधिक आध्यात्मिक व्यक्ति थे कि साम्प्रदायिक वाद-विवादमे पडना नही चाहते थे और सभवत इस वातकी इच्छा रखते थे कि उनकी टीका, सदीप्त एव तीक्ष्ण साम्प्रदायिक आक्रमणोका विलोप करती हुई, कुन्दकुन्दके अति उदात्त उद्गारोके साथ, सभी सम्प्रदायोको स्वीकृत होवे।' इसमे सन्देह नही कि अमृत-चन्द्र सूरि एक वडे ही अध्यात्मरसके रसिक विद्वान थे, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका यह अर्थ नही हो सकता और न इसके कारण उन पर ऐसा कोई आरोप ही लगाया जा सकता है कि उन्होने अपनी टीकाको सर्वसम्मत वनाने और साम्प्रदायिकवाद-विवादमे पडनेसे वचनेके लिये एक महान् आचार्यके गथकी टीका लिखनेकी प्रतिज्ञा करके भी उसके

---

१. अमृतचन्द्र सूरिका वह प्रतिज्ञा-वाक्य इस प्रकार है—
क्रियत प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥

कितने ही वाक्योको जानवूझकर छोड दिया हैं और उस छोडनेकी सूचना तक करना भी अपना कर्तव्य नही समझा है। ऐसा आचरण मेरी रायमे आध्यात्मिक प्रकृतिके विरुद्ध है। यदि किसी तरह यह मान भी लिया जाय कि उन्होंने इसी दृष्टिसे उक्त १४ गाथाओको छोडा है तो फिर शेष २२ गाथाओको छोडनेका क्या कारण हो सकता है? उन्हे तो तव निरापद् समझकर टीका मे जरूर स्थान देना चाहिये था। दूसरे अध्याय-के मगलाचरण तककी एकमात्र गाथाको स्थान न देना और उसे दूसरे अध्यायोसे भिन्न विना मगलाचरणके ही रखना इस बातको सूचित करता है कि अमृतचन्द्र सूरिको मूलका उतना ही पाठ उपलब्ध हुआ है जिसपर उन्होने टीका लिखी है—उन्होंने जानवूझकर मूलका कुछ भी अश छोडा नही है। रही साम्प्रदायिक वादविवादमे न पडनेकी बात, इसका कुछ भी मूल्य नही रहता जब हम देखते हैं कि खुद अमृतचन्द्रने अपने 'तत्त्वार्थसार' मे, जो कि एक प्रकारसे उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र-का व्याख्यान अथवा पद्यवार्तिक है, निम्नपद्यके द्वारा यह घोषणा की है कि 'जो साधुको सग्रथ (वस्त्रादिसहित) होने पर भी निर्ग्रन्थ बतलाते हैं और केवलीको ग्रासाहारी (कवलाहारी) ठहराते हैं वे विपरीत मिथ्यात्वके अन्तर्गत हैं' और इस तरह साफ तौरपर श्वेताम्बरोपर आक्रमण किया है —

सग्रन्थोऽपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥५-६॥

इसी सिलसिलेमे पृष्ठ ५४ पर एक फुटनोट-द्वारा अमृतचन्द्र सूरिके श्वेताम्बर होनेकी कल्पनाका भले प्रकार निरसन करते हुए और प्रमाणमे उक्त 'सग्रन्थोऽपि च' पद्यको भी उदधृत करते हुए यह प्रकट किया गया है कि चूँकि अमृतचन्द्रने समयसारकी

टीकामे 'नवतत्व' एव 'सप्तपदार्थ' शब्दोका प्रयोग किया है तथा 'व्यवहारसूत्र' का उल्लेख किया है, इससे ज्यादासे ज्यादा इतना ही पाया जाता है कि उन्हे श्वेताम्बर साहित्यका गाढ परिचय था और इस तरहपर प्रकारान्तरसे यह स्वीकृत अथवा सूचित किया है कि इन षष्ठ-अष्टम उपवासादिक जैसी बातोका एक मात्र सम्बन्ध श्वेताम्बर साहित्यसे है—वहीपरसे उन्हे अपने ग्रथोमे लिया गया है। परन्तु ऐसा नही है। दिगम्बर सम्प्रदायके प्रायश्चित्तादिग्रन्थोमे अष्टमादि उपवासोका कितना ही वर्णन है और कल्पके साथ व्यवहार-सूत्रका उल्लेख भी पाया जाता है। 'धवला' मे तपविद्याओका स्वरूप देते हुए स्पष्ट ही लिखा है कि "**छट्ठट्ठमादि तपवासविहाणेहि साहिदाओ तव विज्जाओ**"–अर्थात् जो षष्ठ अष्टमादि उपवासोंके द्वारा सिद्धि की जाती हैं वे तपविद्याएँ हैं। धरसेनाचार्यने भूतवलि और पुष्पदन्तको जो दो विद्याएँ सिद्ध करनेको दी थी उन्हे भी धवलामे "**एदाओ छट्ठोववासेंहि साहेदु त्ति**" इस वाक्यके द्वारा षष्ठोपवाससे सिद्ध करनेको लिखा है। पूज्यपादने 'निर्वाणभक्ति मे "**षष्ठेन त्वपराह्णभक्तेन जिनः प्रवव्राज**" जैसे वाक्योके द्वारा श्रीवीर भगवान्के षष्ठोपवासके साथ दीक्षित होने आदिका उल्लेख किया है। और कुन्दकुन्दने 'योगभक्ति' मे जो "**वंदे चउत्थभत्तादिजावछम्मासखवणपडिवण्णे**" ऐसा लिखा है वह भी सब इन्ही उपवासोका सूचक है, और अधिक प्रमाणके लिये मूलाचारकी '**छट्ठट्ठमदसमदुवादसेंहि**' इत्यादि गाथाका नाम ले देना पर्याप्त होगा, जिसमे इन उपवासोका खुला विधान किया है। इसके सिवाय, अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ३०४, ३०५ की टीकामें व्यवहारसूत्रकी जिन गाथाओको उद्धृत किया है वे श्वेताम्बरीय 'व्यवहारसूत्रमे, जो कि गद्यात्मक है, नही

पाई जाती हैं, और इससे वे दिगम्बर सम्प्रदायके व्यवहार-सूत्र-की ही गाथाएँ जान पडती हैं, जो इस समय अपनेको अनुपलब्ध है। रही 'पदार्थ' की जगह 'तत्त्व' और 'तत्त्व' की जगह 'पदार्थ शब्दका प्रयोग करना, यह एक साधारण-सी बात है—इसमे कोई विशेष अर्थभेद नही है—दिगम्बर साहित्यमे तत्त्वके लिये पदार्थ और पदार्थके लिये तत्त्व शब्दका प्रयोग अनेक स्थानो पर देखनेमे आया है। इसके सिवाय, समयसारकी १३वी गाथामे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष नामकी ९ वस्तुओका उल्लेख करके 'तत्व' या 'पदार्थ' ऐसा कुछ भी नाम नही दिया गया—मात्र उनके भूतार्थनयसे अभिगत करनेको 'सम्यक्त्व' बतलाया है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्दका अभिप्राय उन्हे टीकाकारके अनुसार 'नवतत्त्व' कहनेका नही था? यदि कुदकुदका अभिप्राय इसके विरुद्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता तो यह भी नही कहा जा सकता कि अमृतचद्रने श्वेताम्बर साहित्यपरसे 'नवतत्व' की कल्पना की है। नवपदार्थमेसे पुण्य-पापको निकाल देनेपर जब सप्ततत्त्व ही अवशिष्ट रहते हैं तो उनमे पुण्य-पापके तत्त्वोको शामिल करनेपर उन्हे 'नवतत्त्व' कहनेमे क्या आपत्ति अथवा विशिटष्ता हो सकती है? कुछ भी नही। अत ऐसी साधारण-सी बातोपर दिगम्बर-श्वेताम्बरके साहित्य-भेदकी कल्पना कर लेना ठीक मालूम नही होता।

चौथे विभागके चतुर्थ उपविभागकी दूसरी धारामे, द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालते हुए और यह बतलाते हुए कि उमास्वातिने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' मे 'कुन्दकुन्दकी गुण-पर्याय-विषयक दृष्टिको पूरी तौरसे स्वीकार किया है, सिद्ध सेनकी तद्विषयक आपत्तियोका उल्लेख करके उन्हे अच्छे प्रभावक

ढगसे सदोष सिद्ध किया है और यह स्पष्ट किया है कि कुन्दकुन्द और उमास्वातिने गुण-पर्यायके विपयमे जिस पक्ष (पोजीशन) को अगीकार किया है वह यथेष्ट रूपसे निर्दोप है। सिद्धसेनने न्याय-वैशेषिक और कुन्दकुन्दके पक्षोको मिलाकर उसमें गडबड अथवा भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

उक्त उपविभागकी पाँचवी धारामे, सर्वज्ञताके सिद्धान्तका कुन्दकुन्दकी दृष्टिसे स्पष्टीकरण करते हुए उसपर दूसरे दर्शनोकी दृष्टिसे तथा उपनिपदो आदिकी मान्यताओसे कितना ही प्रकाश डाला गया है, कुमारिलके आक्रमणका भी उल्लेख किया गया है और कुन्दकुन्दके मुकावलेमे उसकी नि सारता व्यक्त की गई है। अन्तमे सर्वज्ञताकी आवश्यकता तथा उसकी सिद्धिका विवेचन किया गया है, और इस तरह इस महत्वपूर्ण विपयके लिये प्रस्तावनाका आठ पृष्ठोका स्थान घेरा गया है, जो वहुत कुछ ऊहापोह एव उपयोगी तथा विचारणीय सूचनाओको लिये हुए है। इसी प्रकरणमे यह भी सूचित किया गया है कि जहाँ तक उपलब्ध जैनग्रथोसे सम्बन्ध है सर्वज्ञता-विपयक तार्किकवाद वास्तवमे समन्तभद्र (ईसाकी दूसरी शताब्दी) से प्रारम्भ होता है। इससे पहिले उमास्वाति तथा कुन्दकुन्दादिके समयोमें सर्वज्ञता सिद्धान्तरूपसे प्रचलित थी—उसे सिद्ध करनेकी शायद [illegible] जरूरत नही समझी जाती थी। साथ ही, यह भी सूचित [illegible] गया है कि इसी समयके करीब जैनियोने सस्कृ[illegible] अपनाया है जो कि तर्क पद्धतिके लिये विशेप उपयुक्त है, और उमास्वाति सस्कृतको अपनानेके लिये प्रथम जैन लेखक हैं। पिछली सूचनासे यह भी ध्वनित होता है कि उमास्वातिके जिस भाष्यको 'स्वोपज्ञ' कहा जाता है उसे प्रोफेसर साहब भी उमा-स्वातिकृत नही मानते हैं, क्योकि उसमें 'वर्तना' आदि [illegible]

दूसरे जैन-विद्वानोके संस्कृत वाक्योको उद्धृत किया गया है और इसलिये वैसा मानने पर यह बात नही बनती कि उमास्वाति सस्कृतको अपनानेवाले जैन ग्रथकारोमे प्रथम थे। मुझे तो अभी इसपर काफी सन्देह है, क्योकि धवलादिकग्रंथोमे सस्कृतके कुछ ऐसे प्राचीन सूत्र तथा प्रबन्धादि भी उपलब्ध होते हैं जो अपनी रचना-शैली आदि परसे उमास्वातिके तत्वार्थसूत्रसे प्राचीन जान पडते हैं, और जिसका एक नमूना **'प्रमाणनयैर्वस्त्वधिगम'** नामका सूत्र है जो उमास्वातिके **'प्रमाणनयैरधिगम'** सूत्रसे मिलता-जुलता है और जिसे उद्धृत करते हुए धवलामे लिखा है कि **"इत्यनेन सूत्रेणापि नेदं व्याख्यानं विघटते"** (आरा प्रति, पृष्ठ ५४२—अर्थात् इस सूत्रसे भी यह व्याख्यान (स्पष्टीकरण) बाधित नही होता।

सातवी धारामे स्याद्वाद-सिद्धान्तका आठ पृष्ठोपर अच्छा उपयोगी विवेचन किया गया है, नयवादादिकी दृष्टियोको स्पष्ट करते हुए प्राचीन साहित्यमे, नयवाद तथा स्याद्वादकी खोज की गई है और साथही इस बातकी जाँच की गई है कि स्याद्वादके प्रतिरूप अन्यत्र कहाँ पर उपलब्ध होते हैं। इस सिलसिलेमें प्रोफेसर ए० बी० ध्रुव महोदयकी दो धारणाओको गलत सिद्ध किया है—एक यह कि स्याद्वादका प्रारम्भ अजैनोसे हुआ है और दूसरी यह कि वेदान्तके 'अनिर्वचनीयता' सिद्धान्तने जैनोके स्याद्वादको जन्म दिया है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जहाँ तक अर्धमागधीकोशसे पता चलता है 'स्याद्वाद' या 'सप्त-भगी' शब्द श्वेताम्बरीय आगम साहित्यमे नही पाया जाता है, परन्तु फिर भी उसके बीज वहाँपर मौजूद हैं। प्रो० ध्रुवने जो यह कहा है कि 'सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति' मे 'स्याद्वाद' का उल्लेख है वह ठीक नही है और सभवत ११८ वें पद्यमे आए हुए

क्रियावाद आदिके लक्षणकी गलतफहमी पर अवलम्बित है। इसके सिवाय, आइन्स्टाइनके अपेक्षावाद (Einstein's theory of relativity) तथा मॉडर्न फिलासोफीके साथ स्याद्वादकी तुलना करते हुए उसकी विशेषताको घोपित किया है। और इस तरह यह प्रकरण भी कितनी ही उपयोगी सूचनाओ तथा विचारकी सामग्रीको लिए हुए है।

पॉचवें विभागमे, टीकाकार अमृतचद्र सूरिके समयका विचार करते हुए, इतना तो निश्चितरूपसे कहा गया है कि वे ईसाकी ७ वी और १२ वी शताब्दीके मध्यवर्ती किसी समयमे हुए हैं। परन्तु वह मध्यवर्ती समय कौन-सा है, इसका अनुमान करते हुए उसे ईसाकी १० वी शताब्दीका प्राय समाप्तिकाल बतलाया है और ऐसा बतलानेके तीन कारण सुझाए हैं—(क) टीकामे कुछ गाथाओका गोम्मटसारसे उद्धृत किया जाना, (ख) ढाढसी-गाथाका अमृतचन्द्रके द्वारा रचा जाना, जिसमे नि पिच्छसघका उल्लेख है जो कि देवसेनकृत दर्शनसार के अनुसार सन् ८९६ मे उत्पन्न हुआ था, (ग) अमृतचद्रका देवसेनकी आलापपद्धतिसे परिचित होना। यद्यपि ये तीनो हेतु अभी पूरी तौरसे सिद्ध नही है,[1] क्योकि—

(क) गोम्मटसार एक सग्रह ग्रथ है, उससे जिन चार गाथाओको उद्धृत वतलाया जाता है वे वास्तवमे उसी परसे उधृत की गई हैं यह बिना काफी सबूतके नही कहा जा सकता। उनमेसे "जावदिया वयणवहा' आदि तीन गाथाएँ तो धवलामे भी पाई जाती हैं—बल्कि **'णिद्धस्स णिद्धेण'** और **'णिद्धाणिद्धेण'**

---

१ प्रो० साहवने भी इन्हें पूरी तौर से सिद्ध एव सवल हेतु नहीं माना है—मात्र सभावनाओंके रूपमें ही व्यक्त किया है और वह भी समुच्चयरूपसे।

नामकी दो गाथाएँ तो पट्खण्डागमकी मूलसूत्र गाथाएँ हैं। सभव है 'परसमयाण वयण' नामकी चौथी गाथा भी धवलादिकमे पाई जाती हो और मेरे देखनेमे अबतक न आई हो।

(ख) ढाढसी गाथा नामक कर्तृनामरहित प्रवन्धमे उपलब्ध होनेवाली 'संघो कोवि ण तारइ' नामकी जिस गाथाको, जैनहितैषीके कथनानुसार, मेघविजयने अमृतचन्द्रके श्रावका-चारकी गाथा बतलाकर उद्धृत किया है उस परसे उक्त प्रवन्ध अमृतचद्रका नही कहा जा सकता—न तो वह कोई श्रावकाचार ही है और न उसी श्रावकाचार परसे मेघविजय द्वारा उद्धृत किये जानेवाले दूसरे 'या मूर्छा नामेय' इत्यादि पद्य प्राकृत भाषाके हैं, वल्कि पुरुषार्थ सिद्ध्युपायके सस्कृत पद्य हैं। इससे मेघविजय-के उद्धरणोकी स्थिति और भी ज्यादा सदिग्ध हो जाती है और वे ढाढसी गाथाको अमृतचन्द्रकी ठहरानेके लिए पर्याप्त नही हैं।

(ग) प्रवचनसारकी जिस १२४ वें पृष्ठपर दी हुई टीकाको आलापपद्धतिसे तुलना करनेके लिये कहा गया है उसपरसे जहाँ तक मैने गौर किया है यह लाजिमी नतीजा नही निकलता कि अमृतचन्द्रके सामने देवसेनकी 'आलापपद्धति' थी—दोनोके सामान्य-गुणोके प्ररूपणमे वहुत वडा अन्तर है। इसके सिवाय, जब आलापपद्धतिकार अपने ग्रथकी रचना 'नयचक्र' के आधार-पर बतलाता है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उक्त प्राचीन ग्रथ अमृतचन्द्रके सामने मौजूद नही था—और अमृत-चन्द्रके कथनमे जो कुछ थोडा-सा सादृश्य पाया जाता है वह नयचक्रका न होकर आलापपद्धति का है ?

फिर भी प्रो० साहबने जिस समयका अनुमान किया है वह करीब करीब ठीक जान पड़ता है। पहले-तीसरे कारणकी अनुपस्थितिमे अमृतचन्द्रका समय ईसाकी १० वी शताब्दीका

पूर्वार्ध भी कहा जा सकता है और वह उस समयसे भी मिलता-जुलता है जो साम्प्रदायिक पट्टावलियोके अनुसार प्रो० साहबने १० वी शताब्दीका प्रारम्भ बतलाया है।

यहाँ पर इतना और भी प्रकट कर देना जरूरी मालूम होता है कि जयधवलाके अन्तमे, जिसका समाप्तिकाल शक स० ७५९ (ई० सन् ८३७) है, प्राय ३० कारिकाएँ, दूसरी कारिकाओके साथ, 'उक्त च' रूपसे ऐसी उद्धृत मिलती हैं जो तत्त्वार्थसारमे भी पाई जाती हैं और इससे कोई अमृतचन्द्रका समय ईसाकी ८ वी शताब्दी भी बतला सकता है। परन्तु ऐसा बतलाना ठीक नही है, क्योकि ये कारिकाएँ राजवार्तिकमे भी उद्धृत हैं तथा तत्त्वार्थाधिगम-भाष्यके अन्तमे भी पाई जाती हैं और किसी पृथक् ही प्रबन्धकी जान पडती हैं जो जयधवलामे उद्धृत किया गया है और जो अति प्राचीन मालूम होता है। उसपर किसी समय एक स्वतत्र लेखके द्वारा जुदा ही प्रकाश डालनेका विचार है। अस्तु, धवला और जयधवला—जैसी विशालकायटीकाओमे अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, समयसारकलशा तथा तत्त्वार्थसार—जैसे ग्रथोका दूसरा कोई भी पद्य देखनेमे नही आता, और इससे ये टीका-ग्रन्थ अमृतचन्द्राचार्यसे पहलेके बने हुए जान पडते हैं, अन्यथा इनमे अमृतचन्द्राचार्यके किसी-न-किसी वाक्यके उद्धृत होनेकी सभावना जरूर थी।

हाँ, प्रो० साहबकी इस विशाल-प्रस्तावनाके सम्बधमे एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह है कि इसमे प्रवचनसारकी मूलगाथाओका यो तो कितना ही विचार किया गया है, परन्तु इस प्रकारका कोई विचार प्रस्तुत नही किया गया जिससे यह मालूम होता कि प्रवचनसारकी सब गाथाएँ कुन्दकुन्द-द्वारा रचित हैं अथवा कुछ ऐसी भी गाथाएँ उसमे शामिल हैं जो

कुन्दकुन्दके द्वारा प्राचीन साहित्यपरसे सग्रह की गई है। ऐसे विशेष विचारकी जरूरत जरूर थी, क्योकि कुन्दकुन्दके प्रवचन-सारादि ग्रन्थोकी कितनी ही गाथाएँ ऐसी है जो यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) मे प्राय ज्योकी त्यो अथवा थोडेसे शब्दभेदके साथ पाई जाती है, जिससे यह सन्देह होता है कि कुन्दकुन्दने उन्हे तिलोयपण्णत्ती परसे लिया अथवा यतिवृषभने कुन्दकुन्दके ग्रन्थोपरसे उनका सग्रह किया है। उदाहरणके तौर-पर ऐसी गाथाओके कुछ नमूने इस प्रकार है—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघादिकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ १ ॥

—प्रवचनसार

एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं धोदघादिकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥ ७७ ॥

—तिलोयप० अन्तिमभाग

खंदं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणु चेव अविभागी ॥ ७५ ॥

— पचास्तिकाय

खंदं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी होदि परमाणू ॥ ९५ ॥

—तिलोयप० अन्तिमभाग

इन्द्रनन्दि और विबुधश्रीधरके श्रुतावतारोके कथनानुसार यतिवृषभ कुन्दकुन्दसे पहले हुए है। यदि ऐसा है तो यह कहना होगा कि कुन्दकुन्दने आगमवाक्योके तौरपर तिलोयपण्णत्तीकी कुछ गाथाओको अपने ग्रथोमे सग्रह किया है। और यदि ऐसा न होकर कुन्दकुन्दकी गाथाएँ उनकी स्वतत्र रचनाएँ है तो फिर यह कहना होगा कि यतिवृषभ कुन्दकुन्दके बाद हुए है और उन्होने कुन्दकुन्दके ग्रथोपरसे कुछ गाथाएँ अपनी तिलोयपण्णत्तीमे

उद्धृत की हैं। और इस तरह इन गाथाओके निर्णयसे कुन्दकुन्दादि कुछ आचार्योंके समयनिर्णयपर कितना ही प्रकाश पड सकता है। हाँ, जयसेनकी टीकामे प्रवचनसारकी एक गाथा निम्न प्रकारसे पाई जाती है —

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरूं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति॥

यदि यह गाथा वस्तुत इसी रूपमे कुन्दकुन्दकी है तो इसमें एक तरहसे यतिवृपभको भी नमस्कार पाया जाता है, जिससे कुन्दकुन्दका यतिवृपभसे पीछे होनेका और भी ज्यादा समर्थन होता है। परन्तु साथ ही यह भी वतला देना होगा कि कुन्दकुन्दके दूसरे किसी भी उपलव्ध ग्रथमे यतिवृपभका इस प्रकारका कोई स्मरण नही मिलता, वल्कि प्रवचनसारके तृतीय अध्याय और दर्शनपाहुड के मगलाचरणमे 'जदिवरवसह'की जगह 'जिणवरवसह' पाठकी उपलव्धि होती है। आश्चर्य नही जो उक्त गाथाका 'जदिवरवसहं' पद भी 'जिणवरवसह' ही हो—उसमे 'जिण' के स्थानपर 'जदि' गलत लिखा गया हो। और तब उससे यतिवृषभ का कोई आशय नही निकाला जा सकता। आशा है प्रो० साहब भविष्यमे, 'तिलोयपण्णत्ती' का सम्पादन समाप्त करते हुए अथवा उससे पहले ही, प्रकृत विपय पर गहरा प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

अन्तमे मैं यह भी वतला देना चाहता हूँ कि इतने वडे ग्रन्थमे एक भी पेजका शुद्धिपत्र लगा हुआ नही है, जो इस बातको सूचित करता है कि ग्रथका सशोधन और प्रूफरीडिंग बहुत सावधानीके साथ किया गया है और यह बात है भी ठीक, फिर भी दृष्टि-दोपसे कही-कही कोई अशुद्धि जरूर रह गई है— जैसे कि प्रस्तावना पृष्ठ १०८ की ३१ वी पक्तिमे 'प्रभाचन्द्र'

के स्थान पर 'बालचन्द्र' नाम गलत छपा है, भाषा टीका पृष्ठ २३७ पर 'बन्ध न होता' की जगह 'बन्ध होना,' पृष्ठ २७६ पर 'ममतारूप परिणामोंने तथा आरभसे रहित' की जगह ममतारूप परिणामोके आरभसे रहित,' पृष्ठ २८६ पर 'विहरतु' का अर्थ 'विहारकरे' की जगह 'व्यवहार कर्म करे', और पृष्ठ २९३ पर (वधकर) 'हिंसा करनेवाला' के स्थान पर '(बन्धक)' बन्धका करनेवाला अशुद्ध छपा है। यद्यपि ये तथा इसी प्रकारकी दूसरी अशुद्धियाँ भी बहुत कुछ साधारण-सी हैं और ग्रन्थके आगे-पीछेके सम्बन्धसे उनका पता चल जाता है, फिर भी कोई छोटी छोटी अशुद्धि भी ऐसी होती है जो अपने पाठकको बहुत चक्करमे डाल देती है। ऐसी अशुद्धिका एक नमूना प्रस्तावना पृष्ठ ५४ के तृतीय फुटनोटमे 'समयसार' के पृष्ठ १९५ का उल्लेख है, जिसने मुझे बहुत परेशान किया है, क्योकि उक्त पृष्ठ पर अमृतचन्द्रकी टीकामे 'सप्तपदार्थ' शब्दोका कोई भी उल्लेख देखनेमे नही आता, जिसके कारण मुझे इधर-उधरकी कितनी ही टटोल करनी पडी है। जान पडता है जयसेन-की टीकाके उल्लेखको गलतीसे अमृतचन्द्रका समझ लिया गया है। अच्छा होता यदि आधे पेजका ही एक शुद्धिपत्र ग्रन्थके साथ लगा दिया जाता।

इन सब आलोचनाओके साथ मैं ग्रन्थके इस सस्करणकी उपयोगिता एव सग्रहणीयताको फिरसे घोषित करता हुआ प्रो० साहबको उनके इस सफल परिश्रमके लिये हार्दिक बधाई तथा धन्यवाद भेंट करता हूँ ?[1]

---

१. जैनसिद्धान्त-भास्कर, जून १९३७

नया सन्देश

समालोचना करनेवाला जैनी नहीं !

किसी वस्तुके गुण-दोषपर विचार करना और उन्हे दिखलाना 'समालोचना' कहलाता है। परीक्षा, समीक्षा, मीमासा और विवेचना भी उसीके नामान्तर हैं। समालोचनाके द्वारा विवेक जागृत होता है, हेयोपादेयका ज्ञान वढता और अन्ध-श्रद्धाका नाश होता है। इस लिये सद्धर्मप्रवर्तक और सद्विचारक जन हमेशा परीक्षा-प्रधानताका अभिनन्दन किया करते और उसे महत्वकी दृष्टिसे देखा करते हैं। जैनधर्ममे इस परीक्षा-प्रधानताको और भी ज्यादा महत्व दिया गया है और किसी भी विषयके त्याग-ग्रहणसे पहले उसकी अच्छी तरहसे जाँच-पडताल-कर लेनेकी प्रेरणा की गई है। गुणदोषोपर विचार करनेका यह अधिकार भी सभी मनुष्योको स्वभावसे ही प्राप्त है, चाहे वह मनुष्य छोटा हो या वडा और चाहे उच्चासनपर विराजमान हो या नीचेपर। जो मनुष्य किसी वस्तुको निर्माण करके उसे पब्लिकके सामने रखता है, वह अपने उस कृत्यके द्वारा इस बातकी घोषणा करता है कि प्रत्येक मनुष्य उस वस्तुके गुण-दोषोपर विचार करे। और इसलिये पब्लिकमे रक्खी हुई किसी वस्तुपर यदि कोई मनुष्य अपनी सम्मति प्रकट करता है, उसके गुण-दोपोको वतलाता है तो उसके इस अधिकारमे बाधा डालनेका किसीको अधिकार नही है। अपनी भूल और अपनी त्रुटि वहुधा अपनेको मालूम नही हुआ करती, उसे प्राय. दूसरे

लोग ही बतलाया करते हैं। कभी-कभी उन भूलो और त्रुटियोका अनुभव ऐसे लोगोको हो जाया करता है जो ज्ञानादिकमे अपने बराबर नही होते और बहुत कम दर्जा रखते हैं। और यह सब आत्मशक्तियोके विकासका माहात्म्य है—किसीमे कोई शक्ति किसी रूपसे विकसित होती है और किसीमे कोई किसी रूपसे। ऐसा कोई भी नियम नही हो सकता कि पूर्वजनोके सभी कृत्य अच्छे हो, उनमे कोई त्रुटि न पाई जाती हो और गुरुओसे कोई दोप ही न बनता हो। पूर्वजनोके कृत्य बुरे भी होते हैं और गुरुओ तथा आचार्योंसे भी दोष बना करते हैं, अथवा त्रुटियाँ और भूलें हुआ करती हैं। यही वजह है कि शास्त्रोमे अनेक पूर्वजोके कृत्योकी निन्दा की गई है और आचार्यो तकके लिए भी प्रायश्चित्तका विधान पाया जाता है। इसलिए चाहे कोई गुरु हो या शिष्य, पूज्य हो या पूजक और प्राचीन हो या अर्वाचीन, सभी अपने-अपने कृत्यो-द्वारा आलोचनाके विषय हैं और सभीके गुण-दोषोपर विचार करनेका जनताको अधिकार है। नीतिकारोंने भी साफ लिखा है :—

"शत्रोरपि गुणा वाच्या दोपा वाच्या गुरोरपि।

अर्थात्—शत्रुके भी गुण और गुरुके भी दोष कहनेके—आलोचना किये जानेके—योग्य होते हैं। अत जो लोग अपना हित चाहते हैं, अन्धश्रद्धाके कूपमे गिरनेसे बचनेके इच्छुक हैं और जिन्होने परीक्षा-प्रधानताके महत्वको समझा है उन्हे खूब जाँच-पडतालसे काम लेना चाहिए, किसी भी विषयके त्याग अथवा ग्रहणसे पहले उसकी अच्छी तरहसे आलोचना-प्रत्यालोचना कर लेनी चाहिए और केवल 'बाबावाक्य प्रमाण' के आधारपर न रहना चाहिए। यही उन्नतिमूलक शिक्षा हमे जगह-जगहपर जैन शास्त्रोमे दी गई है और ऐसे सारगर्भित

उदार उपदेशोसे ही जैनधर्म अबतक गौरवशाली बना हुआ है। परन्तु हमारे पाठकोको आज यह जानकर आश्चर्य होगा कि शोलापुरके सेठ रावजी सखाराम दोशीने जैनसिद्धान्त-विद्यालय मोरेनाके वार्षिकोत्सव पर सभापतिकी हैसियतसे भाषण देते हुए, उक्त शिक्षासे प्रतिकूल, जैनसमाजको हालमे एक नया सन्देश सुनाया है, और वह सक्षेपमें यह है कि जो विद्वान् लोग जैनग्रंथोकी समालोचना करते हैं—उनके गुण-दोषोको प्रकट करते हैं—वे जैनी नही हैं। इस सम्बन्धमे आपके कुछ खास वाक्य इस प्रकार हैं —

"अब थोड़े दिनोंसे कुछ पढ़े-लिखे लोगोंमें एक तरहका भ्रम होकर वे परम पूज्य आचार्यौंके ग्रन्थोंकी समालोचना कर रहे हैं। जो जैनी हैं वे आचार्योंकी समालोचना करते हैं, यह वाक्य कहनेमें विपरीतता दिखाई देती है। आचार्योंकी समालोचना करनेवाला जैनी कैसे कहला सकता है?"

समझमे नही आता कि जैनी होने और आचार्योंकी समालोचना करनेमे परस्पर क्या विपरीतता है। क्या सेठ साहबका इससे यह अभिप्राय है कि, जो स्वय आचार्य नहो, वह आचार्यके गुण-दोषोका विचार नही कर सकता अथवा उसे वैसा करनेका अधिकार नही? यदि ऐसा है तो सेठ साहबको यह भी कहना होगा कि जो आप्त नही है, अनीश्वर है उसे आप्त भगवान्की—ईश्वर-परमात्माकी—मीमासा और परीक्षा करनेका भी कोई अधिकार नही है, न वह कर सकता है। और तब आपको स्वामी समन्तभद्र और विद्यानन्दादि जैसे महान् आचार्योंको भी कलङ्कित करना होगा और उन्हे अजैन ठहराना पडेगा, क्योकि स्वय आप्त, ईश्वर या परमात्माके पदपर प्रतिष्ठित न होते हुए भी उन्होने आप्त-परमात्माकी मीमासा और परीक्षा तक कर-

डालनेका साहस किया है। स्वामी समन्तभद्रने तो भगवान् महावीरस्वामीकी भी परीक्षा करडाली है और यहाँ तक लिखा है कि देवोका आगमन, आकाशमे गमन और छत्र-चँवरादि विभूतियोकी वजहसे मैं आपको महान्--पूज्य नही मानता, ये बातें तो मायावियो--इन्द्रजालियोमे भी पाई जाती हैं।[१] क्या सेठ साहब स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंपर इस प्रकारका दोप लगाने और उन्हे अजैन ठहरानेके लिए तैयार हैं ? यदि नही तो आपको यह मानना होगा कि नीचे दर्जेवाला भी ऊँचे दर्जेवालेकी परीक्षा और उसके गुण-दोपोकी जाँच, अपनी शक्तिके अनुसार, कर सकता है। और इसलिए श्रावकोका मुनियो तथा आचार्योंके कुछ कृत्योकी समालोचना करना, उनके गुण-दोष बतलाना, अधिकारकी दृष्टिसे कोई अनुचित कार्य नही है। इसके सिवाय मैं सेठ साहबसे पूछता हूँ कि क्या साधु-सम्प्रदायमे कपट-वेषधारी, द्रव्यलिगी, शिथिलाचारी, अल्पज्ञानी और अनेक प्रकारके दोषोको लगानेवाले साधु तथा आचार्य नही हुए हैं[२] ? क्या आचार्योंमे मठाधिपति (गद्दीनशीन) भट्टारक लोग शामिल नही हैं ? क्या ऐसे आचार्योंके बनाये-बनवाये हुए सैकडो ग्रन्थ जैन-समाजमे प्रचलित नही हैं ? क्या इन ग्रन्थोमे श्रमणाभास भट्टारकोने अपनेको परम आचार्य और मुनीन्द्र तक नही लिखा ? क्या बहुतसे ग्रन्थोमे अज्ञान, कषाय और भूल आदिके कारण पीछेसे कुछ मिलावट नही हुई ? क्या जिनसेन-त्रिवर्णाचार और कुन्दकुन्दश्रावकाचार जैसे कुछ ग्रन्थ बडे आचार्योंके नामसे जाली

---

१. देवागमनभोयान--चामरादि--विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥--आप्तमीमांसा

२. ऐसे ही साधुओंको लक्ष्य करके 'सज्जनचित्तवल्लभ' आदि ग्रन्थों-मे उनकी कडी आलोचना की गई है।

बने हुए नही ? और क्या अनेक विषयोमे, अज्ञानादि किसी भी कारणसे, बहुतसे आचार्योंमे परस्पर मतभेद नही रहा है ? यदि यह सब कुछ हुआ है तो फिर सत्यकी जाँचके लिए ग्रथकी परीक्षा, मीमासा और समालोचना आदिके सिवा दूसरा और कौन-सा अच्छा साधन है जिससे यथेष्ट लाभ उठाया जा सके ? शायद इसी स्थितिका अनुभव करके किसी कविने यह वाक्य कहा है :—

जिनमत महल मनोज्ञ अति, कलियुग छादित पन्थ।
समझ-बूझके परिखियो चर्चा - निर्णय - ग्रन्थ ॥

इस वाक्यमे साफ तौरसे हमे जैन ग्रन्थोकी अच्छी तरहसे परीक्षा और समालोचना करके उनके विषयको ग्रहण करनेको सलाह दी गई है और उसका कारण यह बतलाया गया है कि जैनधर्मका वास्तविक मार्ग आजकल आच्छादित हो रहा है— कलियुगने उसमे तरह-तरहके काँटे और झाड खडे कर दिये हैं, जिनको साफ करते हुए चलनेकी जरूरत है। प० आशाधरजीने 'अनगारधर्मामृत' की टोकामे किसी विद्वान्का जो निम्न प्राचीन वाक्य उद्धृत किया है वह भी ध्यानमें रखे जानेके योग्य है—

पण्डितैर्भ्रष्ट - चारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

इस वाक्यमे सखेद यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवान्के निर्मल शासनको भ्रष्टचारित्र-पडितो और धूर्त-मुनियोने मलीन कर दिया है। और इससे भी यही ध्वनित होता है कि हमे जैन-ग्रन्थोके विषयको बडी सावधानीके साथ, खूब परीक्षा और समालोचनाके बाद, ग्रहण करना चाहिये, क्योकि उक्त महात्माओकी कृपासे जैनशासनका निर्मलरूप बहुत कुछ मैला हो रहा है। ऐसी हालतमे मालूम नही होता कि सेठ साहब ग्रथोंकी

परीक्षाओ और समालोचनाओसे क्यो इतना घबराते हैं और क्यो उनका दर्वाजा बन्द करनेकी फिकरमे हैं। क्या आप जिन-सेन-त्रिवर्णाचारके कर्त्ता जैसे आचार्योंको 'परमपूज्य' आचार्य समझते हैं और ऐसे ही आचार्योंकी मानरक्षाके लिए आपका यह सब प्रयत्न है? यदि ऐसा है तो हमे कहना होगा कि आप बड़ी भारी भूलमे हैं। अब वह जमाना नही रहा और न लोग इतने मूर्ख हैं जो ऐसे जाली ग्रन्थोको भी माननेके लिए तैयार हो जाँय। सहृदय-विद्वत्समाजमे अब ऐसे ग्रन्थलेखक कोई आदर नही पा सकते और न स्वामी समन्तभद्र-जैसे महाप्रतिभाशाली और अपूर्व मौलिक ग्रन्थोके निर्माणकर्ता आचार्योका आदर तथा गौरव कभी कम हो सकता है। इसलिये समालोचनाओसे घबरानेकी जरूरत नही। जरूरत है समालोचनामे कही हुई किसी अन्यथा बातको प्रेमके साथ समझानेकी, जिससे उसका स्पष्टीकरण हो सके। समालोचनाओसे दोषोका सशोधन और भ्रमोका पृथक्करण हुआ करता है और उससे यथार्थ वस्तु-स्थितिको समझकर श्रद्धानके निर्मल बनानेमे भी बहुत बडी सहायता मिला करती है। इसलिए सत्यके उपासको-द्वारा सद्भावसे लिखी गई समालोचनाएँ सदा ही अभिनन्दनीय होती हैं। जो लोग ऐसी समालोचनाओसे घबराते हैं उनकी जैनधर्म-विषयक-श्रद्धा, मेरी रायमें, बहुत ही कमजोर है और उनकी दशा उस मनुष्य-जैसी है जिसे अपने हाथमे प्राप्त हुए सुवर्णपर उसके शुद्ध सुवर्ण होनेका विश्वास नही होता और इसलिये वह उसे तपाने आदिकी परीक्षामे देते हुए घबराता है और यही कहता है कि तपानेकी क्या जरूरत है, तपानेसे सोनेका अपमान होता है? और उसको आगमे डालनेवाला सोनेका प्रेमी कैसे कहला सकता है? जो लोग शुद्ध सुवर्णके परीक्षक नही होते

और अपने खोट-मिले हुए सुवर्णको ही शुद्ध सुवर्णकी दृष्टिसे देखते हैं और उसीसे प्रेम रखते हैं, उनके सुवर्णमे कभी किसी परीक्षक-द्वारा खोट निकाले जानेपर उनकी प्राय ऐसी ही दशा हुआ करती है। ठीक यही दशा इस समय हमारे सेठ साहबकी जान पडती है। उन्हे अपने सुवर्ण (श्रद्धास्पद-साहित्य) के खोट-मिश्रित करार दिये जानेका भय है और उसके सशोधन करानेमे सुवर्णका वजन कम हो जानेका डर है। इसीलिए आप ऐसे-ऐसे नवीन सदेश सुनाकर--समालोचकोको अजैनी करार देकर —परीक्षाका दर्वाजा बन्द कराना चाहते हैं और शायद फिरसे अन्धश्रद्धाका साम्राज्य स्थापित करनेकी चिन्तामे हैं।

आपने अपने सन्देशमें एक बात यह भी कही है कि हमें किसी सभाके सभापति, किसी पत्रके सम्पादक और किसी स्थानके पण्डितकी बातोपर ध्यान नही देना चाहिए और न उन्हे प्रमाण मानना चाहिए, बल्कि '**गुरूणा अनुगमनं**' के सिद्धान्त पर चलना चाहिए। अर्थात् हमारे गुरुओने, पूर्वाचार्योंने जो उपदेश दिया है उसीके अनुसार हमें चलना चाहिए। यह सामान्य सिद्धान्त कहने-सुननेमे जितना सुगम और रुचिकर मालूम होता है, अनुष्ठानमे उतना सुगम और रुचिकर नही है। बहुतसे गुरुओके वचनोमे परस्पर भेद पाया जाता है—हर एक विषयमे सब आचार्योंकी एक राय नही है। जब पूर्वाचार्योंके परस्पर विभिन्न शासन और मत सामने आते हैं तब अच्छे अच्छे आज्ञा-प्रधानियो-की बुद्धि चकरा जाती है और वे 'किं कर्तव्यविमूढ' हो जाते हैं। उस समय परीक्षा-प्रधानता और अपने घरकी अकलसे काम लेनेसे ही काम चल सकता है। अथवा यो कहिये कि ऐसे परीक्षाप्रधानी और खोजी विद्वानोकी बातोपर ध्यान देनेसे ही कुछ नतीजा निकल सकता है, केवल '**गुरूणा अनुगमनं**' के सिद्धान्तपर बैठे रहनेसे

नही। मै सेठ साहबसे पूछता हूँ कि (१) एक आचार्य सीताको रावणकी पुत्री और दूसरे जनककी पुत्री बतलाते हैं, (२) जम्बू स्वामीका समाधि-स्थान एक मथुरामे, दूसरे विपुलाचल पर्वत पर और तीसरे कोटिकपुरमे ठहराते हैं, (३) भद्रबाहुकके समाधि-स्थानको एक श्रवणबेल्गोलके चन्द्रगिरि पर्वतपर, दूसरे उज्जयिनीमे बतलाते हैं, (४) श्रावकोके अष्टमूल गुणोके निरूपण करनेमे एक आचार्य कुछ कहते हैं, दूसरे कुछ और तीसरे चौथे कुछ और ही, (५) कुछ आचार्य छठी प्रतिमाको 'दिवामैथुन-त्याग' बतलाते हैं और कुछ 'रात्रिभोजन-विरति, (६) कोई गुरु रात्रि-भोजन-विरतिको छठा अणुव्रत करार देते हैं और कोई नही, (७) गुण-व्रत और शिक्षाव्रतके कथनोमे भी आचार्योंमे परस्पर मतभेद हैं[1], (८) कितने ही आचार्य ब्रह्माणुव्रतीके लिए वेश्याका निषेध करते हैं और कुछ सोमदेव-जैसे आचार्य उसका विधान करते हैं[2]। इसी तरहके और भी सैकडो मतभेद हैं, इनमेसे प्रत्येक विषयमे कौनसे गुरुकी बात मानी जाय और कौनसे की नही? जिसकी बात न मानी जाय उसकी आज्ञाका भङ्ग करनेका दोष लगेगा या नही? और तब क्या उक्त 'गुरुणामनुगमनं' के सिद्धान्तमे बाधा नही आवेगी? क्या आप उस गुरुको गुरुत्वसे ही च्युत कर देंगे? परीक्षा, जाँच-पड़ताल और युक्तिवादको छोडकर, आपके पास ऐसी कौनसी गारटी है जिससे एक गुरुकी बात मानी जाय और दूसरेकी नही? कृपाकर यह तो बतलाइये कि जितने आचार्यों, भट्टारको आदि गुरुओंके वचन (शास्त्र)

---

१. देखो लेखकके शासनभेद-सम्बन्धी लेख, जैनहितैषी भाग १४ अक १, २, ३, ७, ८, ९ तथा 'जैनाचार्योंका शासनभेद'।

२ वधू-वित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
मातास्वसातनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे॥ (यशस्तिलक)

समाजमे इस समय प्रचलित हैं अथवा सुने जाते हैं उनमेसे आपको कौन कौनसे गुरुओके वचन मान्य हैं, जिससे आपके गुरुणा अनुगमन' सिद्धान्तका कुछ फलितार्थ तो निकले—लोगोंको यह तो मालूम हो जाय कि आप अमुक अमुक गुरुओ, ग्रन्थकारो-की सभी वातोको आँखें वन्द कर मान लेनेका परामर्श दे रहे हैं। साथ ही यह भी वतलाइये कि यदि उनके कथनोमे भी परस्पर विरोध पाया जाय तो फिर आप उनमेसे कौनसेको गुरुत्वमे च्युत करेंगे और क्योकर। केवल एक सामान्य वाक्य कह देनेसे कोई नतीजा नही निकल सकता। भले ही साक्षात् गुरुओके सम्वन्वमे आपके इस सिद्धान्त-वाक्यका कुछ अच्छा उपयोग हो सके, परन्तु परम्परा-गुरुओ और विभिन्न मतोके धारक वहु-गुरुओके सम्वन्धमे वह विल्कुल निरापद मालूम नही होता और न सर्वथा उसीके आधार पर रहा जा सकता है—खासकर इस कलिकालमे जव कि भ्रष्टचरित्र-पण्डितो और धूर्त-मुनियोके द्वारा जैनशासन वहुत कुछ मैला (मलिन) किया जा चुका है।

आजकल हिन्दू साधुओमे कितना अत्याचार वढा हुआ है और वे अपने साधुधर्मसे कितने पतित हो रहे हैं, यह वात किसी-से छिपी नही है। उनकी चरित्र-शुद्धि और उत्थानके लिए, अथवा दूसरोको सन्मार्ग दिखलानेके लिए, क्या किसी गृहस्थको यह समझकर उनके दोपोकी आलोचना नही करनी चाहिए कि वे साधु हैं और हम गृहस्थ, हमे गुरुजनोकी समालोचना करनेका अधिकार नही ? और क्या ऐसी समालोचना करनेवाला हिन्दू नही रहेगा ? यदि सेठ साहव ऐसा कुछ नही मानते, वल्कि देश, धर्म और समाज की उन्नतिके लिए वैसी समालोचनाओका होना आवश्यक समझते हैं तो उन्हे जैन-समालोचकोको भी उसी दृष्टिसे

देखना चाहिए। कोई वजह नही है कि क्यो त्रुटिपूर्ण साधुओ और त्रुटिपूर्ण ग्रन्थोकी, सम्यक् आलोचना-द्वारा, त्रुटियाँ दिखला-कर जनताको उनसे सावधान न किया जाय और क्यो इस तरह-पर उन्नतिके मार्गको अधिकाधिक प्रशस्त बनानेका यत्न न किया जाय।

आशा है, वस्तुस्थितिका दिग्दर्शन करानेवाले इस लेखपर सेठ साहब शान्तिके साथ विचार करेंगे और बन सकेगा तो सयत-भाषामे, योग्य उत्तरसे भी कृतार्थ करनेकी कृपा करेंगे[1]।

नोट—सेठ साहबका कोई उत्तर प्राप्त नही हुआ।

---

१. जैन हितैषी, भाग १५ अंक ६, अप्रेल १९२१

चिन्ताका विषय अनुवाद : ५ :

आजकल बहुधा ग्रन्थके अनुवादोकी बडी ही दुर्दशा है, उनके लिखने-लिखानेमे बहुत ही, असावधानी तथा प्रमादसे काम लिया जाता है, जिसके जीमे आता है वही कलम उठाकर किसी ग्रथका अनुवाद या उसपर टीका-टिप्पणी लिखने बैठ जाता है और इस बातकी प्राय कोई पर्वाह नही की जाती कि अनुवादकमे उस विषयकी अच्छी योग्यता अथवा उसका पर्याप्त अनुभव भी है या कि नहीं। कितने ही विद्वान् तो मात्र अपनी आजीविका चलाने या उसमे सहायता पहुँचानेके लिये ही अनुवाद-कार्य करते हैं और प्रकाशकोसे फार्मोंके हिसाबसे अपनी उजरत लेते हैं। उन्हे अपनी योग्यता और अनुभवको देखनेकी क्या पडी? खासकर ऐसी हालतमे जबकि समाज-द्वारा उनकी कृतियोकी कोई अच्छी जाँच न होती हो। ऐसे लोगोकी दृष्टि ग्रथके गहरे अध्ययन और मननकी ओर प्राय नही होती, और इसलिये वे अनुवादमे अधिक अथवा पर्याप्त परिश्रम न करके प्राय. चलता हुआ साधारण अनुवाद ही प्रस्तुत करते हैं, जिससे थोडे समयमे अधिक पैसे पैदा किये जा सकें। ग्रन्थ भी अनुवादके लिए प्राय ऐसे ही चुने जाते हैं जिनकी भाषा सरल हो, अर्थ भी गभीर न हो और इसलिए जिनके अनुवादमे अधिक परिश्रम न करना पडे। इसीसे पिछले भट्टारको आदिका पुराण-चरितादि-विषयक साधारण साहित्य ही आजकल अधिक अनुवादित हो रहा है। मुझे ऐसे कितने ही आधुनिक अनुवादोको देखनेका अवसर मिला है जिनमे कही तो मूलग्रन्थकी कुछ बातोको छोड दिया गया, कही

वहुत-सी वातें इस ढगसे वढा दी गई जिससे पढने वालोको वे मूल-ग्रन्थकी ही वातें मालूम पडें और कही-कही अर्थका विल्कुल ही अनर्थ किया गया है। ऐसे वहुतसे अनुवादोके साथ मूल भी नही दिया गया और इससे उनकी गलतीका कोई पता न चलने और उसके रूढ हो जानेकी वहुत कुछ सभावना रहती है। कितने ही महान् ग्रथोके अनुवाद ऐसे श्रीहीन भी देखे गये जो ग्रथ-गौरवके अनुकूल नही, जिनसे मूल ग्रथका भाव अच्छी तरह परिस्फुट नही होता, वल्कि कही-कही तो वे मूल ग्रथके महत्वको भी कम करते हुए जान पडते हैं। यह सव देखकर चित्तपर वडी चोट लगती है। नि सन्देह, यह 'एक वडी ही चिन्ताका' विपय है और इससे भविष्यमे वहुत कुछ हानि पहुँचनेकी सभावना है। मेरी इच्छा कई वार ऐसे अनुवादोपर कुछ लिखने अथवा प्रकाश डालनेकी हुई, परन्तु समयाभावने मुझे वैसा नही करने दिया। हालमे एक ऐसा ही ताजा अनुवाद मेरे हाथ पडा है, उसमे ऐतिहासिक विपर्यासको देखकर मुझसे नही रहा गया और इसलिये, समय न होते हुए भी, आज मैं उदाहरणके तौरपर उसीका कुछ थोडा-सा परिचय अपने पाठकोको देनेके लिये प्रस्तुत हुआ हूँ और वह इस प्रकार है :—

'दिगम्बर जैन' के अठारहवें वर्षके उपहारमे 'श्रावकाचार द्वितीय भाग' नामसे एक ग्रथ वितरित हुआ है, जिसके अनुवादक हैं प० नन्दलालजी चावली निवासी। मूलग्रथ गुणभूपण आचार्यका वनाया हुआ है जो कि विक्रमकी प्राय. १४ वी शताब्दीके विद्वान् थे, और उसका नाम है 'भव्यचित्तवल्लभ' अथवा 'भव्यजनचित्त-वल्लभश्रावकाचार'। अनुवादके साथमें मूलग्रथके पद्योको क्रमश उद्धृत नही किया गया। हाँ, पीछेसे सारा ही मूलग्रथ इस द्वितीय

भागके अन्तमे जोड दिया है और इसे प्रकाशक महाशयकी वडी कृपा समझनी चाहिये ।

इस ग्रथमे ग्रथकर्ताने अपने परिचयका जो एक पद्य दिया[१] है वह इस प्रकार है —

विख्यातोऽस्ति समस्तलोकवलये श्रीमूलसंघोऽनघः
तत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतमतिः श्रीसागरेन्दोः सुत ।
तच्छिष्योऽजनि मोह - भूभृदशनिस्त्रैलोक्यकीर्तिमुनिः
तच्छिष्यो गुणभूपण समभवत्स्याद्वाद(दि) चूडामणिः ॥

इस पद्यमे बहुत ही स्पष्ट शब्दो-द्वारा यह वतलाया गया है कि—'सम्पूर्ण जगतमे मूलसघ नामका एक निर्दोष सघ प्रसिद्ध है, उसमे श्री 'सागरचन्द' के शिष्य 'विनयचन्द्र' (मुनि) हुए, जो अद्भुत् वुद्धिके धारक थे, विनयचन्द्रके शिष्य 'त्रैलोक्य-कीर्ति' मुनि हुए जो मोहरूपी पर्वतके लिए वज्रके समान थे और त्रैलोक्यकीर्ति मुनिके शिष्य गुणभूषण हुए जो स्याद्वाद(दि) चूडामणि हैं अर्थात् स्याद्वाद विद्याके जानेवालोमे इस समय प्रधान हैं।' अब इसी पद्यके प० नन्दलालजी कृत अनुवादको लीजिये । आप लिखते हैं —

"समस्त ससारमे मूलसघ अत्यन्त प्रसिद्ध है और महान् पुरुषोसे मान्य हैं। उस मूलसघमे परम तेजस्वी समस्त विद्याके पारगामी श्री सागरचन्द नामक विद्वान् हुए। श्रीसागरचन्द्रके

---

१ इस पद्य पर २५९ और २६० ऐसे दो नम्वर डाले गये हैं और इससे ऐसा सूचित होता है कि शायद अनुवादकजीने इसे एक पद्य न समझकर पद्य-द्वितय समझा है, परन्तु ऐसा नहीं है। यह शार्दूल-विक्रीडित छन्दमें एक ही पद्य है। इसी तरह पर और भी पद्योंको एक-एककी जगह दो दो पद्योंमें बॉट दिया है, और इससे ग्रन्थकी पद्य-सख्या विगड गई—उल्लेखके अनुसार नहीं रही।

आद्य शिष्य मोहरूपी पर्वतको नाश करनेके लिये वज्र समान त्रिलोकमे प्रसिद्ध कीर्तिवान् और विद्वानोसे मान्य श्री गुणभूपण स्वामी उत्पन्न हुए जो स्याद्वाद वाणीको जाननेके लिये चूडामणि रत्नके समान दैदीप्यमान थे ।''

विज्ञ पाठकजन ! देखा, कैसा और कितना विचित्र अनुवाद है ! मालूम नही होता 'महान् पुरुषोसे मान्य, परम तेजस्वी, समस्त विद्याके पारगामी, आद्य और विद्वानोसे मान्य' यह सब कौनसे विशेपणपदोका अनुवाद किया गया है। मूलमे तो इन अर्थोके द्योतक कोई भी विशेपणपद नही हैं और 'स्याद्वाद वाणी-को जाननेके लिये चूडामणि रत्नके समान दैदीप्यमान थे' यह 'स्याद्वादचूडामणि' पदका जो अनुवाद किया गया है वह बडा ही विलक्षण जान पडता है। इसमे 'वाणीको जाननेके लिये दैदीप्यमान होने' ने तो सारे अनुवादको ही दैदीप्यमान कर दिया है !! परन्तु इन सब बातोको भी रहने दीजिये, इस अनुवादके द्वारा वे गुणभूपण आचार्य जो सागरचन्दके शिष्यके भी शिष्य नही, किन्तु प्रशिष्य थे, सागरचन्दके ही शिष्य बना दिये गए हैं और शिष्य भी कैसे ? आद्य शिष्य !! इसके सिवाय, गुणभूपणके साक्षात् गुरु 'त्रैलोक्य कीर्ति' तथा दादा गुरु 'विनयचन्द्र' दोनो का नामतक भी उडा दिया गया ! उनके विशेषणोकी तो फिर बात ही क्या ? यह सब सत्यका कितना व्याघात और ऐतिहासिक तथ्यका कितना विपर्यास है !! इसे विज्ञ पाठक स्वय समझ सकते हैं। मूल पद्य बहुत ही सुगम है, उसमे एक जगह 'श्री सागरेन्दो सुत ' और दो जगह 'तच्छिष्य ' 'तच्छिष्य, ' पद आए हैं और उनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रथकर्ताने उसमे अपनेसे पहलेकी तीन पीढियोका उल्लेख किया है, परन्तु फिर भी अनुवादकजीने इसपर कोई ध्यान नही दिया। जान

पडता है उन्हे 'सुत' पदके वाद 'तच्छिष्य' पदोका प्रयोग कुछ व्यर्थ जान पडा है और इसीलिये उन्होने 'त्रैलोक्यकीर्ति' नामके सज्ञापदको 'त्रिलोकमे प्रसिद्ध कीर्तिवान्' इस रूपसे अनुवादित करके उसे गुणभूपणका ही एक विशेपण वना दिया है। और 'विनयेन्दु' (विनयचन्द) तथा 'अद्भुतमति' पदोका अनुवाद करना वे शायद भूल गये ॥ अस्तु।

ग्रथकर्ताने उक्त पद्यमे अपनी जिस गुरु-परम्पराका उल्लेख किया है उसका समर्थन दूसरे प्रमाणोसे भी होता है। यद्यपि, प्रकृत पद्यकी स्पष्ट स्थितिमे, उन्हे यहाँपर उद्धृत करनेकी जरूरत नही है फिर भी साधारण पाठकोके सतोपार्थ नमूनेके तौरपर कुछ परिचय नीचे दिया जाता है —

(१) पडित आशाधरजीने 'इष्टोपदेश' की टीका विनयचन्द्रमुनिके कहनेसे ('विनयेन्दुमुनेर्वाक्यात्') लिखी है और विनयचन्द्रको सागरचन्द्र (सागरेन्दु) का शिष्य वतलाया है —

'उपशम इव मूर्त· सागरेन्दुमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्र सच्चकोरैकचन्द्रः।'

इससे उक्त पद्यके द्वितीय चरणका समर्थन होता है और यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सागरचन्द्रके शिष्य (सुत) विनयचन्द्र (विनयेन्दु) थे, गुणभूपण नही।

(२) पं० वामदेव, अपने 'भावसग्रह की प्रशस्तिमे, मूलसघके 'त्रिलोक्यकीर्ति' को विनयचन्द्र (विनयेन्दु) का शिष्य लिखते हैं —

**भूयाद्भव्यजनस्य विश्वमहित श्रीमूलसंघ श्रिये
यत्राभूद्विनयेन्दुरद्भुतगुण· सच्छीलदुग्धार्णव ।
तच्छिष्योऽजनि भद्रमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यकीर्तिः शशी
येनैकान्तमहातम· प्रमथितं स्याद्वादविद्याकरै ॥**

इससे उक्त पद्यके तृतीय चरणमे 'विनयेन्दु' के शिष्यरूपसे त्रैलोक्यकीर्ति नामक मुनिका जो उल्लेख पाया जाता है उसका समर्थन होता है। साथ ही, यह जाना जाता है कि चतुर्थ चरणमें 'तच्छिष्य' पदके द्वारा गुणभूषणने अपनेको इन्ही 'त्रैलोक्यकीर्ति' मुनिका शिष्य सूचित किया है और इसलिए 'त्रैलोक्यकीर्ति' गुणभूषणका विशेषण नही है, बल्कि यह उनके गुरुका नाम है, जिसका स्मरण उन्होने प्रकारान्तरसे ग्रन्थके मगलाचरणमे भी 'प्रणम्य त्रिजगत्कीर्ति' इत्यादिरूपसे किया है।

(३) प० वामदेव त्रैलोक्यकीर्तिके प्रशिष्य थे। उनका बनाया हुआ त्रैलोक्यदीपक नामका भी एक ग्रन्थ है, जिसमे त्रैलोक्यकीर्ति मुनिकी प्रशसाके कई पद्य दिये हैं, और यह ग्रन्थ उन्ही 'प्राग्वाटवशी' नेमिदेवकी प्रार्थनापर लिखा गया तथा उन्हीके नामाकित किया गया जिनकी प्रार्थनापर गुणभूषणका उक्त श्रावकाचार लिखा गया और नामाकित किया गया है। नेमिदेवके वशका वर्णन करनेवाले और उसकी प्रशसा तथा आशीर्वादको लिये हुए वे तीनो पद्य भी इसमे ज्योके त्यो उद्धृत पाये जाते हैं जो श्रावकाचारमे 'अस्त्यत्रवंश' से प्रारम्भ होकर **'नेमिश्चिर नन्दतु'** पर समाप्त होते हैं। इससे वामदेवका गुण-भूषणके साथ सम्बन्ध स्थापित होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि प० वामदेवने अपने भावसग्रह आदि ग्रन्थोमे जिन 'विनयेन्दु' और 'त्रैलोक्यकीर्ति' नामक मुनियोका उल्लेख किया है उन्हीका उल्लेख गुणभूषणने भी अपने श्रावकाचारमे किया है। दोनो उल्लेख इस विषयमे समान हैं, और इसलिये गुणभूषणको सागरचन्दका शिष्य लिखना और त्रैलोक्यकीर्ति' नामके सज्ञापद-को भी गुणभूषणका विशेषण बना देना कोई अर्थ नही रखता।

इस सब कथनसे पाठक सहजमे ही यह अनुभव कर सकते

हैं कि उक्त अनुवाद कितना बे-सोचे-समझे किया गया है, किस कदर बेढगा है और उसमे कितनी अधिक ऐतिहासिक विपरीतता पाई जाती है, जो पाठकोको गुमराह करती है। अनुवादकजी, 'लेखकके दो शब्द' नामकी भूमिकामे, अपने अनुवादको एक स्वतत्र अनुवादकी सज्ञा देते हैं, परन्तु यह अच्छी स्वतन्त्रता हुई जिसके द्वारा एक आचार्यके गुरु और दादागुरु दोनोका ही नाम लुप्तकर दिया गया और उन्हे उनके गुरुके भी दादागुरुका शिष्य बनाकर उन्हीके समकालीन ठहरा दिया गया !!

जब एक बहुत ही सुगम पद्यके अनुवादकी ऐसी हालतमे और उसमे अधिकता, हीनता, विपरीतार्थता आदिके सभी दोष पाये जाते हैं तब दूसरे पद्योके अनुवादका क्या हाल होगा, इसे पाठक स्वय सोच सकते हैं। खेद है मेरे पास इतना समय नही कि मैं सारे अनुवादकी जाँच प्रकट करूँ—सारा अनुवाद बहुत कुछ त्रुटियो तथा दोषोसे परिपूर्ण है और उसपर एक बडा पोथा लिखा जा सकता है, मैंने केवल एक नमूना प्रस्तुत किया है, उसपरसे शेष ग्रथके अनुवादको, और इसी तरह दूसरे ग्रन्थोके अनुवादोको भी जाँचने-जँचानेकी ओर विद्वानो तथा दूसरे समाज-हितैषियोका ध्यान जाना चाहिये। अनुवादकोकी ऐसी निरकुश-प्रवृत्ति और लापर्वाही अवश्य ही नियत्रण किये जानेके योग्य है। समाजको इस ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिये। अन्यथा, यह रोग दिनपर दिन और बढता जायगा। उसकी वृद्धिसे समाजका ज्ञान विकृत हो जायगा, अथवा वह विकृत ही उत्पन्न होगा, और आगेको वस्तुस्थितियोको समझनेमे बडी-बडी दिक्कतें पेश आएँगी।

समाजकी वर्तमान अव्यवस्था, दुरवस्था और असगठित स्थितिको देखते हुए, यद्यपि, उससे अभी यह आशा नही की जा

सकती कि वह सत्यप्रिय योग्य विद्वानोकी कोई ऐसी समर्थ समिति खडी कर सकेगी जिसका काम ही अनुवादोकी जाँच हो और जिसके द्वारा पास (पारित) किये हुए अनुवाद ही प्राय विश्वसनीय समझे जॉय, परन्तु समाजके सुयोग्य तथा अनुभवी विद्वानोसे यह आशा जरूर की जा सकती है कि वे 'समालोचक' बनें। सत्य-समालोचकोकी कृपासे ही दोषोका सुधार और त्रुटियोका बहुत-कुछ परिहार होता है, लेखकोकी निरकुशता जाती रहती है, बुराइयोकी जड़ कट जाती है और सर्वत्र उन्नतिका पवन बहने लगता है। कितने ही देशो तथा जातियोके साहित्यका सुधार और उद्धार इन्ही समालोचकोकी कृपाका एक मात्र फल है। आजकल समालोचनाका अधिकतर भार पत्र-सम्पादकोपर पडा हुआ है, परन्तु उन बेचारोको इतनी फुर्सत कहाँ है कि वे अपने पास आए हुए सभी ग्रथोको पूरा पढें, उनकी अच्छी जॉच करे और फिर ठीक-ठीक समालोचना करें ? और इसलिये वे बहुधा प्राप्त ग्रन्थोका कुछ थोडा-सा परिचय दे-दिलाकर, उनकी प्रशसा आदिमे साधारण तौर पर कुछ लिख-लिखाकर अथवा लेखक-प्रकाशकको धन्यवाद भेंट करके ही छुट्टी पा लेते और अपना पिण्ड छुडा लेते हैं। ऐसी चलती हुई समालोचनाओसे समालोचनाके अर्थकी सिद्धि नही हो सकती। इसलिये समाजके सत्यनिष्ठ और हितचिन्तक विद्वानोको इस ओर खास तौरसे ध्यान देना चाहिए और एक जजके तौरपर अनुवाद-जाँचके कार्यको भी अपने हाथोमे लेना चाहिये। उन्हे, कमसे कम, जिस किसी भी अनुवाद ग्रथमे कोई त्रुटि मालूम पडे—मूलसे कोई विरोध नजर आए—उसे विना किसी संकोचके युक्तिपूर्वक सयत भाषामे समाजके सामने रखना चाहिये और ऐसा करना अपना कर्तव्य समझना चाहिये। समाजके पत्र-

सम्पादकोको भी अधिक सावधान होने और अपनी प्रवृत्तिमे कुछ सुधार करनेकी जरूरत है। उन्हे अपने कर्तव्यका—अपनी जिम्मेदारीका—दृढताके साथ पालन करना चाहिये, अपने शब्दोका मूल्य समझना चाहिये और किसी भी अनुवाद-गन्थकी अच्छी जॉच किये बिना वैसे ही उसकी प्रशसाके पुल न वॉध देने चाहियें। ऐसा होनेपर समाजके हित तथा साहित्यकी रक्षा होगी और अनुवाद-कार्य भी वहुत-कुछ उन्नत हो सकेगा।

धर्मके प्रेमी और समाजका हित चाहनेवाले अनुवादकोके लिये ऐसी सत्य-समालोचनाओसे विचलित या अप्रसन्न होनेकी कोई वजह नही हो सकती। उन्हे उलटा समालोचकोका उपकार मानते हुए अपनी त्रुटियोको दूर करने और उसके फलस्वरूप अच्छे अनुवादक वननेका भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इसीमे उसका तथा समाजका हित और कल्याण है। इसके सिवाय, प्रकाशकोको भी चाहिये कि वे, जहॉतक बन सके, मूलग्रथके साथ ही अनुवादको प्रकाशित किया करें और प्रकाशनसे पहले एक-दो अच्छे विद्वानोको दिखलाकर उसकी जॉच भी करा लिया करें। ऐसा होनेपर मूलग्रन्थोका उद्धार होगा, विद्वानोको अनुवादोके जॉंचनेमे सहायता मिलेगी और प्रकाशकोको भी कोई हानि उठानी नही पडेगी। प्रत्युत इसके, उनके प्रकाशनोकी साख और प्रामाणिकता बढेगी।

आशा है समाजके विद्वान, पत्र-सम्पादक, अनुवादक और प्रकाशक सभी इस समयोचित सूचना तथा प्रार्थनापर ध्यान देंगे और अपने-अपने कर्तव्यका पालन करते हुए समाजहित-वृद्धिका यत्न करेंगे[1]।

---

१ जैनजगत, ता० १६-१-१९२६

एक ही अमोघ उपाय

: ६ :

ब्र० शीतलप्रसादजीने कितनी ही वार यह पुकार मचाई है कि हमारे वडे वडे पदवीधर अथवा उपाधिधारी पडितोको, जिनके ऊपर जैनसिद्धान्तोकी रक्षाका उत्तरदायित्व है, पडित दरवारीलालजीके उन लेखोका युक्ति-पुरस्सर उत्तर देना चाहिये जो "जैनधर्मका मर्म" नामकी लेखमालाके अन्तर्गत 'जैनजगत्' मे प्रकाशित हो रहे हैं और जिनके द्वारा जैनधर्मके कितने ही महान् एव मूल सिद्धान्तोका मूलोच्छेद किया जा रहा है—उत्तर न देनेसे वडी हानि हो रही है। जव आपकी इन पुकारो-पर कोई ध्यान नही दिया गया और इधर प० दरवारी-लालजीने जैनसमाजसे अलहदगीसी अख्तियार करके "सत्यसमाज" की स्थापना कर डाली तव ब्रह्मचारीजी वहुत ही वेचैन हुए और उन्होने एक वडी ही जोरदार आवाज़ उठाई—जिसकी आपसे आशा भी नही की जा सकती थी—और उसे ११ अक्टूबर सन् १९३४ के जैनमित्र-द्वारा ब्रॉडकास्ट किया।

इस गहरी पुकारमे आपने उक्त पडितोपर घोर अकर्मण्यता, कर्त्तव्यपालनमे उदासीनता, आलसीपन, उत्साहहीनता, साहस-शून्यता, समाजसेवासे विमुखता, धार्मिकपतनता और घोर महाघोर कायरता आदिके आरोप (इल्जाम) लगाये, और उन्हे हर तरहसे मैदानमे उतरकर जैन-सिद्धान्तोपर होनेवाले आक्रमणोको रोकने एव सिद्धान्तोकी रक्षा करनेके लिये प्रेरित किया। और यहाँतक भी कह डाला कि यदि इन पडितोसे सिद्धान्तरक्षा और जैनधर्मकी प्रभावनाका यह हेतु सिद्ध नही

होता है तो इनके उत्पादक विद्यालयोको निष्फल समझना चाहिये और कहना चाहिये कि उनका उद्देश्य सफल नही हुआ—भले ही ये लोग आजीविकाके बदलेमें नियमित शिक्षा दे देनेका साधारण काम करते हो। परन्तु हमारे ये तर्कशास्त्री, न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य, न्यायालकार, सिद्धान्तशास्त्री, जैनदर्शन-दिवाकर, व्याख्यानवाचस्पति और वादीभकेसरी आदि इन सब आरोपोको पी गये और किसीने भी टससे मस नही किया। एक बेचारे प० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ अपनी मान-मर्यादा एव पदकी लाज रखनेके लिये जो कुछ थोडा-बहुत कार्य आक्रमणके विरोधमे कर रहे थे उसे वे बराबर अकेले ही मैदानमे खडे करते रहे, जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं, परन्तु उनकी रफ्तार नही बदली—उसमे प्रगति नही हुई—और अन्तको उन्होने भी सहयोगके अभावमे हतोत्साह होकर हथियार डाल दिये ।। उनके शास्त्रार्थ-सघका पत्र 'जैनदर्शन' भी जो प० दरबारीलालजीके लेखोका उत्तर देनेके उद्देश्यसे ही निकाला गया था, आजकल इस विषयमे प्राय मौन हैं—उसमे इसकी यथेष्ट चर्चा तक नही है ।![1]

इधर ब्रह्मचारी प० दीपचन्दजी वर्णीने अनुभव किया कि प० दरबारीलालजीकी उक्त लेखमालाके अनेक लेख जैनागमके विरुद्ध तथा जैनधर्मके सिद्धान्तोका मूलोच्छेद करनेवाले हैं और उनसे कितने ही कॉलेजके विद्यार्थियो एव शिक्षाप्राप्त सद्गृहस्थो तकके श्रद्धान डोल रहे हैं और वे "जैनजगत्" के (उक्त लेखमालाके) वाक्योको अक्षरश सत्य समझते हुए जैनसिद्धान्तोमे

---

१ प० राजेन्द्रकुमारजीसे पहले मन्दसौरके पं० भगवानदासजी जैन शास्त्रीने भी उक्त लेखमालाके विरोधमें कुछ लिखना 'जैनमित्र' में प्रारम्भ किया था, परन्तु वे उसे पहले ही छोड़ बैठे थे।

सन्देह करने लगे हैं। इससे उनके दिलपर भारी चोट लगी, और इसलिये उन्होंने अपनी दुख-दर्दभरी पुकार समाजके उक्त पदवीधर विद्वानोमेसे कतिपय प्रतिष्ठित एव जैनधर्मके कर्णधार विद्वानोके पास पहुँचाई—कुछसे साक्षात् मिलकर अपना रोना रोया और कुछको पत्रो द्वारा उक्त लेखोका युक्ति-पुरस्सर उत्तर देनेकी प्रेरणा की। परन्तु कहीसे भी उन्हे कोई आश्वासन अथवा सन्तोषजनक उत्तर नही मिला। जो उत्तर मिले वे इस टाइपके थे—

"(१) जैनजगत्को पढना ही नही चाहिये, (२) जैनजगत्के लेखोका उत्तर न देना ही उसका उत्तर है, (३) व्यर्थके टटोमे पडनेकी अपेक्षा स्वाध्याय करके अपना आत्मकल्याण करना ही श्रेयस्कर है, (४) आप भी अनुभवी वयोवृद्ध हैं, आप ही लिखिये, (५) लिखने दो, कहाँ तक लिखते हैं, सबका उत्तर एक साथ हो जायगा, (६) हमको पढाने सम्बन्धी कार्यसे अवकाश नही मिलता और मस्तिष्क थक जाता है।"

इससे दु खित और खेदखिन्न होकर उन्होंने "जैनविद्वानोके मौनसे धार्मिक हानि" नामकी एक जोरदार पुकार, अपने और त्यागमूर्ति बाबा भागीरथजी वर्णीके हस्ताक्षरोसे १८ अक्टूबर सन् १६३४ के "जैनमित्र" मे प्रकाशित कराई। इस पुकारमे, प० दरबारीलालजीके लेखोकी प्रकृति, उनसे होनेवाले बुरे असर, अमुक-अमुक जैन-सिद्धान्तोपर कुठाराघात, अनेक कॉलेज-के विद्यार्थियो और शिक्षित सद्गृहस्थोसे मिलनेका सक्षिप्त हाल और उनकी सबसे बडी दलील[1] सागरमे प० दरबारीलालजीसे

---

१ उस दलीलमें, समाजके प्रधान प्रधान न्यायाचार्यों, न्यायालङ्कारों और सिद्धान्तशास्त्रियोंके नामों का उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि 'जब समाजमे ऐसे ऐसे दिग्गज विद्वान् मौजूद हैं और उक्त लेखमाला-

उनके मन्तव्यका पूछा जाना और उनका उत्तर[2] जैनसमाजके कतिपय प्रतिष्ठित विद्वानोसे मिलने, पत्रव्यवहार करने और उनसे प्राप्त होनेवाले असन्तोपजनक उत्तरोका दिग्दर्शन, इत्यादि बातोका उल्लेख करते हुए बडे ही विनम्र तथा मार्मिक शब्दोमे जैनधर्मके कर्णधार विद्वानोसे तथा आचार्य मुनिसघोसे भी यह निवेदन किया गया कि वे अब शीघ्र ही अपना मौन भग करके उक्त लेखमालाका युक्तिपुरस्सर प्रतिवाद सभ्य-भाषामे निकालें, सदिग्धताको प्राप्त हुए प्राणियोको असदिग्ध करके पुन सन्मार्गमे स्थिर करें और इस तरह होती हुई धार्मिक अप्रभावनाको रोकें। साथ ही, यह भी उपयोगी सूचना की गई कि इस समय तो

को निकलते हुए वर्षों बीत गये तब उनमेंसे किसीका भी उक्त लेखोंके विरुद्ध जैन-सिद्धान्तोंकी पुष्टिके लिए युक्तिपुरस्सर उत्तरका न लिखना इस बातको सूचित करता है कि उन लेखोंका कुछ उत्तर है ही नहीं, यदि सप्रमाण उत्तर होता तो जैनधर्मके मूलपर कुठाराघात होते हुए देखकर भी ऐसे ऐसे विद्वान् मौन धारण करके नहीं बैठे रहते—वे प्रारम्भ में ही विषवेलमें फल लगें उसके पहले ही उसे काट देते।'

२ प० दरबारीलालजीने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है—"मैं नहीं चाहता कि जैनधर्मको हानि पहुँचे और लोग मेरे अनुयायी बन जावें, परन्तु मैंने अपने अभ्यास और अनुभवसे जो निश्चय किया है उसीको जनताके समक्ष रक्खा है और रक्खूँगा। यदि वास्तवमें मैं भूलता हूँ और मेरी युक्तियाँ पोच हैं तो समाजमें बहुत बड़े बड़े विद्वान् हैं वे मुझे मेरी भूल समझा देवें, मेरी युक्तियोंका सप्रमाण सभ्यतासे खण्डन कर देवें ताकि मैं समझ सकूँ कि मैं वास्तवमें भूल रहा हूँ। और ऐसा होनेसे मैं सत्यकी दृष्टिसे उसे बिना सङ्कोच स्वीकार कर लूँगा। यदि मेरे विचारोंके विरुद्ध सुयुक्तियों द्वारा मेरी भूल नहीं बताई तब मैंने जो सत्यकी खोज की है उसे छोडनेको तैयार नहीं हो सकता और अपने विचार जनताके लाभार्थ उनके सन्मुख रखता रहूँगा। इत्यादि।"

केवल एक व्यक्ति (प० दरबारीलालजी) को ही यथार्थ मार्ग दर्शा देनेसे काम चल सकता है, बादको—इस मौनके और कुछ समय कायम रहनेपर फिर हजारोको समझाना—मार्गमे पुन स्थिर करना—वहुत कठिन हो जायगा। परन्तु वर्णिद्वयकी यह भारी पुकार भी समाजके बहरे कानोपर पडी और उत्तरमे कही-से भी कोई आहट सुनाई नही पडी। जिन धुरन्धर विद्वानोसे उत्तरकी आशा रक्खी गई थी, उनके कानो पर जूँ तक भी नही रेंगी !! इससे उक्त दोनो ब्रह्मचारी हताश होकर बैठ गये !!!

परन्तु जान पडता है ब्र० शीतलप्रसादजी अभी बिल्कुल हताश नही हुए हैं। इसीसे कुछ अर्सेके लम्बे मौनके बाद उन्होने हालमे "जैनसिद्धान्तकी रक्षा" नामकी एक और पुकार अपने ऑफिशियेटिंग सम्पादककी ओर से २९ अक्टूबर सन् १९३६ के जैनमित्रमे प्रकाशित कराई है और उसमे अमुक अमुक जैनाचार्योके वचनरूप आगम वाक्योका जो कोई खण्डन करे उसका समाधान करना जैन विद्वानोका परम कर्तव्य है इत्यादि वतलाते हुए, प० दरबारीलालजीकी "जैनधर्म-मीमासा" नामक उस पुस्तककी प्रति-मीमासा करनेकी भी जरूरत जाहिर की है, जो कि जैनजगत्मे प्रगट होने वाली "जैनधर्मका मर्म" नामकी लेखमालाका ही एक सग्रह एव अश है। साथ ही यह प्रकट करते हुए कि ऐसी पुस्तकका उत्तर देनेके लिये विद्वानोकी एक कमेटी होनी चाहिये, प्रधानत शास्त्रार्थसघ अम्बाला छावनीको यह प्रेरणा की है कि वह इस कामको अपने ऊपर लेवे और उक्त पुस्तकका उत्तर तैयार करके माननीय पाँच विद्वानोके द्वारा सशोधित कराकर उनके हस्ताक्षरसे प्रकट करावे, और इस तरह अपने सघकी उपयोगिताको घोषित करे। यदि वह इस कामको

न कर सके तो वैसा प्रकट करे, तब दूसरी कोई विद्वन्मण्डली स्थापित की जावे ।

यह पुकार यद्यपि बहुत ही दबे शब्दोमे—मानो निराशाक्रान्त हृदयसे—की गई है और उन पिछली पुकारोके मुकाबलेमे बिल्कुल ही नगण्य है, फिर भी इस बातको सूचित करनेके लिये पर्याप्त है कि अभीतक प० दरबारीलालजीके लेखोके विरोधमे पुकार बन्द नही हुई है—वह बराबर जारी है ।[1]

परन्तु जब पिछली इतनी भारी-भारी पुकारें ही इन पदवी-धर पडितोकी अकर्मण्यतासे टकराकर निरर्थक सिद्ध होचुकी हैं, तब ऐसी साधारण पुकारका तो उनपर असर ही क्या हो सकता है ? रही शास्त्रार्थसघकी बात, सो वह पहलेसे ही समाज के पडितोका सहयोग प्राप्त न होनेसे इस विषयमें हथियार डाले हुए है । उसके पत्र 'जैनदर्शन' की नीतिका व्यावहारिक रूप भी आजकल प्राय बदला हुआ है । सहयोगके अभावमे वह अकेला उक्त पुस्तकका अच्छा प्रौढ उत्तर तैयार कर सकेगा और पाँच गण्यमान्य जैन विद्वानोसे उसकी जाँच एव सशोधनादिक कार्य कराकर उसपर उनके हस्ताक्षर भी प्राप्त करानेमे समर्थ हो सकेगा, ऐसी आशा बहुत ही कम—प्राय नहीके बराबर जान पडती है । और इसलिये यह पुकार पुकारमात्र ही रह जाती है—उसमे कुछ भी होने-जानेवाला मालूम नही होता ।

यदि ये सब पुकारें महज पुकारनेके लिये ही हैं तब तो कुछ कहने सुननेकी जरूरत नही है । और यदि यह चाहा जाता है कि

---

१ श्वेताम्बर समाजकी ओरसे इस विषयमें क्या कुछ पुकार मची है और मच रही है, उसका हाल मुझे मालूम नहीं है । किसी श्वेताम्बर विद्वान्को उसे सत्यसन्देशमें प्रकट करना चाहिए ।

पुकारें सफल हों तो सबसे पहले असफलताके रहस्यको मालूम करते हुए यह जाननेकी जरूरत है कि जिन्हें लक्ष्य करके ये सब पुकारें की जाती हैं वे कुछ बहरे तो नहीं हैं, उनके कानोंमें डाटें तो लगी हुई नहीं हैं, वे कुछ बीमार अथवा अन्य प्रकारसे अशक्त तो नहीं हैं। इतना ज्ञान होनेके साथ-साथ पुकारके पीछे उतना बल होना चाहिये जो उसे सफल बना सके—जो उनके बहरेपनको दूर कर सके, कानोंमें लगी डाटों को निकाल सके रोगकी चिकित्सा कर सके, अशक्तताको दूर भगा सके और इस तरह उन्हें कार्यक्षेत्रमें उतार कर उनसे यथेष्ट कार्य ले सके। जब तक यह सब नहीं होता तब तक इन पुकारोंका कुछ भी नतीजा नहीं है—वे सब अरण्यरोदनके समान व्यर्थ हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि प० दरबारीलालजीकी सिंहगर्जनाके सामने इन उपाधिधारी पडितोंने अपनी जिस मनोवृत्तिका परिचय दिया है और जो रुख अख्तियार किया है वह बहुत ही लज्जाजनक है—उससे समाजमे इनकी पोजीशन गिर गई है, इतना ही नहीं, बल्कि समाजको इनके कारण लज्जित भी होना पडा है और धर्मको भी कितनी ही हानि उठानी पडी है। इसमें प० दरबारीलालजीका कोई दोष नहीं है। उन्होंने प० दीपचंदजी वर्णीको जो उत्तर दिया है और जो पीछे एक फुटनोटमे उद्धृत किया जा चुका है वह बिल्कुल स्पष्ट है—उसमे लाग-लपेटकी कोई बात नहीं है। हर शख्स अपने उन विचारोंको, जिन्हे वह सत्य समझता है, उस वक्त तक प्रकट करनेमे स्वतन्त्र है, जब तक कि उनका योग्य प्रतिवाद न कर दिया जाय अथवा उचित समाधानके द्वारा उन्हे बदल न दिया जाय। इस प्रकारका अपना उत्तर वे और भी अनेक बार जैनजगत्में प्रकाशित कर चुके हैं। और इससे उनके समाधानकी सारी जिम्मेदारी उन दिग्गज कहे

जानेवाले पडितोके सिरपर आ पडती है जो न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य न्यायालकार, सिद्धातशास्त्री, जैनदर्शनदिवाकर और वादीभकेसरी जैसी ऊँची-ऊँची पदवियाँ–उपाधियाँ धारण किये हुए हैं। खेद है कि उन्होने अपने उत्तरदायित्वको नही समझा और इसीसे मामला इतना तूल पकड गया। अन्यथा, उसके इस हद तक पहुँचनेकी नौवत ही न आती।

ऐसी कोई वात नही कि इन पडितोको युक्तिपुरस्सर लिखना न आता हो, न आ सकता हो या वैसा लिखनेके योग्य ये परिश्रम न कर सकते हो। जरूर आता है, आ सकता है और ये परिश्रम भी खुव कर सकते हैं। इसी तरह यह भी नही कि पडित दरवारीलालजीके लेखोमे त्रुटियाँ न हो या वे आपत्तिके योग्य ही न हो। उनमे त्रुटियाँ जरूर हैं और वे वहुत कुछ आपत्तिके योग्य भी हैं। फिर भी इन पडितोकी प्रवृत्ति उनका उत्तर देनेमे नही होती। ये लोग डरते हैं, घवराते हैं और मैदानमे आना नही चाहते॥

सच पूछा जाय तो इसमे इन पडितोका भी एक प्रकारसे दोप नही है, वल्कि उस बीमारीका दोप है जो वुरी तरहसे इनके पीछे लगी हुई है, और कुछ समाजका भी दोप है, जो ऐसे वीमारोसे काम लेनेका तरीका नही जानता अथवा काम लेना नही चाहता। यह उस वीमारीका ही परिणाम है जो भयके उपस्थित होनेपर ये लोग स्वय आँखें मीचते हैं और दूसरोको आँखें वन्द करनेके लिए कहते हैं—अर्थात् सुसाकी अँधियारी करने-करानेका उपदेश देते हैं और समझते हैं कि इस तरह अपनी तथा दूसरोकी रक्षा हो जायगी। "जैनजगत् (अथवा सत्यसदेश) को पढना ही नही चाहिये, जैनजगत्के लेखोका उत्तर न देना ही उसका उत्तर है" इत्यादि उपदेश इसी आँख-

मिनीनीकी श्रेणीका है। परन्तु इससे क्या जैन-सिद्धांतकी रक्षा हो जायगी, अथवा जैनधर्मपर होते हुए प्रहार रुक जायँगे, यह इन लोगोंको समझ नहीं पड़ता। हमारे ये पंडित प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक कबूतर जो बिल्लीको देखकर भयके मारे आँखें बन्द करके बैठ जाता है उसकी रक्षा नहीं होती—बिल्ली चटसे आकर उसकी गर्दन मरोड़ डालती है। फिर भी ये उसी प्रकार आँख बन्द करनेका उपदेश देते हैं!! यह सब इन लोगोंके बीमार होनेका सूचक नहीं तो और क्या है?

इन पंडितोंके इस उपदेशसे बहुत कुछ हानि पहुँची है। बहुतसे समर्थ श्रीमानों और कितने ही विद्वानों तकने जैनजगत् (वर्तमान 'सत्यसंदेश') को पढ़ना छोड़ दिया है और इससे उन्हें यह पता तक नहीं कि युद्ध-क्षेत्रमें क्या कुछ हो रहा है और जैन-सिद्धांत अथवा जैनधर्मके किस-किस अंग पर कैसे-कैसे प्रहार किये जा रहे हैं। फिर वे उसकी रक्षाका उपाय भी क्या कर सकते हैं और कैसे अपने दिग्गज विद्वानोंको युद्धके मैदानमें उतरनेके लिये बाध्य कर सकते हैं? इसीसे पं० दरबारीलालजीकी प्रायः एकतरफा विजय होती हुई दिखाई देती है।

इन दिग्गज पंडितोंको चाहिये तो यह था कि ये स्वयं युद्ध-क्षेत्रमें उतरकर गोलाबारी करते हुए आगे बढ़ते, अपने युद्धके हथकण्डे दिखलाते, अपनी पदवियोंको सार्थक बनाते और दूसरोंको प्रोत्साहन देते हुए आगे बढ़ाते। परन्तु ये खुद ही दब्बू बन गये और प्रहारोंके सामने आँखें बन्दकर लेने तकका उपदेश देने बैठ गए। यह इनके रोगकी कैसी विचित्र अवस्था है!! जब फौजके जनरलों (सेनापतियों) की ऐसी दशा हो तब फौज यदि हथियार डाल बैठे और अपनी पराजयका अनुभव करने लगे तो इसमें आश्चर्यकी कुछ भी बात नहीं है। इनकी इस परिणतिके

फलस्वरूप कितने ही सैनिकोने हथियार डाल दिये हैं और उससे समाजको वहुत कुछ हानि पहुँची है ।

इन महापडितोकी वह बीमारी और कुछ नही, इनका 'मानसिक दौर्वल्य' है, जो इन्हे उक्त लेखोका उत्तर लिखनेमे प्रवृत्त नही होने देता । फिर चाहे उसे अकर्मण्यता कहिये, उत्साहहीनता कहिये, साहसशून्यता कहिये अथवा कायरता कहिये या कुछ और कहिये, परन्तु है वह सव मानसिक कमजोरी नामकी एक वीमारी । नि.स्वार्थ रूपसे सेवाभावकी कमी भी उसीका एक परिणाम है । अपने इस मानसिक दौर्वल्यके कारण इन पडितोमे एक प्रकारकी झिझक वनी हुई है, जो इन्हे निर्भयताके साथ आगे वढने नही देती । ये सोचते रहते हैं कि 'अगर कूदूँ, वगर गिर जाऊँ, तो वलेकिन क्या होगा !' इन्हे रह-रहकर यह खयाल सताता है कि कही हमारी वातका खण्डन न हो जाय, हमारी युक्ति पोच न सिद्ध कर दी जाय, हमारा साहित्य दूसरोकी नजरोमे घटिया और बेतुका न जँचने लगे और उसके कारण हमारी प्रतिष्ठा कही भग न हो जाय, हमारी शानमे बट्टा न लग जाय । हम यदि दूसरोके उत्तर-प्रत्युत्तर मे नही पडेंगे तो हमारी त्रुटियाँ गुप्त रहेगी—हमारी कमजोरियाँ दूसरोपर प्रकट नही हो सकेंगी—और इससे हमारी मान-मर्यादा बनी रहेगी । अथवा हम दूसरोके लिये क्यो मगजपच्ची करे ? क्यो अपनी जान आफत (सकट) मे डालें ? हमें क्या पडी है और हमारा इसमे क्या लाभ हे ? इस तरहके विचारोके चक्कर और उनकी उधेड-वुनमें इन लोगोसे प्राय कुछ भी करते-धरते नही बनता । ये नपुसको की तरह पडे-पडे अपना तथा अपने धर्म और समाजका पतन देखते रहते हैं ।। इन्हे अपने उसी मानसिक दौर्बल्यके कारण यह समझ ही नही पडता कि युद्धके अवसरपर हमने जो

रवैया अख्तियार कर रक्खा है उससे हमारी प्रतिष्ठा एवं शान बढ़ती नही, किन्तु बिगडती है और मान-मर्यादा दिनपर दिन भंग होती चली जा रही है—लोगोके हृदयमें अब वह पहले जैसा गौरव हमारा नही है ।।

खेद है कि ये लोग बिना पानीमे पैर डुबोये ही तैराक बनना चाहते हैं—लिखनेका अभ्यास न करके ही सुलेखक बननेकी धुनमें मग्न हैं—और बिना युद्धक्षेत्रमें कदम बढाये ही मात्र युद्धशास्त्रो (न्यायशास्त्रो) को रट लेनेसे ही योद्धा बनना और सुवीर योद्धाओके टाइटिल धारण करना चाहते हैं। यह सब भी इनकी उसी मानसिक दौर्बल्यका परिणाम है। जब तक इनका यह विकार दूर नही होगा तब तक उस विषयमें इनसे केवल अनुनय-विनय करने, प्रार्थना करने अथवा इनके सामने कर्त्तव्यकी पुकार मचाने मात्रसे, प्रकृत विषयमें, कुछ भी होने जानेवाला नही है।

इन पडितोके उक्त मानसिक दौर्बल्यके पोषणमें समाजका भी कुछ हाथ है। उसने उनकी पूजा-प्रतिष्ठा तो बेहद की, परन्तु इनसे जैनसिद्धान्तो अथवा जैनधर्मकी रक्षा और उसके प्रचारका वह काम नही लिया जो लेना चाहिये था और न कभी इनके कार्योकी आलोचना अथवा प्रवृत्तियोकी टीका-टिप्पणी ही की—इन्हे एक प्रकारसे पूजाकी वस्तु ही बनाये रक्खा और प्राय निरङ्कुश छोड दिया ! यदि कोई काम लिया भी तो वह ग्रन्थोके रटानेका, उन्हे बाँच देनेका, साधारण अनुवाद कर देनेका, कुछ व्याख्यान झाड देनेका और ज्यादासे ज्यादा अर्थहीन रूढियो-के पालनमें सहायता पहुँचानेका ।। समाजकी ऐसी प्रवृत्तिसे उक्त दौर्बल्यको अच्छा पोषण मिला है।

यदि समाज हृदयसे चाहे कि उसके इन पडितोका यह

दौर्बल्य मिटे और वे प० दरबारीलालजीकी उक्त लेखमाला तथा पुस्तकादिका सयुक्तिक उत्तर देनेमे प्रवृत्त हो सकें तो यह अब भी हो सकता है। अभी रोग सीमासे बाहर नही हुआ—असाध्य दशाको नही पहुँचा—उसकी चिकित्सा हो सकती है। परन्तु इसके लिये दृढताके साथ एक कठोर प्रयोग करना होगा, जो कि रोगकी प्रकृति और स्थितिको देखते हुए उसका एक ही अमोघ (अचूक) उपाय है और वह इस प्रकार है —

ऊँचे दर्जेकी धार्मिक शिक्षाके जितने भी विद्यालय अथवा शिक्षालय जैनसमाजमे मौजूद हैं वे सब छह महीनेके लिये एकदम बन्दकर दिये जायँ और उनके पदवीधर अध्यापकोको यह ऑर्डर (आदेश) दिया जाय कि वे इस अर्सेके अन्दर प० दरबारीलालजीके उक्त लेखोका अच्छा युक्ति-पुरस्सर उत्तर तैयार करें—चाहे वे अपना अलग उत्तर लिखें या दो चार पडित अपनी सुविधाके अनुसार मिलकर एक सयुक्त उत्तर तैयार करें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है और यह भी उनकी इच्छापर निर्भर है कि वे उत्तर अपने-अपने विद्यालयमे ही बैठकर लिखें अथवा यथावश्यकता किसी दूसरे ऐसे स्थानपर भी ठहरकर लिखनेका यत्न करें जहाँ लायब्रेरी आदिकी सुविधा हो। साथ ही, उनपर यह स्पष्ट कर दिया जाय कि यदि उनका उत्तर यथेष्ट रूपमे ठीक होगा तो उन्हे छह महीनेका पूरा वेतन मिलेगा—प्रतियोगितामे उनका लेख उत्तम रहनेपर विशेष पारितोपिक भी मिल सकेगा—और विद्यालयोमे उनकी नियुक्ति बदस्तूर रहेगी और यदि वे उत्तर नही लिखेंगे अथवा उनका उत्तर ठीक नही होगा तो उन्हे न तो छह महीनेका वेतन मिलेगा और न वे आगेको विद्यालयमे अपने पदपर नियुक्त ही रह सकेंगे, क्योकि ऐसे पडितोसे शिक्षा दिलानेका कोई नतीजा नही है जो खुद उन

सिद्धान्तोका बचाव एव सरक्षण न कर सकते हो जिन्हे वे पढाते हैं—ऐसे अशक्त अध्यापकोसे शिक्षा दिलाना समाजके पैसे और बच्चोके समयका दुरुपयोग करना है।

यह उपाय निष्फल जाने वाला नही है, इसीसे उसको "अमोघ" कहा गया है। इसका दृढता और एकनिष्ठाके साथ प्रयोग होनेपर इन पडितोकी आँखे स्वय खुल जायँगी, इनके कानोमे लगी हुई डाटें खुद-ब-खुद निकल पडेंगी, इन्हे जैन-सिद्धान्तोपर तथा अपने ऊपर होने वाले प्रहार स्पष्ट दिखाई देने लगेगे और समाजके दु खित हृदयोकी पुकारें साफ सुन पडेंगी। साथ ही आत्मग्लानि भी इन्हे बेचैन किये बिना नही रहेगी। अपने स्वार्थमे धक्का पहुँचने एव पोजीशनके गिरनेकी तीव्र आशङ्कासे इनकी सोई हुई चेतना जाग उठेगी, चोट खाई हुई नागनकी तरह इनकी प्रतिभा चमक उठेगी और ये अपनी उन शक्तियोसे पूरा काम लेने लगेगे जो आजकल बेकार पडी हुई हैं। इन्हे यह कहनेका भी फिर कोई अवसर नही रहेगा कि हमारे पास अवकाश नही है अथवा पढाते-पढाते हमारे दिमाग (मस्तिष्क) थक जाते हैं, दूसरा काम फिर कैसे करें? परिणामस्वरूप प० दरबारीलालजीके लेखोके अनेक अच्छे-अच्छे उत्तर तैयार हो जायँगे और आश्चर्य नही जो उनसे प०दरबारी-लालजीका समाधान होकर उनका रुख बदल जाय—उन्हे अपनी भूल मालूम पड जाय और वे फिरसे सन्मार्गपर आजायँ, क्योकि वे सत्यभक्त हैं, सत्यके सामने सिर झुका देनेका उनका दावा है और इसलिये निरावरण सत्य के सामने आते ही उसे ग्रहण करनेमे उन्हे सकोच नही होगा—मानापमानका कोई खयाल उसमे बाधा नही डाल सकेगा। ऐसे ही लोगोके सन्मार्गपर आनेकी पूर्ण आश्वासनमयी सूचना हमे स्वामी समन्तभद्रके निम्न

वाक्यसे मिलती है, जिसके कारण निराश होनेकी जरा भी जरूरत नही है—योग्य प्रयत्न करना चाहिये —

कामं[1] द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टं ।
त्वयि ध्रुवं खंडितमानश्रृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

—युक्त्यनुशासन

इसके सिवाय, हमारे इन पडितोका सुधार भी हो जायगा और समाजका भविष्य भी उज्वल बन जायगा, और तभी हम ठीक अर्थमे अज्ञानान्धकारको दूर करके जैनशासनकी सच्ची प्रभावना करनेमे समर्थ हो सकेंगे ।

यदि समाज चाहता है कि उसके इन पडितोका यह मानसिक दौर्बल्य दूर होकर उनमे स्फूर्ति, उत्साह, साहस और पुरुषार्थका सचार हो, वे सशक्त और कार्यक्षम बनें—अपने उत्तरदायित्वको न भूलें, उनसे देश, धर्म तथा समाजकी सेवाका यथेष्ट कार्य लिया जा सके, उनसे सम्बन्ध रखनेवाली समाज-की पुकारें भविष्यमे व्यर्थ न जाने पावें और उनके अस्तित्वसे समाजका गौरव बढे—उसे प्रगति प्राप्त हो, तो उसे शीघ्र ही उक्त उपायको कार्यमे परिणत कर देना चाहिये और उसपर ठीक

---

१. इस वाक्यमें यह आशय सूचित किया गया है कि—'भगवान् महावीरके अनेकान्तरूप शासन तीर्थमें यह खूबी खुद मौजूद है कि उससे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ, उपपत्तिचक्षुसे (मात्सर्यके त्याग-पूर्वक युक्तिसगत समाधानकी दृष्टिसे) उसका अवलोकन करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खडित हो जाता है, सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एव सम्यग्दृष्टि बन जाता है, अथवा यों कहिये कि भगवान् महावीरके शासन-तीर्थका सच्चा उपासक और अनुयायी हो जाता है ।'

तौरसे कारवन्द होनेके लिये एक अच्छी सुविधाजनक योजना तय्यार कर लेनी चाहिये। छह महीनेका समय कोई अधिक समय नही है, इतने समयके लिये उन विद्यालयोके बन्द होनेसे किसी भी विशेष हानिकी सम्भावना नही। तीन-तीन महीनेके लिये तो आमतौरपर कालिजोमे छुट्टियाँ हो जाती है—हाईकोर्टे तक बद रहती हैं, तब एक खास उद्देश्यकी सिद्धिके लिये इन विद्यालयोको यदि छह महीनेके लिये बन्द कर दिया जाय तो इससे कोई हर्ज नही पड सकता—बल्कि ऐसा होनेसे समाजमे एक अच्छा क्रियात्मक और स्फूर्तिदायक वातावरण उत्पन्न हो जायगा, जो अन्तमे बहुत ही लाभदायक सिद्ध होगा। यदि किसी तरह छह महीनेके लिये इन विद्यालयोका पूरी तौरपर बन्द करना इष्ट ही न हो तो कमसे कम उक्त अवधिके लिये इनमे होती हुई धर्म-शास्त्र, न्यायशास्त्र और जैन काव्यग्रन्थोकी शिक्षाको बन्द करके उनके अध्यापकोको वेतनादिकी उसी शर्तके साथ निर्दिष्ट कार्यमे लगाया जाय।

मैं समझता हूँ मेरी यह उपाय-योजना समाजके अधिकाश हितचिन्तको, दूरदर्शियो, भविष्यकी चिन्ता रखनेवाले समझदार व्यक्तियो और सच्ची धर्मप्रभावनाके इच्छुक सज्जनोको जरूर पसन्द आयगी—खासकर उन लोगोको विशेष रुचिकर होगी जो प० दरबारीलालजीके लेखोसे व्यथित-चित्त हैं और समाजके इन बडे-बडे पडितोसे उनका उत्तर चाहते हैं। ऐसे सभी महानुभावोको इस विषयमे अपनी सम्मति प्रकट करते हुए उक्त उपायपर शीघ्र अमल होनेका आन्दोलन करना चाहिये और विद्यालयोके अधिकारीवर्गसे मिलकर उन्हे इस शुभ कार्यके लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी और वर्णी दीपचन्दजी जैसे सज्जनोका इस विषयमे यह मुख्य कर्तव्य होना

चाहिये कि वे इसी कामके लिये उन स्थानोपर शीघ्र दौरा करें, जहाँपर ये बडे-बडे विद्यालय तथा इनकी प्रबन्धकारिणी कमेटीके सदस्य स्थित हैं और उन सदस्यो तथा अधिकारियोसे मिलकर यह अनुरोध करें कि वे उक्त उपायकी योजनानुसार अपने-अपने विद्यालयोको बन्द करनेकी स्वीकारता प्रदान करें। साथ ही, सबकी सम्मतिसे एक तारीख निश्चित की जाय जिसपर दिगम्बर समाजमे उक्त उपायकी योजनाका कार्य दृढताके साथ प्रारम्भ किया जाय। रही श्वेताम्बर-समाजकी बात, उसकी स्थिति दिगम्बर-समाजसे भिन्न है। उसमे बहुतसे विद्वान् मुनि मौजूद हैं, जिनपर जैन-सिद्धान्तकी रक्षाका उत्तरदायित्व उसके गृहस्थ पडितोकी अपेक्षा अधिक है। और इसलिये इस विपयमे अपनी परिस्थितियोके अनुसार वे दोनो ही कोई अच्छी योजना सोच सकते हैं। खुद ही सोचकर उसे प्रकट करना और अमलमे लाना चाहिये।

जो सज्जन उक्त उपायसे सहमत न हो, उन्हे उसका कारण बतलाते हुए दूसरा कोई और इससे अच्छा अमोघ उपाय प्रस्तुत करना चाहिये, जो अमलमे लाया जा सके और यदि वे आशिक रूपसे असहमत हो तो उन्हे अपना सशोधन उपस्थित करना चाहिये। साथ ही, यह ध्यानमे रखना चाहिये कि कोरी विद्वन्मडलियोकी स्थापनासे काम नही चलेगा—वे अनेक बार स्थापित की जा चुकी हैं और अपनी नि सारताको सिद्ध कर चुकी हैं। हाँ, वे भविष्यमे उस वक्त सार्थक सिद्ध हो सकेंगी जब पडितोका यह मानसिक दौर्बल्य दूर हो जायगा और वे स्वस्थ होकर पूर्ण मनोबलके साथ अपना कार्य करने लगेंगे—उनके इस रोगकी चिकित्साका वे साधन नही हो सकती।

अन्तमे मैं अपने पाठकोसे यह भी निवेदन कर देना चाहता

हूँ कि इस लेखमे कही-कही पडितोकी आलोचनाके अवसरपर, इष्ट न होते हुए भी, मुझे सत्यके अनुरोधसे कुछ अप्रिय-कटुक शव्दोका प्रयोग करना पडा है, जिसके लिये मैं क्षमा चाहता हूँ। उनके प्रयोगोमे मेरा हेतु शुद्ध है—मेरा किसीसे द्वेष नही है और न द्वेषादिके वश किसी व्यक्ति-विशेषपर आक्षेप करनेका मेरा कोई अभिप्राय ही है। इसीसे ऐसे किसी भी पडितका नामोल्लेख साथमे नही किया गया है। मुझे इन पडितोपर होते हुए आक्रमणो और इनकी अवज्ञाको देखकर दु ख होता है। साथ ही, इनकी दयनीय स्थितिके कारण जैनधर्मकी जो अप्रभावना हो रही है और जैनसमाजको जो क्षति पहुँच रही है वह असह्य जान पडती है—उससे चित्तको वहुत ही खेद होता है। और इसलिये मैं सच्चे हृदयसे अपने इन पडित भाइयोका सुधार चाहता हूँ—इन्हे सब प्रकारसे इनकी पदवियोके अनुरूप देखना चाहता हूँ। उसीके लिये मेरा यह सव प्रयत्न है—भले ही इसपरसे कुछ पडित भाई मुझे अपना द्वेषी समझें। परन्तु एक दिन आयेगा जब उन्हे अपनी भूल मालूम पड जायगी और वे उसके लिये पछतायँगे।

साथ ही, मैं इतना और भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि समाजमे कुछ इनेगिने पडित ऐसे भी हैं जो इस लेखके अपवाद-रूप हैं और जिनके विषयमे मेरा विशेष आदरभाव है। वे इस लेखको अपने लिये न समझें। उन्हे इस आन्दोलनमे भाग लेकर अपनी पोजीशनको और भी ज्यादा स्पष्ट कर देना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो यदि कुछ उदारमना पडित, उक्त उपाय-से सहमत होते हुए, खुद ही अपनेको इस यज्ञदीक्षाके लिये पेश करें और इस आन्दोलनमे खासतौरसे हाथ बटाएँ।[1]

---

१ जैन जगत, ता० ८-११-१९३६

'ओसवाल' के दो प्रारंभिक अक मिले—एक सयुक्त अक १५-१६ और दूसरा असयुक्त न० १७ (सन् १९३८)। मालूम हुआ, 'ओसवाल-सुधारक' नामका जो पत्र करीब ४ वर्षसे सेठ अचलसिंहजीके सपादकत्वमें आगरासे निकलता था वही अव 'ओसवाल' नाम धारण करके कलकत्तासे श्री गोवर्धनसिंहजी महनौत वी० काम० के सम्पादकत्वमे निकलने लगा है—अर्थात् ओसवाल महासम्मेलनने अपने पाक्षिक मुखपत्र 'ओसवाल-सुधारक' का उसकी ३ वर्ष ७ मासकी आयुमे ही कायाकल्प कर डाला है, जिसके द्वारा 'सुधारकत्व' का विकार दूर होकर अव वह मात्र 'ओसवाल' रह गया है। विकारके पुन प्रवेशकी आशकासे जलवायुके परिवर्तनको लेकर उसका स्थान भी परिवर्तित कर दिया गया है और साथ ही बॉडीगार्ड (सरक्षक-सम्पादक) को भी बदल दिया है। इसके सिवाय पत्रके स्वास्थ्यको कायम रखने और उसमें नूतन तेज लानेके लिये वह एक प्रभावशालिनी सचालकसमितिके सुपुर्द किया गया है, जिसके कर्णधार हैं ओसवाल समाजके गण्यमान्य सज्जन बाबू बहादुरसिंहजी सिंघी, श्री सन्तोपचन्द्रजी तरडिया और विजयसिंहजी नाहर जैसे प्रतिष्ठित और साक्षर सेठ-साहूकार।

यह सब देखकर बडी आशा बँधी और कायाकल्प-द्वारा निर्विकार हुए पत्रके शरीरको देखनेकी उत्कण्ठा भी बढी। बाहरकी टीपटाप, कागज, छपाई, सफाई सुन्दर जान पडी, चित्रोंसे वह सुसज्जित पाया गया, कलेवरमे भी कोई कमी मालूम नही दी। फिर अचानक उसके एक अगपर दृष्टि पडी, जो कि

दूसरे अंक (नं० १७) मे प्रकाशित 'पैसा' नामकी कविता है और जिसके लेखक हैं—'श्री अक्षयकुमारजी जैन दिल्ली।' पत्र-का यह अग मुझे महा विकृत नजर आया और यह खयाल उत्पन्न होने लगा कि कही कायाकल्प निरा ढकोसला ही तो नही है। मैने पुन गौरसे अवलोकन किया, फिरसे जाँच की और उसे विकृत ही पाया—उसका प्राय कोई ऐसा पद्य नही है जो दो-एक भद्दी भूलो अथवा मोटी-मोटी त्रुटियोको लिये हुए न हो। देखते ही मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कविताके इस विकारका अथवा उसके वर्तमान प्रकाशित रूपका जिम्मेदार कौन ? लेखक जिम्मेदार या सम्पादक ? इसी प्रश्नको लेकर आज मैं इस आलोचनात्मक लेखके लिखनेमे प्रवृत्त हुआ हूँ, जिसका ध्येय है मुख्यतया 'ओसवाल' का और गौणतया इसी टाइपके दूसरे असावधान पत्रोका सुधार।

आजकल लेखक, कवि तथा सम्पादक बननेकी धुन बहुतोके सिरपर सवार है—नित्य नये-नये लेखक, कवि और सम्पादक प्रकाशमे आते रहते है, परन्तु उनमेसे अपनी-अपनी जिम्मेदारीको ठीक समझने अथवा कर्तव्यका यथेष्ट पालन करनेवाले विरले ही होते हैं—अधिकाश तो टकसाली लेखक, यो ही रवड छन्दोमें तुकवन्दियाँ करनेवाले कवि और प्राय आफिस-बियरर अथवा टाइटिल-होल्डर सम्पादक देखनेमे आते हैं। यद्यपि लेखकादिकी नित्य नई सृष्टिका होना कोई अवाछनीय अथवा बुरी बात नहीं, प्रत्युत देश, धर्म तथा समाजकी प्रगतिके लिये आवश्यक और अभिनन्दनीय है, परन्तु उनका अपने कर्तव्य एव जिम्मेदारीको न समझना अथवा उसकी प्रगतिके स्थानपर उल्टी अवनति या अधो-गति तकके कारण बन जाते हैं, और इसलिये उपेक्षा किये जानेके योग्य नही।

पत्रमे प्रकाशित किसी भी लेख अथवा कविताके साहित्यकी, यदि वह उद्धृत नही है, सबसे बडी जिम्मेदारी उसके सम्पादक-की होती है। सम्पादकोको लेखोकी मूल स्पिरिटको कायम रखते हुए उनके सशोधनका—उन्हे घटा-बढाकर उपयोगी बनानेका—पूरा अधिकार होता है और इसलिये यदि कोई लेखादिक त्रुटित एव स्खलित रूपमे उनके पास पहुँचता है तो उसे सुधारकर अथवा त्रुटियोकी सूचनाको लिये हुए नोटादि लगाकर छापना उनका कर्तव्य होता है। यदि वे ऐसा नही करते, अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट होते हैं तो सम्पादक पदपर प्रतिष्ठित रहनेके योग्य नही कहलाते। सम्पादकके लिये सम्पादनकलाके साथ-साथ सुलेखन कलासे परिचित होना भी अनिवार्य है। जो सम्पादक किसी लेख अथवा कविताके त्रुटिपूर्ण साहित्यको भी न सुधार सकता हो उसका सम्पादक होना न होना बराबर है। ऐसा सम्पादकत्व वस्तुत. विडम्बना मात्र है, क्योकि सम्पादककी पोजीशन मात्र लैटर बॉक्स अथवा पोस्टआफिस जैसी नही होती, जिसको जैसा भी मैटर पोस्ट किया गया उसे उसने बिना 'चूँ-चरा' अथवा तरमीम-तन्सीखके यथास्थान पहुँचा दिया, बल्कि एक बडी ही जिम्मेदारी एव अधिकारप्राप्तिको लिये हुए महान् पद होता है, जिसे धारण करनेका पात्र कोई भी साधारण मनुष्य अथवा अव्युत्पन्न और असावधान विद्वान् नही हो सकता। इसीसे विदेशोमे सम्पादकीय पदके लिये खास तय्यारी की जाती है। वहाँ इस पदकी बडी प्रतिष्ठा है और सम्पादकोके हाथमे राष्ट्र तथा समाजकी बहुत-कुछ बागडोर रहती है।

वास्तवमे लेखकोको सुलेखक और कवियोको सुकवि बनानेमे सुयोग्य सम्पादकोका प्राय बहुत बडा हाथ होता है। प्रारम्भिक अथवा अनभ्यस्त लेखकोसे शुरू-शुरूमे भूलोका होना स्वाभाविक

है; परन्तु जब उनके लेख सुयोग्य सम्पादकोके द्वारा सुधार दिये जाते हैं तब उन्हे अपनी भूलोका ठीक पता चल जाता है, वे भविष्यमे फिर उस प्रकारकी भूलें नही करते और इस तरह सुन्दर लेखनके अभ्यासको बढाकर सुलेखक बन जाते हैं। इस प्रकार सुसम्पादकोके सम्पादनकालमे अनेक सुलेखकोकी सृष्टि हुआ करती है और उन्ही सुलेखकोमेसे फिर कोई-कोई सम्पादक पदकी योग्यताको धारण करनेवाले भी निकल आते हैं।

मुझे अपने जीवनमे जहाँ ऐसे कितने ही लेखकोका परिचय प्राप्त है, जिन्हे पहले ठीक लिखना भी नही आता था और जो सुसम्पादकोकी कृपासे अच्छे लेखक बन गये हैं, वहा ऐसे लेखकोका भी कम परिचय नही है, जिन्हे अच्छे सुयोग्य सम्पादकोका सहयोग न मिलनेसे अपने विषयमे कोई खास प्रगति प्राप्त नही हो सकी और इसलिये जिनपर यह कहावत बिल्कुल चरितार्थ होती है—'वही बस चाल बेढगी जो पहले थी सो अब भी है।' साथ ही ऐसे सम्पादकोका भी यथेष्ट परिचय है जो सम्पादनकला तथा सम्पादकीय जिम्मेदारीसे अनभिज्ञ हैं और सम्पादक बन बैठे हैं। ऐसे सम्पादकोके द्वारा लेखोका सुधार होना तो दूर रहा, कभी-कभी भारी विगाड़ तक हो जाता है। कितने ही सम्पादक काव्य-विज्ञानसे अनजान होते हैं, कविताको छापनेका मोह भी सवरण नही कर सकते और अपने विषयसे सम्बन्ध न रखनेवाली वस्तुका दूसरोसे सम्पादन करा लेनेमे अपनी तौहीन अथवा कसरेशान समझते हैं और इसलिये जब वे किसी हिन्दी-कवितामे 'छन्दवश प्रयुक्त हुए गती, जाती, पती, साधू, किरिया, विन, मृत्यू जैसे शब्दरूपोको देखते हैं तो उन्हे सस्कृत व्याकरणादिकी दृष्टिसे अशुद्ध समझ लेते हैं और उनके स्थानपर गति, जाति, पति, साधु, क्रिया, बिना और मृत्यु ऐसे रूप वना डालते हैं और

एतावन्मात्र परिवर्तनसे समझ लेते हैं कि हमने कविताका संशोधन कर दिया ! परन्तु उन्हें यह खबर नही होती कि हमने कविताको उल्टा बिगाड़ दिया है—हमारे ऐसा करनेसे उसका वजन और छन्द ही भग हो गया है !! अनेक सम्पादक दूसरोके लेखो, विज्ञप्तियो तथा शर्तमय इनामी सूचनाओ तकका दो-चार पक्तियोमे सिर्फ सार ही दे देते हैं और सारको ऐसे भद्दे ढगसे तय्यार करते हैं कि कभी-कभी तो असलका मतलब ही खब्त हो जाता है अथवा कुछका कुछ समझ लिया जाता है। इसपर भी तुर्रा यह कि उस सारके नीचे लेखकादिका नाम रख देते हैं—यह सूचना करना तक अपना कर्तव्य नही समझते कि अमुक व्यक्तिका अमुक लेखादि हमारे पास आया है जिसका सार इस प्रकार है और इस तरह बिपय-निर्देश एव साहित्यादिकी अपनी जिम्मेदारीको मूल लेखकादिके ऊपर ही थोप देते हैं जो सरासर अन्याय है और जिससे कभी-कभी बडा ही अनर्थ सघटित हो जाता है—जनता उस लेखक अथवा उसकी कृतिको ठीक समझ ही नही पाती और भ्रममे पड जाती है।

कोई-कोई सम्पादक ऐसे भी अनुदार होते हैं जो लेखमे किसी व्यक्ति-विशेषके लिये प्रयुक्त हुए आदरके शब्दोको सहन नही कर सकते अथवा उसके परिचायक ब्रह्मचारी आदि टाइटिल तकको निकाल देते हैं और इस तरह अपने पाठकोको भारी असमजसमे पटक देते हैं, वे समझ ही नही पाते कि उस नामके कौनसे व्यक्तिको लक्ष्य करके यह बात कही गई है। और कुछ सम्पादक ऐसे भी देखनेमे आते हैं जो अच्छेसे अच्छे जँचे-तुले लेखादिमे भी यो ही दो-चार काट-छाँट किये बिना नही रहते—ऐसा किये बिना उनका सम्पादकत्व ही चरितार्थ नही होता। ऐसे जीव निस्सन्देह औधी समझके कारण बडे भयकर होते हैं और

वे अपनी वैसी कर्तूतसे उस लेखादिको असम्बद्ध, वेढगा तथा वेमानी तक कर डालते हैं। शायद ऐसे लोगोको लक्ष्य करके ही कहा गया है कि—"प्रसादोऽपि भयकर ।"

सम्पादकोके इन दोपोके कारण ही अक्सर सुलेखकोको उनके पत्रोमे लेख देनेकी हिम्मत नही होती अथवा अपने लेखोके प्रकाशनार्थ उपयुक्त क्षेत्र न देखकर लेख लिखनेमे ही उनकी प्रवृत्ति नही होती और इस तरह समाज सुयोग्य लेखकोके लेखोका लाभ उठानेसे वचित ही रह जाता है, यह बडे ही खेदका विषय है। अत सम्पादको तथा लेखकोके इन दोपोको सुधारनेकी वडी जरूरत है और इसका मुख्य उपाय है 'समालोचना'। समालोचनाके अभावमे उनकी निरकुशता बढ जाती है। वे अपनी लेखनी अथवा सम्पादकीको निर्दोष समझने लगते हैं और फिर उनका सुधार होना मुश्किल ही नही, किन्तु असभव–जैसा हो जाता है। साथ ही सदोप साहित्यके प्रचारसे समाजके उत्थान एव विकासमे बाधा भी पडती है—अगली सन्तति भी उन्ही दोषोका अनुसरण करने लगती है। इसलिये विद्वानोको सद्भावनाके साथ समालोचनाको जरूर अपनाना चाहिये। समय और शक्तिके होते हुए इस विषयमे व्यर्थकी उपेक्षा न करनी चाहिये। अस्तु।

इन्ही सब वातोको लेकर आज मैं उक्त 'पैसा' नामकी कविताको अपनी आलोचनाका विपय बनाते हुए उसकी मोटी-मोटी त्रुटियोका सामान्य रूपसे दिग्दर्शन कराता हूँ। कविताके पद्य और उनकी आलोचना इस प्रकार है—

कितना अहो! आज ले आदर, आया जगमे पैसा!
कैसा अतुल अनूठा जादू, भरकर लाया पैसा!!
पैसा है तो मानव मानव, नहीं वना-वनाया रासभ।
भरी स्वर्णमे जो मादकता, क्या भर सकता आसव? ॥१॥

इस पद्यके प्रथम दो चरणों तथा अन्तिम चरणसे और दूसरे पद्योंके भी अनेक चरणोंसे यह स्पष्ट है कि यह कविता २८ मात्राके छन्दमें रची गई है जिसमें १६, १२ मात्रापर यति अथवा विराम है। परन्तु इस पद्यका तीसरा चरण ३१ मात्राको लिये हुए है। उसका 'बना बनाया' पाठ बहुत ही खटकता है। उसके स्थानपर 'बना है' अथवा 'समझलो' जैसा कोई पाठ होना चाहिये था।

पैसा बिना नीरस दुनिया है, ज्ञान ध्यान सब नीरस,
नीरस जीवन, नीरस तन मन, आन बान सब नीरस,
वर्णहीन धनपति सुखी सब, है अंटीमें पैसा,
कवि, कोविद और कलाकार सब भूखे विस्मय कैसा? ॥२॥

इसमें 'बिन' की जगह 'बिना' और 'धनपती' की जगह 'धनपति' बना देनेसे मात्राकी कमी-बेशी होकर पदभग हो गया है। साथ ही चौथे चरणमें 'और कलाकार सब' यह शब्द-विन्यास भद्दा जान पडता है। इसके स्थानपर 'औ कलाकार सब' ऐसा कुछ होना चाहिये था।

इस पैसेके पीछे होता, मानव सब कुछ खोकर।
जननी, जन्म भूमि, दारा तजकर दर-दर खाता ठोकर।
न होती धनवासना तो यह क्या मिलना अपवाद?
परिभाषास्पद शूली फिर क्यों देता जग जल्लाद?

इस पद्यके प्रथम चरणमे 'होता' पदका प्रयोग बे-मुहावरा है, क्योंकि उसके साथमे 'क्या होता?' इस जिज्ञासाका कोई समाधान नहीं है, जिसका होना जरूरी था। इस पदके स्थानपर यदि 'पडता' जैसे पदका प्रयोग किया जाता तो ठीक होता। दूसरे चरणमे 'तज' के अनन्तर 'कर' शब्द अधिक है, जिससे पदभग हो जाता है। तीसरे चरणका शब्द-

है और उसका उच्चारण दूसरे किसी भी उच्चारणके साथ नही मिलता। साथ ही तीसरे-चौथे चरणोके उत्तरार्धोमे एक-एक मात्राको कमी होनेसे छन्दोभग स्पष्ट नजर आता है।

पड़ा मुझे भी सब कुछ खोना पैसेके चक्करमें।
मान ज्ञान तज श्वान समान बन, डोला उफ़! घर-घर में।
हाय दीनता! तूने मुझको बता कहाँका छोड़ा?
माता छोड़ी, भ्राता छोड़ा, देश तथा घर छोड़ा?

इस पद्यके दूसरे चरणमे 'श्वान' के बाद 'समान' शब्दका कोई मेल नही—उससे एक मात्रा बढकर छद ही बिगड जाता है। इसके स्थानपर 'सदृश' जैसा कोई शब्द रक्खा जाता तो अच्छा होता, साथ ही 'मे' के स्थानपर 'मैं' होना चाहिये था। जिससे कौन डोला यह स्पष्ट हो जाता। मुहावरेकी दृष्टिसे 'घर-घर' के साथ 'मे' निरर्थक है। चौथा चरण बडा ही विचित्र जान पडता है। उसके 'छोडा' 'छोडी' शब्दोका सम्बन्ध पूर्व चरणके साथ ठीक नही बैठता—न तो यही कहा जा सकता है कि कविने स्वेच्छासे ही अपनी माता आदिको छोड दिया है। तब यही कहना होगा कि दीनताने कविसे उन्हे छुडवाया अथवा निर्धनताके चक्करमे पडकर कविको धनोपार्जनके लिये बाहर जानेकी गर्जसे मजबूरन उन्हे छोडना पड़ा। ऐसी हालतमे चतुर्थ चरणका रूप "माता छूटी, भ्राता छूटा, देश तथा घर छूटा" ऐसा होना चाहिये था और उसके आगे प्रश्नाङ्क (?) न लगाकर खेदका चिह्न (!) लगाना चाहिये था।

धोबीके कुत्ते सी मेरी हाय! गति कर डाली।
घरका रखा न घाटका छोड़ा, हाय! अन्तमें खाली।
मृत्यु अच्छी इस जीवनसे, यह भी क्या जीवन है?
ठुकराया जाय जनका तन, कैसा निर्लज्जपन है?

यहाँ पहले चरणमें 'गति' की जगह या तो 'गती' होना चाहिये था और या 'कुगति' अन्यथा एक मात्रा कम होकर छंद-भग होता है। दूसरे चरणमे 'न घाटका छोड़ा' इस शब्द-प्रयोग-से एक मात्रा बढ जाती है। इसके स्थानमे 'रखा न वाटका' होता तो ज्यादा अच्छा रहता। साथ ही 'अन्तमे खाली' यह वाक्यप्रयोग भी कुछ बेमानी-सा जान पडता है और सुन्दर मालूम नही होता। उससे अच्छा इसके स्थानपर 'हाय! अन्त वदहाली' बना दिया जाता अथवा 'हुई अन्त बदहाली' ऐसा कुछ रख दिया जाता तो ठीक होता। तीसरे चरणमें 'मृत्यु' पद बाधित है। वह छन्द.शास्त्रकी दृष्टिमे या तो 'मृत्यू' होना चाहिये था अथवा उसे निकालकर उसके स्थानपर 'मरना' बना देना चाहिये था और साथ ही 'अच्छी' को 'अच्छा' मे परि-वर्तित कर देना चाहिये था। इस पद्यका भी चौथा चरण कुछ कम विचित्र नही है। इसके पूर्वार्धमे १५ और उत्तरार्धमें १३ मात्राएँ हैं। एक अर्धमेंसे एक मात्राको घटाने रूप और दूसरे अर्धमें बढाने रूपसे संशोधन करना चाहिये था, जो नही किया गया। इससे छन्द भंग हो रहा है। साथ ही 'ठुकराया जाय जनका तन' यह मुहावरा भी कुछ अच्छा मालूम नही होता। इसके स्थानपर 'ठुकराया जावे नरतन यह' ऐसा ही यदि रख दिया जाता और 'निर्लज्जपन' को 'निर्लजपन' मे बदल दिया जाता तो छन्दोभगादिका यह सारा दोष मिट जाता।

> लेलो पीछा भगवन् अपना यह अगड़ालू जीवन।
> नहीं चाहिये, तंग आ चुका, देख जगतकी उलझन॥

कविताका यह अन्तिम पद्य आधा पद्य है। इसमे 'पीछा' शब्द बहुत खटकता है—व्यावहारिक दृष्टिसे वह कुछ बेमुहावरा-सा भी जान पडता है। इसके स्थानपर यदि 'वापिस' शब्द रख

दिया जाता तो ज्यादा अच्छा होता। कविजीने जब अपनी कवितामे दर-दर, उफ और जल्लाद जैसे अरबीके शब्दोका प्रयोग किया है तब उनके लिये 'वापिस' शब्दका प्रयोग कोई अनुचित भी न होता अथवा 'लौटा लो हे भगवन्! अपना' ऐसा रूप ही प्रथम चरणके पूर्वार्धको दे दिया जाता। मालूम नही, कौनसे भगवानको सम्बोधन करके यह वाक्य कहा गया है। जैनियोके भगवान तो ऐसे नही जो किसीको झगडालू जीवन प्रदान करते हो और जिनसे उसको वापिस ले लेनेकी प्रार्थना की जाय। इस दृष्टि-से यह वाक्य जैनकी स्पिरिटसे भी कुछ गिरा हुआ जान पडता है।

एक छोटी-सी कवितामे इतनी अधिक त्रुटियोको देखकर—जिन सबको प्रेसकी आकस्मिक भूल नही कहा जा सकता—कहना पडता है कि पत्रका प्रकाशन सचालकोकी प्रतिष्ठाके अनु-रूप नही हो रहा है। आशा है, सचालक-समिति इस ओर सविशेष रूपसे ध्यान देगी और ऐसा सुयोग्य प्रवन्ध करेगी जिससे भविष्यमे इस प्रकारकी त्रुटियाँ देखनेको न मिलें। साथ ही सम्पादकजी विशेष सावधानीको अपनाते हुए यह प्रकट करनेकी कृपा करेंगे कि उक्त कविता क्या उनके पास इसी रूपमे आई थी और उन्हे उसके सशोधनका अवसर नही मिल सका या उन्होने उसे सदोप एव त्रुटिपूर्ण ही नही समझा? अथवा कविता-का अमुक रूप था और यह सशोधित रूप उनके द्वारा ही प्रस्तुत किया गया है? जिससे उनके पाठकोका तद्विषयक भ्रम दूर हो सके[1]।

नोट—प्रसन्नताका विषय है कि इस लेखको पढकर सम्पादकजीने अपनेको बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण समझा है और पत्र—द्वारा सम्पादन-सम्बन्धी अपनी भूलको स्वीकार किया है।

---

१. जैनसन्देश, ता० १७ मार्च १९३८।

भट्टारकोय मनोवृत्तिका नमूना : ८ :

जिस समय भट्टारकोका स्वेच्छाचार बहुत बढ गया था—उनके आचार-विचार शास्त्र-मर्यादाका उल्लघन करके यथेच्छ रूप धारण कर रहे थे और उनकी निरकुश, दूषित एव अवाछनीय प्रवृत्तियोसे जैन जनता कराह उठी थी और बहुत कुछ कष्ट तथा पीडाका अनुभव करती करती ऊब गई थी, उस समय कुछ विवेकी महान पुरुपोने भट्टारकोके चगुलसे अपना पिंड छुडाने, भविष्यमे उनकी कुत्सित प्रवृत्तियोका शिकार न बनने, उनके द्वारा किये जानेवाले नित्यके तिरस्कारो-अपमानो तथा अनुचित कर-विधानोसे बचने और शास्त्रविहित प्राचीन मार्ग-से धर्मका ठीक अनुष्ठान एव आचरण करनेके लिये दिगम्बर तेरह पन्थ सम्प्रदायको जन्म दिया था, और इस तरह साहसके साथ भट्टारकीय जुएको अपनी गर्दनोपरसे उतार फेंका था तथा धर्मके मामलेमे भट्टारकोपर निर्भर न रह कर—उन्हे ठीक अर्थमे गुरु न मानकर—विवेकपूर्वक स्वावलम्बनके प्रशस्त मार्गको अपनाया था। इसके लिये भट्टारकोकी शास्त्रसभामे जाना, उनसे धर्मकी व्यवस्था लेना आदि कार्य वन्द किये गये थे। साथ ही, सस्कृत-प्राकृतके मूल धर्म-ग्रन्थोको हिन्दी आदि भाषाओमे अनुवादित करके—उनपर टीकाएँ लिखकर—उन्हे सर्वत्र प्रचारित करनेका बीडा उठाया गया था, जिससे गृहस्थ जन धर्म एव तत्त्वज्ञानके विषयको स्वय समझकर ठीक आचरण करें और उसके लिये गृहस्थोसे गये-बीते मठाधीश और महापरि-ग्रही भट्टारकोके मुखापेक्षी न रहे। इसका नतीजा बडा सुन्दर निकला—गृहस्थोमे विवेक जागृत हो उठा, धर्मका जोश फैल

गया, गृहस्थ विद्वानो–द्वारा शास्त्र-सभाएँ होने लगी, भट्टारको-की शास्त्र-सभाएँ फीकी पड गई, स्वतन्त्र पाठशालाओ–द्वारा बच्चोकी धार्मिक शिक्षाका प्रारम्भ हुआ और जैन-मन्दिरोमें सर्वत्र शास्त्रोके सग्रह, स्वाध्याय तथा नित्य-वाचनकी परिपाटी चली। और इन सबके फलस्वरूप श्रावकजन धर्मकर्ममे पहलेसे अधिक सावधान हो गये—वे नित्य स्वाध्याय, देवदर्शन, शास्त्र-श्रवण, शील-सयमके पालन तथा जप-तपके अनुष्ठानमे पूरी दिलचस्पी लेने लगे और शास्त्रोको लिखा-लिखाकर मन्दिरोमे विराजमान किया जाने लगा। इन सब बातोमे स्त्रियोने पुरुषो-का पूरा साथ दिया और अधिक तत्परतासे काम किया, जिससे तेरह पथको उत्तरोत्तर सफलताकी प्राप्ति हुई और वह मूल जैन आम्नायका सरक्षक बना।

यह सब देखकर धर्मासनसे च्युत हुए भट्टारक लोग बहुत कुढते थे और उन तेरह पन्थमे रात-दिन रत रहनेवाले श्रावको पर दूषित मनोवृत्तिको लिये हुए वचन-बाणोका प्रहार करते थे—उन्हे निष्ठुर कहते थे, काठिया (धर्मकी हानि करनेवाले) बतलाते थे और 'गुरु-विवेकसे शून्य' घोषित करते थे। साथ ही, उनके जप-तप और शील-सयमादिरूप धर्माचरणको निष्फल ठहराते थे और यहाँ तक कहनेकी धृष्टता करते थे कि तेरह पथी वनिक पुत्रकी उत्पत्ति पर देवतागण रौरव नरकका अथवा घोर दु खका अनुभव करते हैं, जबकि पुत्रकी उत्पत्ति पर सारा जगत हर्ष मनाता है। इसके सिवाय, वे पतितात्मा उन धर्मप्राण एवं शील-सयमादिसे विभूषित स्त्रियोको, जो धर्मके विषयमे अपने पुरुषोका पूरा अनुसरण करती थी और नित्य मन्दिरजीमे जाती थी, किन्तु भट्टारक गुरुके मुखसे शास्त्र नही सुनती थी, 'वेश्या' बतलाते थे। उन पर व्यग्य कसते थे कि वे प्रति दिन जिनालय

(जैनमन्दिर)को इस तरह चली जाती हैं जिस तरह कि राजा-के घर वारागना (रण्डी) जाती है ॥

हालमे इस भट्टारकीय मनोवृत्तिके परिचायक तीन पद्य मुझे एक गुटके परसे उपलब्ध हुए हैं, जो गत भादो मासमे श्री वैद्य कन्हैयालाल जी कानपुरके पाससे मुझे देखनेको मिला था और जिसे सिवनीका वतलाया गया है। यह गुटका २०० वर्षसे ऊपरका लिखा हुआ है। इसमे सस्कृत-प्राकृत आदि भापाओके अनेक वैद्यक, ज्योतिप, निमित्तशास्त्र और जत्र-मत्र-तत्रादि-विषयक ग्रन्थ तथा पाठ हैं। अस्तु, उक्त तीनो पद्य नीचे दिये जाते हैं, जो सस्कृत-हिन्दी–मिश्रित खिचडी भापामे लिखे गये हैं और वहुत कुछ अशुद्ध पाये जाते हैं। इनके ऊपर "हृदे (दय) वोध-ग्रन्थ कथनीय।" लिखा है। सभव है 'हृदय वोध' नामका कोई और ग्रथ हो, जिसे वास्तवमे 'हृदय-वेध' कहना चाहिये और वह ऐसे ही दूपित मनोवृत्तिवाले पद्योसे भरा हो और ये पद्य (जिनमे ब्रैकिटका पाठ अपना है) उसीके अश हो—

"सूत उत्पत्यं (सुतोत्पत्तौ) जगत्सर्वं हर्पमानं प्रजायतेः (ते)
तेरापंथी वन्क (वनिक) पुत्रं (त्रे) रौरव देवतागणाः ॥ १ ॥

त्रिदश १३ पंथरतौ (ता) निशिवासराः।
गुरुविवेक न जानति निष्ठुरा.
जप-तपे कुरुते वहु निष्फला (ला)
किमपि ये व (?) जनासम काठया ॥ २ ॥
पुर्प (रूप) रीत लखै निजकामिनी।
प्रतिदिनं चलिजात जी (जि) नालये।
गुरुमुखं नहि धर्मकथा श्रुणं
नृपगृहे जिम जाति वरांगना ॥ ३ ॥

गया, गृहस्थ विद्वानो–द्वारा शास्त्र-सभाएँ होने लगी, भट्टारको-की शास्त्र-सभाएँ फीकी पड गईं, स्वतन्त्र पाठशालाओ–द्वारा बच्चोकी धार्मिक शिक्षाका प्रारम्भ हुआ और जैन-मन्दिरोमे सर्वत्र शास्त्रोके सग्रह, स्वाध्याय तथा नित्य-वाचनकी परिपाटी चली। और इन सबके फलस्वरूप श्रावकजन धर्मकर्ममे पहलेसे अधिक सावधान हो गये—वे नित्य स्वाध्याय, देवदर्शन, शास्त्र-श्रवण, शील-सयमके पालन तथा जप-तपके अनुष्ठानमे पूरी दिलचस्पी लेने लगे और शास्त्रोको लिखा-लिखाकर मन्दिरोमे विराजमान किया जाने लगा। इन सब बातोमे स्त्रियोने पुरुषो-का पूरा साथ दिया और अधिक तत्परतासे काम किया, जिससे तेरह पथको उत्तरोत्तर सफलताकी प्राप्ति हुई और वह मूल जैन आम्नायका सरक्षक बना।

यह सब देखकर धर्मासनसे च्युत हुए भट्टारक लोग बहुत कुढते थे और उन तेरह पन्थमे रात-दिन रत रहनेवाले श्रावको पर दूषित मनोवृत्तिको लिये हुए वचन-बाणोका प्रहार करते थे—उन्हे निष्ठुर कहते थे, काठिया (धर्मकी हानि करनेवाले) बतलाते थे और 'गुरु-विवेकसे शून्य' घोषित करते थे। साथ ही, उनके जप-तप और शील-सयमादिरूप धर्माचरणको निष्फल ठहराते थे और यहाँ तक कहनेकी धृष्टता करते थे कि तेरह पथी वनिक पुत्रकी उत्पत्ति पर देवतागण रौरव नरकका अथवा घोर दु खका अनुभव करते हैं, जबकि पुत्रकी उत्पत्ति पर सारा जगत हर्ष मनाता है। इसके सिवाय, वे पतितात्मा उन धर्मप्राण एव शील-सयमादिसे विभूषित स्त्रियोको, जो धर्मके विषयमे अपने पुरुषोका पूरा अनुसरण करती थी और नित्य मन्दिरजीमे जाती थी, किन्तु भट्टारक गुरुके मुखसे शास्त्र नही सुनती थी, 'वेश्या' बतलाते थे। उन पर व्यग्य कसते थे कि वे प्रति दिन जिनालय

(जैनमन्दिर)को इस तरह चली जाती हैं जिस तरह कि राजा-के घर वारागना (रण्डी) जाती है ॥

हालमे इस भट्टारकीय मनोवृत्तिके परिचायक तीन पद्य मुझे एक गुटके परसे उपलब्ध हुए हैं, जो गत भादो मासमे श्री वैद्य कन्हैयालाल जी कानपुरके पाससे मुझे देखनेको मिला था और जिसे सिवनीका बतलाया गया है। यह गुटका २०० वर्षसे ऊपरका लिखा हुआ है। इसमे सस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओके अनेक वैद्यक, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र और जत्र-मत्र-तत्रादि-विषयक ग्रन्थ तथा पाठ हैं। अस्तु, उक्त तीनो पद्य नीचे दिये जाते हैं, जो सस्कृत-हिन्दी–मिश्रित खिचडी भाषामे लिखे गये हैं और बहुत कुछ अशुद्ध पाये जाते हैं। इनके ऊपर "हृदे (दय) वोध-ग्रन्थ कथनीय।" लिखा है। सभव है 'हृदय बोध' नामका कोई और ग्रथ हो, जिसे वास्तवमे 'हृदय-वेध' कहना चाहिये और वह ऐसे ही दूषित मनोवृत्तिवाले पद्योसे भरा हो और ये पद्य (जिनमे ब्रेकिटका पाठ अपना है) उसीके अश हो—

"सूत उत्पत्यं (सुतोत्पत्तौ) जगत्सर्वं हर्षमानं प्रजायतेः (ते)
तेरापंथी वन्क (वनिक) पुत्रं (त्रे) रौरवं देवतागणाः ॥ १ ॥

त्रिदश १३ पंथरतौ (ता) निशिवासराः।
गुरुविवेक न जानति निष्ठुरा.
जप-तपे कुरुते वहु निष्फलां (ला)
किमपि ये व (?) जनासम काठया ॥ २ ॥
पुर्ष (रुष) रीत लपै निजकामिनी।
प्रतिदिनं चलिजात जी (जि) नालये।
गुरुमुखं नहि धर्मकथा श्रुणं
नृपगृहे जिम जाति वरांगना ॥ ३ ॥

इन विषबुझे वाग्बाणोसे जिनका हृदय व्यथित एव विचलित नही हुआ और जो बराबर अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते रहे वे स्त्री-पुरुष धन्य हैं, और यह सब उन्हीकी तपस्या, एक-निष्ठा एव कर्तव्य-परायणताका फल है जो पिछले जमानेमे भी धर्मका कुछ प्रकाश फैल सका और विश्वको जैनधर्म एव तत्त्व-ज्ञान–विषयक साहित्यका ठीक परिचय मिल सका। अन्यथा उस भट्टारकीय अन्धकारके प्रसारमे सब कुछ विलीन हो जाता[1]।

१. अनेकान्त वर्ष ८, कि० ६–७, दिसम्बर १९४६

डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल : ६ :

डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी एम० ए०, पी-एच० डी० ने कविराज स्वयम्भूदेवके 'पउमचरिउ' नामक प्रमुख अपभ्रंश ग्रन्थका सम्पादन किया है, जिसके दो भाग सिंघी जैनग्रन्थमालामे प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम भाग (विद्याधर काण्ड) के साथ आपकी १२० पृष्ठकी अग्रेजी प्रस्तावना लगी हुई है जो अच्छे परिश्रमसे लिखी गई तथा महत्वकी जान पडती है और उस पर बम्बई युनिवर्सिटीसे आपको डाक्टरेट (पी-एच० डी०) की उपाधि भी प्राप्त हुई है। यह प्रस्तावना अभी पूरी तौरसे अपने देखने तथा परिचयमे नही आयी। हालमे कलकत्ताके श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैनने प्रस्तावनाका कुछ अश अवलोकन कर उसके एक वाक्यकी ओर अपना ध्यान आकर्षित किया, जो इस प्रकार है —

'Marudevi saw a series of fourteen dreams'

यह वाक्य ग्रन्थकी प्रथम सन्धिके परिचयसे सम्बन्ध रखता है। इसमे बतलाया गया है कि 'मरुदेवीने चौदह स्वप्न देखे'। चौदह स्वप्नोकी मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदायकी है, जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय सोलह स्वप्नोका देखा जाना मानता है और ग्रन्थकार स्वयम्भूदेव दिगम्बराम्नायके विद्वान हैं। अत बाबू श्री छोटेलालजीको उक्त परिचयवाक्य खटका और उन्होने यह जानने की इच्छा व्यक्त की कि 'क्या मूल ग्रन्थमे ऋषभदेवकी माता मरुदेवीके चौदह स्वप्नोके देखनेका ही उल्लेख है।' तदनुसार मूल ग्रन्थको देखा गया तो उसके १५ वें कडवक की

आठ पक्तियोमे मरुदेवीकी जिस स्वप्नावलोका उल्लेख है उसमे साफ तौरपर, प्रति पंक्ति दो स्वप्नोंके हिसाबसे सोलह स्वप्नोके नाम दिये हैं। कडवककी वें पक्तियाँ इस प्रकार हैं —

दीसइ मयगलु मय-गिल्ल-गंडु, दीसइ वसहुक्खय-कमल-सडु।
दीसइ पंचमुहु पईहरच्छि, दीसइ णव-कमलारूढ-लच्छि॥
दीसइ गंधुक्कड-कुसुम-दामु, दीसइ छण-यंदु मणोहिरामु।
दीसइ दिणयर कर-पज्जलन्तु, दीसइ झस-जुयलु परिब्भमंतु॥
दीसइ जल-मंगल-कलसु वण्णु, दीसइ कमलायरु कमल-छण्णु
दीसइ जलणिहि गज्जिय-जलोहु, दीसइ सिंहासणु दिण्ण-सोहु
दीसइ विमाणु घण्टालि-मुहलु दीसइ णागालउ सव्वु धवलु।
दीसइ मणि-णियरु परिप्फुरन्तु, दीसइ धूमद्धउ धग-धगन्तु॥

इनमे जिन सोलह स्वप्नोके देखनेका उल्लेख हैं वे क्रमश. इस प्रकार हैं—१ मद झरता हुआ हाथी, २ कमलवनको उखाडता हुआ वृषभ, ३ विशालनेत्र सिंह, ४ नवकमलारूढ लक्ष्मी, ५ उत्कट गन्धवाली पुष्पमाला, ६ मनोहर पूर्णचन्द्र, ७ किरणोसे प्रदीप्त सूर्य, ८ परिभ्रमण करता हुआ मीन-युगल, ९ जल-पूरित मगल-कलश, १० कमलाच्छादित पद्म-सरोवर, ११ गर्जना करता हुआ समुद्र, १२ दिव्यसिंहासन, १३ घण्टालियोसे मुखरित विमान, १४ सब ओरसे धवल नाग-भवन, १५ देदीप्यमान रत्न-समूह, १६ धधकती हुई अग्नि।

इतने स्पष्ट उल्लेखके होते हुए भी डा० भायाणी जैसे डिग्री-प्राप्त विद्वानने अपने पाठकोको वस्तु-स्थितिके विरुद्ध चौदह स्वप्न देखने की अन्यथा बात क्यो बतलाई, यह कुछ समझमे नही आता। मालूम नही इसमे उनका क्या रहस्य है? क्या इसके द्वारा वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि इस विषयमे ग्रन्थकार श्वेताम्बर मान्यताका अनुयायी था? यदि ऐसा है तो यह ग्रन्थकारके प्रति ही नही, बल्कि अपने अंग्रेजी पाठकोके

प्रति भी भारी अन्याय है जिन्हे सत्यसे वचित रखकर गुमराह करनेकी चेष्टा की गई है। खेद है डा० साहबके गुरु आचार्य जिनविजयजीने भी, जो कि सिंघी जैनग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक हैं और जिनकी खास प्रेरणाको पाकर ही प्रस्तावनात्मक निबन्ध लिखा गया है, इस बहुत मोटी गलती पर कोई ध्यान नही दिया। इसीसे वह उनके अग्रेजी प्राक्कथन (Foreword) में प्रकट नही की गई। और न शुद्धिपत्रमे ही उसे अन्य अशुद्धियोके साथ दर्शाया गया है। ऐसी स्थितिमे इसे सस्कारोके वश होनेवाली भारी भूल समझी जाय या जानबूझ कर की गई गलती माना जाय? मैं तो यही कहूँगा कि यह डा० साहबकी सस्कारोके वश होनेवाली भूल है। ऐसी भूलें कभी कभी भारी अनर्थ कर जाती हैं। अत भविष्यमे उन्हे ऐसी भूलोके प्रति बहुत सावधानी बर्तनी चाहिए और जितना भी शीघ्र हो सके इस भूलका प्रतिकार कर देना चाहिए। साथ ही ग्रन्थमालाके सचालकजीको ग्रन्थकी अप्रकाशित प्रतियोमे इसके सुधारकी अविलम्ब योजना करनी चाहिये। आशा है, ग्रन्थ-सम्पादक उक्त डा० साहब और सचालक आ० जिनविजयजी इस ओर शीघ्र ध्यान देनेकी कृपा करेंगे[1]।

नोट :—प्रसन्नताका विषय है कि 'अनेकान्तमें' इस लेखको पढकर डा० साहबने अपनी भूल स्वीकार की और उसके सशोधन का आश्वासन दिया है।

---

१ अनेकान्त वर्ष १२, कि० १, जुलाई १९५४

समाजका वातावरण दूषित : १० :

आजकल कानजीस्वामीकी चर्चाको लेकर जैनसमाजका वातारण बहुत-कुछ दूषित जान पडता है, जिसका एक ताजा उदाहरण पत्रोमे प्रकाशित इन्दौर जैनसमाजकी समस्त गोठोके एक-एक व्यक्तिके हस्ताक्षरसे दिया गया वह वक्तव्य है जो कही अपीलके रूपमे और कही घोषणाके रूपमे प्रकट हुआ। समझमे नही आता कि कानजीस्वामीने ऐसा कौनसा अक्षम्य अपराध किया है जिसके कारण कुछ विद्वान् उनके पीछे ऐसे हाथ धोकर पड़े हैं कि उन्होने सभ्यता और शिष्टताको भी गँवा दिया है, व्यक्तिगत आक्षेपो तथा व्यङ्गोपर उतर आये हैं, अनेकान्त सिद्धान्तको, जो कि विरोधका मथन करनेवाला है, भुलाकर उसकी ओर पीठ दिये हुए हैं, और अपने विरोधकी धुनमे जाने-अनजाने कभी-कभी जिनवाणीके प्रति भी अवज्ञात्मक मूडको अपना लेते हैं। जहाँ तक मैंने कानजी स्वामीका उनके भाषणो तथा प्रवचन-लेखोसे अनुभव किया है मुझे उनमे मुख्यत. एक ही दोप जान पडा है और वह है भाषण करते अथवा उपदेश देते हुए नय-विवक्षाको छोडकर प्राय एकान्तकी तरफ ढल जाना, जिसे मैंने आजसे कोई ११ वर्ष पहले अपने उस लेखमे कुछ विस्तारके साथ व्यक्त किया था, जो कानजीस्वामीके 'जिनशासन' नामक प्रवचन-लेखके प्रतिवादकरूपमे लिखा गया था[१]। परन्तु इस

---

१ देखो, 'समयसारकी १५वीं गाथा और कानजीस्वामी' नामक लेख, अनेकान्त वर्ष १२ किरण, ८ (जनवरी १९५४) पृष्ठ २६८, २६९ (यह पूरा लेख खासतौरसे पढने तथा प्रचार किये जानेके योग्य है, जिसे अब 'कानजीस्वामी और जिनशासन' नाम दिया जाकर युगवीर-निबन्धावली'के द्वितीय खण्डमें प्रकाशित किया जा रहा है।)

दोषके कारण वे सर्वथा त्याज्य एव उपेक्षणीय नही होजाते, जबकि वे अपने व्यवहारमे अनेकान्तको अपनाये हुए हैं—उसे छोड नही रहे हैं। उन्होने कितने ही जैनो तथा सच्चे जैनधर्मसे विमुखोको जैनधर्मके सम्मुख किया है, कितने ही दिगम्बर जैन-मन्दिरो तथा मूर्तियोका निर्माण कराया है ओर बहुतोमें धर्म-विषयको समझानेके लिए एक प्रकारकी जिज्ञासा तथा जागृति उत्पन्न की है। उनके इस उपकार को भुलाया नही जा सकता। सोमदेवसूरिने यशस्तिलकमे ठीक लिखा है कि एक दोषके कारण कोई तत्त्वज्ञ मनुष्य (विद्वान्) त्याज्य कैसे हो सकता है ? नही हो सकता और नही होना चाहिये —

एक दोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः।

श्रीकानजी स्वामीकी सस्था दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर-ट्रस्ट सोनगढसे प्रकाशित होनेवाले समयसार-प्रवचनसारादि ग्रन्थोके अनुवादो-टीकाओमे कुछ त्रुटियोका होना सम्भव है, परन्तु उनके कारण उन समूचे ग्रन्थोके पढनेका निषेध किया जाना अथवा वहिष्कार किया जाना किसी तरह भी उचित नही कहा जा सकता। इससे एक प्रकार जिनवाणीकी अवज्ञा तथा उन महान् ग्रन्थोकी भी अवगणना हो जाती है जो हमारे मान्य एव पूज्य हैं। साथ ही समाजका वातावरण भी क्षुभित हो उठता है। प्रत्येक विद्वान् अपनेको प्राप्त ज्ञान एव दृष्टिकोणके अनुसार ही किसी ग्रन्थका अनुवादादि कार्य करता है, क्षयोपशमादिके दोषसे उसमे कही कुछ विपर्यास अथवा अन्यथा कथन भी बन जाता है, इतने मात्रसे वह ग्रन्थ सर्वथा त्याज्य नही हो जाता। यदि ऐसा होता तो बहुतसे टीकादि ग्रथ ही नही, किन्तु मूलग्रन्थ भी त्याज्य ठहरते, जो एक-दूसरेके विरुद्ध कथनको लिये हुए हैं, परन्तु ऐसा

आज तक नही हुआ, शास्त्र-भण्डारोमे सभी प्रकारके ग्रन्थ पाये जाते हैं और वे सभीके पढने-सुननेमे आते हैं। अत बहिष्कारका यह तरीका ठीक नही है—यह तो दूसरोके विचारोपर अकुश लगाना अथवा अपने विचारोको विना किसी युक्तिके उनपर लादना कहा जा सकता है। समुचित तरीका यह है कि सोनगढमे प्रकाशित साहित्यमे जहाँ कही भी आगम तथा युक्तिके विरुद्ध कथन हो उसे प्रेमपूर्वक युक्तिपुरस्सर-ढगसे स्पष्ट करके वतलाया जाय और उसका खूब प्रचार तथा प्रसार किया जाय। इससे त्रुटियो एव भूल-भ्रातियोका सहज सुधार हो सकेगा और समाजका वातावरण दूपित नही होने पायेगा।

इन्दौरके जिन ६ सज्जनोने उक्त वक्तव्य अथवा घोपणादिपर सही की है वे सव अपनी गोठका पूर्णत प्रतिनिधित्व करते हैं और उसी गोठमे दूसरा कोई व्यक्ति ऐसा नही जो कानजी स्वामीकी किसी भी वातसे कोई विरोध न रखता हो, ऐसा वक्तव्यसे कुछ मालूम नही होता। उसमे दूसरे व्यक्तियोके लिए 'विघ्नसतोपी' जैसे शब्दोका प्रयोगकर उनपर व्यग कसा गया है, जवकि दूसरोके व्यगात्मक-शब्दोकी शिकायत की जाती है। विरोधमे भाग लेनेवाले कुछ विद्वानो तथा त्यागियोपर विना किसी प्रमाणके यह भी आरोप लगाया गया है कि वे "वस्तु-तत्त्वके गूढतम भावपर न पहुँचते हुए कपायान्वित होकर ऐसी प्रक्रियाको वल देते हैं और अनर्गल वातें समाचार-पत्रोमे छपवाकर समाजमे अशान्ति एव कलह पैदा करते हैं।" इस प्रकारका आरोप तथा वचन-व्यवहार भी शान्तिके इच्छुकोके लिए उचित मालूम नही होता और इस तरह उक्त वक्तव्यकी स्थिति भी प्राय दूसरोके उन हैंड-विलो जैसी ही हो जाती है जिनपर वक्तव्यमे आपत्ति की गई है। इसीसे अशाति दूर होनेमे

नही आती और समाज-का वातावरण उत्तरोत्तर दूपित होता चला जाता है। उक्त वक्तव्यमे यह भी कहा गया है कि "पूज्य कानजीस्वामीके प्रवचनोसे समस्त दिगम्बर जैनसमाजको महान् अवर्णनीय लाभ हुआ है।" यदि यह ठीक है तो फिर लाभान्वित होनेवालोकी तरफसे विरोध क्यो ? और इन्दौरमे ही "कतिपय पुरुष" उनके विरोधी क्यो ? जो उन्ही गाठोमेसे होगे जिनके प्रतिनिधि बनकर एक-एक सज्जनने वक्तव्यपर अपने हस्ताक्षर किये हैं। विरोध तो 'महान् अवर्णनीय लाभ" की मान्यताका सूचक नही, प्रत्युत इसके किसी भारी अलाभके होनेका द्योतक है। उक्त वाक्यके द्वारा अपनी मान्यताको विना किसी युक्तिके दूसरोपर लादनेका प्रयत्न भी किया गया जान पडता है।

एक बार कानजी स्वामीने किसी आवेशादिके वश होकर ऐसा कह दिया था कि—'पुण्य तो विष्ठाके समान है।' उनके इस कथनसे समाजमें बहुत बडा क्षोभ उत्पन्न हुआ था, जो अभी तक चला जाता है। और वह उनके प्रति एक प्रकारसे वहुतोकी अश्रद्धाका कारण बना है, क्योकि उसके द्वारा अन्य कार्यो के प्रति घृणा ही उत्पन्न नही की गई, बल्कि एक प्रकारसे पुण्यका भोग करने वालोको विष्ठा-भोजी भी बतला दिया है। इसमे सन्देह नही कि उक्त घृणित-वाक्य सभ्यता और शिष्टतासे गिरा हुआ है और एक सत्पुरुषके मुँहसे उसका निकलना शोभा नही देता। श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे **"पुण्णफला अरहंता"** वाक्यके द्वारा अरहन्तोको जिस पुण्यका फल बतलाते हैं और श्लोकवार्तिकमे श्री विद्यानन्दाचार्यने **"सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्"** वाक्यके द्वारा जिस पुण्यसे तीन लोकका आधिपत्य (परमेश्वरत्व) प्राप्त होता है उसे 'सर्वोत्कृष्ट'

बतलाया है, ऐसे हितकारी पुण्यको भी कानजीस्वामी का विष्ठा अथवा विष्ठाके समान बतलाना बहुत ही अखरनेवाली बात है, नासमझीका परिणाम है और सातिशय-पुण्यके फलको भोगनेवाले अरहन्तो तकका एक प्रकारसे अपमान है। यदि कानजीस्वामी उसी समय अपनी भूलको सुधार लेते तो समाजका वातावरण अशान्त होनेसे बच जाता और उनके स्वयके गौरवकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती, परन्तु उन्होने व्यर्थकी हठ पकडी; जो मुँहसे निकल गया उसे पुष्ट करने लगे, इससे समाजका वातावरण उत्तरोत्तर बिगडता चला गया पक्षाऽपक्षी तथा पार्टीबन्दियाँ शुरू हो गई और उनसे कषायोको प्रबल होनेका अवसर मिला है।

सोचने तथा समझनेकी बात है कि जिस पुण्यको कानजी स्वामी विष्ठा बतलाते हैं उस पुण्यका स्वय उपभोग कर रहे हैं—उसे त्यागकर जगलोमे निर्भय निराहार निर्वस्त्र और कष्ट-सहिष्णु होकर रहनेके लिये तैयार नही। यदि वे वस्तुत पुण्यको विष्ठा समझकर छोड देवें पुण्य-प्रभव सारी सुख-सुविधाओका परित्याग कर देवे अथवा पुण्य रुष्ट होकर उनके पाससे चला जावे तब उनकी कैसी कुछ गति-स्थिति बनेगी इसे सहज ही समझा जा सकता है। उन्हे तब एक दीन-दुखी दरिद्रीका जीवन व्यतीत करनेके लिए बाध्य होना पडेगा और उनकी वर्तमान सब शुभ-प्रवृत्तियाँ प्राय समाप्त हो जाएँगी।

यदि कोई मनुष्य यह चाहता है कि मेरे शरीरमे सदा सुख-साता बनी रहे, रोगादिकका कोई उपद्रव न होने पावे, सब अग-उपाग ठीक तथा कार्यक्षम रहा करे, खाने-पीनेको रुचिकर भोजन तथा दुग्धादि पुष्टिकर पदार्थ यथेष्ट मात्रामे मिलें, पहननेके लिए अच्छे साफ-सुथरे वस्त्र तथा रहनेके लिए सुन्दर अनुकूल निवास-स्थानकी प्राप्ति होवे और यात्रादिके लिए मोटरकी सुव्यवस्था

रहे, तो कहना होगा कि वह पुण्यका भिखारी है, क्योकि यह सब सुख-सामग्री पुण्यके उदयसे मिलती है। कानजीस्वामी भी यह सब कुछ चाहते हैं अत वे भी पुण्यके भिखारी हैं। जो पुण्यका भिखारी हो वह पुण्यके तिरस्कारका अधिकारी नही। पुण्यका भिखारी होते हुए भी जो कोई पुण्यके तिरस्कारका ऐसा गन्दा वचन मुँहमे निकलता है वह उसके सही होश-हवास अथवा पूर्णत सावधानीकी हालतमे मुखसे निकला हुआ नही कहा जा सकता और इसीलिए उसे कोई खास महत्व नही दिया जा सकता।

सासारिक सुख-सुविधाओको जन्म देनेवाली सातावेदनीय आदि पुण्य-प्रकृतियाँ चार अघातिया कर्मोकी शुभ प्रकृतियाँ हैं। अघातिया कर्मोंका आत्मासे पूर्णत पृथक्करण चौदहवें गुणस्थानमे जाकर होता है, उससे पहले नही बनता। कानजी स्वामी अपनेको चौथे गुणस्थानमे स्थित अविरत-सम्यग्दृष्टि बतलाते हैं, तब उनका पुण्यको विष्ठाके समान बतलाकर उसके त्यागकी प्रेरणा करना और स्वय पुण्यके साथ चिपटे रहना कोरी विडम्बना तथा अनधिकार चेष्टाके सिवाय और कुछ नही है। यदि पुण्यको सर्वथा हेय माना जाय तो अनादि-कर्मबद्ध आत्माको कभी अपने शुद्ध-स्वरूपकी उपलब्धि अथवा मुक्तिको प्राप्ति नही हो सकती। पुण्य-भूमिमे खडे होकर ही शुद्धताकी ओर बढा जा सकता है।

जैन तीर्थंकरोने निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्गके दो भेद किये हैं, निश्चयको साध्यकोटिमे और व्यवहारको साधनकोटिमे रखा है जैसे कि कानजीस्वामीके श्रद्धा-भाजन अमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्य से प्रकट है —

निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

—तत्त्वार्थसार

यहाँ एकको साध्य और दूसरेको साधन बतलाना दोनो मार्गोकी परस्पर मित्रताका द्योतक है—दोनोकी सर्वथा एक दूसरेसे भिन्नता-शत्रुताका सूचक नही । निश्चय-नय व्यवहारके बिना पगु है—लँगडा है, एक कदम भी चल नही सकता, अपने अस्तित्वको भी व्यक्त नही कर सकता, उसके लिए उसे शब्दोका सहारा लेना पडता है, जो कि व्यवहारका ही एक प्रकार है । और व्यवहार-नय निश्चयके बिना दृष्टि-विहीन है—अधा है, उसे यथार्थ कुछ सूझ नही पडता और इसलिये वह लक्ष्य-भ्रष्ट बना रहता है । लगडा यदि अधेके साथ सहयोग करके उसके कन्धे पर चढता है और उसे चलनेमे सहायक दृष्टि प्रदान करता है तो दोनो उस गहन-वनसे बाहर निकल आते हैं जहाँ दावानल खेल रहा हो । और इस तरह दोनो एक-दूसरेके प्राण-रक्षक बन सकते हैं ।

जो एकान्त निश्चय (द्रव्यार्थिक) नयके पक्षपाती हैं, उसीको वस्तु (भूतार्थ) समझते हैं और प्रतिपक्ष (व्यवहार) को अवस्तु (अभूतार्थ) बतलाते हुए उससे द्वेष रखते हैं, वे जैनागमकी दृष्टि मे मिथ्यादृष्टि (एकान्ती) हैं । इसी तरह जो एकान्त व्यवहार (पर्यायार्थिक) नयके पक्षपाती हैं, स्वपक्ष-प्रतिबद्ध हैं, उसीको वस्तु (भूतार्थ) मानते हैं और प्रतिपक्ष (निश्चय) को अवस्तु (अभूतार्थ) प्रतिपादन करते हुए उससे द्वेष रखते हैं, वे भी जैनागमकी दृष्टिमे मिथ्यादृष्टि (एकान्ती) हैं । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने निरपेक्षनयोको मिथ्या और

सापेक्ष नयोको सम्यक् (वस्तुभूत) वतलाया है'। ऐसी स्थिति मे किसी भी एक नयके पक्षपात (एकान्त)को छोडकर जैनागमके अनुसार हमे सदा सापेक्षदृष्टिसे उभयनयके विषयको अपनाते हुए सम्यग्दृष्टि अनेकान्ती वनाना चाहिये। ऐसा होने पर तात्त्विक विरोधके लिये कोई स्थान नही रहेगा और समाजका जो वातावरण अनेकान्तकी अवहेलनाके कारण दूपित हो रहा है वह सुधर जायेगा।

अन्तमे मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि कानजी स्वामीसे, किसी-किसी विपयमे मतभेद रखते हुए भी, मेरा उनके प्रति कोई द्वेपभाव नही है—मैं उनके व्यक्तित्वको आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। और इसलिये मेरा उनसे सादर निवेदन है कि वे अहकारका परित्याग कर अव भी अपनी भूल स्वीकार करनेकी उदारता दिखलाएँ और पुण्यको विष्ठा वतलाने रूप जो गर्हित वचन किसी समय उनके मुँहसे निकल गया है उसे वापिस लेनेकी कृपा करें। इसमे उनका गौरव है, सौजन्य है और समाजका हित सन्निहित। साथ ही समाजके विपक्षी विद्वानो तथा अन्य सज्जनोसे भी मेरा नम्र निवेदन है कि यदि कानजी स्वामी अपनी भूल स्वीकार नही करते, मिथ्या आग्रह नही छोडते और न उक्त गर्हित वचनको वापिस ही लेते हैं तो

१ (क) दव्वट्ठिय-वत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जवत्थ अवत्थुमेव दव्वट्ठियणयस्स ॥ १० ॥
तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिवद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥
—सन्मतिसूत्रे सिद्धसेनः

(ख) निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।
स्वयम्भू-स्तोत्र

उन्हे अहकारका शिकार समझकर क्षमा कर देना चाहिए। और आगेको उनके व्यक्तित्वके प्रति कोई द्वेषभाव नही रखना चाहिये। प्रतिवर्ष क्षमावणी पर्व मनाना और फिर भी कानजी-स्वामीको उनकी किसी भूल-गलती आदिके लिये अब तक क्षमा न किया जाना, प्रत्युत इसके उनसे द्वेपभाव बनाये रखना, क्षमावणी पर्व मनानेकी विडम्बनाको सूचित करता है। अत आगे ऐसा नही होना चाहिये। इससे सभी समाजका वातावरण शीघ्र सुधर सकेगा। इसके सिवाय मेरा यह भी निवेदन है कि जयपुरमे आचार्य शिवसागरजीके समक्ष आयोजित योजनाके अनुसार दोनो पक्षके विद्वानोमे जो लिखित तत्त्वचर्चा हुई है उसे अब शीघ्र प्रकाशित कर देना चाहिये, इससे अनेक विषयोमे बहुतोका भ्रम दूर हो सकेगा तथा वस्तुस्थितिको उसके ठीकरूपमे समझनेका अवसर मिलेगा[१]।

१ जैनसन्देश, ता० २८ नवम्बर, १९६५

स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध

१. वैद्यजीका वियोग
२. ईसरीके सन्त
३. शाहा जवाहरलाल और जैन ज्योतिष
४. हेमचन्द्र-स्मरण
५. कर्मठ विद्वान (ब्र० शीतलप्रसादजी)
६. राजगृहमें वीरशासन-महोत्सव
७. कलकत्तामें वीरशासन-महोत्सव
८. श्रीदादीजी
९. जैनजातिका सूर्य अस्त !!
१०. अभिनन्दनीय पं० नाथूरामजी प्रेमी
११. अमर पं० टोडरमलजी
१२. सन्मति-विद्या-विनोद
१३. पं० चैनसुखदासजीका अभिनन्दन
१४. श्री पं० सुखलालजीका अभिनन्दन
१५. शुभभावना (आ० श्रीतुलसी-अभिनन्दन)
१६. पं० ठाकुरदासजीका वियोग
१७. श्री छोटेलालजीका निधन

●

वैद्यजीका वियोग   : १ :

मुझे यह प्रकट करते हुए बडा ही दु ख होता है कि मेरे मित्र देहलीके सुप्रसिद्ध राजवैद्य रसायनशास्त्री प० शीतल-प्रसादजी ५ सितम्बर सन् १६३० को ६५ वर्षकी अवस्थामें स्वर्गवासी हो गये हैं। आपके वियोगसे, नि सन्देह, जैन-समाज को ही नही, किन्तु मानव-समाजको एक बहुत बडी हानि पहुँची है और देहलीने अपना एक कुशल चिकित्सक तथा सत्परामर्शक खो दिया है। आपका अनुभव वैद्यकमे ही नही, किन्तु यूनानी-हिक्मतमे भी बढा-चढा था, अग्रेजी चिकित्सा-प्रणालीसे भी आप अभिज्ञ थे, साथ ही, आपके हाथको यश था, और इसलिए दूरसे भी लोग आपके पास इलाजके लिये आते थे। कई केस आपके द्वारा ऐसे अच्छे किये गये, जिनमे डाक्टर लोग ऑप-रेशनके लिये प्रस्तुत हो गये थे। परन्तु आपने उन्हे बिना ऑपरेशनके ही अच्छा कर डाक्टरोको चकित कर दिया था। आतुरोके प्रति आपका व्यवहार बडा ही सदय था, प्रकृति उदार थी और आप सदा हँसमुख तथा प्रसन्नचित्त रहते थे। आपका स्वास्थ्य इस अवस्थामे भी ईर्षायोग्य जान पडता था।

आपकी वृत्ति परोपकारमय थी, धर्मार्थ औषधि वितरण करनेका भी आपके औपधालयमे एक विभाग था। आप धर्मके कामोमे बराबर भाग लेते थे और समय-समयपर धार्मिक सस्थाओ-को दान भी देते रहते थे। समन्तभद्राश्रमको भी आपने १०१) रु० की सहायता अपनी ओरसे और ५०) रु० अपनी पुत्रवधू-की ओरसे प्रदान की थी। आप आश्रमके आजीवन सदस्य थे, आश्रमकी स्थापनामे आपका हाथ था और इसलिये आपके इस वियोगसे आश्रमको भी भारी क्षति पहुँची है।

इसके सिवाय, आप विद्याव्यसनी तथा सुधार-प्रिय थे। कई भाषाएँ जानते थे, विद्वानोंसे मिलकर प्रसन्न होते थे, नाना प्रकारकी पुस्तकोंको पढने तथा सग्रह करनेका आपको शौक था, लेख भी आप कभी-कभी लिखा करते थे—जिसका कुछ रसास्वादन 'अनेकान्त'के पाठक भी कर चुके हैं—और कविता करनेमें भी आपकी रुचि थी। कुछ महीनोसे 'जीवन-सुधा' नाम का एक वैद्यक मासिक पत्र भी आपने अपने औषधालयसे निकालना प्रारंभ किया था, जो अभी चल रहा है। जैनशास्त्रोंका आपने बहुत-कुछ अध्ययन किया था और उनके आधारपर वर्षोंसे आप 'अर्हत्प्रवचनवस्तुकोश' नामका एक कोश तैयार कर रहे थे। वस्तुओंके सग्रहकी दृष्टिसे आप उसे पूरा कर चुके थे, परन्तु फिर आपका विचार हुआ कि प्रत्येक वस्तुका कुछ स्वरूप भी साथमे होवे तो यह कोश अधिक उपयोगी बन जावे। इससे आप पुन उसको व्याख्यासहित लिख रहे थे कि दुर्दैवसे आपकी बायीं हथेलीमें एक फोडा निकल आया, जिसने क्रमश भयकर रूप धारण किया, करीब साढे तीन महीने तक तरह-तरहके उपचार होते रहे, बडे-बडे डाक्टरो तथा सिविल सर्जनोंके हाथमे उनका केस रहा, परन्तु भावीके सामने किसीसे भी कुछ न हो सका। अन्तमे बेहोशीके ऑपरेशन-द्वारा हाथको काटनेकी नौबत आई और उसीमे एक सप्ताह बाद आपके प्राणपखेरू उड गये!!! इस दुख तथा शोकमे मैं आपके सुयोग्य पुत्र वैद्य प० महावीरप्रसादजी और दूसरे कुटुम्बी जनोंके प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति और समवेदना प्रकट करता हूँ और भावना करता हूँ कि वैद्यजीको परलोकमे सुखमे शान्तिकी प्राप्ति होवे।'

---

१ कार्तिक, आश्विन वीर नि० सं० २४५६ (नवम्बर १९३०) अनेकान्त, वर्ष १, किरण ११, १२।

ईसरीके सन्त

: २ :

श्रीमान् वर्णी गणेशप्रसादजी जैन-समाजके उन ख्याति-प्राप्त प्रौढ विद्वानोमेसे हैं जिन्होने आत्म-कल्याणके साथ-साथ विद्या-शिक्षाके प्रसारमे अपना सारा जीवन लगा दिया है। अबतकके कोई ६६ वर्षके जीवनमे आपने अनेक महान ग्रन्थोंके गहरे अध्ययन एव पठन-पाठनका कार्य किया है। बनारस तथा सागरके प्रसिद्ध महाविद्यालय आपकी खास कृतियां हैं। उनकी स्थापना और सचालनमें आपका ही प्रधान हाथ रहा है। और भी विभिन्न स्थानोपर आपने अनेक पाठशालाएँ स्थापित कराई हैं। विविध दर्शनोके अभ्यासके साथ-साथ आपने आध्यात्मिक रसका अधिक पान किया है और आप उसके खास रसिक वने हैं।

इसीसे सभी कुछ छोड-छाडकर आप आजकल ईसरीमें श्री पार्श्वचरणमे स्थित हुए आत्म-साधनाकर रहे हैं। आपके निवाससे इस समय ईसरी एक तीर्थ-स्थानके समान बना हुआ है। अनेक मुमुक्षुजन दूर देशोसे आपका प्रवचन सुनने और आपके सत्सगसे लाभ उठानेके लिये यहाँ पहुँचते रहते हैं। आपका आध्यात्मिक प्रवचन बडा ही मार्मिक तथा प्रभावक होता है जिसे सुनकर जनता आत्मविभोर हो जाती है—सुनते-सुनते उसकी तृप्ति ही नही होती। इसीसे कितने ही सज्जन घर पहुँचकर पत्रो द्वारा भी आपके प्रवचनका कुछ अश प्राप्त करना चाहते हैं। आप समय-समयपर मुमुक्षुजनोको पत्र लिखकर उनकी जिज्ञासाकी तृप्ति करते रहते हैं। इस तरह

लिखे गये आपके कितने ही पत्र आध्यात्मिक पत्रावलियोके रूपमे प्रगट हो रहे हैं और जगतके जीवोका अच्छा उपकार कर रहे हैं। आपमे कषायोकी मन्दता, हृदयकी उदारता, समता, भद्रता, निर्वेदता और दयालुता आदि गुण अच्छे विकासको प्राप्त हुए हैं। तत्व-ज्ञानके साथ-साथ आपका चारित्र्यबल खूब बढा-चढा है। बाह्यमे मुनि न होते हुए भी आप भावसे मुनि हैं अथवा चेलोपसृष्ट मुनिके समान हैं। आप मुनि-वेषको धारणकर सकते थे, परन्तु धारण करके उसे लजाना आपको इष्ट नही है। आप तभी उसे धारण करना अच्छा समझते हैं जबकि शरीर नग्न रूपसे जगलमे रहनेकी इजाजत दे। अनगारी बनकर मन्दिर-मकानोमे निवास करना आपको पसद नही है। आप उसे दिगम्बर मुनि-पदके विरुद्ध समझते हैं। हार्दिक भावना है कि आपको अपने ध्येयमे शीघ्र सफलताकी प्राप्ति होवे और आप अपनी आत्मसिद्धि करते हुए दूसरोकी आत्म-साधनामे सब प्रकारसे सहायक बनें।'[1]

---

१ अनेकान्त वर्ष ४, कि० ९, अक्टूबर १९४१।

शाहा जवाहरलाल और जैन ज्योतिष : ३ :

शाहा जवाहरलालजी प्रतापगढ (राजपूताना) के एक प्रसिद्ध जैन वैद्य एव सम्पन्न व्यक्ति हैं। बाल्यावस्थासे ही शास्त्रोके अभ्यासी एव प्रतिष्ठादि कर्मकाण्डोके ज्ञाता हुवड जातिके महाजन हैं। आपकी अवस्था ६६ वर्षकी हो गई है। धन-कुटुम्बादिसे समृद्ध होनेके साथ-साथ आपके पास निजका अच्छा शास्त्रभण्डार है, जिसकी एक सूची भी आपने मेरे पास भेजी है। यद्यपि मेरा अभी तक आपसे कोई साक्षात्कार नही हुआ, फिर भी पत्रो तथा कृतियोपरसे यह स्पष्ट जाना है कि आप बडे ही विनम्र स्वभाव एवं सरल प्रकृतिके सज्जन हैं—अभिमान तो शायद आपको छूकर नही गया। अपनी त्रुटियोको समझना, भूलको सहर्ष स्वीकार करना और भूल बतलाने वालेके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना जैसे आपमे उदार गुण हैं। इसके सिवाय, परोपकारकी आपके हृदयमे लगन है और आप अपने अन्तिम जीवनमे साहित्यसेवाका भी कुछ पुनीत कार्य कर जाना चाहते हैं। वैद्य होनेके साथ-साथ ज्योतिषके विषयमे आपकी बडी रुचि है और उस ओर प्रवृत्तिकी कुछ रोचक कथा भी है।

आप शुरू-शुरूमें सट्टेके व्यापारमे तेजी-मदी जाननेके अर्थ शकुनादिका परिचय प्राप्त करनेकी ओर बढे और बढते-बढते ज्योतिष-शास्त्रोके अभ्यासी हो गये। जैन ज्योतिषके कुछ ग्रन्थोको पाकर तो आपकी रुचि इस ओर और भी प्रदीप्त हो उठी और आपने उनमे दूसरे ग्रन्थोकी अपेक्षा कितनी ही विशेषताओको

नोट किया है और अनेक स्थानोपर जैनप्रक्रियाको विभिन्न पाया है। साथ ही, आपको यह देखकर कष्ट हुआ है कि जैन ज्योतिष के कुछ ग्रन्थोको अजैनोंने थोडासा परिवर्तन करके या नामादिक बदलकर अपना बना लिया है, जिसका कारण जैनियोका प्रमाद और उनमे ज्योतिष विद्याकी कमी तथा तद्विषयक ग्रथोके पठन-पाठनका अभाव ही कहा जा सकता है। इस विषयके आपने कुछ नमूने भी प्रमाण-सहित उपस्थित किये हैं, जिन्हे फिर किसी समय प्रकट किया जायगा।

कुछ अर्सेसे आपके हृदयमे यह ख्याल पैदा हुआ कि ज्योतिष विषयका जो विशेष अनुभव हमने प्राप्त किया है वह कही हमारे साथ ही अस्त न होजाय—उसका लाभ दूसरोको मिलना चाहिये। साथ ही, यह शुभ भावना भी जागृत हुई कि जैन-ज्योतिष-ग्रन्थोका हिन्दीमे अनुवाद करके उन्हे समाजमे प्रचारित किया जाय, जिससे जैनियोमे ज्योतिषविद्याकी जानकारी बढे और जनतापर उनके ग्रन्थरत्नोका अच्छा प्रभाव पड़े। फलत. देवेन्द्रसूरिके शिष्य हेमप्रभसूरि-विरचित 'त्रैलोक्य प्रकाश' नामका जो १२७० श्लोक-परिमाण है, जैन-ज्योतिष-ग्रंथ आपको सवत् १६५६ के श्रावण मासमे श्री शान्तिविजयजी महाराजके पाससे, मन्दसौरमे उनके चातुर्मासके अवसरपर, उपलब्ध हुआ था और जिसकी तीन दिनमे ही आपने स्वय अपने हाथसे प्रतिलिपि की थी तथा ३९ वर्ष तक जिसका अवलोकन एव मनन होता रहा था, उसकी आपने श्रावण संवत् १९९८ मे भाषावचनिका बनानी शुरू कर दी और माघ वदि ३ संवत् १९९८ सोमवारके दिन उसे पूरा कर दिया। साहित्यसेवाके क्षेत्रमे यही आपकी पहली कृति है, जिसके अन्तमे आप लिखते हैं—"आज ६५

वर्षकी आयुमे केवल यह एक ही त्रुटिपूर्ण कार्य करने पाया हूँ।"
आप स्वय अपनी वचनिकामे अभी २० प्रतिशत त्रुटियोका
अनुभव कर रहे हैं और उन्हे दूर करनेके प्रयत्नमे हैं, क्योकि
ग्रथकी जो प्रति आपको उपलब्ध हुई वह बहुत कुछ अशुद्ध
है। इसीसे ता० १८ जनवरी सन् १९४२ को जो पहला पत्र
आपने मुझे लिखा, उसमे अपनेको प्राप्त कुछ जैन ज्योतिष
ग्रन्थोका परिचय देते हुए तथा त्रैलोक्यप्रकाशकी टीका-समाप्ति-
की सूचना करते हुए, शुद्ध प्रतियोके प्राप्त कराने आदिकी
प्रेरणा की है जिससे जिन श्लोकोका अर्थ सदिग्ध है अथवा
छोडना पडा है उस सबकी पूर्ति हो जाय तथा जैन-ज्योतिषके
अन्य भी कुछ ग्रन्थ देखनेको मिलें। इस पत्रमे दूसरे दो ग्रन्थोकी
भी टीका किये जानेका उल्लेख करते हुए और जैनज्योतिष-
ग्रन्थोकी विलक्षण प्रक्रियाका कुछ नमूना दिखलाते हुए अन्तमे
लिखा है—"आयुका कुछ भरोसा नही, इस कारण आज यह
विचार हुआ कि (यह सब सूचना) बतौर रिकार्डके आपकी
सेवामे भेज दूँ।" इसके बाद आपने अपनी उक्त भाषावचनिका-
को मेरे पास देखनेके लिए भेजा है, भद्रबाहु-निमित्तशास्त्रके
कुछ अध्यायोका अनुवाद भी भेजा है और 'लोकविजययत्र' नाम-
के प्राकृत-गाथाबद्ध ग्रन्थकी टीका भी भेजी है। साथही जैन
ज्योतिष-विषयक एक लेख भी प्रेषित किया है जिसमे अन्य
बातोके अतिरिक्त जैनाचार्योंकी मान्यतानुसार चन्द्रमाको
मन्दगामी और शनिको शीघ्रगामी सिद्ध किया है, जबकि अन्य
ज्योतिर्विद् चन्द्रमाको शीघ्रगामी और शनिको मन्दगामी
(शनैश्चर) बतलाते हैं। त्रैलोक्यप्रकाश, भद्रबाहुनिमित्तशास्त्र और
और लोकविजययत्र इन तीनो मूलग्रथोकी आपने बडी प्रशसा

लिखो है—त्रैलोक्यप्रकाशको जैन-ज्योतिष-विषयका और तेजी-मंदो जाननेका अपूर्व ग्रन्थ बतलाया है, भद्रबाहुनिमित्तशास्त्रके जोडकी एक भी दूसरी कृति कही देखनेमे नही आती, ऐसा प्रतिपादन किया है और लोकविजययन्त्रके विषयमे यह सूचित किया है कि वह सरलतासे घर बैठे देश-विदेशमे होने वाले सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, युद्ध, शान्ति, रोग, वर्षा, महँगाई और महामारी आदि-को प्रतिवर्ष पहलेसे ही जान लेनेका एक निराला ही ग्रन्थ है। इसके साथमे एक बहुत बडा यन्त्र है जिसमे दिशा-विदिशाओमे स्थित देश-नगरादिके नाम हैं और उनमे होनेवाले शुभ अशुभको ध्रुवाङ्कोकी सहायतासे जाना जाता है। शाहाजीकी इच्छा है कि इस ग्रथकी टीकाको एक साथ और निमित्तशास्त्रके अनुवाद-को क्रमश अनेकान्तमे प्रकाशित किया जाय अथवा वीरसेवा-मन्दिरसे इनका स्वतंत्ररूपमे प्रकाशन किया जाय। मैं आपको इस सब शुभ भावना एव सदिच्छाका अभिनन्दन करता हूँ।[1]

---

१. अनेकान्त वर्ष ५, कि० १२, जनवरी १९४३

हेमचन्द्र स्मरण

: ४ :

चि० हेमचन्द्रकी याद आते ही एक सौम्य आकृति मेरे सामने घूम जाती है—गोरा रग, लम्बा कद, दुबला-पतला वदन। इस आकृतिके मेरे सामने दो चित्र आते हैं—एक बाल्य-काल : कोई ८-९ वर्षकी अवस्थाका, और दूसरा यौवनकाल : विवाहसे पूर्व कोई २० वर्षकी अवस्थाका। सन् १९१७ और १९२८ मे दो बार मुझे कुछ-कुछ महीनोके लिये बम्बई ठहरनेका अवसर मिला है और यह ठहरना हेमके पिता सुहृद्वर प० नाथूरामजी प्रेमीके पास ही हुआ है, उन्हीके खास अनुरोधपर मैं बम्बई गया हूँ। इन्ही दोनो अवसरोपर हेम मेरे विशेष परिचयमे आया है। बाल्यावस्थासे ही वह मुझे सुशील तथा होनहार जान पडा, उसमे विनय गुण था, सुनने-सीखनेकी रुचि थी, ग्रहण-धारणकी शक्ति अच्छी विकासोन्मुखी थी और सबका प्यारा था। उसके बाल्यकाल (सन् १९१७) की एक घटनाका मुझे आज भी स्मरण है। एक दिन सध्याके समय हेमके काका (चाचा) लालटेनकी कोई चिमनी साफ कर रहे थे, चिमनी टूटी हुई थी। वह उनके हाथमे चुभ गई, उसके आघातसे वे कुछ सिसकने लगे, उन्होने हतोत्साह होकर चिमनीको रख दिया और कहाकि अब इसे हाथ नही लगायेंगे। हेम उनके पास था, वह यह सब देखकर कुछ भौचकसा रह गया। उसने तुरन्त ही मेरे पास आकर इस घटनाकी जिन शब्दोमे रिपोर्ट दी उनसे यह मालूम होता था कि वह अपने काकाकी उस प्रवृत्तिको अच्छा नही समझ रहा है। मैंने उसी समय हेमके विनोदार्थ

उक्त घटनाकी तुकबन्दी बना दी और कहा कि इसे अपनी काकी (चाची) को जाकर सुनाना—

'काका' तो चिमनीसे डरत फिरत हैं,
काट लिया चिमनीने 'सी-सी' करत हैं !
'अब नहिं छूएँगे' ऐसो कहत हैं,
देखो जी काकी, यह वीर वनत हैं !!

इस तुकबन्दीको सुनकर हेम बडा प्रसन्न हुआ—आनन्द-विभोर होकर नाचने लगा—मानो उसके भावका मैंने इसमे पूरा चित्रण कर दिया हो। उसी क्षण उसने इसे याद कर लिया और वह काकीको ही नही, किन्तु अम्मा और दद्दाको भी सुनाता और गाता फिरा। इस समय वह मुझसे और भी अधिक हिलमिल गया। मैं उसके मनोनुरूप अनेक प्रकारकी तुकवन्दिया बनाकर दे दिया करता, जिन्हे वह पसन्द करता था। एक दिन प्रेमीजी कहने लगे—हेम तुम्हारी कविताओको खूब पसद करता है। कहता है—बाबूजी बडी अच्छी कविता बनाना जानते हैं। बचपनमे कहानी सुननेका उसे बडा शौक था और वह मुझसे भी अनुरोध करके कहानी सुना करता था। बम्बईसे मेरा चला आना उसे बहुत अखरा। प्रेमीजी लिखते रहे—हेम आपको याद करता रहता है। मैं भी प्रेमीजीको लिखे गये पत्रोमे उसे बराबर प्यार तथा आशीर्वाद भेजता रहा।

कुछ अर्सेके बाद जब प्रेमीजी सख्त बीमार पडे, जीवनकी बहुत ही कम आशा रह गई, तव उन्होने वसीयतनामेमे हेमकी शिक्षाका भार मेरे ही सुपुर्द किया था। परन्तु सौभाग्यसे प्रेमीजीका वह अरिष्ट टल गया और वे स्वय ही हेमकी शिक्षा-दीक्षा करनेमे समर्थ हो सके। समय-समय पर हेमकी शिक्षा-

दीक्षाके विषयमें जो परामर्श प्रेमीजी मुझसे मागते रहे हैं वह मैं उन्हे खुशीसे देता रहा।

दूसरी बार सन् १६२८ में जब मैं बम्बई गया और ६ जुलाई से ६ सितम्बर तक प्रेमीजीके पास ठहरा तब हेम बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त कर चुका था। कई भाषाएँ सीख चुका था, उसकी समझ अच्छी विकसित हो रही थी और साथही उसमे ज्ञान-पिपासा जाग रही थी। प्रेमीजी अपनी अस्वस्थतादिके कारण चाहते थे कि हेम अब दुकानके कामको सँभाले और उसमे अधिकसे अधिक योग देवे, परन्तु हेमको वह रुचता नही था, वह अपनी ही कुछ धुनमें था और इसलिये दुकानके काममें बहुत कम योग देता था। प्रेमीजीको यह सब असह्य होता जाता था, वे हेमको एक सनकी तथा उद्दण्ड बालक तक समझने लगे थे और कभी-कभी उसे अच्छी खासी डाट-डपट भी बतला दिया करते थे, जिसका परिणाम उलटा होता था। हेम माँके पास जाकर रोता था, अपना दु ख व्यक्त करता था और कभी-कभी घरसे निकल जाने अथवा अपना कुछ अनिष्ट कर डालनेकी धमकी तक भी दे देता था। इससे माता-पिता दोनोकी ही चिन्ता बढ जाती थी, क्योकि एकलौता पुत्र था। मेरे पहुँचनेपर प्रेमीजीने मुझे इस सारी स्थितिसे अवगत किया और मेरे ऊपर हेमको समझानेका भार रक्खा।

मैंने अनेक प्रकारसे हेमको समझाया और उसके मनोभावोको जाननेकी चेष्टा की। हेम खुल गया और उसने मेरे सामने अपनी सारी अभिलाषा तथा दुख-दर्दको रख दिया। उसकी यह आम शिकायत थी कि प्रेमीजीसे उसे सदा झिडकियाँ ही प्राप्त होती रहती हैं—आत्मसम्मान नहीं मिलता। मैंने देखा

हेममे स्वाभिमानकी मात्रा काफी थी, व्यर्थकी झिडकियाँ, डाट-डपट एवं फटकारसे उसका चित्त व्यथित होता था, उसे भारी कष्ट पहुँचता था, और इसलिये इस प्रकारके व्यवहारसे उसे बडी चिढ थी। इसीसे ऐसे व्यवहारके मुकाबलेमे वह अनुकूलता वर्तनेके बजाय प्राय उल्टा आचरण करता था। अत मैंने प्रेमीजीको भी समझाया और उन्हे अपने व्यवहारको कुछ बदलकर "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्" की नीतिपर अमल करनेके लिये कहा। और साथही यह भी बतला दिया कि ऐसा होनेपर तथा हेमकी ज्ञानार्जनादि विषयक इच्छाओपर व्यर्थका अकुश न रखनेपर वह दुकानका अधिक काम करेगा। चुनांचे ऐसा ही हुआ—मैं जितने दिन बम्बई रहा, पिता-पुत्रमे किसी प्रकारके विसंवादकी नौबत नही आई, एकको दूसरेकी शिकायतका अवसर नही मिला और यह देखा गया कि हेम दुकानका काम पहलेसे कुछ अधिक कर रहा है।

बम्बईमे हेम मेरे साथ योगासन किया करता था। योगासनोका अभ्यास उसने भी कुछ पहलेसे कर लिया था और उसकी उस तरफ रुचि बढ रही थी। वह जब भावावेशमे गर्दन हिलाकर "कौपीनवन्त' खलु भाग्यवन्त" कहा करता था तब बडा ही सुन्दर जान पडता था। मेरे बम्बईसे चले आनेके कुछ समय बाद हेमको किसी योगीका अच्छा निमित्त मिल गया और उसने कितनी ही योग-विद्याको सीख लिया, योग-विषयक बीसियो शास्त्र पढ डाले तथा बहुत-सा ज्ञान-प्राप्त कर लिया। उन दिनो मेरी भी रुचि योगकी ओर बढी हुई थी और मैं योग-विषयके बहुत ग्रन्थोका अवलोकन कर गया था—अभ्यासमे ५१ वर्षकी अवस्था होते हुए भी खुशीसे पौन-पौन घटे तक

शीर्षासन कर लेता था, परन्तु मुझे किसी गुरुका साक्षात् सम्पर्क प्राप्त नही हुआ था—सब कुछ अपने अध्ययनके बलपर ही चलता था, प्राणायामके विपयमे कुछ सन्देह होनेपर मैंने हेमचन्द्र से एक प्रश्न पूछा था, जिसका उत्तर उसने ३० दिसम्बर सन् १९२९ के पत्रमे दिया था। इस उत्तरपरसे यह सहज ही मे जाना जा सकता है कि उस समय तक हेमचन्द्रने योग-विपयका कितना अनुभव तथा अभ्यास प्राप्त कर लिया था। उत्तरपत्रमें योग-विपयक कुछ लेखोके लिखनेकी इच्छा भी व्यक्त की गई थी, जिसे लेकर मैंने अनेकान्तके लिये कोई अच्छा लेख भेजनेकी उसे प्रेरणा की थी। उत्तरमे लेखकी स्वीकृति देते हुए हेमचन्द्रने १३ फरवरी सन् १९३० को जो पत्र दूसरा लिखा है उससे मालूम होता है कि उस समय उसकी ज्ञान-पिपासा बहुत बढी हुई थी, वह किसीको पत्रका उत्तर तक नही देता था, अध्ययन-मननमे और पठितका सार खीचनेमे ही अपना सारा समय व्यतीत करता था, फिर भी उसे तृप्ति नही होती थी। लेख लिखनेमें अपनी कठिनाइयोका भी उसने पत्रमें सरल भावसे उल्लेख किया है। इसी समय उसके विवाहकी चर्चा चल रही थी और वह एक प्रकारसे पक्की हो गई थी। योग-विद्यामे जो रस तथा आनन्द आ रहा था उसके मुकाबलेमें उसे इस विवाहकी कोई खुशी नही थी, वह इसे एक प्रकारका सकट समझता था और उस सकटको सरलतापूर्वक पार करने अथवा गृहस्थाश्रम की परीक्षामे समुत्तीर्ण होकर सुखसे जीवन-यापन करनेके प्लैन (Plans) सोचा करता था। उसकी इच्छा थी कि मैं स्वय निर्विकार रहते हुए अपनी सहधर्मिणीको भी निर्विकार बनाकर योगमार्गमें दीक्षित कर दूँ। इसी आदर्शको लेकर उसने विवाह

करना स्थिर किया था, जबकि पहलेसे उसकी इच्छा आजन्म अविवाहित रहनेकी थी। ये सब बातें भी उक्त पत्र (अने० कि० २) से जानी जाती हैं।

२४ फरवरी सन् १६३० के पत्र (नं० ३) मे हेमचन्द्रने लेख भेजनेकी सूचना देते हुए यह भी सूचित किया था कि उसने वह लेख पिताजी (प्रेमीजी) और पं० दरबारीलालजी (वर्तमान सत्यभक्त) को भी दिखलाया है, प० दरबारी-लालजी ने 'ठीक है' ऐसा रिमार्क दिया है और पिताजीने उसे 'निकम्मा' ठहराया है। पिताजीके उत्साह न दिखानेके कारण उत्साहके ठडा होनेसे पहले ही उसने उसको मेरे पास भेज देना उचित समझा। इस पत्रसे यह भी मालूम होता है कि उन दिनो हेमपर फिर कुछ झिडकियाँ पडी हैं, जिनसे उसका स्वाभिमानी आत्मा तिलमिला उठा है और उसने अपनी तत्का-लीन मनोदशाका उल्लेख करते हुए यह उत्कट इच्छा व्यक्त की है कि मैं उसे अपने पास देहली (समन्तभद्राश्रममे) बुला लूँ। इस विषयमे उसके निम्न शब्द खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैः—

"मुझमें जाननेकी इच्छा दिनपर दिन बहुत ही प्रबल होती जाती है और यहाँ कामके मारे मैं पिसा जाता हूँ। मुझे अपनी पिपासा शात करनेका बिल्कुल मौका नही मिलता। पिताजीकी झिडकियाँ खा-खाकर मेरी आत्मा बहुत तडपती रहती है और दिनपर दिन बिगडता जाता हूँ। यदि आप मुझे वहाँ अपने पास बुला लें तो मुझे इससे बढ़कर खुशी और किसी बातमे न होगी। यदि मेरे लिये जिन्दगी भरके लिये खाने-पीने और Dilut रहनेका इन्तजाम हो जाय तो मैं दुकान भी छोड़ दूँगा। मैं एक

पुस्तक लिख रहा हूँ जो छपने पर खूब बिकेगी। उसी प्रकारकी कुछ अन्य पुस्तकें छपाऊँगा। कुछ बिक्रीपर पैसे जहाँके तहाँ अदाकर दूँगा और आगेकी आमदनीपर गुजारा कर लूँगा।"

हेमके इस पत्रको प्रेमीजीने कही उसकी इच्छाके बिना पढ लिया था, अत· पत्रके अन्तमें इसका नोट देते हुए, हेमने अपने पिताकी सभ्यतापर खुला आक्रमण किया है।

हेमके लेख-सम्बन्धमे प्रेमीजीने मुझे अपने २४ फरवरीके ही पत्रमे लिखा था—"हेमके लेखमे आपको परिश्रम काफी करना होगा। मैं तो उसे पूरा पढ भी नही सका हूँ, मेरा सशोधन उसे पसन्द भी नही है।"

मार्च सन् १६३० में हेमका विवाह हो गया। इस विवाहके अवसरपर प्रेमीजी सख्त वीमार थे, उनके ऊपर साढेचार वर्षके बाद १ मार्चसे खास रोगका फिरसे आक्रमण हो गया था, जो उत्तरोत्तर बढता ही गया। चुनाचे प्रेमीजी अपने ६ अप्रैलके पत्रमे लिखते हैं—"विवाहके समयमे तो मेरी बहुत बुरी हालत हो गई थी। मुझे नही मालूम कब कौन-सा दस्तूर हुआ। इसी विपत्तिके कारण मैं आपको कोई पत्र न लिख सका और न आपको आग्रहपूर्वक बुला ही सका। विवाह तो हो गया, परतु दुर्भाग्यसे न मैं और न हेमकी माता ही उसके सुखका कोई अनुभव कर सके।" प्रेमीजीके इन शब्दोमे कितनी वेदना भरी हुई है, इसे पाठक स्वय समझ सकते हैं। अस्तु,

हेमके पत्रद्वारा विवाह सम्पन्नताका समाचार पाकर मैंने अपने ५ अप्रैलके पत्रमे उसे आशीर्वाद देते हुए कही ऐसा लिख दिया था कि, अब तुम खूँटेसे बँध गये हो, यह देखकर प्रसन्नता होती है। इसपर उसके स्वाभिमानको ठेस लगी और

इसलिये उसने खूँटा तथा उससे वँधनेवाले पशु आदिकी कल्पना करके मुझे १० अप्रैल सन् १९३० को एक लम्वा पत्र (न० ४) लिखा जो पढनेसे ही सम्वन्ध रखता है और जिससे मेरे शब्दोपर उसका क्षोभ स्पष्ट जाना जाता है। पत्रमे अपनी स्थितिको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की गई है और साथही सुधारने के लिये अपना वह लेख सूचनाओके साथ वापिस माँगा गया है जो अनेकातमे छपनेके लिये भेजा गया था।

इसके वाद २६ अप्रैलके कार्डमे लेखको पुन: वापिस भेजने की प्रेरणा करते हुए हेमचन्द्रने लिखा था "अव यदि आप उसे भेज दें तो पहलेसे १० गुना अच्छा लिखा जा सकता हैं। उक्त विषयकी वहुत-सी नई वातें मालूम हुई हैं।" साथ ही अपनी पिछले पत्रपर मेरी नाराजगीकी कुछ कल्पना करके लिखा था—"आशा है कि आप नाराज न हुए होगे। वालक हूँ, क्षमादृष्टि वनाये रहना।"

इन पक्तियोपरसे हेमका पिछले पत्रके सम्वन्धमें कुछ अनुताप और साथ ही नम्रताका भाव टपकता था, इसलिये ३० अप्रैलको पत्रका उत्तर देते और लेखको वापिस भेजते हुए मैंने जो पत्र लिखा था उसमे उक्त पंक्तियोसे फलित होनेवाले अनुताप और नम्रताके भावका भी कुछ जिक्र कर दिया था। इतनेपर भी हेमके स्वाभिमानको फिरसे ठेस लग गई और उसने ५मई सन् १९३० को जो उत्तर पत्र (न० ६) लिखा उसमे यहाँ तक लिख डाला—"जो भी कुछ मैंने लिखा था उसके लिये रचमात्र भी अनुताप नही है। उन पक्तियोको आप व्यर्थ ही अनुताप और नम्रता व्यंजक वतलाकर उनके पीछे अपनी रक्षा करना चाहते हैं।"

हेमके पत्रके साथ ४ मईका लिखा हुआ प्रेमीजीका पत्र भी था, जिसमे उन्होने मुझे यह प्रेरणा की थी कि—"अंग्रेजीका कोई अनुवाद हो तो, आप उससे (हेमसे) अवश्य कराइये। आपके लिखनेसे वह अवश्य कर देगा।" हेमने यह पत्र पढ लिया और उसे प्रेमीजीका उक्त लिखना खटका। अतः अपने पत्रके अन्तमे पहलेसे ही बन्द लगाते हुए मुझे लिखा :—

"कृपया आप मुझसे अनुवाद करनेका आग्रह न कीजियेगा, अनुवाद करनेसे मुझे बहुत घृणा है। यदि कोई मेरा अनुवादित लेख छपता है तो मुझे अपनी असमर्थतापर (स्वतन्त्र लेख लिखनेकी) बहुत शर्म आती है। 'विशाल भारत' वाला लेख[1] मैंने एक साल पहले पिताजीके घोर आग्रहसे अग्रेजीपरसे किया था, अनुवाद करनेसे मेरे मनपर चोट पहुँचती है।"

इन पंक्तियोपरसे हेमकी उस समयकी स्वभिमानी प्रकृतिका और भी कितना ही पता चल जाता है। परन्तु अनुवादसे घृणा, शर्म और चित्तपर चोट पहुँचनेकी बात बादको कुछ स्थिर रही मालूम नही होती, क्योकि मुझे भी फिर दो अग्रेजी लेखोका अनुवाद भेजा गया है और अनुवाद भी करके प्रकाशित किये गये हैं।

हेमके लेखपर जो रिमार्क प्रेमीजीने मुझे भेजा था वह ऊपर दिया जा चुका है। जिस समय हेम अपने लेखको सशोधनादिके लिये वापिस माँग रहा था उस समय ६ अप्रैलके पत्रमे प्रेमीजीने लिखा था—"हेमके लेखको संशोधन-परिवर्तनके साथ छाप दीजिएगा। उसकी ऊँटपटाग बातोपर ध्यान मत दीजिए।" और

१. इस लेख (मगलमय महावीर) को अनेकान्तमें छापनेकी प्रेरणा प्रेमीजीने अपने ९ अप्रैलके पत्रमें की थी।

जब लेख वापिस चला गया तब प्रेमीजीने अपने ४ मईके पत्रमे लिखा—"हेम लेखके लिखनेमे तैयारी तो बहुत कर रहा है। पर क्या लिखेगा, सो वह जाने। मेरी राय तो यह थी कि इस लेखको आप ही संशोधित परिवर्तित करके छाप देते, परन्तु वह नही माना और वापस बुला लिया।" इधर हेमने अपने उक्त ५ मई वाले पत्रके अन्तमे लिखा था—"आपने लेखपर अपनी सम्मति नही लिखी। मुझे डर लगता है कि कामताप्रसाद सरीखी मेरी भी दुर्दशा आप नोटो द्वारा न कर दें।" इन सब बातोको ध्यानमे रखते हुए जब लेख वापिस आया तब उसे अच्छा बनानेके लिये सशोधन, परिवर्तन और परिवर्धनादिके द्वारा काफी परिश्रम किया गया[१] और उसका प्रारंभिक अश 'योगमार्ग" नामसे प्रथम वर्षके अनेकान्तकी संयुक्त किरण न० ८, ९, १० मे प्रकाशित किया गया[२]। और इस मुद्रित लेखको पढ़कर हेमचन्द्रको प्रसन्नता हुई और उसमें उसने आमूल-चूल-जैसे परिवर्तनका अनुभव किया और मुझे ऐसा लिखा कि मैं इतने ऊँचे लेखका अधिकारी नही था, आपने पुत्रवात्सल्यको लेकर उसे इतना अच्छा बना दिया है। परन्तु मैंने लेखके शुरु-मे लेखकका परिचय देते हुए जो यह लिख दिया था कि 'लेखक-समाजके सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमीके सुपुत्र हैं वह हेमको असह्य जान पडा। उसे ऐसा लगा कि इससे पाठक प्रेमीजी जैसे विद्वानका पुत्र होनेके नाते उसके लेख-

---

१. इस तैयारीका कुछ पता हेमके ५ मार्चके पत्र (न० ५) से भी लगता है।

२. लेखका दूसरा अश 'सरल योगाभ्यास' नामसे तृतीय वर्षके अनेकान्तकी ५ वीं किरणमें प्रकाशित हुआ है।

को महत्व देंगे—स्वतत्र रूपसे लेखके महत्वको नही आँक सकेंगे, और इसलिये मेरे इस लिखनेपर आपत्ति करते हुए उसने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की। यह भी हेमकी स्वाभिमानी प्रकृतिकी एक लहर थी।

विवाहके कुछ अर्से बाद हेमकी प्रकृति और प्रवृत्तिमें भारी परिवर्तन हुआ जान पडता है, इसीसे प्रेमीजी द्वारा उसकी कोई खास शिकायत सुननेमें नही आई और न हेमने ही प्रेमीजी-की कोई खास शिकायत लिखी है। हेम अब दुकानके काममें पूरा योग देता था, गृहस्थाश्रमकी जिम्मेदारीको समझ गया था, उसका जोवन सादा, सयत तथा कितने ही ऊँचे ध्येयोको लिये हुए था, और इससे सुहृद्वर प्रेमीजीका पिछला जीवन बहुत-कुछ निराकुल तथा सुखमय हो चला था। परन्तु दुर्दैवसे वह देखा नही गया और उसने उनके इस अधखिले पुष्पसम इकलौते पुत्रको अकालमें ही उठा लिया और उनकी सारी आशाओपर पानी फेर दिया? यह देखकर किसे दु.ख नही होगा? सद्गत हेमचन्द्रके लिये यह हार्दिक भावना करता हूँ कि उसे परलोक मे सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे और उसकी सहधर्मिणी तथा बच्चोका भविष्य उज्ज्वल बने।[1]

---

१. स्व० हेमचन्द्र, ११ मार्च १९४४।

कर्मठ विद्वान् (ब्र० शीतलप्रसादजी) : ५ :

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी जैन-समाजके एक बडे ही कर्मठ विद्वान् थे। जैन धर्म और जैन समाजके प्रति उन्हे गाढ प्रेम था, लगन थी और साथ ही उसके उत्थानकी चिन्ता थी, धुन थी। इसी धुनमे वे दिन-रात काम किया करते थे—लिखते थे, वार्तालाप करते थे, लम्बे-लम्बे सफर करते थे, उपदेश तथा व्याख्यान देते थे और अनेक प्रकारकी योजनाएँ बनाते थे। उन्हे जरा भी चैन नही था और न वे अपना थोड़ा-सा भी समय व्यर्थ ही जाने देते थे। जहाँ जाते वहाँ शास्त्र बाँचते, अपने पब्लिक व्याख्यानकी योजना कराते, अग्रेजी पढे-लिखोमें धर्मकी भावना फूँकते, उन्हे धर्मके मार्गपर लगाते, सभा-पाठशालादिकी स्थापना कराते और कोई स्थानीय सस्था होती तो उसकी जाँच-पड़ताल करते थे। साथ ही परस्परके वैमनस्यको मिटाने और जनतामे फैली हुई कुरीतियोको दूर करानेका भरसक प्रयत्न भी किया करते थे। प्रत्येक चौमासेमे अनुवादादि रूपसे कोई ग्रन्थ तैयार करके छपानेके लिये प्रस्तुत कर देना और उसके छपकर प्रचारमे आनेकी समुचित योजना कर देना तो उनके जीवनका एक साधारण-सा काम हो गया था। भले ही विद्वज्जन-हृद्य कलापूर्ण गभीर साहित्यके निर्माणमे उनका हाथ कम रहा हो, परन्तु साधारण जनताके लिये उपयोगी साहित्यके निर्माणका उनको अच्छा अभ्यास था।

उनमे एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे सहनशील थे—विरोधो, कटु-आलोचनाओ, वाक्प्रहारो और उपसर्गो तकको

खुशीसे सह लिया करते थे और उनकी वजहसे अपने कार्योंमें बाधा अथवा विरक्तिका भाव नही आने देते थे। इसी गुण और धुनके कारण, जिसका एक समाज-सेवीमे होना आवश्यक हैं, वे मरते दमतक समाजकी सेवा करनेमे समर्थ हो सके हैं। अन्यथा, उन्हे भी दूसरे कितने हो समाज-सेवियोकी तरह विरक्त होकर बैठ जाना पडता। नि.सन्देह वे अपनी धुनके पक्के थे और उन्होने अपनी सेवाओ द्वारा जैन-समाजके ब्रह्मचारियो एव त्यागीवर्गके लिये कर्मठताका एक आदर्श उपस्थित किया है। जैन-समाजके अधिकाश त्यागीजन अकर्मण्यताका पाठ पढते हुए समाजसे अपनी सेवा-पूजादिके रूपमे लेते तो अधिक हैं परन्तु अपनी सेवाओके रूपमे उसे देते कम हैं, यह बात ब्र० शीतलप्रसादजीमे नही थी। आप समाजसे लेते कम थे और उसे देते अधिक थे।

ब्रह्मचारी-जीवनसे पहले जब आप बाबू शीतलप्रसादजीके नामसे प्रसिद्ध थे, बम्बईमें दानवीर सेठ माणिकचन्द हीराचन्दजी जे० पी० के रत्नाकर पैलेसमे निवास करते हुए सेठजीके साथ कुटुम्ब-जैसा जीवन व्यतीत करते थे, उनके धार्मिक और समाज-सेवाके कार्योंमे बडी तत्परताके साथ हाथ बटाते थे, और एक प्रकारसे सेठजीके प्राइवेट सेक्रेटरी, दाहिना हाथ अथवा नाकका बाल बने हुए थे, तब कुछ लोगोको आपकी यह स्थिति बहुत अखरी और वे आपकी इस प्रतिष्ठा-प्राप्ति अथवा सेठजीके हृदयमे इस तरहसे घर करनेको सहन नही कर-सके। चुनाचे जैन हितैषी पत्रमे उसके तत्कालीन सम्पादक प० पन्नालालजी बाकलीबालने आपपर कुछ कीचड उछालना शुरू किया था। उस समय मैं साप्ताहिक जैनगजटका सम्पादक था, मुझे

सहयोगी जैन हितैषीकी यह कार्रवाई वहुत अनुचित तथा असभ्यता-मूलक जँची और इसलिये मैंने जैनगजटके जनवरी-फरवरी १६०८ के अंकोमे जैनहितैषीकी कडी आलोचनाएँ[1] प्रकाशित की थी जिनके फलस्वरूप उसका वह कीचड उछालना और भण्डप्रलाप वन्द हुआ था ।

यद्यपि व्रह्मचारीजीके साथ मेरा अनेक वातोमे मतभेद तथा विचारभेद चलता था और उसे लेकर मैंने अनेक प्रकारसे उनकी आलोचना की है—उनके लेखोपर टीका-टिप्पणी लिखी है और 'व्रह्मचारीजीकी विचित्र स्थिति और अजीव निर्णय' जैसे विरोधी लेख भी लिखे हैं; परन्तु इन सवके कारण परस्परमे मनोमालिन्य तथा व्यक्ति-गत द्वेपको कभी स्थान नही मिला। व्रह्मचारीजी जव कभी मुझसे मिलते थे वडे आदर तथा प्रेमके साथ मिलते थे, पत्र भी आदर-प्रेमके साथ लिखते थे और अनेक अवसरोपर कुछ ग्रन्थियोको सुलझाने तथा अनुसधान-विशेपके लिये प्रेरणा भी किया करते थे। देहलीमें मेरे द्वारा 'समन्तभद्राश्रम' के खोले जाने और उससे 'अनेकान्त' पत्रकी प्रथम किरणके प्रकाशित हो जानेपर आप मेरे पास आश्रममे आये थे और आपने आश्रमका निरीक्षण करके अपना पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए जो रिपोर्ट १६ दिसम्वर १६२६ के जैनमित्र वर्ष ३१, अंक ६ मे प्रकाशित की थी उसमें उन लोगोको, जो जैन-धर्मकी सेवा द्वारा अपना जीवन सफल करना चाहते हैं, यह खास प्रेरणा की थी कि उन्हे अवश्य इस आश्रममे रहकर कर्मयोगी

१. देखो, जैनगजट वर्ष १३, अक २, ३, ७ में प्रकाशित 'जैनमित्र वम्वईकी समालोचना', 'जैनहितैपी और जैनमित्र', 'जैनहितैपीका मुँह छिपाना, शीर्षक लेख ।

सेवक बनना चाहिये'' और साथ ही यह भी बतलाया था कि 'जो भाई जैन-जातिके कर्मयोगी त्यागी होना चाहते हैं उनके लिये यह आश्रम शरणभूत है।' इसके सिवाय वे मेरे 'अनेकान्त' पत्रकी बराबर प्रशंसा करते रहे हैं और उसकी किरणोका परिचय भी ''जैनमित्र'' में निकालते रहे हैं। इधर जब मैंने वीर सेवामन्दिरकी स्थापना की और उसके उद्घाटनमुहूर्तके उत्सवपर ब्रह्मचारीजी सरसावा पधारे तब मैंने अवसर देखकर उन्हीके हाथसे उद्घाटनकी रस्म अदा करायी थी। इससे ब्रह्मचारीजी बहुत प्रभावित हुए और उन्हे भी यह मालूम हो गया कि मेरा विरोध विचारो तक ही सीमित रहता है, कभी व्यक्तिगत विरोधका रूप धारण नही करता। और इसलिये अपने भाषणमे उन्होने मेरे व्यक्तित्वादिके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्तिके खुले उद्गार व्यक्त किये थे तथा रोकनेपर भी जोशमें आकर वीर सेवामन्दिरके लिये अपील की थी।

अपने पिछले जीवनमे ब्रह्मचारीजीकी इच्छा भ्रमणको छोडकर एक ही स्थानपर अधिक रहनेकी हुई थी और उसके लिये उन्होने वीर सेवामन्दिरको भी चुना था और मुझे उसके सम्बन्धमें पूछा था। मैंने इसपर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए उनके लिये सब कुछ सुविधाएँ कर देनेका आश्वासन दिया था। परन्तु फिर वे किसी कारणवश आए नही, उनका विचार कार्यमें परिणत नही हो सका। बादको वे बीमार पड गये तथा बीमारी उत्तरोत्तर बढती ही गई, जिसने अन्तको उनका प्राण ही लेकर छोडा !!!

असाता वेदनीय कर्मके तीव्र उदयवश ब्रह्मचारीजीका अन्तिम जीवन कुछ कष्टमय जरूर व्यतीत हुआ है; परन्तु फिर-

भी उनसे जितना बन सका है वे ऐसी अवस्थामे भी समाजकी सेवा करते रहे हैं, कम्पवातके कारण स्वयं अपने हाथसे नही लिख सके तो बोलकर लिखाते रहे हैं। यह उनकी भावनाका ज्वलन्त उदाहरण था। उनके स्थानकी शीघ्रपूर्ति होना बडा कठिन जान पडता है। ऐसे परोपकारी समाजसेवीका समाज जितना गुणगान करे और आभार प्रकट करे वह सब थोडा है। उनकी यादमे तो कोई अच्छा स्मारक बनाना चाहिये था। मालूम नही, दि० जैन परिषद्ने उनका स्मारक बनानेकी जो बात उठाई थी वह फिर खटाईमें क्यो पड गई। दो वर्ष होगये'॥

---

१. २४-३-१९४४।

राजगृहमें वीरशासन महोत्सव : ६ :

जबसे वीरसेवामन्दिरने यह प्रस्ताव पास किया था कि वीरशासन-जयन्तीका आगामी उत्सव राजगृहमें उस स्थानपर ही मनाया जावे, जहाँ वीरशासनकी 'सर्वोदय-तीर्थधारा' प्रवाहित हुई थी, तबसे लोकहृदय उस पुनीत उत्सवको देखनेके लिये लालायित हो रहा था और ज्यो-ज्यो उत्सवकी महानताका विचारकर लोगोकी उत्कण्ठा उसके प्रति बढती जाती थी, और वे बार-बार पूछते थे कि उत्सवकी क्या कुछ योजनाएँ तथा तैय्यारियाँ हो रही हैं।

इधर बिहार और बंगालके कुछ नेताओने, जिन्हे उत्सव के स्वागतादि-विषयक भारको उठाना था, राजगृहकी वर्षा-कालीन स्थिति आदिके कारण जनताके कष्टोका कुछ विचारकर और अपनेको ऐसे समयमे उन कष्टोंके समक्ष बडे उत्सवका प्रबन्ध करनेके लिये असमर्थ पाकर कलकत्तामें एक मोटिंग की और उसके द्वारा यह निर्णय किया कि उत्सवको दो भागोमे बाँटा जाय—एक वीरशासन-जयन्तीका साधारण वार्षिकोत्सव और दूसरा सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव। पहला नियत तिथि श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाको और दूसरा कार्तिकमें दीपावलिके करीब रहे और दोनो राजगृहमे ही मनाये जावें। उत्सवके करीब दिनोमें इस समाचारको पाकर उत्सुक जनताके हृदयपर पानी पड गया—उसका उत्साह ठडा हो गया—और अधिकाशको अपना बँधा-बंधाया बिस्तरा खोलकर यही निर्णय करना पडा कि वडे उत्सवके समय जाडोमे ही राजगृह चलेंगे। परन्तु जिनके

हृदयोमे वीरशासनके अवतारकी पुण्यवेलाका महत्व घर किये हुए था, जो उसी समय विपुलाचलपर पहुँचकर वीरशासनके अवतार समयकी कुछ अनुभूति करना चाहते थे और वीरशासन-की उसके उत्पत्ति समय तथा स्थानपर ही पूजा करनेके इच्छुक थे, उन्होने अपना निश्चय नही बदला और इसलिये वे नियत समयपर विपुलाचलपर पहुँचकर उस अपूर्व दृश्यको देखनेमे समर्थ हुए, जो बारबार देखनेको नही मिलता।

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा ७ जुलाईकी थी और राजगृहमे कोई १५ दिन पहलेसे वर्षाका प्रारम्भ हो गया था। ४ जुलाई सुबहको जब मैं मंत्रीजी सहित राजगृह पहुँचा तो खूब वर्षा हो रही थी, वहाँकी रेल्वे भी छलनीकी तरह टपकती थी। और चारो तरफ पानी ही पानी भरा हुआ था। ५ जुलाईको पर्वतकी यात्रा करते समय वर्षा आ गई और सारी यात्रा खूब पानी बरसनेमे ही आनन्दके साथ की गई और उससे कोई बाधा उत्पन्न नही हुई। ६ ता० को बादलोका खूब प्रकोप था। रात्रिके समय तो इतने घने घिरकर आ गये थे और बिजलीकी भारी चमकके साथ ऐसी भयकर गर्जना करते थे कि लोगोको आशंका हो गई थी कि कही ये कोई विघ्न-बाधा तो उपस्थित नही करेंगे। उसी समय यह प्रश्न होनेपर कि यदि कल प्रात:काल भी इसी प्रकार वर्षा रही तो पर्वतपरके प्रोग्रामके विषयमे क्या रहेगा ? उपस्थित जनताने बडे उत्साहके साथ कहा कि चाहे जैसी वर्षा क्यो न हो पर्वतपरका प्रोग्राम समयपर ही पूरा किया जायगा। इधर कार्यका दृढ सकल्प और उधर वर्षाके दूर होनेकी स्थिर हार्दिक भावना, दोनोके मिलनेपर ऐसी आश्चर्य-जनक घटना घटी कि बादलोंने प्रातःकाल होनेसे पूर्व ही अपनी

भयकरता छोडकर बिदा लेनी शुरू कर दी और वे पर्वतारोहणके प्रोग्रामके समय एकदम छिन्न-भिन्न हो गये । यह अद्भुत दृश्य देखकर उपस्थित विद्वन्मण्डली और इतर जनताके हृदयमें उत्साह-की भारी लहर दौड गई और वह द्विगुणित उत्साहके साथ गाजे-बाजे समेत श्रीवीर-प्रभु और वीरशासनका जयजयकार करती हुई विपुलाचलकी ओर बढ़ चली । जलूसमे लोगोका हृदय आनन्दसे उछल रहा था और वे समवसरणमें जाते समयके दृश्यका-सा अनुभव कर रहे थे। विद्वानोके मुखसे जो स्तुति-स्तोत्र उस समय निकल रहे थे वे उनके हृदयके अन्तः-स्तलसे निकले हुए जान पडते थे और इसीसे चारो ओर आनन्द बखेर रहे थे । अनेक विद्वान् वीरशासनकी अहिसादि-विषयक रग-विरंगी ध्वजाएँ तथा कपड़ेपर अकित शिक्षाप्रद मौटोज अपने हाथोमे थामे हुए थे । मेरे हाथमें वीरशासनका वह धवलध्वज (झडा) था जो अन्तको विपुलाचल-स्थित वीरप्रभुके मन्दिरपर फहराया गया । पर्वत पर चढ़ते समय जरा भी श्रमबोध नही होता था—मानो कोई अपलिफ्ट (Uplift) अपनेको ऊँचे खीचे जा रही हो ।

विपुलाचलके ऊपर पहुँचते ही सबसे पहले वीरशासनके झडेका अभिवादन किया गया । झडाभिवादनकी रस्मको प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारसने, **'ऊँचा झंडा जिन शासनका परम अहिसा दिग्दर्शनका'** इस गायनके साथ अदा किया, जिसे जैनबालाविश्राम आराकी छात्राओने मधुर-ध्वनिसे गाया था ।

इसी समय पर्वतपर सूर्यका उदय हो रहा था और सूर्य उस समय ऐसा देदीप्यमान तथा अपूर्व तेजवान प्रतीत होता था, जैसाकि इससे पहले कभी देखनेमें नही आया, मानो वीरशासन का अभिनन्दन करनेके लिये उसका भी अग-अग प्रफुल्लित हो रहा हो ।

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाको सूर्योदयके समय ही वीरभगवानकी प्रथम देशना हुई थी और उनका धर्मतीर्थ प्रवर्तित हुआ था। अत' इस सूर्योदयके समय सबसे पहले महावीरसन्देशको सुननेकी जनताकी इच्छा हुई, तदनुसार ''यही है महावीरसन्देश विपुला-चलपर दिया गया जो प्रमुख धर्म-उपदेश' इत्यादि रूपसे वह 'महावीर-सन्देश' सुनाया गया जिसमे महावीर जिनेन्द्रकी देशनाका सार सगृहीत है और जिसे जनताने आदर्शके साथ सुना तथा सुनकर हृदयंगम किया।

इसके बाद वीरप्रभुके मन्दिरमे पूजनादिकी योजना की गई। अभिषेकके बाद वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित वह 'जिन-दर्शन स्तोत्र' पढा गया, जिसका प्रारंभ 'आज जन्म मम सफल हुआ प्रभु! अक्षय-अतुलित-निधि-दातार' इन शब्दोसे होता है। इसे पढते समय पढने-सुननेवालोका हृदय भक्तिसे उमडा पडता था। बादको प० कैलाशचन्द्रजी आदिने ऐसी सुरीली आवाजमें मधुरध्वनि और भक्तिभावके साथ पूजा पढी कि सुननेवालोका हृदय पूजाकी ओर आकर्षित हो गया और वे कहने लगे कि पूजा पढी जाय तो इसी तरह पढी जाय जो हृदयमे वास्तविक आनन्दका सचार करती है। अन्तमे एक महत्वकी सामूहिक प्रार्थना की गई जिसका प्रारभ ''हमें है स्वामी उस बलकी दरकार' इन शब्दोसे होता है।

पूजाकी समाप्तिके अनन्तर सब लोग खुशी-खुशी उस स्थान-पर गये जहाँ वीरभगवानका समवसरण लगा था, जो विपुलाचल-पर समवसरणके योग्य सबसे विशाल क्षेत्र है और जहाँ वीरप्रभुकी प्रथम देशनाको उस दिन २५०० वर्ष हो जानेकी यादगारमे बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताने एक कीर्ति-स्तभकी स्थापनाके

लिये कुछ तामीरकी थी और उसपर उत्तम सगमर्मरपर वने हुए एक स्मृति-पट्टक (Momorial tablot) की स्थापना करनी थी। इस स्मृति-पट्टककी स्थापनाका श्रेय मुझे प्रदान किया गया, जिसके लिये मैं वा० छोटेलालजीका वहुत ही आभारी हूँ।

जिस महान ऐतिहासिक घटनाकी यादगार कायम करनेके लिये यह स्मृतिपट्टक स्थापित किया गया उसके सम्वन्धमे उसी समय और स्थानपर उपस्थित सज्जनोमेंसे ग्यारह विद्वानोने सक्षेपमें अपने जो हार्दिक उद्गार व्यक्त किये वे वडे ही मार्मिक थे, उन्हे सुनकर हृदय गद्गद् हुआ जाता था—उमडा पडता था—और वीरभगवानकी उस प्रथम देशनाके समयका साक्षात् चित्र-सा अकित हो रहा था। मैं तो प्रयत्न करनेपर भी अपने आँसुओको रोक नहीं सका। उस समय चारो ओर जो प्रभाव व्याप्त था और जैसा कुछ आनन्द छाया हुआ था उसे शब्दोमें अंकित करनेकी मुझमे शक्ति नही—वह तो उस समय वहाँ उपस्थित जनताकी अनुभूतिका ही विपय था। ऐसा मालूम होता था कि कोई अदृश्य शक्ति वहाँ काम कर रही है और वह सवके हृदयोको प्रेरणा दे रही है। उस समयके भापणकर्ता विद्वानोके उल्लेखनीय नाम (क्रमश) इस प्रकार हैं— (२) पडिता चन्दावाईजी, (३) प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, (४) प० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, (५) न्यायाचार्य प० दरवारीलाल जी कोठिया, (६) प० परमानन्दजी शास्त्री (७) वा० शतोशचदजो शील (वगाली), (८) वा० लक्ष्मीचद्रजी एम० ए०, (९) वावू छोटेलालजी, (१०) वा० कौशलप्रसादजी, (११) वा० अशोककुमारजी (वंगाली)।

भापणोके अनन्तर उस स्थानसे उठनेको किसीका जी नही चाहता था। आखिर मनको मारकर दूसरा प्रोग्राम पूरा

करनेके लिये चलना ही पडा। इसके बाद पहाडपर उपस्थित सारी जनताको बा० छोटेलालजी कलकत्ताकी ओरसे शुद्ध मिष्टान्नादिके रूपमे प्रीतिभोज दिया गया और वह बडे आनन्दके साथ सम्पन्न हुआ।

पर्वतपरसे उतरकर मन्दिरोके दर्शन और भोजनकर लेनेपर भी पर्वतपरके उस अपूर्व दृश्यकी बार-बार स्मृति होती थी और हृदयमे आनन्दकी लहरें छा जाती थी। बा० छोटेलालजीने उस दिन ६००—७०० कगलोको भोजन कराया। और फिर रात्रिको वीरशासन-जयन्तीका वार्षिक जल्सा हुआ, जिसमे सभापतिका आसन त्यागमूर्ति पंडिता चन्दाबाईजीको प्रदान किया गया। बा० छोटेलालजीके हृदयद्रावक स्वागत-भाषण और पं० चन्दाबाईजीके हृदय-स्पर्शी भाषणके अनन्तर अनेक विद्वानोके महत्वपूर्ण भाषण हुए जिनमे वीरभगवानकी लोकसेवाओ और उनके शासनपर प्रकाश डाला गया तथा वीरशासन-जयन्ती-पर्वके महत्वकी घोषणा की गई। उसी समय एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमे सार्धद्वयसहस्राद्वि-महोत्सवके अवसरपर साहित्य-प्रकाशन, कीर्तिस्तम्भ-स्थापन और साहित्य-सम्मेलनादिके आयोजनपर जोर दिया गया। अगले दिन ८ जुलाईको सुबह ८ बजेके करीब जो जल्सा हुआ उसमे भी ७ प्रस्ताव पास किये गये।

इस उत्सवके आयोजन, आतिथ्य-सत्कार और खर्चका सब भार बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता, सभापति वीरसेवामन्दिरने उठाया है, इसके लिये आपको जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोडा है।[1]

---

१. अनेकान्त वर्ष ६, कि० १२, जुलाई १९४४

वीरशासनके जिस सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सचकी अर्सेसे आवाजें सुनाई पड़ रही थी, योजनाएँ हो रही थी और प्रतीक्षा की जा रही थी वह आखिर कलत्तामे ३१ अक्तूबरसे ४ नवम्बर तक बडी सफलताके साथ हुआ। यह आशा नही थी कि राजगृहके लिये सकल्पित यह महोत्सव कलकत्तेमे इतने अधिक समारोहके साथ मनाया जा सकेगा। परन्तु यह इस महोत्सवकी हो विशेपता है जो कलकत्तेवालोके मुँहसे भी यह कहते हुए सुना गया कि इतना बडा महोत्सव कलकत्तेमे इससे पहले कभी नही हुआ। अनेक प्रतिबन्धोके होते हुए भी दूर-दूर से सभी प्रान्तोकी जनता अच्छी सख्यामे उपस्थित हुई थी, प्रतिष्ठित सज्जनो और विद्वज्जोका अच्छा योग भिडा था, सभी वर्गोंके चुने हुए विद्वानोका इतना बडा समूह तो शायद ही समाज-के किसी प्लेटफार्म पर इससे पहले कभी देखनेको मिला हो।

ता० ३१ को रथयात्राका शानदार जलूस दर्शनीय था। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोका जलूस मिलकर १॥ मीलके करीब लम्बा था। जलूसमे रथो, पालकियो, चाँदी सोनेके सामानो, ध्वजाओ, बैंडबाजो और दूसरी शोभाकी चीजोकी इतनी अधिक भरमार थी कि दर्शकोकी दृष्टि भी लगातार देखते २ थक जाती थो, परन्तु देखनेकी उत्सुकता बन्द नही होती थी—चीजोमे अपने-अपने नये रूप, रगढग और कला-कौशल आदिका जो आकर्षण था वह जनताको अपनी ओर आकर्षित और देखनेमे उत्सुक किये हुए था। लाखोकी जनता

उत्सवको टकटकी लगाये देख रही थी, कलकत्तेके लम्बे-चौडे वाजार दर्शकोसे भरे हुए थे और दोनो ओरके कई मंजिले मकानोकी सभी मंजिलें दर्शकोसे पटी पडी थी—भीडके कारण नये आगन्तुकोको प्रवेशमें वडी दिक्कत होती थी। वाजारोमे ट्राम्वे तथा मोटर वसो आदिका चलना प्रात.कालसे ही बन्द था—उनकी वन्दीके लिये पहले दिन ही पत्रोमे सरकारी आर्डर निकल गये थे। जलूसका झडा वहुत ऊँचा होनेके कारण जगह-जगह पर विजलीके तार काट दिये जाते थे और फिर वादको जोडे जाते थे। यह खास रिआयत जैनसमाजको ही वहाँ अपने वार्षिकोत्सवके लिये प्राप्त है, जो कार्तिकी पूर्णिमासे मंगसिर वदि पंचमी तक होता है, और जिससे यहाँ स्पष्ट है कि वहाँका जैनसमाज वहुत पहलेसे ही विशेप प्रभावशाली तथा राजमान्य रहा है। कलकत्तेकी रथयात्राका यह जलूस भारतवर्षके सभी जैन-रथोत्सवके जलूसोसे वडा तथा महत्वका समझा जाता है। इसवार वीरशासन-महोत्सवके कारण यह और भी अधिक विशेपताको लिये हुए था और अपने रगढगसे जैनियोकी सामाजिक प्रभावनाको दूसरोपर अकित कर रहा था। दिगम्बरो-का जलूस चावलपट्टीके पचायती मन्दिरसे चलकर बेलगछियाके उपवनी मन्दिरमे समाप्त हुआ था, जो वडा ही रमणीक स्थान है और वही पर महोत्सवका भव्य पण्डाल (सभामण्डप) बना था, जिसमे ऊँचे विशाल प्लेटफार्म (स्टेज) के अलावा बैठनेके लिये कुर्सियाँ थी, बिजलीकी लाइट थी और लाउड-स्पीकरोका भी प्रबन्ध था।

जलूसकी समाप्तिपर भोजनसे निपटते ही उपस्थित जन ——में पहुँचने शुरू हो गये और बात-की-बातमें सभामण्डप

जनतासे खचाखच भर गया। उस दिन यह समझ कर कि जलूसके कारण जनता थकी हुई होगी, रात्रिके समय कोई विशेष तथा भारी प्रोग्राम नही रक्खा गया था। परन्तु उत्सुक जनसमूहको देखकर महसूस हुआ कि उस रात्रिको विद्वानोके भाषणादिरूपमे यदि कोई अच्छा प्रोग्राम रक्खा जाता तो वह खूब सफल होता। अस्तु, दो विद्वानोके भाषण हुए और फिर कविसम्मेलनका साधारण-सा जलसा करके तथा अगले दिनका प्रोग्राम सुनाकर कार्रवाई समाप्त की गई। तदनन्तर मन्दिरमे श्रीजिनेन्द्रमूर्तिके सम्मुख कीर्तन प्रारम्भ हुआ, जिसमे सेठ गजराजजीके नृत्यपर सवकी आँखें लगी हुई थी और श्रीवीर जिनेन्द्र तथा वीरशासनकी जय-जयकार हो रही थी।

१ ली नवम्बरको सुबह ६ से ११॥ तक जैन भवनमे स्वागतसमिति और आगत प्रतिनिधियोका एक सम्मेलन सेठ गजराजजीके सभापतित्वमे हुआ, जिसमे वीरशासन महोत्सवकी सफलता और कलकत्तामे उसकी एक यादगार कायम करने आदिके विषयमे विचार-विमर्श किया गया और इस सम्बन्धमे अनेक विद्वानोके भापण हुए, जिनमें उन्होने अपने-अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट किया। तीसरे पहर बेलगछियामे अजैन विद्वानो के लिये एक टी-पार्टीकी योजना की गई, जिसमे लगभग ५०० प्रतिष्ठित विद्वानो तथा स्कॉलरो आदिने भाग लिया और जो वडी ही शानके साथ सम्पन्न हुई। जैनियोके लिये सध्या-भोजनका प्रबन्ध भी वेलगछियामे ही था। टी-पार्टी और भोजनके अन्तर सध्या समय झडाभिवादनकी रस्म सर सेठ हुकमचन्दजी प्रधान सभापति महोत्सवने अदा की। इस अवसरपर विभिन्न समाजो और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोके १७ कालिज-छात्राओने

श्रीसुशीलादेवीके नेतृत्वमे 'ऊँचा झंडा जिन शासनका' यह सुन्दर गान बडी ही मधुर ध्वनिसे गाया और वह सबको बड़ा ही प्रिय मालूम दिया।

तत्पश्चात् सभामण्डपमे अधिवेशनकी कार्रवाई प्रारभ हुई। मगलाचरण और उक्त छात्राओका 'अखिल जग तारण को जलयान, प्रकटी वीर! तुम्हारी वाणी जगमें सुधा-समान' यह मगलगान हो जानेके अनन्तर सभापतिका चुनाव हुआ। इसके बाद डा० श्यामाप्रसाद मुकरजी एम० ए० डी० लिट्०, प्रेसीडेंट आल इण्डिया हिन्दू महासभाका महोत्सवके उद्बोधन रूपमे महत्वका अंग्रेजी भाषण हुआ, स्वागताध्यक्ष साहू शान्तिप्रसादजीने अपना भाषण पढा, एक महिलाने बाजेपर बंगलामे 'महावीर सदेश' गाया और फिर बाबू निर्मलकुमारजीने साहित्यादिके रूपमें वीरशासनके प्रचार तथा शोध-खोजके कार्योके लिये कलकत्तामे एक सस्थाकी योजनाका शुभ समाचार सुनाया और बतलाया कि उसके लिये दो लाखसे ऊपरका चन्दा हो गया है, जो सुनाते ही तीन लाखके करीब हो गया और बादको दो तीन दिनोमे चार लाख तक पहुँच गया। इस चन्देमे सबसे बडी रकम ७१ हजारकी सेठ बलदेवदासकी और ५१--५१ हजारकी तीन रकमे क्रमश' बाबू छोटेलालजी, साहू शान्तिप्रसादजी और सेठ दयारामजी पोतदारकी हैं। पोतदार महोदय अजैन बन्धु हैं और बा० छोटेलालजी आदि प्रतिष्ठित जैनबन्धुओसे बडा प्रेम रखते हैं। उन्होने जब यह सुना कि बाबू छोटेलालजी ५१०००) की रकमके साथ-साथ अपना जीवन भी इस शुभ कामके लिये अर्पण कर रहे हैं तो उनसे नही रहा गया और उन्होने भी बडी प्रसन्नताके साथ अपनी ओरसे

५१०००) रु० की रकम श्रद्धाञ्जलिके रूपमें अर्पण की, जो अनेक दृष्टियोसे बडी मूल्यवान है। सेठ गजराजजीकी ओरसे ३१ हजारकी रकमकी घोषणा हुई। इस शुभ समाचारसे सारी सभामे आनन्द छा गया और उत्साहकी लहर दौड गई। तदनन्तर भारतके सभी भागोसे आए हुए देशके प्रतिष्ठित जैनेतर विद्वानोके सन्देशोको बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम० ए० ने सक्षेपमे सुनाया और फिर सभापति महोदय सर सेठजीने अपना भाषण पढा, जो अनेक दृष्टियोसे महत्वपूर्ण था और जिसमे वीरशासनकी विशेषताओ तथा तत्सबधी महत्वका दिग्दर्शन कराते हुए उसके प्रति सक्षेपमें अपने कर्तव्यपालनका अच्छा निर्देश किया गया है। इसके बाद डा० कालीदास नाग एम० ए० का भ० महावीरकी सेवाओ और उनके अहिंसादि शासनकी महत्ताके सम्बन्धमे एक बडा ही महत्वपूर्ण आकर्षक भाषण हुआ, जो खूब पसन्द किया गया।

ता० २ नवम्बरको सुबह जैन-भवनमे जैनधर्म परिषद्का जलसा बाबू अजितप्रसादजी एम० ए० लखनऊके सभापतित्वमे हुआ, जिसमे प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'भ० महावीरका अचेलक धर्म' नामका निबन्ध पढना शुरू किया, जो विषयकी दृष्टिसे ऐतिहासिक एव महत्वपूर्ण था, परन्तु स्वागताध्यक्षने उसे कुछ अप्रासगिक तथा उस ऐक्यमें बाधक समझकर जो दिगम्बर और श्वेताम्बर समाजोमे इस महोत्सवके सम्बन्धमे वहाँ सम्पन्न हुआ था। इससे विद्वानोमे असन्तोषकी कुछ लहर तथा गडबड़ी-सी पैदा हुई। फिर जैनेन्द्रजीका भाषण हुआ।

रात्रिको बेलगछियाके सभामण्डपमे डा० सातकौडी मुकर्जीके सभापतित्वमें जैनदर्शन परिषद्का अधिवेशन हुआ जिसमे न्याया-

चार्य प० महेन्द्रकुमारजी और प्रो० हीरालालजी एम० ए० के महत्वपूर्ण व्याख्यानोके अनन्तर सभापतिजीका जैनधर्मके अहिंसादि सिद्धान्तोपर अग्रेजीमे ओजस्वी भाषण हुआ। भाषणकी गति इतनी तेज थी कि वह स्पेशल ट्रेनकी गतिको भी मात करती थी और इसीसे रिपोर्टरोको यथेष्ट रिपोर्ट लेते नही बनता था, वे कलम थामकर बैठ गये थे। तत्पश्चात् डा० कालीदास का बगला भाषामे जैनधर्मकी प्राचीनता, महत्ता तथा शिल्प-कलादि-विषयक बडा ही रोचक व्याख्यान हुआ और बादको उसके साथमे छायाचित्रोकी योजनाने उसे और भी अधिक मनोरजक बना दिया। सारी जनता एकाग्र थी और चित्रोको देखकर तथा भाषणको सुनकर गद्गद् हो रही थी। बाबू लक्ष्मी-चन्द्रजी साथ-साथ बगलाका हिन्दी अनुवाद भी सुनाते जाते थे। जैनधर्मके प्रचारका यह तरीका अच्छा प्रभावशाली जान पडा। इसके बाद वैद्यराज प० कन्हैयालालजी कानपुरके सभापतित्वमे जैन आयुर्वेद परिषद् हुई। सभापतिजीने अपना लम्बा मुद्रित भाषण सक्षेपमे पढ कर सुनाया। अधिक समय हो जानेसे दूसरे भाषणोको अवसर नही मिल सका।

ता० ३ नवम्बरको सुबह जैनभवनमे जैनविज्ञान-परिषद्का अधिवेशन प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्यके सभापतित्वमे हुआ। प० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने अपना महत्वपूर्ण निबन्ध पढा और उसके द्वारा जैन-ज्योतिषकी महत्ताको अनेक प्रकारसे स्थापित किया। प्रो० हीरालालजी आदि और भी कुछ विद्वानोके भाषण मत्रशास्त्रादि-विषयोपर हुए। अन्तमे सभापतिजीका जैन-विज्ञानके अनेक अंगोपर जैनसिद्धान्तोकी प्रशंसामे मार्मिक भाषण हुआ।

रात्रिको बेलगछियामे कला और पुरातत्व-परिषद्का अधि-

वेशन प्रो० टी० एन० रामचन्द्रन् एम० ए० के सभापतित्वमे हुआ, जो बा० छोटेलालजीके अनुरोधपर मद्राससे पधारे थे और अपने साथ चित्रो आदिके रूपमे जैनकला और पुरातत्वकी कितनी ही सामग्री लाये थे, जिसे देखकर बडी प्रसन्नता हुई। आपका मार्मिक भाषण अग्रेजीमे लिखा हुआ था, जिसे आपने बडे ही प्रभावक ढगसे पढकर सुनाया और उसके द्वारा जैनकला तथा पुरातत्वके सभी अगोपर अच्छा प्रकाश डाला और उनकी भूरि भूरि प्रशसा की। साथ ही यह भी बतलाया कि भारतमे सब ओर जैनकला और शिल्पका भण्डार भरा पडा है। आपके बाद डॉ० वी० एम० बटुआ एम० ए० का बगालीमे और डॉ० एस० परमशिवम् (मद्रासी) का अग्रेजीमे भाषण हुआ। इसके बाद जैनइतिहास परिषद्का कार्य प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० नागपुरके सभापतित्वमे प्रारम्भ हुआ। सभापतिजीके भाषणके अनन्तर प्रो० कालीपदमजी मित्रका बगालीमे भाषण हुआ और उसमे जैन-इतिहासकी महत्ताको प्रकट किया गया। तदनन्तर बा० छोटेलालजीने आए हुए कुछ अग्रेजी निबन्धोकी सूचना की और बतलाया कि समयाभावके कारण वे पढे नही जा सकते। तदनन्तर प० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईका यापनीयसघके इतिहास पर कुछ प्रकाश डालता हुआ सक्षिप्त भाषण हुआ।

ता० ४ नवम्बरको सुबह ९ बजेसे श्वेताम्बर गुजराती जैन उपाश्रयमे जैन-साहित्य और कथा—विभागका अधिवेशन डॉ० कालीदास नाग एम० ए० के सभापतित्वमे हुआ। इस अवसर-पर कितने ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर विद्वानो एव प्रतिष्ठित पुरुषोने परस्परके इस मिलन और मिलकर वीरशासन महोत्सव मनाने पर हार्दिक हर्ष व्यक्त किया। साथ ही अनेकान्तको

अपनाकर वीरशासनके सच्चे उपासक बनने तथा वीरशासनके प्रचार कार्यमे सबको मिलकर एक हो जानेकी आवश्यकता व्यक्त की। समय अधिक हो जानेसे सभापतिजीने थोडे-मे ही हितकी बात सुझाई, अपनी-अपनी त्रुटियोको शोधने, मिलकर कार्य करने और बौद्धसाहित्यकी तरह जैन-साहित्यको सर्व भाषाओमे प्रकट करनेकी आवश्यकता बतलाई। आजकी इस कार्रवाईका दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोपर अच्छा प्रभाव पडा और परस्पर भ्रातृभाव कुछ उमड़ा हुआ और उत्सुक-सा नजर आया।

रात्रिको बेलगछियाके सभामण्डपमे अनेक विद्वानोके भाषण हुए, तदनन्तर हिन्दुला सशोधन-समितिके सामने जैनमाँगोको उपस्थित करने, और वर्णी गणेशप्रसादजीकी हीरकजयन्तीका अभिनन्दन करनेके रूपमे दो प्रस्ताव पास किये गये और फिर धन्यवाद तथा आभार-प्रदर्शनादिके अनन्तर महोत्सवकी कार्रवाई 'भगवान महावीरकी जय' के साथ समाप्त की गई।

सबसे बड़ा काम

इस महोत्सवके अवसरपर श्रीमती पंडिता चन्दाबाईके सभापतित्वमे महिला परिषदकी अच्छी सफल बैठक हुई, कितने ही विद्वानोने मिलकर एक विद्वत्परिषदकी स्थापना की, तीर्थ-क्षेत्रकमेटीकी मीटिंग होकर उसके सुधारका बीज बोया गया और उसके लिये पाँच लाख रुपयेके स्थायी फण्डकी तजवीज की गई, जिसमेसे दो लाखके करीबके वचन मिल गये। प्रो० हीरा-लालजीके साथ उनके मन्तव्योके सम्बन्धमें विद्वत्परिषद्की कछ महत्वपूर्ण चर्चा हुई है। और सर सेठ हुकुमचन्द तथा सेठ गंभीर-मल पाड्याका पारस्परिक विरोध मिटकर सम्मिलन भी हुआ

है। ये सब भी इस महोत्सवके सुन्दर परिणाम हैं। परन्तु सबसे बड़ा काम जो इस महोत्सवके द्वारा बन सका है वह बाबू छोटेलालजीका वीरशासनके लिये अपना जीवनदान है। लाखों-करोड़ोंका दान भी उसके मुकाबलेमे कोई चीज नही। वास्तवमें यह सारा महोत्सव ही बाबू छोटेलालजीका ऋणी है, उन्हींके दिमागकी यह सब उपज है, वे ही इसे वीरसेवामन्दिरसे राजगिरि, राजगिरिसे कलकत्ता ले गये हैं। कलकत्ताकी सारी मशीनरीके वे ही एक मूविग-एंजिन (Moving Engin) रहे हैं और उन्हींकी योजनाओ, महीनोंके अनथक परिश्रमो, व्यक्तिगत प्रभावो तथा स्वास्थ्य तककी बलि चढानेसे यह इस रूपमे सम्पन्न हो सका है। अत. इसके लिये बाबू छोटेलालजी जैसे मूक सेवक का जितना भी आभार माना जाय और उन्हे जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोडा है। आप स्वस्थताके साथ दीर्घजीवी हो, यही अपनी हार्दिक भावना है।[1]

---

१ अनेकान्त वर्ष ७, कि० ३–४, नवम्बर १९४४

सेवामें आप बहुत दक्ष हैं। आपमे पुरुषो जैसा पुरुषार्थ और वीरो जैसी हिम्मत तथा हौसला रहा है। चार-चार भैसो तक की धार आपने अकेले एक साथ निकाली है। जिस कामके लिए पुरुष भी उकता जाय उसको आप सहज साध्यकी तरह सम्पन्न करती रही हैं। इस वृद्ध अवस्थामे भी आपका इतना पुरुषार्थ अवशिष्ट है कि आप भोजन बना लेती हैं, चक्की चला लेती हैं और गाय-भैसको दुहने तथा दूध-दहीके बलोनेका काम भी कर लेती हैं। साथ ही एक आश्चर्यकी बात यह है कि अगोमे बहुत कुछ शिथिलता आ जाने और शरीरपर झुरियाँ पड जानेपर भी आपके सिरका एक भी बाल अभी तक सफेद नही हुआ है।

कोई ४५ वर्षकी अवस्थामे आपको वैधव्यकी प्राप्ति हुई, उसके छ वर्ष बाद ही आपका देवकुमार-सा इकलौता पुत्र 'प्रभुदयाल' भी चल बसा। जो बहुत ही बुद्धिमान तथा साधु-स्वभावका था। उससे थोडे ही दिन बाद आपकी पुत्री 'गुणमाला' बाल-विधवा होगई। और फिर आपकी पुत्रवधू भी २-३ वर्पकी पुत्री 'जयवन्ती' को छोडकर चल बसी॥ इससे आपके ऊपर भारी सकटका पहाड टूट पडा। परन्तु इस दु खावस्थामे भी आपने धैर्य तथा पुरुपार्थ नही छोडा, कर्त्तव्यसे मुख नही मोडा और आप मर्दोंकी भाँति बराबर निर्भय हो कर जमीदारीके कार्य-सचालनमे लगी रही।

पुत्री गुणमाला तथा पोती जयन्तीको शिक्षा देना भी अब आपका ही कर्त्तव्य रह गया था, जिसकी ठीक पूर्ति दोनोको घरपर रखनेसे नही हो सकती थी। अत' आपने दोनोको मेरे पास देवबन्द शिक्षाके लिए भेज दिया। जब मेरी धर्मपत्नीका

देहान्त हो गया तब मैंने इन्हे पंडिता चन्दाबाईजीके आश्रममे आरा भिजवा दिया और इनकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध कर दिया। नगरके लोगो और अनेक इष्ट जनोने दादीजीसे कहा कि तुम ऐसी दु ख सकटकी अवस्थामे इन्हे बाहर क्यो भेजती हो? अपनी छातीसे लगाकर क्यो नही रखती? परन्तु विद्यासे प्रेम रखनेवाली और अपने आश्रितजनोका भला चाहनेवाली दादीजीने उनकी एक नही सुनी और स्वय अकेलेपनके कष्ट झेलकर भी वर्षों तक इन्हें बाहर ही रखकर शिक्षा दिलाई। इन दोनोके प्रति चन्दाबाईजीकी श्रद्धा बहुत बढी-चढी है। गुणमालाका सती-साध्वी-जैसा जीवन आपको पसन्द आया और जयवन्तीकी बुद्धिमत्ता तथा सुशीलता मनको भा गई। इसीसे जब कभी पडिताजीकी इच्छा होती है वे इन्हे अपने पास बुला लेती हैं, यात्रादिकमे अपने साथ रखती हैं और स्वय भी कई बार इधर इनके पास आई हैं और सदैव इनके हितका खयाल रखती हैं। चि० जयवन्तीको आपने 'जैनमहिलादर्श' की उपसपादिका भी नियत कर रक्खा है।

अपनी आशाकी एकमात्र केन्द्र चि० जयवन्तीका भले प्रकार पालन-पोषण एव सुशिक्षण सम्पन्न करके और प्रतिष्ठित घरानेके योग्य वर बा० त्रिलोकचन्द बी० ए० के साथ उसका सम्बन्ध जोडकर दादाजीने सोचा था कि वह जमीदारीका सारा भार त्रिलोकचन्द्र वकीलके सुपुर्द करके निश्चिन्त हो जावेगी और अपना शेष जीवन पूर्णतया धर्मध्यानके साथ व्यतीत करेंगी, परन्तु दुर्दैवको यह भी इष्ट नही हुआ—अभी सम्बन्धके छह वर्ष भी पूरे न होने पाये थे कि त्रिलोकचन्दका अचानक स्वर्गवास होगया। जयवन्ती भी बालविधवा बन गई। पुत्रके

पहले ही चल बसनेसे उसकी गोद भी खाली होगई। और दादीजीकी सारी आशाओ पर पानी फिर गया।

इस तरह दादीजीका जीवन एक प्रकारसे दुख और सकटकी ही करुण कहानी है। परन्तु आपने बडी वीरताके साथ सकटोका सामना किया है और धैर्यको कभी भी हाथसे जाने नही दिया। आप सदा बातकी सच्ची और धुनकी पक्की रही हैं। दूसरेके थोड़ेसे भी उपकारको आपने बहुत करके माना है। जिसे आपने एक बार वचन दे दिया, फिर लाख प्रलोभन मिलने तथा प्रचुर आर्थिक लाभ होनेपर भी आप उससे विचलित नही हुई—इस विषयकी कई रोचक घटनाएँ हैं, जिन्हे यहाँ देनेके लिए स्थान नही है। पैसा आप कभी फिजूल खर्च नही करती, परन्तु जरूरत पडने पर उसके खुले हाथो खर्चनेमे कभी सकोच भी नही करती। इन्ही सब बातोमे आपका महत्व सनिहित है।

मेरे मुख्तारकारी छोडने पर आपने नानौतासे देवबन्द आकर मुझे शाबाशी दी और मेरी कमर हिम्मतकी थपथपाई। इसपर गृहिणीको कुछ बुरा भी लगा, क्योकि पिता, भाई आदि और किसीने भी मेरे इस कार्यका इस तरहसे अभिनन्दन नही किया था। परन्तु बादको आपके समझाने पर वह भी समझ गई।

देहली-करौल बागमे जब समन्तभद्राश्रम था तब एक बार सारे स्टॉफके बीमार पड जाने और अनेकान्तके प्रूफ आदि कार्योंकी मारामारीके कारण मुझे पाँच दिन तक भोजन नही मिला था, उस समय खबर पाकर आप ही नानौतासे देहली पहुँची थी और आपने छठे दिन मुझे भोजन कराया था। वीरसेवामन्दिरकी स्थापनाके अवसरसे आप उसके हरएक उत्सवमे आतिथ्य-सेवाके लिए स्वय पधारती रही हैं अथवा

अपनी सुयोग्य पुत्री गुणमाला तथा पोती जयवन्तीको भेजती रही हैं, जिससे मुझे कोई विशेष चिन्ता करनी नही पडी। इसके सिवाय, बीमारियोके अवसर पर आप बराबर मेरी खबर लेती रही हैं, माताकी तरहसे मेरे हितका ध्यान रखती और मुझे धैर्य बँधाती रहती हैं। इस समय भी आप मेरी बीमारीकी खबर पाकर और यह जानकर कि सारा आश्रम बीमार पडा है, वीरसेवामन्दिरमे पधारी हुई हैं और रोटी-पानीकी कुछ व्यवस्था कर रही हैं। सत्कार्योंके करनेमे मुझे सदा ही आपसे प्रेरणा मिलती रही है—कभी भी आप मेरी शुभ प्रवृत्तियोमे बाधक नही हुई। इन सब सेवाओके लिए मैं आपका बहुत ही उपकृत हूँ और मेरे पास शब्द नही कि मैं आपका समुचित आभार प्रकट कर सकू।

वीरसेवामन्दिरसे आप विशेष प्रेम रखती हैं और सदा उसकी उन्नतिकी भावनाएँ करती रहती हैं। हालमे आपने वीरसेवामन्दिरको १०१) रु० की सहायता भी प्रदान की है।

अन्तिम जीवन :—

जिन श्रीदादीजीका उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय मैंने अपनी उक्त रुग्णावस्थाके समय ही यह समझकर लिखा और उसे उनके चित्रसहित 'अनेकान्त' मे प्रकाशित किया था कि कही बीमारीके चक्करमे पडकर ऐसा न हो कि मुझे आपका परिचय लिखने और आपके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करनेका अवसर ही न मिल सके, उन पूज्य दादीजीके विषयमे मैंने उस वक्त यह नही सोचा था कि वे इतना शीघ्र ही किसी विधि-व्यवस्थाके वश सारे प्रेमबन्धनोको तोड कर हमे छोड जाने-वाली हैं और इसलिये कोई ढाई वर्ष बाद अनेकान्तके

ही कालमोमे मुझे श्रीदादीजीका वियोग लिखते समय बडा कष्ट हुआ था। मेरे लिये उस समय इतना ही सन्तोषका विषय था कि मैं दादीजीकी बीमारीकी खबर पाकर देहलीसे नानौता आठ दिन पहले सेवामे पहुँच गया था। और मैंने अपनी शक्तिभर उनकी सेवा करनेमे कोई बात उठा नही रक्खी। मेरे पहुँचनेके कुछ दिन पहलेसे दादीजी बोलती नही थी और न आँखें ही खोलती थी। मेरे आनेका समाचार पाकर उन्होने आँख जरा खोली और पुकारनेपर शक्तिको बटोरकर कुछ हँगूरा भी दिया। अगले दिन (१ ली जून १६४५ को) तो उन्होने अच्छी तरह आँखें खोल दी और वे बोलने भी लगी। इससे उनके रोगमुक्त होनेकी कुछ आशा बँधी और साथही उनके उस श्रद्धावाक्यकी भी याद हो आई जिसे वे अक्सर कहा करती थी कि "जब तुम आजाते हो हमारे रोग-सोग सब चले जाते हैं"। कई बार रोगोसे मुक्तिके ऐसे प्रसंग उपस्थित भी हुए हैं जो उनकी श्रद्धाके कारण बने हैं और इसलिये उन्हें उनके उक्त श्रद्धावाक्यको याद दिलाते हुए कहा गया कि "आप अब आपको अपनी धारणानुसार जल्दी अच्छा हो जाना चाहिए।" कई दिन वे अच्छी रही थी, परन्तु अन्तको आयुकर्मने साथ नही दिया और तारीख ७ जून १६४५ (ज्येष्ठ कृष्णा १२) गुरुवारको दिनके ११।। बजेके करीब इस नश्वर एव जीर्ण देहका समाधिपूर्वक त्याग करके स्वर्ग सिधार गईं। और इस तरह जैन-समाजसे एक ऐसी धर्मपरायण-वीरागना उठ गई जो कष्टोको बडे धैर्यके साथ सहन करती हुई कर्तव्य-पालनमे निपुण थी, जिसका हृदय उदार और अतिथि-सत्कार सराहनीय था, जो अपने हितकी अपेक्षा दूसरोके और खासकर आश्रित

जनोके हितकी अधिक चिन्ता रखती थी, जो गुणीजनोको देखकर प्रफुल्लित हो उठती थी और विद्यासे जिनको बड़ा प्रेम था और सत्कार्योंमे जिसका सदा सहयोग रहा है ।

जीवनके पिछले आठ दिनोमे मैंने उनके पास रहकर, उन्हे धर्मकी बाते सुनाकर और उनसे कुछ प्रश्न करके जो निकटसे उनकी स्थितिका अनुभव किया तो उससे मालूम हुआ कि वे अपने अन्तिम जीवनमे भी वीर बनी रही हैं, उन्होने अपने कष्टको स्वयं झेला, दूसरोपर अपना दु:ख व्यक्त नही किया और न मुखमुद्रा पर ही दुःखका कोई खास चिन्ह आने दिया, इस ख्यालसे कि कही दूसरोको कष्ट न पहुँचे ।[1] कूल्हने-कराहने-का नाम तक नही सुना गया, गुस्सा और झुंझलाहट, जो अक्सर कमजोरीके लक्षण होते हैं, पास नही फटकते थे, पूछने पर भी कि क्या तुम्हे कुछ वेदना है ? सिर हिला दिया—नही। ऐसा मालूम होता था कि आप कर्मोदयको समताभावके साथ सहन करती हुई एक साध्वीके रूपमें पड़ी हैं । आपकी परिणति बहुत शुद्ध रही है । आशा, तृष्णा और मोहपर आपने बडी विजय प्राप्त की है, किसी चीजमें भी मनका भटकाव नही रक्खा, किसी भी इष्ट पदार्थसे वियोगजन्य कष्टकी कोई रूप-रेखा तक आपके चेहरेपर दिखाई नही पडती थी ।

'किसीको कुछ कहना या सन्देश देना है ? जब यह पूछा गया तो उत्तर मिला—'नही' । इतनी निस्पृहताकी किसीको भी

१—मेरे पहुँचनेसे कुछ दिन पहले जब उनसे पूछा गया कि "क्या आप भाईजीको देखना चाहती हो, उन्हें बुलावें, तो उन्होने यही कहा कि देखनेको इच्छा तो है, परन्तु उन्हे आनेमें कष्ट होगा। दूसरोंके कष्टका कितना ध्यान !!

आशा नही थी। आपने सब ओरसे अपनी चित्त-वृत्तिको हटा लिया था, धार्मिक पाठोको बडी रुचि तथा एकाग्रतासे सुनती थी और उनमें जहाँ कही वन्दना या उच्च भावोंके प्रस्फुटनका प्रसग आता था तो आप हाथ जोडकर मस्तक पर रखती थी और इस तरह उनके प्रति अपनी श्रद्धा तथा भक्ति व्यक्त करती थी। इन सब बातोसे आपकी अन्तरात्मवृत्ति और चित्तशुद्धि स्पष्ट लक्षित होती थी। अन्तसमय तक आपको होश रहा तथा चित्तकी सावधानी बराबर बनी रही और इस तरह आपने समाधिपूर्वक देहका त्याग किया है, जो अवश्य ही आपके लिये सद्गतिका कारण होगा।

देह-त्यागके समय आपकी अवस्था ८६-८७ वर्षकी थी। आपके इस वियोगसे आपकी पुत्री गुणमाला और पोती जयवन्ती-को जो कष्ट पहुँचा है उसे कौन कह सकता है ? मैं स्वय मातृ-वियोग-जैसे कष्टका अनुभव कर रहा हूँ। माताकी तरह आप सदा ही मेरे हितका ध्यान रखती, मुझे धैर्य बँधाती और सत्कार्योंके करनेमे प्रेरणा प्रदान करती रही हैं। मेरी हार्दिक भावना है कि आपको परलोकमे यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे।

अपने दानका सकल्प आप वहुत पहलेसे कर चुकी थी, जिसकी सख्या १००१) है और जिसका विभाजन विभिन्न मन्दिरो और सस्थाओमें कर दिया गया है[1]।

---

१. अनेकान्त वर्ष ७, किरण ९-१०।

जैनजातिका सूर्य अस्त : ९ :

उस दिन २१ सितम्बर १९४५ को, जब मैं सहारनपुर जा रहा था, मुझे दो कोने कटे पत्र एक साथ मिले—एक चिरजीव कुलवन्तरायका और दूसरा चिरञ्जीव सुखवन्तरायका। दोनो सुहृद्वर बाबू सूरजभानजी वकीलके पुत्र, और दोनोके पत्रोमें एक ही दुःसमाचार—'१६ सितम्बरको पूज्य पिताजीका स्वर्गवास हो गया!' मैं देखकर धकसे रह गया!! सहारनपुर गया जरूर, परन्तु चिरसाथीके इस वियोग-समाचारसे चित्तको ऐसा धक्का लगा कि वह उदास हो रहा और उससे उत्साहके साथ कुछ करते धरते नही बना—जैसे तैसे वहाँके कामको निपटाकर चला आया। आकर प० दरबारीलालजी पर इस दुःखद समाचारको प्रकट किया और बाबूजीके गुणोकी कुछ चर्चा की। पं० परमानन्दजी नजीबाबाद गये हुए थे—उन्हे सहारनपुरसे ही इस दुर्घटनाकी सूचनाका पत्र दे दिया था। रातको जल्दी ही सोनेके लिये लेटा और इस तरह चित्तको कुछ हलका करना चाहा, तो बाबू साहबकी स्मृतियोने आ घेरा—चित्रपटके ऊपर चित्रपट खुलने लगे, उनका तातासा बँध गया, मैं परेशान होगया और तीन बज गये। आखिर जीवनके अधिकाश भागका सम्बन्ध ठहरा, इस अर्सेमे न मालूम बाबूजी-सम्बन्धी कितने चित्र हृदय-पटलपर अकित हुए हैं, कितने उनमेसे हृदयभूमिमे दबे पडे हैं, कितने विस्मृतिसे घिस घिसकर मिट गये अथवा धुँधले पड़ गये हे और कितने अभी सजीव है, कुछ समझमे नही आता। चित्रपटोके आवागमनको रोकनेकी बहुत चेष्टा की परन्तु सब

व्यर्थ हुई। अन्तको निद्रादेवीने कुछ कृपा की और उससे थोडीसी सान्त्बना मिली।

आज उसी दु:खद समाचारको (अनेकान्तमें) प्रकट करने का मेरे सामने कर्तव्य आन पडा है। मैं सोचता हूँ—श्रद्धेय बाबू सूरजभानजीके सम्बन्धमे क्या कहूँ और क्या न कहूँ ? उनका शोक मनाऊँ या उनका यशोगान गाऊँ, उनके गुणोका कीर्तन करूँ या उनके उपकारोकी याद दिलाऊँ, उनके कुछ ससमरण लिखूँ या उनके जीवनका कोई अध्याय खोलकर रक्खूँ, उनके ज्ञान-श्रद्धानकी चर्चा करूँ या उनके आचार-विचार पर पर प्रकाश डालूँ, उनके स्वभाव, परिणाम तथा लोकव्यवहारको दिखलाऊँ अथवा उनके जीवनसे मिलनेवाली शिक्षाओका ही निदर्शन करूँ ? चक्करमे हूँ कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ ।।

फिर भी मैं अपने पाठकोको इस समय सिफ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि आज जैन जातिके उस महान् सूर्यका अस्त हो गया है—

(क) जो अन्धकारसे लडा, जिसने अन्धकारको परास्त किया, भूमंडलपर अपने प्रकाशकी किरणें फैलाईं, भूले-भटकोको मार्ग दिखलाया, मार्गके काँटो तथा ककर-पत्थरोको सुझाया, उन्हे दूरकर मार्गको सुधारने और उसपर चलनेकी प्रेरणा की।

(ख) जिसने लोकहितकी भावनाओको लेकर जगह-जगह भ्रमण किया, समाजकी दशाका निरीक्षण किया, उसकी खराबियोको मालूम किया और उसमे सुधारके बीज वोए।

(ग) जिसने मरणोन्मुख जैनसमाजकी नब्जी-नाडीको टटोला, उसके विकार-कारणोका अनुभव किया, उसकी नाडियोमे रक्तका संचार किया और उसे जीना सिखलाया।

(घ) जिसने जैनजागृतिको जन्म दिया, सोते हुओको जगाया, उन्हे उनके कर्तव्यका वोध कराया और कर्तव्यके पालनमे निरन्तर सावधान किया।

(ङ) जिसके उदित होते ही जैन कमलवनोमे हलचल मच गई—मुद्रित पकजोने निद्रा त्यागी, आलस्य छोड़ा, वे विकसित हो उठे, अविकसित कलियाँ विकासोन्मुख वन गई, सर्वत्र सौरभ छा गया और उससे आकर्षित होकर प्रेमी भ्रमरगण मँडराने तथा गुन-गुनाने लगे।

(च) जिसने लोकहृदय-भूमिपर पडे और धूलमे दवे जैन वीजोको अंकुरित किया, अकुरोको ऊँचा उठाया—बढाया, उन्हे पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होनेका अवसर दिया।

(छ) जिसने मुरझाए हुए निराशहृदयोमे जीवनीशक्तिका संचार किया, मिथ्या भयको भगाया और रूढियोके वीहड जंगल-से निकलकर निरापदस्थानको प्राप्त करनेकी ओर सकेत किया।

(ज) जिससे तेज और प्रकाशको पाकर लोक-हृदयोमे स्फूर्ति उत्पन्न हुई, जीवन-ज्योति जगी, कुरीतियाँ मिटी और समाजमे सुधारकी ओर काम ही काम दिखलाई देने लगा—सुधारकी लहर सर्वत्र दौड गई।

(झ) जिसे एक दो बार प्रकाश-विरोधिनी काली काली घटाओंने आ घेरा और उसकी गतिको रोकना चाहा, परन्तु जो आगेको ही बढता चला गया। जिसने उन काली घटाओपर ही अपना तेज और प्रकाश फैला दिया, अपनी किरणोसे उन्हे बेचैन बना दिया—वे तप्तायमान होगई, उद्विग्न हो उठी, रो पडी और आखिर छिन्न-भिन्न हो गई। इस तरह उन लोगोको पुन प्रकाश मिला जो कुछ समयके लिये प्रकाशसे वचित हो गये थे।

वे अब पहलेसे भी अधिक प्रकाशके उपासक बन गये, प्रकाश-दाताके पदचिन्हो पर चलने लगे और प्रकाशन-कार्यको धडाघड आगे बढाने लगे।

(ञ) और जिसके प्रकाश-सस्कार अथवा प्रकाश-सन्ततिके फलस्वरूप ही आज समाजमे अनेक सभा-सोसाइटियाँ, प्रकाशन-संस्थाएँ, ग्रन्थमालाएँ, शिक्षासस्थाएँ—पाठशालाएँ, विद्यालय, पुस्तकालय, स्वाध्यायमडल, स्कूल, कालिज, गुरुकुल, बोर्डिङ्ग-हाउस, पत्र-कार्यालय, अनाथालय और ब्रह्मचर्याश्रम आदि प्रकाशकेन्द्र स्थापित होकर अपना-अपना कार्य करते हुए नजर आ रहे हैं, जगह-जगह नई-नई प्रकाशग्रन्थियाँ प्रस्फुटित होकर अपना-अपना प्रकाश दिखला रही हैं, और प्रकाशके उपासक ऐसी कुछ उत्कण्ठा व्यक्त कर रहे हैं जिससे मालूम होता है कि वे प्रकाशकी मूलजननी जिनवाणीमाताको अब वन्दीगृहमे नही रहने देंगे और न उसे मरने ही देंगे, जिससे हमारे इस 'सूर्य' ने भी प्रकाश पाया था और वह प्रकाश-पुञ्ज बनकर जननीकी सेवामे अग्रसर हुआ था।

नि सन्देह, बाबू सूरजभानजी जैनजातिकी एक बहुत बडी विभूति थे, उसके अनुपम रत्न थे, भूषण थे और गौरव थे। वे स्वभावसे उदार थे, महामना थे, निष्कपट थे, सत्यप्रेमी थे, गुणग्राही थे और सेवाभावी थे। उनका प्राय. सारा जीवन जैनसमाजकी नि स्वार्थ-सेवा करते बीता है। उन्होने बडे-बडे सेवाकार्य किये हैं—मृतप्राय दिगम्बर जैन महासभामे जान डाली है, जैनियोको जगानेके लिये सबसे पहले उर्दूमें 'जैन-हित-उपदेशक' नामका मासिक पत्र निकाला है और उसके बाद (दिसम्बर सन् १८९५ मे) हिन्दीके साप्ताहिक पत्र 'जैनगजट'

को जन्म दिया है, समाजकी निद्राभग करनेके लिये वकालतके अवकाश-समयमे कई बार स्वय उपदेशकी दौरा किया है, जिसमे एकबार मुझे भी शामिल होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

जैनग्रन्थोके प्रकाशनका आपने ही महान बीडा उठाया था और उसके लिये जानको हथेलीपर रखकर वह गुरुतर कार्य किया है जिसका सुमधुर फल, ज्ञानके उपकरण शास्त्रोकी सुलभप्राप्तिके रूपमे, आज सारा जैनसमाज चख रहा है। इस कार्यको सफल बनानेमे आपको बडी-बडी कठिनाइयो--मुसीबतोका सामना करना पडा है, यातनाएँ झेलनी पड़ी हैं, जानसे मार डालनेकी धमकोको भी सहना पडा है, आर्थिक हानियाँ उठानी पडी हैं, गुरुजनो तथा मित्रोके अनुरोधको भी टालना पडा है, और जातिसे बहिष्कृत होनेका कडवा घूँट भी पीना पडा है, परन्तु यह सब उन्होने बडी खुशीसे किया—अन्तरात्माकी प्रेरणाको पाकर किया। वे अपने ध्येय एव निश्चयपर अटल-अडोल रहे और उन्होने कई बार अपनी सत्यनिष्ठा एवं तर्कशक्तिके बलपर न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजीको बादमे परास्त किया, जो तबके समाजके सर्वप्रधान विद्वान समझे जाते थे।

इसी सम्बन्धमे उन्हे हिन्दी जैनगटकी सम्पादकीसे इस्तीफा देना पडा, जो कि महासभाका पत्र था, और तब आपने 'ज्ञानप्रकाशक' नामका अपना एक स्वतत्र हिन्दीपत्र जारी किया था इसी अवसरके लगभग आपने देवबन्दमे, जहाँ वकालत करते थे, जैनसिद्धान्तोके प्रचारके लिये एक मडल कायम किया था, जिसके द्वारा कितने ही जैनग्रन्थ छपकर प्रकाशित हुए हैं। आपसे ही प्रोत्तेजन पाकर आपके रिश्तेदार (समधी) बाबू ज्ञानचन्द्रजीने लाहौरमे जैनग्रथोके प्रकाशनका एक कार्यालय

खोला था, जिससे भी कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, और साथ ही हिन्दीमे मासिक रूपसे एक 'जैनपत्रिका' भी जारी की थी।

मेरे देवबन्दमे मुख्तारकारी करते हुए, आपने ही मुझे महासभाकी ओरसे मिले हुए हिन्दी जैनगजटकी सम्पादकीके आँफर (offer)को स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया था, और इस तरह जैनगजटको फिरसे उसकी जन्मभूमि (देवबन्द) मे बुलाकर उसके द्वारा अपनी कितनी ही सेवा-भावनाओको पूरा किया था। आप उसमे बराबर लेख लिखा करते थे और अपने सत्परामर्शों द्वारा मेरी सहायता किया करते थे। उस समय 'आर्यमतकी लीला' नामसे जो एक लम्बी लेखमाला प्रकाशित हुई थी उसके मूल लेखक आप ही थे।

समाजसेवाके भावोसे प्रेरित होकर ही आपने मेरे मुख्तार-कारी छोड़नेके साथ—एक ही दिन १२ फरवरी सन् १९१४ को—खूब चलती हुई वकालतको छोडा था। और तवसे आप सामाजिक उत्थानके कार्योंमें और भी तत्परताके साथ योग देने लगे थे—जगह-जगह आना-जाना, सभा-सोसाइटियोमे भाग लेना, लेख लिखना, पत्रव्यवहार करना आदि कार्य आपके बढ़ गये थे। कुछ समयके लिये घरपर कन्या पाठशाला ही आप लेवैठे थे, जिसकी एक कन्या वर्तमानमे प्रसिद्ध कार्यकर्त्री लेखवती जैन हैं। खतौलीके दस्सा-बीसा केसमें विद्वद्वर प० गोपालदासजीका सहयोग प्राप्त कर लेना और दस्सोके पक्षमें उनकी गवाही दिला देना भी आपका ही काम था। प० गोपालदासजीके बाईकाट अथवा बहिष्कारको विफल करनेमें भी आपका प्रधान हाथ रहा हैं।

ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरमे पहुँचकर आपने उसकी भारी सेवाएँ की हैं, और जब यह देखा कि उसमे कुछ ऐसे

व्यक्तियोका प्राबल्य होगया है जो समाजके हिताहितपर ध्यान न रखकर अपनी ही चलाना चाहते हैं और उनकी सुननेको तय्यार नही, तब आपने उसे छोड़ दिया और दूसरे रूपमे समाज की सेवा करने लगे। वे अपने विचारके धनी थे, धुनके पक्के थे और अपने विचारोका खून करके कुछ भी करना नही चाहते थे।

सत्योदय, जैनहितैपी और जैनजगत आदि पत्रोमे वे बराबर लिखते रहे हैं। और अपने विचारोको उनके द्वारा व्यक्त करते रहे हैं। उन्होने सैकडो लेख लिखे और 'ज्ञान सूर्योदय' आदि पचासो पुस्तकें लिख डाली। लेखनकलामे वे बड़े सिद्धहस्त थे, जल्दी लिख लेते थे और जो कुछ लिखते थे युक्ति-पुरस्सर लिखते थे तथा समाजके हितकी भावनासे प्रेरित होकर ही लिखते थे—भले ही उसमे उनसे कुछ भूलें तथा गलतियाँ हो गई हो, परन्तु उनका उद्देश्य बुरा नही था।

आदिपुराण-समीक्षादि जैसी कुछ आलोचनात्मक पुस्तको तथा लेखोको लेकर जब समाजने उनका पुनः बहिष्कार किया, और इस तरह उनके विचारोको दबाने कुचलनेका कुत्सित मार्ग अख्तियार किया तथा उनके सारे किये-करायेपर पानी फेरकर कृतघ्नताका भाव प्रदर्शित किया, तब उन्हे उस पर बडा खेद हुआ और उनके चित्तको भारी आघात पहुँचा, जिसे वे अपनी वृद्धावस्थाके कारण सहन नही कर सके। और इस लिये कुछ समयके बाद सामाजिक प्रवृत्तियोसे ऊबकर अथवा उद्विग्न होकर उन्होने विरक्ति धारण कर ली। उनकी यह विरक्ति उन्हीके शब्दोमे बारह वर्ष तक स्थिर रही। इस अर्सेमे, वे कहते थे, उन्होने कुछ नही लिखा, लेखनीको एकदम विश्राम दे दिया और पुत्रोके पास रहकर उनके बच्चोसे ही चित्तको बहलाते रहे।

आखिर उनकी यह विरक्ति तब भंग हुई जब लगातारके मेरे अनुरोध और आग्रहपर वे वीरसेवामन्दिरमे आ गये। यहाँ आते ही उनकी लेखनी फिरसे चल पडी, उनमे जवानीका-सा जोश आगया—जिसे वे 'बासी कढीमे फिरसे उबाल आना' कहा करते थे—और उन्होने लेख-ही-लेख लिख डाले। इन लेखोसे अनेकान्तके दूसरे तथा तीसरे वर्षकी फाइलें भरी हुई हैं और उनसे अनेकान्तके पाठकोको बहुत लाभ पहुँचा है। इस दो-ढाई वर्षके अर्सेमे उन्होने अनेकान्तको ही लेख नही दिये, बल्कि दूसरे जैन तथा अजैन पत्रोको भी कितने ही लेख दिये हैं। इसके अलावा, यहाँ सरसावामे रहते उन्होने वीरसेवामन्दिरकी कन्या-पाठशालामे कन्याओको शिक्षा भी दी है, मन्दिरमे लोगोके आग्रह-पर उन्हे दो-दो घंटे रोजाना शास्त्र भी सुनाया है और आश्रमके विद्वानोसे चर्चा-वार्तामे जब जुट जाते थे तो उन्हे छका देते थे। आपकी वाणीमे रस था, माधुर्य था, ओज था और तेज था।

कुछ कौटुम्बिक परिस्थितियोके कारण आपको लगभग ढाई वर्षके बाद वीरसेवामन्दिरको छोडना पड़ा—आपके भाई बा० चेतनदासजी वकीलको फालिज (लकवा) पड गया था, उनकी तीमारदारीके लिये आपको उनके पास (देवबन्द) जाना पडा और फिर चि० सुखवन्तरायकी परिस्थितियोके वश उसके पास देहली कैंट, देहरादून तथा इलाहाबाद रहना पड़ा। तदनन्तर चि० कुलवन्तराय उन्हे डालमियानगर ले गया, जहाँ उनकी बीमारीका कुछ समाचार सुन पडा, और अन्तको कलकत्तेमे जाकर १६ सितम्बरकी सध्याके समय ७७ वर्ष की अवस्थामे उनकी इहजीवन-लीला समाप्त होगई॥ और इस तरह जैन-जातिका एक महान् सेवक 'सूर्य' सदाके लिये अस्त होगया॥!

भले ही आज बाबूजी अपने भौतिक शरीरमे नही हैं, परन्तु

अपने साहित्य-शरीरमे वे आज भी जीवित विद्यमान हैं और जब तक उनका यह साहित्य रहेगा वे अमर रहेगे तथा लोकको प्रकाश देते रहेगे ।

अपने इस पिछले चार वर्षके जीवनमे यद्यपि उनसे समाजकी कोई खास सेवा नही बन सकी । एक-दो बार लेखोके लिये जो उन्हे प्रेरणा की, तो उन्होने यही कहा कि 'काम ठिये-पर बैठकर ही होता है, यहाँ मेरे पास कोई साधन नही है' फिर भी वे समाजके कामोमे कुछ न कुछ भाग बराबर लेते रहे हैं । एक बार देवबन्दसे वीरशासन-जयन्तीके उत्सवमे सरसावा पधारे थे । और पिछले कलकत्तामे होने वाले वीर-शासन--महोत्सवके लिये जब बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली मत्री वीरसेवा-मन्दिरने उन्हे लेखके लिये प्रेरणा की थी तो उन्होने एक लेख उनके पास भेजा था, जो संभवत. उनका अन्तिम लेख था, उनके विचारोका प्रतीक था और जिससे जाना जाता है कि समाजके प्रति उनकी लगन और शुभ भावना बराबर बनी रही है । मालूम नही वह लेख अब किसके पास है, उसको प्रकाशित करना चाहिये ।

इसमे सन्देह नही कि बाबू सूरजभानजी समाजके ऊपर अपनी सेवाओ तथा उपकारोका एक बहुत बडा ऋण छोड गये हैं । और इस लिये उससे उऋण होनेके लिये समाजका कर्तव्य है कि वह उनका कोई अच्छा स्मारक खडा करे और उनके उस साहित्यका संरक्षण एव एकत्र प्रकाशन करे । जो समाजके उत्थान और उसको नवजीवन प्रदान करनेमे सहायक है[1] ।

---

१. अनेकान्त वर्ष ७, कि० ११–१२

अभिनन्दनीय पं० नाथूरामजी प्रेमी : १० :

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता है कि श्रीमान् पडित नाथूरामजी प्रेमीको अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। प्रेमीजीने समाज और देशकी जो सेवाएँ की हैं, उनके लिये वे अवश्य ही अभिनन्दनके योग्य हैं। अभिनन्दनका यह कार्य बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, परन्तु जब भी समाज अपने सेवकोको पहचाने और उनकी कद्र करना जाने तभी अच्छा है। प्रेमीजी इस अभिनन्दनको पाकर कोई बडे नही हो जावेंगे—वे तो बडे कार्य करनेके कारण स्वत. बडे हैं—परन्तु समाज और हिन्दी-जगत उनकी सेवाओके ऋणसे कुछ उऋण होकर ऊँचा जरूर उठ जायगा। साथही अभिनन्दन-ग्रंथमे जिस साहित्यका सृजन और सकलन किया गया है उसके द्वारा वह अपने ही व्यक्तियोकी उत्तरोत्तर सेवा करनेमे भी प्रवृत्त होगा। इस तरह यह अभिनन्दन एक ओर प्रेमीजीका अभिनन्दन है तो दूसरी ओर समाज और हिन्दी-जगतकी सेवाका प्रबल साधन है और इसलिए इससे 'एक पथ दो काज' वाली कहावत बडे ही सुदर रूपमे चरितार्थ होती है। प्रेमीजीका वास्तविक अभिनन्दन तो उनकी सेवाओका अनुसरण है, उनकी निर्दोष कार्य-पद्धतिको अपनाना है, अथवा उन गुणोको अपनेमे स्थान देना है, जिनके कारण वे अभिनन्दनीय बने हैं।

प्रेमीजीके साथ मेरा कोई चालीस वर्षका परिचय है। इस अर्सेमे उनके मेरे पास करीब सातसौ पत्र आए हैं और लगभग इतने ही पत्र मेरे उनके पास गए हैं। ये सब पत्र प्राय. जैन-

साहित्य, जैन-इतिहास और जैन-समाजकी चिन्ताओ, उनके उत्थान-पतनकी चर्चाओ, अनुसधान कार्यों और सुधार योजनाओ आदिसे परिपूर्ण हैं। इन परसे चालीस वर्षकी सामाजिक-प्रगतिका सच्चा इतिहास तैयार हो सकता है। सच्चे इतिहासके लिये व्यक्तिगत पत्र बडी ही कामकी चीज होते हैं।

सन् १६०७ मे जब मैं साप्ताहिक 'जैन गजटका' सम्पादन करता था तब प्रेमीजी 'जैनमित्र' बम्बईके आफिसमे क्लर्क थे। भाई शीतल प्रसादजी (जो बादको ब्रह्मचारी शीतल प्रसादजीके नामसे प्रसिद्ध हुए) के पत्रसे यह मालूम करके कि प्रेमीजीने जैनमित्रकी क्लर्कीसे इस्तीफा दे दिया है, मैने अक्टूबर सन् १६०७ के प्रथम सप्ताहमे प्रेमीजीको एक पत्र लिखा था और उसके द्वारा उन्हे 'जैन गजट' आफिस, देवबन्दमे हेड क्लर्कीपर आनेकी प्रेरणा की थी, परन्तु उस वक्त उन्होने बम्बई छोडना नही चाहा और वे तबसे बम्बईमें ही बने हुए हैं।

८ जनवरी सन् १६०८ के 'जैन गजट' मे मैंने 'जैनमित्र'की उसके एक आपत्तिजनक एव आक्षेपपरक लेखके कारण कडी आलोचना की, जिससे प्रेमीजी उद्विग्न हो उठे और उन्होने उसे पढते ही १० जनवरी सन् १६०८ को एक पत्र लिखा, जिससे जान पडा कि प्रेमीजीका सम्बन्ध जैनमित्रसे बना हुआ है। समालोचनाकी प्रत्यालोचना न करके प्रेमीजीने इस पत्रके द्वारा प्रेमका हाथ बढाया और लिखा—"जबसे 'जैन गजट' आपके हाथमे आया है, जैनमित्र बराबर उसकी प्रशसा किया करता हैऔर उसकी इच्छा भी आपसे कोई विरोध करनेकी नही है.. जो हो गया, सो हो गया हमारा समाज उन्नत नही है, अविद्या बहुत है इसलिये आपके विरोधसे हानिकी शका की जाती है।

नही तो आपको इतना कष्ट नही दिया जाता। आप हमारे धार्मिक बन्धु है और आपका तथा हमारा दोनोका ध्येय एक है। इसलिये इस तरह शत्रुता उत्पन्न करनेकी कोशिश न कीजिये। 'जैनमित्रसे' मेरा सम्बन्ध है इसलिये आपको यह पत्र लिखना पडा।'' इस पत्रका अभिनन्दन किया गया और १५ जनवरीको ही प्रेमपूर्ण शब्दोमे उनके पत्रका उत्तर दे दिया गया। इन दोनो पत्रोके आदान-प्रदानसे ही प्रेमीजीके और मेरे बीच मित्रताका प्रारम्भ हुआ जो उत्तरोत्तर वढती ही गई और जिससे सामाजिक सेवा-कार्योंमे एकको दूसरेका सहयोग बरावर प्राप्त होता रहा और एक दूसरे पर अपने दुख-सुखको भी प्रकट करता रहा है।

इसी मित्रताके फलस्वरूप प्रेमीजीके अनुरोधपर मेरा सन् १९२७ और १९२८ मे दो बार वम्बई जाना हुआ और उन्हीके पास महीना दो-दो महीना ठहरना हुआ। प्रेमीजी भी मुझसे मिलनेके लिये दो एक बार सरसावा पधारे। अपनी सख्त बीमारीके अवसर पर प्रेमीजीने जो वसीयतनामा (Will) लिखा था उसमें मुझे भी अपना ट्रस्टी बनाया था तथा अपने पुत्र हेमचन्द्रकी शिक्षाका भार मेरे सुपुर्द किया था, जिसकी नौबत नही आई। अपने प्रिय पत्र 'जैन हितैषी' का सम्पादन-भार भी वे मेरे ऊपर रख चुके हैं, जिसका निर्वाह मुझसे दो वर्ष तक हो सका। उसके बादसे वह पत्र बन्द ही चला जाता है। इनके अलावा उन्होने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' की प्रस्तावना लिख देनेका मुझसे अनुरोध किया और मैंने कोई दो वर्षका समय लगाकर रत्नकरण्डकी प्रस्तावना ही नही लिखी, बल्कि उसके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका इतिहास भी लिखकर उन्हे दे दिया। यह इतिहास जब प्रेमीजीको समर्पित किया गया और उसके

समर्पण-पत्रमे उनको प्रस्तावना लिख देनेकी प्रेरणाका उल्लेख करने तथा उन्हे इतिहासको पानेका अधिकारी वतलानेके अनन्तर यह लिखा गया कि—"आपकी समाज-सेवा, साहित्य-सेवा इतिहास-प्रीति, सत्य रुचि और गुणज्ञता भी सब मिलकर मुझे इस वातके लिये प्रेरित कर रही है कि मैं अपनी इस पवित्र और प्यारी कृतिको आपको भेंट करूँ अत मैं आपके कर-कमलोमे इसे सादर समर्पित करता हूँ। आशा है आप स्वयं इससे लाभ उठाते हुए दूसरोको भी यथेष्ट लाभ पहुँचानेका यत्न करेंगे," साथ ही एक पत्र द्वारा इतिहास पर उनकी सम्मति मांगी गई और कहीं कोई सशोधनकी जरूरत हो तो उसे सूचना-पूर्वक कर देनेकी प्रेरणा भी की गई, तब इस सबके उत्तरमे प्रेमीजीने जिन शब्दोका व्यवहार किया है, उनमे उनका सौजन्य टपकता है। १५ मार्च सन् १९२५ के पत्रमे उन्होंने लिखा :—

"मैं अपनी वर्तमान स्थितिमे भला उस (इतिहास) मे सशोधन क्या कर सकता हूँ और सम्मति ही क्या दे सकता हूँ। इतना मैं जानता हूँ कि आप जो लिखते हैं वह सुचिन्तित और प्रामाणिक होता है। उसमे इतनी गुजाइश ही आप नही छोडते हैं कि दूसरा कोई कुछ कह सके। इसमे सन्देह नही कि आपने यह प्रस्तावना और इतिहास लिखकर जैन-समाजमे वह काम किया है जो अवतक किसीने नही किया था और न अभी जल्दी कोई कर ही सकेगा। मूर्ख जैन-समाज भले ही इसकी कद्र न करे, परन्तु विद्वान् आपके परिश्रमकी सहस्र मुखसे प्रशसा करेंगे। आपने इसमे अपना जीवन ही लगा दिया है। इतना परिश्रम करना सबके लिये सहज नही है। मैं चाहता हूँ कि

कोई विद्वान् इसका साराश अग्रेजी पत्रोमे प्रकाशित कराए। बा० हीरालालजीको मैं इस विषयमे लिखूँगा। इडियन एँटिक्वेरी वाले इसे अवश्य ही प्रकाशित कर देंगे।

"क्या आप मुझे इस योग्य समझते हैं कि आपकी विद्वन्मान्य होनेवाली यह रचना मुझे भेंट की जाय? अयोग्योके लिये ऐसी चीजें सम्मानका न हो, कभी कभी लज्जाका कारण बन जाती हैं, इसका भी कभी आपने विचार किया है? मैं आपको अपना बहुत प्यारा भाई समझता हूँ और ऐसा कि जिसके लिये मैं हमेशा मित्रोमे गर्व किया करता हूँ। जैनियोमे ऐसा है ही कौन जिसके लेख किसीको गर्वके साथ दिखाये जा सकें?"

इस तरह पत्रोपरसे प्रेमीजीकी प्रकृति, परिणति और हृदय-स्थितिका कितना ही पता चलता है।

नि सन्देह प्रेमीजी प्रेम और सौजन्यकी मूर्ति हैं। उनका 'प्रेमी' उपनाम बिलकुल सार्थक है। मैंने उनके पास रहकर उन्हे निकटसे भी देखा है और उनके व्यवहारको सरल तथा निष्कपट पाया है। उनका आतिथ्य-सत्कार सदा ही सराहनीय रहा है और हृदय परोपकार तथा सहयोगकी भावनासे पूर्ण जान पडा है। उन्होने साहित्यके निर्माण और प्रकाशन द्वारा देश और समाजकी ठोस सेवाएँ की हैं और वे अपनेही पुरुषार्थ तथा ईमानदारीके साथ किए गये परिश्रमके बलपर इतने बडे बने हैं तथा इस रुतबेको प्राप्त हुए हैं। अत अभिनन्दनके इस शुभ अवसरपर मैं उन्हे अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हूँ[1]।

---

१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, ५–७–१९४६

श्री पं० टोडरमलजी जैनसमाजके एक बहुत बडे सच्चरित्र, अनुभवी, नि·स्वार्थसेवी एव सात्विक प्रकृतिके विद्वानोमे थे। बाल्यकालसे ही आपकी प्रतिभा चमक उठी थी और उसमे अध्यात्मरसके साथ धर्म, समाज तथा लोकसेवाकी कुछ ऐसी पुट लगी थी, जिसने शुरूसे ही आपके जीवनकी धाराको बदल दिया था। वे गृहस्थ होते हुए भी साधारण गृहस्थोके रगमे रँगे हुए नही थे, जलमे रहते हुए भी कमलकी तरह उससे भिन्न थे। उन्हे भोगोमे कोई आसक्ति नही थी। वे भोगोकी निस्सारता और उनके द्वारा होनेवाली आत्म-वचनाको अच्छी तरह समझे हुए थे। इसीसे भोगोके सुलभ होते हुए भी उनमे उनकी विशेष प्रवृत्ति नही थी और वे उनमे बहुत ही कम योग देते थे। उनका सारा समय दिनरात स्वाध्याय, विद्वद्गोष्ठी, ज्ञानचर्चा और एकनिष्ठासे साहित्यकी आराधनामे ही व्यतीत होता था। यही वजह है कि वे इतनी थोडी-सी उम्रमे ही इतने महान अमर साहित्यका निर्माण करके सदाके लिये अमर हो गये हैं।

गोम्मटसार, लब्धिसारादि जैसे कई महान सिद्धान्तग्रन्थोकी जो सरल भाषामे विस्तृत टीकाएँ आपने लिखी हैं उनपरसे आपकी विद्वत्ता, अध्ययन-विशालता, विचार-तत्परता, प्रतिपादन-कुशलता, निरहंकारता, स्वभावकी कोमलता और धर्म तथा परोपकारकी भावनाका अच्छा पता चलता है। और मोक्षमार्ग-प्रकाशक ग्रन्थ तो आपकी स्वतन्त्र रचनाके रूपमे एक बड़ा ही बेजोड़ ग्रन्थ है, जिससे आपके अनुभवकी गहनता, मर्मज्ञता तथा

निर्भीक आलोचनाका भी कितना ही पता चलता है। इसमें आपने मिथ्यादृष्टि एव ढोगी जैनियोकी भी खूब खबर ली है ओर अनेक शका-समाधानो-द्वारा वडी-वडी उलझनोको सुलझाया है। खेद है कि यह ग्रन्थ अधूराही रह गया है। कही यह ग्रन्थ पूरा हो जाता तो जैन-साहित्यका एक अनमोल हीरा होता ओर अकेला ही सैकडोका काम देता, फिर भी जितना है वह भी कुछ कम नही है और बहुतोको सन्मार्गपर लगानेवाला है।

गोम्मटसारके अध्ययन-अध्यापनका जो प्रचार आज सर्वत्र देखने आरहा है उसका प्रधान श्रेय आपकी हिन्दी टीकाको ही प्राप्त है। आपके ये सब गद्य-ग्रन्थ, जिनकी श्लोक-सख्या एक लाखसे कम न होगी, अपने समय (विक्रमकी १९ वी शताब्दीके प्रारभ) की गद्य-रचनामे अपना प्रधान स्थान रखते हैं और हिन्दी ससारके लिये आपकी अपूर्व देन हैं।

निस्सन्देह प० टोडरमल्लजीने अपनी कृतियो और प्रवृत्तियो के द्वारा जहाँ जैन-समाजको अपना चिर-ऋणी वनाया है, वहाँ विद्वानोके सामने एक अच्छा अनुकरणीय आदर्श भी उपस्थित किया है। काश! हमारे विद्वान इस वातके महत्वको समझें और स्वर्गीय मल्लजीके जीवनसे शिक्षा ग्रहणकर उनके पथका अनुकरण करते हुए जैनधर्म और जैनसाहित्यकी सेवाके लिये, जो कि वस्तुत विश्वकी सेवा है, अपनेको उत्सर्ग करदें॥ यदि ऐसा हो तो जैनसमाज ही नही, किन्तु सारा विश्व शीघ्र ही उन्नतिके पथपर अग्रसर हो सकता है और तभी हम वास्तवमे मल्लजीके ऋणसे उऋण हो सकते हैं[1]।

---

१. वीरवाणी, जनवरी १९४८

प्यारी पुत्रियो ! सन्मती और विद्यावती ! आज तुम मेरे सामने नही हो—तुम्हारा वियोग हुए युग बीत गये, परन्तु तुम्हारी कितनी ही स्मृति आज भी मेरे सामने स्थित है—हृदय-पटलपर अकित है। भले ही कालके प्रभावमे उसमे कुछ धुधलापन आगया है, फिर भी जब उधर उपयोग दिया जाता है तो वह कुछ चमक उठती है।

बेटी सन्मति,

तुम्हारा जन्म असोज सुदी ३ सवत् १९५६ शनिवार ता० ७ अक्तूबर सन् १८९९ को दिनके १२ बजे सरसावामे उसी सूरजमुखी चौबारेमे हुआ था जहाँ मेरा, मेरे सब भाइयोका, पिता-पितामहका और न जाने कितने पूर्वजोका जन्म हुआ था और जो इस समय भी मेरे अधिकारमे सुरक्षित है। भाई-बाँटके अवसरपर उसे मैंने अपनी ही तरफ लगा लिया था।

बालकोके जन्मके समय इधर ब्राह्मणियाँ जो बधाई गाती थी वह मुझे नापसन्द थी तथा असङ्गत-सी जान पडती थी और इसलिये तुम्हारे जन्मसे दो एक मास पूर्व मैंने एक मङ्गलबधाई[1] स्वय तैयार की थी और उसे ब्राह्मणियोको सिखा दिया था। ब्राह्मणियोको उस समय बधाई गानेपर कुछ पैसे-टके ही मिला करते थे, मैंने उन्हे जो मिलता था उससे दो रुपये अधिक अलगसे देनेके लिये कह दिया था और इससे उन्होने खुशी-खुशी

---

१. इस मगल बधाईकी पहली कली इस प्रकार थी—
"गावो री बधाई सखि मगलकारी।"

बधाईको याद कर लिया था। तुम्हारे जन्मसे कुछ दिन पूर्व ब्राह्मणियोकी तरफसे यह सवाल उठाया गया कि यदि पुत्रका जन्म न होकर पुत्रीका जन्म हुआ तो इस बधाईका क्या बनेगा? मैंने कह दिया था कि मैं पुत्र-जन्म और पुत्रीके जन्ममे कोई अन्तर नही देखता हूँ—मेरे लिये दोनो समान हैं—और इसलिए यदि पुत्रीका जन्म हुआ तब भी तुम इस बधाईको खुशीसे गा सकती हो और गाना चाहिए। इसीसे इसमे पुत्र या सुत जैसे शब्दोका प्रयोग न करके 'शिशु' शब्दका प्रयोग किया गया है और उसे ही 'दें आशिश् शिशु हो गुणधारी' जैसे वाक्य-द्वारा आशीर्वादके दिये जानेका उल्लेख किया गया है। परन्तु रूढिवश पिताजी और बूआजी आदिके विरोधपर ब्राह्मणियोको तुम्हारे जन्मपर बधाई गानेकी हिम्मत नही हुई, फिर भी तुम्हारी माताने अलगसे ब्राह्मणियोको अपने पास बुलाकर बिना गाजे-बाजेके ही बधाई गवाई थी और उन्हे गवाईके वे २) रु० भी दिये थे। साथ ही दूसरे सब नेग भी यथाशक्ति पूरे किये थे जो प्राय. पुत्र-जन्मके अवसरपर दूसरोको कुछ देने तथा उपहारमें आये हुए जोडे-झग्गो आदिपर रुपये रखने आदिके रूपमे किये जाते हैं।

तुम्हारा नाम मैंने केवल अपनी रुचिसे ही नही रक्खा था बल्कि श्रीआदिपुराण वर्णित नामकरण-संस्कारके अनुसार १००८ शुभ नाम अलग-अलग कागजके टुकडोपर लिखकर और उनकी गोलियाँ बनाकर उन्हे प्रसूतिगृहमे डाला था और एक बच्चेसे एक गोली उठवाकर मँगाई गई थी। उस गोलीको खोलनेपर 'सन्मतिकुमारी' नाम निकला था और यही तुम्हारा पूरा नाम था। यो आम बोल-चालमे तुम्हे 'सन्मती' कहकर ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी शिक्षा वैसे तो तीसरे वर्ष ही प्रारम्भ हो गई थी परन्तु कन्यापाठशालामे तुम्हे पाँचवे वर्ष विठलाया गया था। यह कन्यापाठशाला देववन्द की थी, जहाँ सहारनपुरके बाद सन् १९०५ मे मैं मुख्तारकारीकी प्रैकटिस करनेके लिये चला गया था और कानूगोयानके मुहल्लेमे ला० दुल्हाराय जैन साबिक़ पटवारीके मकानमे उसके सूरजमुखी चौबारेमे रहता था। निद्धी पण्डित, जो तुम्हे पढ़ाता था, तुम्हारी बुद्धि और होशयारीकी सदा प्रशसा किया करता था। मुझे तुम्हारे गुणोमे चार गुण बहुत पसन्द थे—१ सत्यवादिता, २. प्रसन्नता, ३ निर्भयता और ४ कार्य-कुशलता। ये चारो गुण तुममे अच्छे विकसित होते जा रहे थे। तुम सदा सच बोला करती थी और प्रसन्नचित्त रहती थी। मैंने तुम्हे कभी रोते-रडाते अथवा जिद्द करते नही देखा। तुम्हारे व्यवहारसे अपने-पराये सब प्रसन्न रहते थे और तुम्हे प्यार किया करते थे। सहारनपुर मुहल्ले चौधरियानके ला० निहालचन्दजी और उनकी स्त्री तो, जो मेरे पासकी निजी हवेली-मे रहते थे, तुमपर बहुत मोहित थे, तुम्हे अक्सर अपने पास खिलाया-पिलाया और सुलाया करते थे, उसमे सुख मानते थे और तुम्हे लाडमे 'सबजी' कह कर पुकारा करते थे—तुम्हारे कानोकी बालियोमे उस वक्त सबजे पडे हुये थे। जब कभी मैं रातको देरसे घर पहुँचता और इससे दहलीजके किवाड बन्द हो जाते तब पुकारनेपर अक्सर तुम्ही अँधेरेमे हो ऊपरसे नीचे दौडी चली आकर किवाड खोला करती थी। तुम्हे अँधेरेमे भी डर नही लगता था, जब कि तुम्हारी माँ कहा करती थी कि मुझे तो डर लगता है, यह लडकी न मालूम कैसी निडर निर्भय प्रकृतिकी है जो अँधेरेमे भी अकेली चली जाती है। तुम्हारी इस हिम्मतको देखकर मुझे बडी प्रसन्नता होती थी।

एक दिन रातको मुझे स्वप्न हुआ कि एक अर्धनग्न श्यामवर्ण स्त्री अपने आगे-पीछे और इधर-उधर मरे हुए बच्चोको लटकाए हुए एक उत्तरमुखी हवेलीमे प्रवेश कर रही है जो कि ला० जवाहरलालजी जैनकी थी। इस बीभत्स दृश्यको देखकर मुझे कुछ भय-सा मालूम हुआ और मेरी आँख खुल गई। अगले ही दिन यह सुना गया कि ला० जवाहरलालजीके बडे लडके राजा-रामको प्लेग हो गई, जिसकी हालमे ही शादी अथवा गौना हुआ था। यह लडका बडा ही सुशील, होनहार और चतुर कारोबारी था तथा अपनेसे विशेष प्रेम रखता था। तीन-चार दिनमे ही यह कालके गालमे चला गया॥ इस भारी जवान मौतसे सारे नगरमे शोक छा गया और प्लेग भी जोर पकडती गई।

कुछ दिन बाद तुम्हारी माताने कोई चीज बनाकर तुम्हारे हाथ ला० जवाहरलालजीके यहाँ भेजी थी। वह शायद शोकके मारे घरपर ली नही गई। तब तुम किसी तरह ला० जवाहरलाल-जीको दुकानपर उसे दे आई थी। शामको या अगले दिन जब ला० जवाहरलालजी मिले तो कहने लगे कि—'तुम्हारी लडकी तो बडी होशयार हो गई है, मेरे इन्कार करते हुए भी मुझे दुकानपर ऐसी युक्तिसे चीज दे गई कि मैं तो देखकर दङ्ग रह गया।' इस घटनासे एक या दो दिन बाद तुम्हे भी प्लेग हो गई। और तुम उसीमे माघ सुदी १०मी सवत् १९६३ गुरुवार तारीख २४ जनवरी सन् १९०७ को सन्ध्याके छह बजे चल बसी॥ कोई भी उपचार अथवा प्रेम-बन्धन तुम्हारी इस विवशा गतिको रोक नही सका॥!

तुम्हारे इस वियोगसे मेरे चित्तको बडी चोट लगी थी और

मेरी कितनी ही आशाओपर पानी फिर गया था। एक वृद्ध पुरुष श्मशानभूमिमे मुझे यह कह कर सान्त्वना दे रहे थे कि 'जाओ धान रहो क्यारी, अबके नही तो फिरके बारी'। फिर तुम्हारी माताके दुख-दर्द और शोककी तो बात ही क्या है? उसने तो शोकसे विकल और वेदनासे विह्वल होकर तुम्हारे नये-नये वस्त्र भी बक्सोमेसे निकालकर फेंक दिये थे। वे भी तुम्हारे बिना अब उसको आंखोमे चुभने लगे थे। परन्तु मैंने तुम्हारी पुस्तको आदिके उस बस्तेको जो काली किरमिचके बैगरूपमे था और जिसे तुम लेकर पाठशाला जाया करती थी तुम्हारी स्मृतिके रूपमे वर्षो तक ज्योका त्यो कायम रक्खा है। अब भी वह कुछ जीर्ण-शीर्ण अवस्थामे मौजूद है—अर्से बाद उसमेसे एक दो लिपि-कापी तथा पुस्तक दूसरोको दी गई है और सलेटको तो मैं स्वय अपने मौन वाले दिन काममे लेने लगा हूँ।

नामकरणके बाद जब तुम्हारे जन्मकी तिथि और तारीखादिको एक नोटबुकमे नोट किया गया था तब उसके नीचे मैंने लिखा था 'शुभम्'। मरणके बाद जब उसी स्थानपर तुम्हारी मृत्युकी तिथि आदि लिखी जाने लगी तब मुझे यह सूझ नही पडा कि उस दैविक घटनाके नीचे क्या विशेषण लगाऊँ। 'शुभम्' तो मैं उसे किसी तरह कह नही सकता था, क्योकि वैसा कहना मेरे विचारोके सर्वथा प्रतिकूल था और 'अशुभम्' विशेषण लगानेको एकदम मन जरूर होता था परन्तु उसके लगानेमे मुझे इसलिये सकोच हुआ था कि मैं भावोके विधानको उस समय कुछ समझ नही रहा था—वह मेरे लिए एक पहेली बन गया था। इसीसे उसके नीचे कोई भी विशेषण देनेमे मैं असमर्थ रहा था।

बेटी विद्यावती,

तुम्हारा जन्म ता० ७ दिसम्बर सन् १९१७ को सरसावामे मेरे छोटे भाई बा० रामप्रसाद सब-ओवरसियरकी उस पूर्वमुखी हवेलीके सूरजमुखी निचले मकानमे हुआ था जो अपनी पुरानी हवेलीके सामने अभी नई तैयार की गई थी और जिसमे भाई रामप्रसादके ज्येष्ठ पुत्र चि० ऋषभचन्दके विवाहकी तैयारियाँ हो रही थी, जन्मसे कुछ दिन बाद तुम्हारा नाम 'विद्यावती' रक्खा गया था, परन्तु आम बोल-चालमे तुम्हे 'विद्या' इस लघु नामसे ही पुकारा जाता था।

तुम्हारी अवस्था अभी कुल सवा तीन महीनेकी ही थी, जब अचानक एक वज्रपात हुआ, तुम्हारे ऊपर विपत्तिका पहाड टूट पडा। दुर्दैवने तुम्हारे सिरपरसे तुम्हारी माताको उठा लिया!! वह देवबन्दके उसी मकानमे एक सप्ताह निमोनियाकी बीमारीसे बीमार रहकर १६ मार्च सन् १९१८ को इस असार ससारसे कूच कर गई!!! और इस तरह विधिके कठोर हाथो-द्वारा तुम अपने उस स्वाभाविक भोजन—अमृतपानसे वञ्चित कर दी गई जिसे प्रकृतिने तुम्हारे लिये तुम्हारी माताके स्तनोमे रक्खा था। साथही मातृ-प्रेमसे भी सदाके लिये विहीन हो गई!!

इस दुर्घटनासे इधरतो मैं अपने २५ वर्षके तपे-तपाये विश्वस्त साथीके वियोगसे पीडित। और उधर उसकी धरोहर-रूपमे तुम्हारे जीवनकी चिन्तासे आकुल!!! अन्तको तुम्हारे जीवनकी चिन्ता मेरे लिये सर्वोपरि हो उठी। पासके कुछ सज्जनोने परामर्शरूपमे कहा कि तुम्हारी पालना गायके दूध, बकरीके दूध अथवा डब्बेके दूधसे हो सकती है, परन्तु मेरे आत्माने उसे स्वीकार नही किया। एक मित्र बोले—'लडकीको पहाड़पर

किसी धायको दिला दिया जायगा, इससे खर्च भी कम पडेगा और तुम वहुत-सी चिन्ताओंसे मुक्त रहोगे। घरपर धाय रखनेसे तो वडा खर्च उठाना पड़ेगा और चिन्ताओसे भी वरावर घिरे रहोगे।' मैंने कहा—'पहाडोपर धाय द्वारा वच्चोंकी पालना पूर्ण तत्परताके साथ नही होती। धायको अपने घर तथा खेत-क्यारके काम भी करने होते हैं, वह वच्चेको यो ही छोडकर अथवा टोकरे या मूढे आदिके नीचे वन्द करके उनमे लगती है और वच्चा रोता-विलखता पडा रहता है। धाय अपने घरपर जैसा-तैसा भोजन करती है, अपने वच्चेको भी पालती है और इसलिये दूसरेके वच्चेको समयपर यथेष्ट भोजन भी नहीं मिल पाता और उसे व्यर्थके अनेक कष्ट उठाने पडते हैं। इसके सिवाय, यह भी सुना जाता है कि पहाडोपर वच्चे वदले जाते हैं और लोभके वश दूसरोको वेचकर मृत भी घोपित किये जाते हैं। परन्तु इस सवसे अधिक वडी समस्या जो मेरे सामने है वह सस्कारोकी है और सव कुछ ठीक होते हुए भी वहाँके अन्यथा संस्कारोको कौन रोक सकेगा? मैं नही चाहता कि मेरी लडकी मेरे दोषसे अन्यथा सस्कारोमे रहकर उन्हे ग्रहण करे।' और इसलिये अन्तको यही निश्चित हुआ कि घरपर धाय रखकर ही तुम्हारा पालन-पोपण कराया जाय। तदनुसार ही धायके लिये तार-पत्रादिक दौडाये गये।

भाई रामप्रसादजी आदिके प्रयत्नसे एककी जगह दो धाय आगराकी तरफसे आ गईं, जिनमेसे रामकौर धायको तुम्हारे लिये नियुक्त किया गया, जो प्रौढावस्थाकी होनेके साथ-साथ श्यामवर्ण भी थी—उस समय मैंने कही यह पढ रक्खा था कि श्यामा गायके दूधकी तरह वच्चोंके लिये श्यामवर्णा धायका दूध

ज्यादा गुणकारी होता है। अत. तुम्हारे हित की दृष्टिसे अनुकूल योजना हो जानेपर मुझे प्रसन्नता हुई। धायके न आने तक गाय-वकरीका दूध पीकर तुमने जो कष्ट उठाया, तुम्हारी जानके जो लाले पडे और उसके कारण दादीजी तथा वहन गुणमालाको जो कष्ट उठाना पडा उसे मैं ही जानता हूँ। धायके आ जानेपर तुम्हे साता मिलते ही सवको साता मिली।

तुम धायके साथ अधिकतर नानौता दादीजीके पास, सर-सावा मेरे पास और तीतरो अपने नाना मुन्शी होशयार सिंहजीके यहाँ रहो हो। जव तुम कुछ टुकडा टेरा लेने लगी, अपने पैरो चलने लगी, वोलने-वतलाने लगी और गायका दूध भी तुम्हे पचने लगा तव तुम्हारी धाय रामकौरको विदा कर दिया गया और वह अपना वेतन तथा इनाम आदि लेकर ३० जून सन् १६१६ को चली गई। उसके चले जानेपर तुम्हारे पालन-पोपण और रक्षाका सव भार पूज्य दादीजी, वहन (वुआ) गुणमाला और चि० जयवन्तोने अपने ऊपर लिया और सवने वडी तत्परता एव प्रेमके साथ तुम्हारी सेवा की है।

तुम अपनी अवोध-दशासे इतने अर्से तक धायके पास रही, उसकी गोदी चढी, उसका दूध पिया, उसके पास खेली-सोई और वह माताकी तरह दूसरी भी तुम्हारी सब सेवाएँ करती रही, फिर भी तुमने एक वार भी उसे 'मा' कहकर नही दिया—दूसरोके यह कहनेपर भी कि 'यह तो मेरी माँ है' तुम गर्दन हिला देती थी और पुकारनेके अवसरपर उसे 'ए-ए।' कहकर ही पुकारती थी। यह सव विवेक तुम्हारे अन्दर कहाँसे जागृत हुआ था वह किसीकी भी कुछ समझमे नही आता था और सबको तुम्हारी ऐसी स्वाभाविक प्रवृत्तिपर आश्चर्य होता था।

दो-ढाई वर्षकी छोटी अवस्थामे ही तुम्हारी बडे आदमियो जैसी समझकी बातें, सबके साथ 'जी' की बोली, दयापरिणति, तुम्हारा सन्तोष, तुम्हारा धैर्य और तुम्हारी अनेक दिव्य चेष्टाएँ किसीको भी अपनी ओर आकृष्ट किये बिना नही रहती थी। तुम साधारण बच्चोकी तरह कभी व्यर्थकी जिद करती या रोती-रडाती हुई नही देखी गई। अन्तकी भारी बीमारीकी हालतमे भी कभी तुम्हारे कूल्हने या कराहने तककी आवाज नही सुनी गई, बल्कि जब तक तुम बोलती रही और तुमसे पूछा गया कि 'तेरा जी कैसा है' तो तुमने बडे धैर्य और गम्भीरतासे यही उत्तर दिया कि 'चोखा है'। वितर्क करनेपर भी इसी आशयका उत्तर पाकर आश्चर्य होता था। स्वस्थावस्थामे जब कभी कोई तुम्हारी बातको ठीक नही समझता था या समझनेमे कुछ गलती करता था तो तुम बराबर उसे पुन पुन कहकर या कुछ अते-पतेकी बातें बतलाकर समझानेकी चेष्टा किया करती थी और जब तक वह यथार्थ बातको समझ लेनेका इजहार नही कर देता था तब तक बराबर तुम 'नही' शब्दके द्वारा उसकी गलत बातोका निषेध करती रहती थी। परन्तु ज्यो ही उसके मुँहसे ठीक बात निकलती थी तो तुम 'हाँ' शब्दको कुछ ऐसे लहजेमे लम्बा खीचकर कहती थी, जिससे ऐसा मालूम होता था कि तुम्हे उस व्यक्तिकी समझपर अब पूरा सन्तोष हुआ है।

तुम हमेशा सच बोलती थी और अपने अपराधको खुशीसे स्वीकार कर लेती थी। बुद्धि-विकासके साथ-साथ आत्मामे शुद्धिप्रियता, निर्भयता, निस्पृहता, हृदयोच्चता और स्पष्टवादिता जैसे गुणोका विकास भी तेजीसे हो रहा था। धायके चले जानेके

बादसे तुम मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए किसी भी स्त्री या लडकी आदिकी गोद नही चढती थी, जिसका अच्छा परिचय शामलीके उत्सवपर मिला, जबकि तुम्हे गोदीमे उठाये चलनेके लिये दादीजीने एक लडकीकी योजना की थी, परन्तु तुमने उसकी गोदी चढकर नही दिया और कहा कि 'मैं अपने पैरो आप चलूँगी' और तुम हिम्मतके साथ बराबर अपने पैरो चलती रही जबतक कि तुम्हे थकी जानकर किसी स्वच्छ स्त्री या लडकीने अपनी गोद नही उठाया। मुझे बडी प्रसन्नता होती थी, जब मैं अपने यहाँके दुकानदारोसे यह सुनता था कि 'तुम्हारी विद्या इधर आई थी, हम उसे कुछ चीज देनेके लिये बुलाते रहे, परन्तु वह यह कहती हुई चली गई कि "हमारे घर बहुत चीज है।" तुम्हारा खुदका यह उत्तर तुम्हारे सन्तोप, स्वाभिमान और तुम्हारी निस्पृहताका अच्छा परिचायक होता था।

एकबार बहन गुणमालाने चि० जयवतीकी पाछापाड धोतीमेसे तुम्हारे लिये एक छोटी धोती सवा दो गजके करीब लम्बी तैयार की, जिसके दोनो तरफ चौडी किनारी थी और जो अच्छी साफ-सुथरी धुली हुई थी। वह धोती जब तुम्हे पहनाई जाने लगी तो तुमने उसके पहननेसे इनकार किया और मेरे इस कहनेपर कि 'धोती बडी साफ सुन्दर है पहन लो' तुमने उसके स्पर्शसे अपने शरीरको अलग करते हुए साफ कह दिया "यह तो कत्तर है।" तुम्हारे इस उत्तरको सुनकर सब दङ्ग रह गये। क्योकि इतने बडे कपडेको 'कत्तर' का नाम इससे पहले किसीने नही सुना था। बहन गुणमाला कहने लगी—"भाई जी! तुम तो विद्याको सादा जीवन व्यतीत कराना चाहते हो, इसके कान-नाक विधवानेकी भी तुम्हारी इच्छा नही है परन्तु इसके

दिमागको तो देखो जो इतनी बडी धोतीको भी 'कत्तर बतलाती है।''

एक दिन सुबहके वक्त तुम मेरे कमरेके सामनेकी वगटीमे दौड लगा रही थी और तुम्हारे शरीरकी छाया पीछेकी दीवार-पर पड रही थी। पासमे खडी हुई भाई हीरालालजीकी बडी लडकियाँ कह रही थीं 'देख, विद्या! तेरे पीछे भाई आरहा है।' पहले तो तुमने उनकी इस बातको अनसुनीसी कर दिया, जब वे बराबर कहती रही तब तुमने एकदम गम्भीर होकर डपटते हुए स्वरमे कहा ''नही, यह तो छाँवला है।'' तुम्हारे इस 'छाँवला' शब्दको सुनकर सबको हँसी आगई। क्योकि छाया, छाँवली अथवा पडछाईकी जगह 'छाँवला' शब्द पहले कभी सुननेमे नही आया था। आमतौरपर बच्चे बतलाने वालोके अनुरूप अपनी छायाको भाई समझकर अपने पीछे भाईका आना कहने लगते हैं। यही बात भाईकी लडकियाँ तुम्हारे मुखसे कहलाना चाहती थी जिससे तुम्हारी निर्दोष बोली कुछ फल जाय, परन्तु तुम्हारे विवेकने उसे स्वीकार नही किया और 'छाँवला' शब्दकी नई सृष्टि करके सबको चकित कर दिया।

एक रोज मैं अपने साथ तुम्हे लिची, खरबूजा आदि कुछ कुछ फल खिला रहा था, तय्यार फलोको खाते खाते तुमने एकदम अपना हाथ सिकोड लिया और मेरे इस पूछनेपर कि 'और क्यो नही खाती?' तुमने साफ कह दिया कि ''मेरे पेटमे तो लिचीकी भूख है।'' तुम्हारी इस स्पष्टवादितापर मुझे बडी प्रसन्नता हुई और मैने लिचीका भरा हुआ बोहिया तुम्हारे सामने रखकर कहा कि इसमेसे जितनी इच्छा हो उतनी लिची खा लो। तुमने फिर दो-चार लिची और खाकर ही अपनी तृप्ति

व्यक्त कर दी। इससे मुझे बडा सन्तोप हुआ, क्योकि मैं सङ्कोचादिके वश अनिच्छापूर्वक किसी ऐसी चीजको खाते रहना स्वास्थ्यके लिये हितकर नही समझता, जो रुचिकर न हो। और मेरी हमेशा यह इच्छा रहती थी कि तुम्हारी स्वाभाविक इच्छाओका विघात न होने पावे और अपनी तरफसे कोई ऐसा कार्य न किया जाय जिससे तुम्हारी शक्तियोके विकासमे किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित हो या तुम्हारे आत्मापर कोई वुरा असर अथवा सस्कार पडे।

जव तुम नानौतासे मेरे तथा दादी आदिके साथ देहली होती हुई पिछली बार २२ मई सन् १९२० को सरसावा आई तब मैंने तुम्हे यो ही विनोदरूपमे अपनी लायब्रेरीकी कुछ अलमारियाँ खोलकर दिखलाई थी, देखकर तुमने कहा था "तुम्हारी यह अलमारी बड़ी चोखी है।" इसपर मैंने जब यह कहा कि 'बेटी। ये सब चीजें तुम्हारी हैं, तुम इन सब पुस्तकोको पढना' तब तुमने तुरन्त ही उलट कर यह कह दिया था कि "नही, तुम्हारी ही हैं तुम्ही पढना।" तुम्हारे इन शब्दोको सुनकर मेरे हृदयपर एकदम चोट-सी लगी थी और मैं क्षणभरके लिये यह सोचने लगा था कि कही भावीका विधान ही तो ऐसा नही जो इस बच्चीके मुँहसे ऐसे शब्द निकल रहे हैं। और फिर यह खयाल करके ही सन्तोप धारण कर लिया था कि तुमने आदर तथा शिष्टाचारके रूपमे ही ऐसे शव्द कहे हैं। इस वातको अभी महीनाभर भी नही हुआ था कि नगरमे चेचकका कुछ प्रकोप हुआ, घरपर भाई हीगनलालजीकी लडकियोको एक-एक करके खसरा निकला तथा कठी नमूदार हुई और उन सवके अच्छा होनेपर तुम्हे भी उस रोगने आ

घेरा—कण्ठी अथवा मोतीझारेका ज्वर हो आया। इधर दादाजीका पत्र आया कि वे बहन गुणमाला तथा चि० जयवन्ती-को प० चन्दाबाईके पास आरा छोड़कर वापिस नानौता आगई हैं और पत्रमें तुम्हें जल्दी ही लेकर आनेकी प्रेरणा की गई थी। मैंने भी सोचा कि इस बीमारीमें तुम्हारी अच्छी सेवा और चिकित्सा दादीजीके पास ही हो सकेगी, और इसलिये मैं १७ जनको तुम्हें लेकर नानौता आगया। दो-चार दिन बीमारीको कुछ शान्ति पड़ी और तुम्हारे अच्छा होनेकी आशा बँधी कि फिर एकदम बीमारी लौट गई। उपायान्तर न देखकर २६ जूनको तुम्हें सहारनपुर जैन शफाखानेमें लाया गया, जहाँ २७ की रातको तुमने दम तोड़ना शुरू किया और २८ की सुबह होते होते तुम्हारा प्राण-पखेरू एकदम उड़ गया!! किसीकी कुछ भी न चली!!! उसी वक्त तुम्हारे मृत शरीरको अन्तिम संस्कारके लिये शिक्रममें रखकर सरसावा लाया गया—साथमें दादीजी और एक दूसरे सज्जन भी थे। खबर पाते ही जनता जुड़ गई। कुटुम्ब तथा नगरके कितने ही सज्जनोंकी यह राय थी कि तुम्हारा दाह-संस्कार न करके पुरानी प्रथाके अनुसार तुम्हारे मृतदेहको जोहड़के पास गाड़ दिया जाय और उसके आस-पास कुछ पानी फेर दिया जाय, परन्तु मेरी आत्माको यह किसी तरह भी रुचिकर तथा उचित प्रतीत नहीं हुआ, और इसलिये अन्तको तुम्हारा दाह-संस्कार ही किया गया, जो सरसावामें तुम्हारे जैसे छोटी उम्रके बच्चोंका पहला ही दाह-संस्कार था।

इस तरह लगभग ढाई वर्षकी अवस्थामें ही तुम्हारा वियोग होजानेसे मेरे चित्तको बहुत बड़ा आघात पहुँचा था, क्योंकि मैंने तुम्हारे ऊपर बहुतसी आशाएँ बाँध रक्खी थीं और अनेक

विचारोको कार्यमें परिणत करनेका तुम्हे एक आधार अथवा साधन समझ रक्खा था। मैं तुम्हे अपने पास ही रखकर एक आदर्श कन्या और स्त्री-समाजका उद्धार करनेवाली एक आदर्श स्त्रीके रूपमे देखना चाहता था और तुम्हारे गुणोका तेजीसे विकास उस सबके अनुकूल जान पडता था। परन्तु मुझे नही मालूम था कि तुम इतनी थोडी आयु लेकर आई हो। तुम्हारे वियोगमे उस समय सुहृद्वर प० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईने 'विद्यावती-वियोग' नामका एक लेख जैन हितैषी (भाग १४ अक ६) मे प्रकट किया था। और उसमे मेरे तात्कालिक पत्रका कितना ही अंश भी उद्धृत किया था।

ऋण चुकाना—

पुत्रियो! जहाँ तुम मुझे सुख-दुख दे गई हो वहाँ अपना कुछ ऋण भी मेरे ऊपर छोड गई हो, जिसको चुकानेका मुझे कुछ भी ध्यान नही रहा। गत ३१ दिसम्बर सन् १९४७ को उसका एकाएक ध्यान आया है। वह ऋण तुम्हारे कुछ जेवरो तथा भेंट आदिमे मिले हुए रुपये पैसोके रूपमें हैं जो मेरे पास अमानत थे, जिन्हे तुम मुझे स्वेच्छासे दे नही गई, बल्कि वे सब मेरे पास रह गये हैं और जिन्हे मैंने बिना अधिकारके अपने ही काममे ले लिया है— तुम्हारे निमित्त उनका कुछ भी खर्च नही किया है। जहाँ तक मुझे याद है सन्मतीके पास पैरोमें चाँदीके लच्छे व झाँवर, हाथोमे चाँदीके कडे व पछेली, कानोमे सोनेकी बाली-झूमके, सिरपर सोनेका चक और नाकमें एक सोनेकी लोङ्ग थी, जिन सबका मूल्य उस समय १२५) रु०के लगभग था। और विद्याके पास हाथोमे दो तोले सोनेकी कङ्गलियाँ चाँदीकी सरीदार, जिन्हे

दादीजीने बनवाकर दिया था, तथा पैरोंमें तोखे थे, जिन सबकी मालियत ७५) रु०के करीब थी। दोनोंके पास ५०) रु०के करीब नकद होंगे। इस तरह जेवर और नकदीका तखमीना २५०) रु०के करीबका होता है, जिसकी मालियत आज ७००) रु०के लगभग बैठती है। और इसलिये मुझे ७००) रु० देने चाहिये, न कि २५०) रु०। परन्तु मेरा अन्तरात्मा इतनेसे भी सन्तुष्ट नहीं होता है, वह भूलचूक आदिके रूपमें ३००) रुपये उसमें और भी मिलाकर पूरे एक हजार कर देना चाहता है। अतः पुत्रियो! आज मैं तुम्हारा ऋण चुकानेके लिये १०००) रु० 'सन्मति-विद्या-निधि'के रूपमें वीरसेवामन्दिरको इसलिये प्रदान कर रहा हूँ कि इस निधिसे उत्तम बाल-साहित्यका प्रकाशन किया जाय—'सन्मति-विद्या' अथवा 'सन्मति-विद्या-विनोद' नामकी एक ऐसी आकर्षक बाल-ग्रन्थमाला निकाली जाय जिसके द्वारा विनोदरूपमें अथवा बाल-सुलभ सरल और सुबोध-पद्धतिसे सन्मतिजिनेन्द्र (भगवान् महावीर) को विद्या-शिक्षाका समाज और देशके बालक-बालिकाओंमें यथेष्टरूपसे सञ्चार किया जाय—उसको उनके हृदयोंमें ऐसी जड जमा दी जाय जो कभी हिल न सके अथवा ऐसी छाप लगा दी जाय जो कभी मिट न सके।

मेरी इच्छा—

मैं चाहता हूँ समाज इस छोटीसी निधिको अपनाए, इसे अपनी ही अथवा अपने ही बच्चोंकी पवित्र निधि समझकर इसके सदुपयोगका सतत् प्रयत्न करे और अपने बालक-बालिकाअं सन्तान-दर-सन्तान इस निधिसे लाभ उठानेका अवसर प्र करे। विद्वान् बन्धु अपने सुलेखो, सलाह-मशवरो और सुरुचि

चित्रादिके आयोजनो द्वारा इस ग्रन्थमालाको उसके निर्माण-कार्यमे अपना खुला सहयोग प्रदान करें और धनवान वन्धु अपने धन तथा साधन-सामग्रीको सुलभ योजनाओ द्वारा उसके प्रकाशन-कार्यमे अपना पूरा हाथ वटाएँ। और इस तरह दोनो ही वर्ग इसके सरक्षक और सवर्द्धक वनें। मैं स्वय भी अपने शेष जीवनमे कुछ वाल-साहित्यके निर्माणका विचार कर रहा हूँ। मेरी रायमे यह ग्रन्थमाला तीन विभागोमे विभाजित की जाय—प्रथम विभागमे ५से १० वर्ष तकके वच्चोके लिये, दूसरेमे ११से १५ वर्ष तककी आयु वाले बालक-बालिकाओके लिये और तीसरेमे १६से २० वर्षकी उम्रके सभी विद्यार्थियोके लिये उत्तम वाल-साहित्यका आयोजन रहे और वह साहित्य अनेक उपयोगी विपयोमे विभक्त हो, जैसे वाल-शिक्षा, वाल-विकास, बालकथा, बालपूजा, वालस्तुति-प्रार्थना, बालनीति, वालधर्म, वालसेवा, वाल-व्यायाम, वाल-जिज्ञासा, वालतत्व-चर्चा, बालविनोद, वाल-विज्ञान, वाल-कविता, वाल-रक्षा और वाल-न्याय आदि। इस वाल-साहित्यके आयोजन, चुनाव और प्रकाशनादिका कार्य एक ऐसी समितिके सुपुर्द रहे, जिसमे प्रकृत विषयके साथ रुचि रखने-वाले अनुभवी विद्वानो और कार्यकुशल श्रीमानोका सक्रिय सह-योग हो। कार्यके कुछ प्रगति करते ही इसकी अलगसे रजिस्टरी और ट्रस्टकी कार्रवाई भी कराई जा सकती है।

इसमे सन्देह नही कि जैनसमाजमे वाल-साहित्यका एकदम अभाव है—जो कुछ थोडा वहुत उपलब्ध है वह नहीके वरावर है, उसका कोई विशेष मूल्य भी नही है। और इसलिये जैन-दृष्टिकोणसे उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एवं प्रसारकी वहुत वडी जरूरत है। स्वतन्त्र भारतमें उसकी आवश्यकता और भी

अधिक बढ गई है। कोई भी समाज अथवा देश जो उत्तम बाल-साहित्य न रखता हो कभी प्रगति नही कर सकता। बालकोंके अच्छे-बुरे संस्कारोपर ही समाजका सारा भविष्य निर्भर रहता है और उन संस्कारोका प्रधान आधार बाल-साहित्य ही होता है। यदि अपने समाजको उन्नत, जीवित एव प्रगतिशील बनाना है, उसमे सच्चे जैनत्वकी भावना भरना है और अपनी धर्म-सस्कृतिको, जो विश्वके कल्याणमे सविशेपरूपसे सहायक है, अक्षुण्ण रखना है तो उत्तम बाल-साहित्यके निर्माण एव प्रसारकी ओर ध्यान देना ही होगा। और उसके लिये यह 'सन्मति-विद्या-निधि' नीवकी एक ईंटका काम दे सकती है। यदि समाजने इस निधिको अपनाया, उसकी तरफसे अच्छा उत्साहवर्द्धक उत्तर मिला और फलतः उत्तम बाल-साहित्यके निर्माणादिकी अच्छी सुन्दर योजनाएँ सम्पन्न और सफल होगईं तो इससे मैं अपनी उस इच्छाको बहुत अंशोमें पूरी हुई समझूँगा जिसके अनुसार मैं अपनी दोनो पुत्रियोको यथेष्टरूपमें शिक्षित करके उन्हे समाज-सेवाके लिये अर्पित कर देना चाहता था[1]।

---

१. अनेकान्त वर्प ९, कि० ५, मई १९४८।

पं० चैनसुखदासजीका अभिनन्दन : १३ :

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता हुई कि जयपुरके प्रसिद्ध विद्वान श्री चैनसुखदासजीके लिए जयपुर-समाजकी ओरसे अभिनन्दनका आयोजन हो रहा है। अपने सच्चे सेवको एवं उपकारियोके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना जीवित समाजका एक लक्षण है। ऐसा करके समाज अपने ऋणसे कुछ उऋण ही नही होता, बल्कि नये समाज-सेवकोको उत्पन्न करनेमे भारी सहायक होकर अपने भावी हितकी बुनयाद भी डालता है। पडितजीने जयपुर समाजके लिए बहुत कुछ किया है। उनके द्वारा वहाँ शिक्षा और सदुपदेशका कार्य-क्रम बरावर चलता है। जयपुरकी पुरानी सस्कृत पाठशालाको वर्तमानमे जैन सस्कृत कालेजका रूप दे देना, और उसे गवर्नमेटसे Recognise करा लेना उन्हीके सत्प्रयत्नोका मूल है। ऐसी स्थितिमे जयपुर-समाजका यह आयोजन उचित ही है और अपनी पुरानी कीर्तिको पुनरुज्जीवित करनेवाला है।

गत वर्षसे मुझे पडितजीका साक्षात् परिचय प्राप्त हुआ है और मैंने कई दिन उनके साथ जयपुर तथा श्रीमहावीरजी आदि मे विताये हैं। निकटसे देखनेपर वे मुझे बडे ही भद्रपरिणामी, विद्याव्यसनी, सेवाभावी और सादा रहन-सहनके प्रेमी एव सच्चरित्र मालूम हुए हैं। उनके विचार उदार हैं और वे साथ ही विचार-सहिष्णु भी हैं। ललित व्याख्यान देनेकी कला उन्हे आती है, और वे सुलेखक होनेके साथ-साथ निर्भीक समालोचकके पदको भी प्राप्त हैं। सबके काम आते हैं, सबसे प्रेम

रखते हैं और प्राय गम्भीर मुद्रामे रहते हैं। शारीरिक प्रकृतिके ठीक न रहते हुए भी आप अपनी जिम्मेदारीको समझते और अपने कामको तत्परताके साथ करते हैं। कालेजके अध्यक्ष पद पर आसीन होते हुए भी मैंने एक कुली तकका काम करते हुए उन्हे देखा है, इससे अहंकारकी मात्रा और सेवा-भावकी स्पिरिट कितनी है दोनोका सहज पता चल जाता है। सरलता तो आपमें इतनी है कि कभी-कभी उससे अव्यवहार-निपुणता तकका भान होने लगता है। इन्ही सब गुणोके कारण मैं इस अवसर पर आपका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ और साथ ही यह भावना भाता हूँ कि आप स्वस्थताके साथ शतायु हो और समाजकी सविशेषरूपसे सेवा करनेमे सदा सावधान रहे।

श्री पं० सुखलालजीका अभिनन्दन : १४ :

मुझे ता० ५ जून १९५७ को 'जैन' पत्रसे यह मालूम करके बडी प्रसन्नता हुई कि श्री प० सुखलालजीके 'सम्मान-समारभ' का वम्बईमे आयोजन किया जा रहा है और इसलिये मैंने अगले ही दिन ६ जूनको अपनी ओरसे एक छोटी-सी रकम १०१) की, पडितजीको भेंट की जानेवाली सम्मान-निधिमे शामिल करनेके लिये, सम्मान-समितिके मत्रीजीको चैक द्वारा भेज कर अपने आनन्दकी अभिव्यक्ति की।

प० सुखलालजी अपने व्यक्तित्वके एक ही व्यक्ति हैं। उन्होने बाल्यावस्थामे नेत्रोके चले जानेसे उत्पन्न हुई कठिन परिस्थितिमे विद्याभ्यास कर अनेक वस्तु-विषयोका कितना ही तल-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया है और साथ ही वाणी तथा लेखनी दोनो मार्गोसे खुला वितरण भी किया है। उनमे गम्भीर-चिन्तन-के साथ ग्रहण, धारण, स्मरण और विवेचनकी शक्तिका अच्छा स्पृहणीय विकास हुआ है और वे उदारता, नम्रता, गुण-ग्राह-कता एव सेवाभाव—जैसे सद्गुणोके सम्मिश्रणको लिये हुए हैं। मुझे अनेक बार साक्षात् सम्पर्कमे आनेका अवसर प्राप्त हुआ है और मैंने उन्हे निकटसे देखा है। एक बार तो, जब मैं अहमदाबाद, गुजरात पुरातत्व-मन्दिरमे रिसर्चका कुछ काम करने गया था तब, मुझे एक महीनेसे भी अधिक समय तक आपके घरपर ही ठहरनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था और आपके आतिथ्यको पाकर ऐसा महसूस हुआ था कि मैं अपने ही घरपर कुटुम्बके मध्य रह रहा हूँ। पडितजी कितनी एकाग्रताके साथ ग्रन्थोको

सुनते, नोट कराते, पहले किये हुये किसी नोटकी याद दिलाते, एकान्तमे बैठ कर लेख लिखाते समय विराम-चिह्नो तकको बोलते जाते और चर्चा वार्तामे कितना अधिक रस लेते, इस सबका मुझे अच्छा अनुभव है। अनेक प्रसगोकी याद भी ताजा है और इसीलिये मैं कह सकता हूँ कि पडितजीका जीवन ज्ञानकी आराधनामे बडा ही व्यग्र तथा अग्रसर रहा है और यही वजह है कि वे इतनी अधिक योग्यता एव शक्तिके विकासको प्राप्त कर सके हैं। इस दृष्टिसे पडितजीका जीवन बहुतोके लिये शिक्षाप्रद ही नही, किन्तु अनुकरणीय है।

ऐसे महान् विद्वानके सम्मानमे जो यह आयोजन किया जा रहा है यह उनके योग्य ही है और उस समाजके भी योग्य ही है जिसने ऐसे आदर्श विद्वानकी सेवाएँ प्राप्त की हैं। नि सन्देह बम्बईके जैन युवक सघने पडितजीके सम्मान-समारम्भका यह आयोजन कर एक आदर्श कार्य किया है और इसके लिये वह सविशेष रूपसे धन्यवादका पात्र है।

मेरी हार्दिक भावना है कि प० सुखलालजी स्वस्थताके साथ दीर्घजीवी हो, उनकी अन्तर्दृष्टि सत्यनिष्ठाके साथ अधिक विकसित हो और वे अपने आराधित ज्ञानके द्वारा दूसरोको समुचित लाभ पहुँचानेमे समर्थ हो सकें[१]।

शुभ भावना : १५ :

मैं आचार्य श्री तुलसीको उस वक्तसे कुछ-न-कुछ सुनता, जानता तथा अनुभवमे लाता आ रहा हूँ, जब वे सितम्बर १९३६ मे आचार्य पदपर प्रतिष्ठित हुए थे। उस समय पत्रोमे उनके अनुकूल-प्रतिकूल अनेक आलोचनाएँ निकली थी, जिनमे उन्हे 'नाबालिग आचार्य' तक कहकर भी कुछ खिल्ली उडाई गई थी। और इसलिए उक्त साधनो द्वारा मुझे जो कुछ भी परिचय आचार्यश्रीका अबतक प्राप्त होता रहा है उन सबके आधार पर इतना निश्चित ही है कि आचार्य श्रीतुलसीजीने बडी योग्यताके साथ अपने पदका निर्वाह किया है। इतना ही नही, उसकी प्रतिष्ठाको आगे बढाया है। उनके गुरु महाराजने आचार्य-पद प्रदानके समय उनमे जिस योग्यता और शक्तिका अनुभव किया था उसे साक्षात् सत्य सिद्ध करके बतलाया है। वे उस वक्तकी अनुकूल आलोचनाओ पर हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओपर क्षुभित न होकर अपने कर्तव्यकी ओर अग्रसर हुए। उन्होने समदर्शित्व और सहनशीलताको अपनाकर अपनी योग्यताको उत्तरोत्तर बढानेका प्रयत्न किया। नैतिकताका पूरा ध्यान रखते हुए ज्ञान और चरित्रको उज्ज्वल एव उन्नत बनाया। उसीका यह फल है कि वे प्रतिकूलोको भी अनुकूल बना सके और इतने बडे साधु-साध्वी-सघका बाईस वर्षकी अवस्थासे ही बिना किसी खास विरोधके सफल सचालन कर सके हैं। आपके सत्प्रयत्नसे कितने ही साधु-साध्वीजन अच्छी शिक्षा एव योग्यता

प्राप्त कर स्व-पर-हित साधनाके कार्यमे लगे हुए हैं और लोक-कल्याणकी भावनाओको अणुव्रत-आन्दोलनके द्वारा आगे बढा रहे हैं, यह सब देख-सुनकर बडी प्रसन्नता होती है। अत मैं आचार्य श्री के इस धवल समारोहके पुनीत अवसरपर उनके निराकुल दीर्घ जीवन और आत्मोन्नतिमे अग्रसर होनेकी शुभ भावना भाता हुआ उन्हे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ[1]।

---

१. आ० श्रीतुलसी अभिनन्दन-ग्रन्थ, १ मार्च १९६२, पृ० १९२।

पं० ठाकुरदासजीका वियोग : १६ :

१६ जून १९६५ के जैनसन्देश अक ११ मे टीकमगढके प्रसिद्ध विद्वान् प० ठाकुरदासजी बी० ए० का ६ जूनको स्वगवास जान कर एकदम चित्तको वडा धक्का लगा और दु ख पहुँचा। आपके इस वियोगसे नि सन्देह जैन समाजकी वडी क्षति हुई है, जिसकी सहजपूर्ति सभव नही है। आप सस्कृत-प्राकृत तथा हिन्दी भाषाके अच्छे प्रौढ विद्वान् होनेके साथ-साथ आध्यात्मिक रुचिके सत्पुरुप थे। पूज्य वर्णी श्रीगणेशप्रसादजी आपको वहुत आदरकी दृष्टिसे देखते थे। वर्णीजीकी प्रेरणा और ला० राजकृष्णजीके आमंत्रणको पाकर जब आप समयसारका सशोधन-सम्पादनादि काय करनेके लिये दिल्ली पधारे थे तभी आपसे मेरा साक्षात्कार हुआ था और जव तक आप दिल्ली ठहरे तब तक वरावर आपसे मिलना होता रहा और आप कई वार वारसेवामन्दिरमे भी सम्पादन-सशोधनादि सम्बन्धी परामर्शके लिये मेरे पास आते रहे हैं। उसके बादसे फिर पत्रो द्वारा सम्वन्ध चलता रहा, जो कि निधनकी तारीखको ही समाप्त हुआ है। आपका अन्तिम पत्र २८ मईका जिखा हुआ ३०-३१ को मुझे मिल गया था, जिसका उत्तर मैंने ६ जूनको लिखा था। लिखते समय मुझे क्या मालूम था कि आज ही स्वर्ग सिधार रहे हैं और इसलिये मेरा यह पत्र आपको नही मिलेगा। मैं तो उत्तरकी प्रतीक्षामें था कि अचानक ही स्वर्गवासकी उक्त दुःखद घटनाका समाचार मिला, यह एक बडे ही खेदका विपय है॥

पत्रो आदिसे जहाँ तक मुझे मालूम हुआ, स्वर्गीय पडितजी

बडे ही सरल स्वभाव एवं उदार विचारके एक सौजन्यपूर्ण विद्वान् थे, परके थोडेसे भी उपकारको बहुत करके मानते थे, दूसरोके कष्टोको देख कर उनका हृदय दयासे द्रवीभूत हो जाता था और वे उनको कहीसे सहायता प्राप्त करानेका भरसक यत्न किया करते थे। अपने जीवनके उत्तरार्धमे यद्यपि वे बराबर अर्थ-संकटमे चलते रहे हैं परन्तु उसके लिये उन्होने कभी किसीसे याचना नही की, वे याचनाको अपने लिये गौरवकी वस्तु नही समझते थे। एक बार पूज्य वर्णीजीने साहू शातिप्रसादजीको प्रेरणा करके उनके लिये कुछ आर्थिक व्यवस्था कराई थी, जिससे उनके रहनेके लिए मकानकी सुविधा हो गई थी। साहूजी तथा वर्णीजीके इस उपकारका वे वरावर स्मरण करते रहे हैं।

एक वार वमन द्वारा उनके मुँहसे बहुत रुधिर गिरा था, जिससे वे अवस्थ हो गये थे। किसी सज्जनने साहूजीको उसकी सूचना की तो उन्होने एक वर्षके लिये १००) रु० मासिककी सहायता नियत कर दी, जो बरावर समयपर उन्हे पहुँचती रही। सहायताकी समाप्तिके पाँच महीने बाद जव पंडितजी बहुत वीमार पडे और सल्लेखना तकका विचार करने लगे तव उसकी खवर पाकर मैंने साहू शान्तिप्रसादजीको सहायताके पुन. चालू कर देनेकी प्रेरणा की और साथ ही यह भी लिखा कि पाँच महीने जो सहायता बन्द रही है वह भी उन्हे भिजवा दी जाय। साहू-जीने मेरे इस लिखनेको मान देकर तुरन्त ही १००) रु० मासिक की सहायता तार द्वारा चालू कर दी और बादको ५००) रु० भी भेज दिये, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। इस सहायता-को पाकर पडितजोके हृदयमे नई आशाका सचार हुआ, उनके रोगका शमन हुआ और वे स्वाध्यायादि धर्म-साधन तथा साहित्य-

सेवाके सत्कार्यमे भी प्रवृत्त हो सके। इसके लिये उन्होने अपने अन्तिम पत्रमें भी कृतज्ञता व्यक्त की है।

आपको पपौराजी और उसके विद्यालयसे बडा प्रेम था। दोनोकी उन्नतिमे आपका बडा हाथ रहा। जब आपको यह मालूम हुआ कि मैं कुछ अर्सेके लिए दिल्ली छोड रहा हूँ तो आपने एक दो बार मुझे पपौराजी आकर रहनेको प्रेरणा की है और वहाँके स्वच्छ एव शात वातावरणकी प्रशसा की हैं।

इस बारकी उनकी बीमारीका कारण मई मासकी तीक्ष्ण गर्मी है जिसे वे सहन नही कर सके, जैसा कि उनके पत्रके इस वाक्यसे प्रकट है—"इस वृषादित्यकी प्रखरताने मेरे शरीरको विशेष अस्वस्थ कर दिया है।" हालमे उन्होंने स्वामी समन्तभद्र-के उपलब्ध पाँचो मूल ग्रन्थोका सम्पादन कर और इस सग्रहका 'समन्तभद्र भारती' नाम देकर उसपर अपना 'प्राक्कथन' लिखा है और यह ग्रन्थ श्री पडित नीरजजीके पास छपनेको गया हुआ है, ऐसा उक्त पत्रसे मालूम होता है। साथ ही और भी कई बातोका पता चलता है। इससे उस पत्रको आज यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

अन्तमे पडितजीके लिए परलोकमे सुख-शान्तिकी भावना करता हुआ उनके इस वियोगसे पीडित पुत्र, स्त्री आदि कुटुम्बी-जनोके साथ अपनी समवेदना व्यक्त करता हूँ। आशा है सद्गतात्मा पडितजीका आध्यात्मिक जीवन उन्हे स्वत धैर्य बधानेमे समर्थ होगा।

अन्तिम पत्र

ओं ह्रीं अनन्तानन्तपरमसिद्धेभ्यो नम ।

टीकमगढ—म० प्र० २८।५।६५

श्रीमान आदरणीय मुख्तार साहिव,

डाक्टर श्री श्रीचन्दजी ।

सस्नेह जयजिनेश ।

आशा है कि आप सकुशल हैं । कल आपका चिर प्रतीक्षित कृपा-पत्र प्राप्त हो गया है । मेरा शरीर इतना क्षीण और शिथिल है कि मैं श्री महावीरजी नही पहुँच सकता था । इस वृपादित्यकी प्रखरताने मेरे शरीरको विशेप अस्वस्थ कर दिया हैं । देखता हूँ कि यह क्षीणता केवल कुछ ही कालमे शान्त होती है या नही । आपके पुण्य-पीयूपपूर्ण अन्त करणकी स्मृति मेरे कृतज्ञ मानसपटपर सुवर्ण अक्षरोमे दिव्यता दे रही है, यदि आपने स्वत ही वैसा उपकार न कराया होता तो निश्चयत शरीर ही पर्य्यवसानको प्राप्त हो गया होता । 'समन्तभद्रत्वमयोऽस्ति जात ' ये युगवीर-मगलकामनाष्टक वर्णित उद्‌गार पूर्णत साधार हैं । समन्तभद्रभारती अभी नही छप पाई है । मुझे सतनासे श्री नीरजजीने लिखा कि छपाई हेतु अर्थ-व्यवस्था हो जानेपर आपका समाचार दूगा । वे समाचार मुझे अब तक नही मिले हैं । मैंने उक्त समन्तभद्र-भारती (मूल) के प्राक्कथनमे आपका सक्षिप्त उदात्त परिचय देते हुए पाठकोको सकेत दिया था कि इन ग्रन्थोके रहस्योको वे आपके द्वारा विरचित हिन्दी टीकाओका अध्ययन करके अपने जीवनको धन्य वनावें । आपके द्वारा विरचित समन्तभद्र-स्तोत्रको भी मैंने ग्रन्थके अन्तमे दे दिया था । श्री

अजितसागरजी मुनि महाराजने प० आशाधरजीके दर्शनपाठ, जिन-सहस्रनाम स्तवन, अर्हत्स्तुति, सिद्धस्तुति, सरस्वता स्तोत्र, महर्षि स्तोत्र, अध्यात्मरहस्य, द्वादशानुप्रेक्षा, द्वाविंशति-परीपह, चतुर्विशति स्तुति, स्वस्त्ययन-विधान आनन्दस्तव, वृहद् स्वस्त्य-यन, इन १३ मूल कृतियोको लिखकर भेजा है। इनका सशोधन करके ग्रथका नामकरण भी करना है। क्या 'सूरिकल्प पडित आशाधरजी कृत दर्शनपाठादि-सग्रह, नाम ठीक रहेगा। आप लिखें तो मैं पूरा ग्रन्थ आपके पास भेज दू।

दुःसह दुःखद वियोग : १७ :

ता० २८ जनवरी १९६६ को सुबह कलकत्ताके तारसे यह दु समाचार पाकर हृदयको बडा ही आघात पहुँचा कि श्री बाबू छोटेलालजीका २६ जनवरीको सुबह देहावसान होगया है। तबसे चित्त अशान्त चल रहा है और कुछ करने-करानेको मन नही होता। यह ठीक है कि वे अर्सेसे बीमार चल रहे थे, परन्तु बीच-बीचमे कुछ अच्छे भी होते रहे हैं और इसलिए यह आशा नही थी कि वे इस तरह ऐसे समाप्त हो जायेंगे। वे बराबर अपने पत्रोमें दिल्ली आने और वीरसेवामन्दिरकी व्यवस्थाको ठीक करने तथा किसी योग्य मत्रीकी नियुक्तिका आश्वासन देते रहे हैं। जब-जब उन्होने दिल्ली आनेका निश्चय किया है तब-तब उनपर रोगका आक्रमण होता रहा है और एक-दो बार तो वे टिकट कटाकर और सीट रिजर्व कराकर भी नही आ सके। यह बडे ही दुर्भाग्यकी बात है। १० अगस्तके पत्रमे दिये गए निम्न शब्द उनकी इच्छा, स्थिति और बेबसीके द्योतक हैं—

"मेरी प्रबल इच्छा है कि एक बार दिल्ली हो आऊँ और वीरसेवामन्दिरके कामको ठीक कर आऊँ। अभी ८ दिन हुए तब एक दिन कुछ तबियत ठीक हुई थी, तब रेलमे सीट रिजर्व करानेको कह दिया था कि जिस दिनकी सीट मिले, रिजर्व करा लेना। बस, उसी दिन रातको फिर जोरका दौरा पडा—सबेरे भी कष्ट रहा, तब सीट रिजर्व कराना स्थगित किया। मैं नित्य भगवानसे प्रार्थना करता हूँ कि एक

वार दिल्ली जाने लायक हो जाऊँ। मैं आपसे सत्य कहता हूँ कि मुझे इतनी वडी संस्थाकी वहुत अधिक चिन्ता है कि देखो ठीक तरहसे काम नही चल रहा है। मुझे अपने जीवनकी चिन्ता नही है, किन्तु वीरसेवामन्दिरकी बहुत चिन्ता है। मैं पुन॰ आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जिस दिन भी कष्ट कुछ कम होगा मैं तुरन्त चला आऊँगा। वायुयानसे आनेका साहस इसलिए नही करता हूँ कि रक्तचाप होता रहता है। अब तो नित्य दिल्लीकी ओर ध्यान जाता रहता है। मुझे और कोई झंझट बाधक नही है।''

एक-दो वार मैंने स्वय उनके पास कलकत्ता जाने का विचार भी किया परन्तु उन्होने कभी ता अपने वात-चीत करने की स्थितिमे न होनेके कारण और कभी मेरे सफर-कष्टके कारण रोक दिया और पत्र-व्यवहारसे भी कितनी ही बात हो सकती हैं मैं पत्रका उत्तर शीघ्र दूगा, ऐस लिख दिया।

हालमें डॉ० श्रीचन्दने १८ दिसम्बरके पत्रमे उनकी अस्वस्थतापर वेदना तथा चिन्ता व्यक्त करते हुए और उनके शीघ्र ही नीरोग होनेको भावना करते हुए उन्हे उनके अनुकूल एक शुभ समाचार भी दिया था, जिसकी वे बहुत दिनोसे प्रतीक्षा कर रहे थे। साथ ही यह भो लिखा था कि वीरसेवामन्दिर ट्रस्टकी मीटिंग अब जल्दी बुलाई जानेको है। आप कब तक दिल्ली आ सकेंगे ? यदि किसी तरह आना न बन सके तो मैं मुख्तार सा० को साथ लेकर आपके पास आना चाहता हूँ। आप साहू शान्तिप्रसादजीको भी प्रेरणा कीजिये कि वे ट्रस्टकी इस मीटिंगमे जरूर शरीक हो। इस पत्रका बा० छोटेलाल स्वय उत्तर नही दे सके। उन्होने २७ दिसम्बरको स्वास्थ्यकी अधिक

खराबीके कारण और दो सप्ताहसे अस्पतालमे होनेके कारण श्री वशीधरजी एम० ए० से अपनी उत्तर देनेमें असमर्थताकी बात लिखा दी और यह भी लिखा दिया कि स्वास्थ्य ठीक होनेपर उत्तर दे सकूँगा। पत्रमे श्री वशीधरजीने लिखा है कि उन्हे दमा तथा खाजका जोर है। यह खाजका रोगका एक्जीमा है जो कई वर्ष पहले उन्हे बहुत जोरसे हुआ था और जिसके पुन लौट आनेकी सूचना बा० छोटेलालजीने अपने पिछले एक पत्रमे दी थी और उसके कारण भी उन्हे दिल्लीका जाना स्थगित करना पडा था।

बा० छोटेलालजी समाजकी एक बडो विभूति थे, नि स्वार्थ सेवाभावी थे, कर्मठ विद्वान् थे, उदारचेता थे, प्रसिद्धिसे दूर रहने वाले थे, अनेक संस्थाओको स्वयं दान देते तथा दूसरोसे दिलाते थे। वीरसेवामन्दिरके तो आप एक प्राण ही थे। आपके इस दु·सह एव दुःखद वियोगसे उसे भारी क्षति पहुँची है, जिसकी निकट-भविष्यमे पूर्ति होना कठिन है।

मेरी हार्दिक भावना है कि सद्गत आत्माको परलोकमे सुखशान्तिकी प्राप्ति होवे और कुटुम्बीजनोको धैर्य मिले[1]।

१. जैन सन्देश, ३ फरवरी १९६६ ई०।

: ४ :

विनोद-शिक्षात्मक निबन्ध

१. मैं और आप—दोनों लोकनाथ

२. श्रीमान और धीमानकी बातचीत

३. अतिपरिचयादवज्ञा

४. मांस-भक्षणमें विचित्र हेतु

५. पापका बाप

६. विवेककी आँख

७ मक्खनवालेका विज्ञापन

मैं और आप—दोनों लोकनाथ : १ :

एक वामनाकार भिक्षुकने किसी राज-दरबारमे जाकर यह वाक्य कहा—

"अहं च त्वं च राजेन्द्र लोकनाथावुभावपि"

'हे राजेन्द्र । मैं और आप दोनो ही लोकनाथ हैं ।'

भिक्षुकके मुखसे इस वाक्यको सुनकर राजा साहब बहुत असन्तुष्ट हुए और क्रुद्ध होकर कुछ आज्ञा देनेको ही थे कि उनकी दृष्टि उस भिक्षुकके वामनाकारपर पडी । दृष्टिका पडना था कि झटसे राजा साहबको विष्णुभगवानका वामनावतार याद आगया और यह ख्याल उत्पन्न हुआ कि कहीं यह साक्षात् लोकनाथ विष्णुभगवान हो तो इस रूपमे नही आये हैं । तब राजा साहब सशंकित चित्त हो विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगे —

'महाराज । मैं आपके इस वाक्यका यथार्थ अर्थ नही समझ सका हूँ । क्या आप कृपाकर मुझको यह बतलायेंगे कि मैं और आप दोनो किस प्रकारसे लोकनाथ हैं ?

भिक्षुकने इसके उत्तरमे यह वाक्य कहा —

'बहुव्रीहिरहं राजन् षष्ठीतत्पुरुषो भवान्'

'हे राजन् । मैं बहुव्रीहि समाससे लोकनाथ हूँ (लोका जना नाथा स्वामिनो यस्यैवविधोऽहं याचकत्वात्) जिसका प्रयोजन यह है कि याचक और भिखारी होनेके कारण सब लोग जिसके नाथ हैं ऐसा मैं 'लोकनाथ' हूँ और आप षष्ठी-

तत्पुरुष समाससे 'लोकनाथ' हैं (लोकाना जनाना नाथ एव-विधस्त्व, राजत्वेन पालकत्वात्), जिसका आशय यह है कि राजा होकर मनुष्योकी रक्षा व पालना करनेके कारण लोगोके जो नाथ सो ऐसे आप 'लोकनाथ' हैं ।

राजा साहब इस उत्तरको सुनकर, विनयवचनादि द्वारा प्रकाशित अपनी मूर्खतापर वहुत लज्जित और भिक्षुककी विद्वत्ता और युक्तिमय वचनोपर प्रसन्नचित्त हुए और उस भिक्षुकको इनाममे कुछ मुहरें देकर विदा किया[1] ।

---

१. जैन गजट, १-७ १९०७

धीमान और श्रीमानकी बातचीत :२:

धीमान—भाई साहब! आज आप क्या लिख रहे हैं?

श्रीमान—मैं 'जैनगजट' में छपवानेके लिये एक नोटिस लिख रहा हूँ।

धीमान—किस बातकी नोटिस?

श्रीमान—'भाईजी' आप जानते ही हैं कि हमने जो नवीन मन्दिर तैयार कराया है और जिसकी गतवर्ष प्रतिष्ठा हुई थी उसमे पूजा करनेकी बडी दिक्कत रहती है। वहा नित्य पूजन करनेके लिये हमको एक पाँच-सात रुपये महीनेके आदमीकी जरूरत है, उसके लिये यह नोटिस लिख रहा हूँ।

धीमान—सेठजी! एक आदमीकी तो हमको भी जरूरत है, कृपाकर एक नोटिस 'जैन गजट' में हमारे लिये भी लिख भेजिये।

श्रीमान—आपको किस कामके लिये कैसे आदमीकी जरूरत है?

धीमान—हमको ऐसे आदमीकी जरूरत है जो हमारी तरफ से मन्दिरजीमे जाकर नित्य दर्शन और सामयिक किया करे, शास्त्र सुना करे तथा हमारी तरफसे व्रत-नियम पालन किया करे और प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी तथा अन्य पर्वके दिनोमे प्रौषधोपवास भी किया करे।

श्रीमान—पडितजी! आप तो बुद्धिमान हैं। भला कही ऐसे कामोके वास्ते भी नौकर रक्खा जाता है। ये काम तो अपने ही करनेके होते हैं। ऐसे कामोको नौकरोसे करानेमे क्या धर्म-लाभ हो सकता है?

धीमान—तो क्या फिर त्रैलोक्यनाथ श्री भगवानकी पूजाका काम नौकरोके करने और उनसे करानेका होता है? और क्या

नौकरोके करनेसे अपनेको कुछ धर्म-लाभ होना मानते हैं ? यदि यह सत्य है (अर्थात् पूजन नौकरोका काम है और उससे अपनेको धर्म-लाभ होता है) तो फिर हमारे उक्त कार्योके नौकर द्वारा सम्पादित होने और उनसे हमको धर्म-लाभ पहुँचनेमे कौन वाधक है ? इसीसे हमने ऐसा कहा है ।

श्रीमान—(कुछ लज्जित होकर) भाई साहव ! काम तो पूजनका भी अपने ही करनेका है, नौकरसे करानेका नही और अपने आप ही पूजन करनेसे कुछ धर्म-लाभ भी हो सकता है, अन्यथा नही, परन्तु क्या किया जाय, आजकल ऐसा ही शिथिलाचार हो गया है कि कोई मन्दिरजीमे पूजन करने ही नही आता है ।

धीमान—सेठजी ! क्या आपके लिये यह लज्जाकी वात नही है कि जिस भगवानकी पूजाको इन्द्र, अहमिन्द्र और चक्रवर्त्यादिक राजा वडे उत्साहके साथ करते हैं, आप उसको स्वय न करके नौकरोसे कराना चाहे और इस प्रकार सर्व-साधारणपर श्रीजीके प्रति अपना अनादरभाव प्रगट करें ? क्या आपके इस नोटिससे वे लोग, जिनके हृदयोपर आपने नवीन मन्दिर वनवाने और उसकी प्रतिष्ठा करानेसे अपनी भगवद्-भक्ति और धर्मानुरागता अकित की थी, यह नतीजा नही निकालेंगे कि 'आपमे भगवद्-भक्ति और धर्मानुरागताका लेश भी नही है और जो कुछ आपने किया है वह केवल अपनी मान-वडाई और लोक-दिखावेके लिये किया है ?' यदि आपके हृदयमे भगवानकी भक्ति और उनके पूजनसे अनुराग नही था और आप जानते थे कि अन्य मन्दिरोमे भी पूजनका प्रबन्ध मुश्किलसे होता है तो फिर आपको इस शहरमे कई मन्दिर

विद्यमान होते हुए भी एक नवीन मन्दिर बनवानेकी क्या जरूरत थी ? क्या केवल नामवरी और अपने धनकी प्रभावना ही के वास्ते आपने यह काम किया था ? अफसोस ! भाई साहब ! आप किस भूलमें हैं, यह भगवत् (पच परमेष्ठी) की पूजा और भक्ति वह उत्तम वस्तु है कि इस ही के प्रभावसे प्रथम स्वर्गका इन्द्र, कुछ भी तप-सयम और नियम न करते हुए भी, एक भवधारी हो जाता है अर्थात् स्वर्गसे आकर अगले ही जन्ममे मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। इसलिये शिथिलता और प्रमादको छोडकर आपको स्वय नित्य भगवानकी पूजा और भक्ति करनी चाहिये। आपकी पूजा और भक्तिको देखकर अन्य बहुतसे भाइयोको उसके करनेकी प्रेरणा होगी, जिसका आपको पुण्य-बध होगा। यदि आप ऐसा न करके विपरीत प्रथा (नौकरोसे पूजन कराना) डालेंगे और कुछ दिन तक यही शिथिलाचार और जारी रहेगा तो याद रखिये कि वह दिन भी निकट आ जायगा कि जब दर्शन और सामायिक आदिके लिये भी नौकर रखनेकी जरूरत होने लगेगी और धर्मका बिलकुल लोप हो जायगा। फिर इस कलक और अपराधका भार आप ही जैसे श्रीमानोकी गर्दनपर होगा।

धीमानकी इस बातको सुनकर श्रीमानजी बहुत ही लज्जित हुए और उनको स्वय भगवानकी पूजाका करना स्वीकार करना पडा और 'जैनगजट' मे नोटिसका छपवाना स्थगित रक्खा गया[1]।

---

१. जैनगजट, ८–७–१९०७

अतिपरिचयादवज्ञा

एक नवशिक्षित प्रमादी युवा पुरुषको भगवानके दर्शन और पूजनसे रुचि नही थी। यद्यपि वह किसी भी प्रवल हेतुसे मूर्ति-पूजनका खंडन नही कर सकता था, परन्तु वह हर वक्त इस फिक्रमे रहता था कि कोई ऐसी युक्ति मिल जावे जिससे मदिरमे नित्य दर्शनादिके लिये जाना न पडा करे। ढूँढते-ढूँढते उनको कही से यह श्लोक हाथ लग गया —

अतिपरिचयादवज्ञा संततगमनादनादरो भवति।
लोकः प्रयागवासी कूपे स्नानं समाचरति॥

वस, अव क्या था। इस श्लोकको पाते ही युवा साहव हवाके घोडेपर सवार होगये और जव कोई उनको दर्शनादिके लिये मदिरमे जानेकी प्रेरणा करता तथा पूछता कि आप क्यो नही जाते हैं तो वह तुरन्त वडे हर्षके साथ अपने न जानेके कारणमे उपर्युक्त श्लोकको पेश कर देते थे और उसकी इस प्रकार व्याख्या करके अपना पिण्ड छुडा लेते कि जो वस्तु अधिक परिचयमे आती है उसकी अवज्ञा हो जाती हैं और जिसके पास निरन्तर जाना रहता है उसका हृदयमेसे आदर-भाव निकल जाता है, जैसे कि प्रयागनिवासी मनुष्योको गगा और यमुनाका अति परिचय होने और उसमे निरन्तर स्नानके लिये जानेसे अव उन लोगोके हृदयमेसे उस तीर्थका आदर-भाव निकल गया है और वे अव नित्य कुयेंपर स्नान करके उक्त तीर्थकी अवज्ञा करते हैं। इसी प्रकार नित्य मदिरमे जानेसे भगवानकी अवज्ञा और अनादर हो जावेगा, इसीसे मैं नही जाता हूँ। लोग इसको सुनकर चुप हो जाते और कुछ जवाब न देते।

एक दिन युवा साहबको अपना यह एकान्त किसी अनेकान्ती महाशयके सम्मुख भी पेश करना पडा। वहाँ क्या देर थी। उक्त महाशयने झटसे इसके निराकरणमे यह वाक्य कहा —

अतिपरिचयादवज्ञा इति यद्वाक्यं मृषैव तद् भाति।
अतिपरिचितेऽप्यनादौ संसारेऽस्मिन् न जायतेऽवज्ञा॥

अर्थात् जो कोई ऐसा एकान्त ग्रहण करता है और कहता है कि अति परिचय होनेसे अवज्ञा होती है, यह उसका एकान्त मिथ्या जान पडता है, क्योकि अनादि कालसे जिसका परिचय है ऐसे ससारसे किसी भी ससारीकी अवज्ञा नही है, ससारी इस विषय-भोग तथा रागादि भावोसे मुख नही मोडता है और न उनकी कुछ अवज्ञा करता है, बल्कि ससारी जीव उल्टा उनके लिये उत्सुक और उनकी पुष्टिमे अनेक प्रकारसे दत्तचित्त बने रहते हैं। इसलिये 'अतिपरिचयादवज्ञा' ऐसा एकान्त सिद्धान्त मिथ्या है।

अनेकान्तवादीके इन वाक्योको सुनकर नवशिक्षित महाशयके देवता कूच कर गये, कुछ भी उत्तर न बन पडा और उनको मालूम होगया कि हमारा हेतु ठीक नही, व्यभिचारी है। अन्तमे उनको लज्जित होकर प्रमाद और आलस्यकी शरण ग्रहण करनी पडी अर्थात् यह कहना पडा कि यह मेरा प्रमाद और आलस्य है जो मैं नित्य मन्दिरजीमे नही जाता हूँ[1]।

---

१. जैनगजट, १६-७-१९०७

मांसभक्षणमें विचित्र हेतु : ४ :

एक महाशय मासके बहुत ही प्रेमी थे। दैवयोगसे आपने कहीसे कुछ थोडा-सा न्याय पढ लिया। अब क्या था, लगा महाशयजीको खब्त सूझने। और खब्त होते-होते वे इस उधेड बुनमे पड गये कि किसी प्रकार न्यायकी शैलीसे मासभक्षणको निर्दोष सिद्ध करना चाहिये। इसके लिये आप हेतु ढूँढने लगे, समस्त ग्रन्थ और शास्त्र टटोल मारे, परन्तु कही हेतु हो तो मिले। तब लाचार आपको यह लटक उठी कि अपने आपही कोई नवीन हेतु गढना चाहिये। आखिर बहुत कुछ दिमाग खपाते-खपाते आपने एक हेतु गढ ही डाला और उसको श्लोकके ढाँचेमे इस प्रकार ढाल दिया —

मांसस्य मरणं नास्ति, नास्ति मांसस्य वेदना।
वेदनामरणाभावात्, को दोषो मासभक्षणे॥

इस श्लोकको गढकर महाशयजी बहुत ही प्रसन्न हुए और आपेसे इतने बाहर हो गये कि अपनी प्रशसा और दूसरोकी निन्दामे जमीन-आसमान एक करने लगे। उनको जो कोई मिलता वे उसीको मास-भक्षणकी प्रेरणा करते और मास-भक्षण-को निर्दोष सिद्ध करनेकेलिये उपर्युक्त श्लोकका प्रमाण देकर उसका अर्थ और भावार्थ इस प्रकार समझा देते कि—मासका मरण नही होता है और न मासको कोई तकलीफ होती है। जब मरण और तकलीफ दोनो नही होते हैं तो फिर मास-भक्षणमे क्या दोष है? पाप उस वक्त लगता है कि जब किसीको मारा जावे या दु ख दिया जावे, परन्तु मास न मरता

है और न उसको कुछ दु ख पहुँचता है। इसलिये उसके खानेमें कोई हर्ज ओर दोप नही है।" इस रीतिसे वे बहुतसे भोले मनुष्योको बहकाने लगे।

एक दिन महाशयजीकी भेंट अनेकान्तसिंहके भाई तुरत-बुद्धिसे हुई। आपने उनको भी बहकाना चाहा और अपना वही मनगढत श्लोक सुनाया, परन्तु वे प्रथम तो अनेकान्तसिंहके भाई और दूसरे स्वय तुरतबुद्धि थे, महाशयजीकी वातोमें कब आनेवाले थे। उन्होने तुरन्त महाशयजीके श्लोकके उत्तरमे तुर्की-ब-तुर्की यह श्लोक कहा—

गूथस्य मरणं नास्ति, नास्ति गूथस्य वेदना।
वेदनामरणाभावात्, को दोषो गूथ-भक्षणे॥

अर्थात्—विष्ठाका मरण नही होता है और न विष्ठाको कोई तकलीफ होती है। जब मरण और तकलीफ दोनो नही होते हैं तो फिर विष्ठाके भक्षणमे क्या दोष है? भावार्थ—जब आप मास-भक्षणको वेदना और मरणके न होनेसे ही निर्दोष ठहराते हैं तो फिर आप विष्ठा-भक्षण करनेसे कैसे इनकार कर सकते हैं और कैसे उसको सदोष कह सकते हैं? जिस हेतुसे आप मास-भक्षणको निर्दोष सिद्ध करते हैं आपके उसी हेतुसे विष्ठा-भक्षण भी, जिसको आप सदोप मान रहे हैं, निर्दोष सिद्ध हुआ जाता है, क्योकि दोनो स्थानोपर हेतु समान है और जिस हेतुसे आप विष्ठा-भक्षणको सदोप मानते हैं उसी हेतुसे मास-भक्षणके सदोष माननेमे आपको कौन बाधक हो सकता है? एकको सदोष और दूसरेको निर्दोप माननेसे आपका हेतु (वेदना मरणाभावात्) व्यभिचारी ठहरता है और उससे कदापि साध्य-की सिद्धि नही हो सकती।

तुरतवुद्धिके इस श्लोक और व्याख्याको सुनकर महाशयजी-की आँखे खुल गई, वे अपना-सा मुँह लेकर रह गये और सव आवली-वावली भूल गये—उनसे कुछ भी उत्तर न वन सका और उनको इतना खिसियाना और शर्मिन्दा होना पडा कि उन्होने तुरतवुद्धिजीसे माफी मागी और अपना कान मरोडा कि मैं भविष्यमे किसीको भी मास-भक्षणकी प्रेरणा नही करूंगा, न स्वय मासके निकट जाऊँगा और न कभी अपने उस मनगढत श्लोकका उच्चारण करूँगा[1]।

---

१. जैन गजट ८-८-१९०७

पापका बाप

: ५ :

एक ब्राह्मण विवाह होनेके पश्चात् विद्या पढनेके लिये काशी गया। वहाँ पर जब उसको १२, १३, वर्ष बीत गये और समस्त वेद-वेदागका पाठी बन गया तब गुरुकी आज्ञा लेकर अपने घर वापिस आया। घरपर आकर जब उसने अपनी विद्याका प्रकाश किया और अपने माता-पितासे प्रगट किया कि मैं इस प्रकार वेद-वेदागका पाठी हो गया हूँ, तब माता-पिताके आनन्दका ठिकाना नही रहा, और नगर-निवासियोको भी उसकी विद्याका हाल मालूम करके अत्यन्त हर्ष हुआ— उन्होने अपने नगरमे ऐसे विद्वान्के होनेसे अपना और नगरका बडा भारी गौरव समझा।

ब्राह्मण महोदयकी धर्मपत्नी एक अच्छे घरानेकी पढी-लिखी कन्या थी और बडी ही सुशीला, धर्मात्मा तथा उच्च विचारोको रखने वाली थी। रात्रिके समय जब वह ब्राह्मण अपनी स्त्रीके पास गया और उससे अपने विद्या पढनेका सारा दास्तान (हाल) उसे सुनाया और हर प्रकारसे अपनी योग्यता और निपुणता प्रगट की तब उस विचारशीला स्त्रीने नम्रताके साथ अपने पतिदेवसे यह पूछा कि, "**आपने पापका बाप भी पढ़ा है या नहीं ?**"

इस प्रश्नको सुनते ही पतिराजके देवता कूँच कर गये और सारी आवली-बावली (विद्या-चतुराई) भूल गये। आप सोचने लगे कि "पापका बाप" क्या ? मैंने व्याकरण, काव्य, छन्द, अलकार, ज्योतिष, वैद्यक और गणित आदिक सब ही विद्याएँ

पढी, परन्तु पापके बापका तो नाम तक भी नही सुना, यह कौन-सी विद्या है ? इस प्रकार सोचते-सोचते अन्तमे आपको यही कहना पडा कि, 'पापका बाप तो मैंने अभी तक नही पढा ।'

अपने पतिके इस उत्तरको सुन कर स्त्रीने किंचित् जोशमे आकर कहा कि "जब तुमने **पापका बाप** ही नही पढा तो तुमने पढा ही क्या ? तुम्हारा सब विद्याओमे निपुण होना और वेद-वेदागका पाठी होना बिना इसके पढे सब निष्फल है । इसलिए सबसे पहले **पापका बाप** पढिये । तब ही आपका सब विद्याओको प्राप्त करना शोभा दे सकता है । अन्यथा, केवल भार ही भार वहना है ।"

अपनी स्त्रीके इन वाक्योको सुनकर पतिराम इतने लज्जित हुए कि उनको रात काटनी भारी पड गई । आप रात भर करवटें बदलते हुए चिन्तामे मग्न रहे और अपने हृदयमे आपने पूरे तौरसे यह ठान ली कि जब तक पापका बाप नही पढ़ लेंगे तब तक घरमे पैर नही रक्खेंगे, यही अभिप्राय आपने अपनी स्त्रीसे भी प्रगट कर दिया, और प्रातःकाल उठते ही नगरसे निकल गये ।

स्त्रीके वचनोकी पडितजी पर कुछ ऐसी फटकारसी पडी कि, जब अपने नगरसे निकल कर दो-चार ग्रामोमे पूछने पर भी आपको कोई पापका बाप नही बता सका तो आप पागल-से हुए गलीमे यह कहते फिरने लगे कि, "कोई पापका बाप पढा दो ! कोई पापका बाप बता दो !" इस प्रकार कहते और घूमते हुए पडितजी एक बडेसे नगरमे पहुँचे, जहाँ पर एक बडी चतुर वेश्या रहती थी । जिस समय पडितजी अपनी वाणी ("कोई पापका बाप पढा दो—") बोलते हुए उस वेश्याके मकानके

नीचेसे गुजरे तो वह वेश्या उनके हालको ताड गई—अर्थात् समझ गई, और उसने तुरन्त ही अपने एक आदमीके हाथ उनको ऊपर बुलवा लिया।

जब पडितजी ऊपर वेश्याके मकानपर पहुँचे तो वेश्याने उनको बहुत आदर-सत्कारसे बिठाया और बैठनेके लिये उच्चासन दिया। पडितजीके बैठ जानेपर वेश्याने उनका सब हाल पूछा और उनकी हालतपर सहानुभूति और हमदर्दी प्रकट की। फिर वह वेश्या पडितजीको इधर-उधरकी बातोमे भुलाकर उनकी प्रशसा करने लगी और कहने लगी कि, मुझ "मदभागिनीके ऐसे भाग्य कहाँ जो आप जैसे विद्वान, सज्जन और धर्मात्मा अतिथि मेरे घर पधारें, मेरा घर आपके चरणकमलोसे पवित्र हो गया, मेरी इच्छा है कि आज आप यही पर भोजन कर इस दासीका जन्म सफल करें, आशा है कि आप मेरी इस प्रार्थना को अस्वीकार न करेगे।" वेश्याकी इस प्रार्थनाको सुन कर पडितजी कुछ चौंक कर कहने लगे कि, हैं। यह क्या कही। हम ब्राह्मण तुम्हारे घरका भोजन कैसे कर सकतेहैं? इस पर वेश्याने नम्रतासे कहा कि "महाराजका जो कुछ विचार है वह ठीक है परन्तु मैं बाजारसे हिन्दूके हाथ भोजनकी सब सामग्री मँगाये देती हूँ, आप स्वय यही पर रसोई तैयार कर लेवें, इसमें कोई हर्ज है और यह लो! (सौ रुपयेकी ढेरी लगा कर) अपनी दक्षिणा।"

पडितजीने ज्यूंही **नकद नारायणके** दर्शन किये कि उनकी आँखे खुल गईं और वे सोचने लगे कि, वेश्याके यहाँसे सूखा अन्नादिकका भोजन लेने व बाजारसे इसके द्वारा मगाई सामग्री-से भोजन बना कर खानेमे तो कोई दोष नही है, और दूसरे यह दक्षिणा भी माकूल देती है; इसलिये इसकी प्रार्थना जरूर

स्वीकार करनी चाहिये। ऐसा विचार कर आपने उत्तर दिया कि, खैर! यदि वाजारसे सव सामग्री शुद्ध आजावे और घी भी हिन्दूके यहॉ का मिल जावे तो कुछ हरज नही, हम यही पर स्वयं वनाकर भोजन कर लेवेंगे।"

वेश्याने पडितजीकी इस स्वीकारता पर वहुत वडी खुशी जाहिर की और उनको यकीन दिलाया कि सव सामग्री वहुत शुद्धताके साथ मँगाई जावेगी और घी भी हिन्दू ही के यहाँ का होगा और उसी वक्त अपने नौकरोको सव सामग्री लाकर हाजिर करनेकी आज्ञा कर दी।

जव सव सामग्री आ चुकी, चौका वरतन भी हो चुका और पडितजी स्नान करके रसोईमे जाने ही को थे, तव वेश्याने वडी ही नम्रता और विनयके साथ पडितजीसे यह अर्ज की कि—महाराज! आज मेरा चित्त आपके गुणोपर वहुत ही मोहित हो रहा है और आपकी भक्तिसे इतना भीग रहा है कि उसमे अनेक प्रकारसे आपकी सेवा करनेकी तरगें उठ रही हैं, नहीं मालूम पूर्वके जन्मका ही यह कोई संस्कार है या क्या? इस समय मेरा हृदय इस वातके लिये उमड रहा है और यही मेरी मनोकामना है कि आज मैं स्वय ही अपने हाथसे भोजन वनाकर आपको खिलाऊँ, और इस प्रकारसे अपने मनुष्य-जन्मको सफल करूँ। क्या आप मुझ अभागिनकी, इस तुच्छ विनतीको स्वीकार करनेकी कृपा दरशावेंगे? आपकी इस कृपाके उपलक्ष मे यह दासी ५००) रु० और भी आपकी भेट करना चाहती है" यह कहकर तुरन्त पाँच सौ रुपयेकी थैली मँगाकर पडितजीके आगे रखदी।

वैश्याके इन कोमल वचनोको सुनकर यद्यपि पडितजीको कुछ रोष-सा भी आया, कुछ हिचकिचाहट-सी भी पैदा हुई और

वेश्याकी इस टेढी प्रार्थनाके स्वीकार करनेमे उनको अपना धर्म भ्रष्ट होता हुआ भी नजर आया, परन्तु ५००) रुपयेकी थैलीको देखकर उनके मुँहमे पानी भर आया, वे विचारने लगे कि—"मुझको यहाँपर कोई देखने वाला तो है नही, जो जातिसे पतित होनेका भय किया जावे, पाँच सौ रुपयेकी अच्छी रकम हाथ आती है। इससे बहुतसे काम सिद्ध होगे और जो कुछ थोडा-बहुत पाप लगेगा तो वह हरिद्वारमे जाकर गगाजीमे एक गोता लगानेसे दूर हो सकता है, इसलिये हाथमे आयी इस रकमको कदापि नही छोडना चाहिये"। इस प्रकार निश्चयकर पडितजी वेश्यासे कहने लगे कि—"मुझको तुमसे कुछ उजर तो नही है परतु तुम तो व्यर्थ ही अगुली पकडते पहुँचा पकडती हो। खैर। जैसी तुम्हारी मर्जी (इच्छा)।"

पडितजीके इस प्रकार राजी होनेपर वेश्या ५००) रु० की थैली पडितजीके सुपुर्द कर स्वय रसोई बनाने लगी और पडितजी भोजनकी प्रतीक्षामे बैठ गये। पडितजी बैठे-बैठे अपने मनमे यह खयाल करके बहुत खुश हो रहे हैं कि, "यह वेश्या तो **अच्छी मतिकी होनी और गाँठकी पूरी** मिल गई, ऐसी तो जम-जम होती रहे।" थोडी देरमे रसोई तय्यार हो गई और पडितजी भोजनके लिये बुलाये गये।

जब पडितजी रसोईमे पहुँचे और उनके आगे अनेक प्रकारके भोजनोका थाल परोसा गया, तब वेश्याने पडितजीसे निवेदन किया कि—"जहाँ आपने मेरी इतनी इच्छा पूर्ण की है वहाँ पर इतनी और कीजिये कि एक ग्रास मेरे हाथसे अपने मुखमे ले लीजिये, और बाकी सब भोजन अपने आप कर लीजिये। बस, मैं इतने ही से कृतार्थ हो जाऊँगी, और यह लो। पाँच सौ रुपयेकी और थैली आपकी नजर है।"

वेश्याके इन वचनोको सुनते ही पडितजीके घर गगा आ गई और थैलीका नाम सुनते ही वे फूलकर कुप्पा हो गये। आपने सोच लिया कि, जब वेश्याने अपने हाथसे कुल भोजन ही तय्यार किया है तो फिर उसके हाथसे एक ग्रास अपने मुखमे ले लेनेमे ही कौन हर्ज है ? यह तो सहज ही मे एककी दो थैलियाँ बनती हैं, दूसरे जब गगाजीमे गोता लगावेंगे तब थोडा-सा गंगाजल भी पान कर लेवेंगे, जिससे सब शुद्धि हो जावेगी। इस लिये पडितजीने वेश्याकी यह बात भी स्वीकार कर ली।

जब वेश्याने पडितजीके मुँहमे देनेके लिये ग्रास उठाया और पडितजीने उसके लेनेके लिये मुँह बाया (खोला) तब वेश्याने क्रोधमे आकर बडे जोरके साथ पडितजीके मुखपर एक थप्पड मारा और कहा कि—"पापका बाप पढा या नही ? यही (लोभ) पापका बाप है जिसके कारण तुम अपना सारा पढा-लिखा भुलाकर अपने धर्म-कर्म और समस्त कुल-मर्यादाको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिये उतारू हो गये हो।" थप्पडके लगते ही पडित जीको होश आ गया और जिस विद्याके पढनेके लिये वे घरसे निकले थे वह उन्हे प्राप्त हो गई। आपको पूरी तौरसे यह निश्चय हो गया कि, लोभ ही समस्त पापोका मूल कारण है।

पाठकगण! ऊपरके इस उदाहरणसे आपकी समझमे भली प्रकार आ गया होगा कि यह लोभ कैसी बुरी बला है। वास्तवमे यह लोभ सब अनर्थोंका मूल कारण है और सारे पापोकी जड है। जिसपर इस लोभका भूत सवार होता है वह फिर धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय और कर्तव्य-अकर्तव्यको कुछ नही देखता, उसका विवेक इतना नष्ट हो जाता है और उसकी आँखोमे इतनी चर्बी छा जाती है कि वह प्रत्यक्षमे जानता और मानता हुआ भी धनके लालचमे बुरे-से-बुरा काम करनेके लिये उतारू

हो जाता है। बहुतसे दुष्टोने इस लोभ हीके कारण अपने माता-पिता और सहोदर तकको मार डाला है। आज कल जो कन्या-विक्रयकी भयकर प्रथा इस देशमे प्रचलित है और प्राय ६-१० वर्षकी छोटी-छोटी निरपराधिनी कन्यायें भी साठ-साठ वर्षके बुड्ढोके गले बाँधी जा रही हैं वह सब इसी लोभ-नदीकी बाढ है। इसी प्रकार इस लोभका ही यह प्रताप है जो बाजारोमे शुद्ध घीका दर्शन होना दुर्लभ हो गया है—घीमे साँपो तककी चर्बी मिलाई जाती है, तेल मिलाया जाता है और वनस्पति घी तथा कोकोजम आदिके नाम पर न मालूम और क्या-क्या अला-बला मिलाई जाती है, जो स्वास्थ्यके लिये बहुत ही हानिकारक है। दवाइयो तकमे मिलावट की जाती है और शुद्ध स्वदेशी चीनीके स्थानपर अशुद्ध तथा हानिकारक विदेशी चीनी ब˜ती जाती है और उसकी मिठाइयाँ बनाकर देशी चीनीकी मिठाइयोके रूपमे बेची जाती हैं। बाकी इसकी बदौलत तरह-तरहकी मायाचारी, ठगी और दूसरे क्रूर कर्मोकी बात रही सो अलग। सच पूछिये तो ऐसे-ऐसे ही कुकर्मोंसे यह भारत गारत हुआ है। और उसका दिन-पर-दिन नैतिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक पतन होता जाता है।

पहले भारतमे ऐसा भी समय हो चुका है कि, राजद्वारमें आम तौरपर या किसी कठिन न्यायके आ पडनेपर नगर-निवासी तथा प्रजाके मनुष्य बुलाये जाते थे और उनके द्वारा पूर्ण रूपसे ठीक और सत्य न्याय होता था। परन्तु अफसोस! आज भारतकी यह दशा है कि न्यायकी जड काटनेके लिए प्राय हर शख्स कुल्हाडी लिये फिरता है, जगह-जगह रिश्वतका बाजार गरम है, अदालतोमें न्याय करनेके लिये नगर-निवासियोका बुलाया जाना तो दूर रहा, एक भाई भी दूसरे भाईके ईमान

धर्म पर विश्वास नही करता । यही वजह है कि भारतकी प्राय सभी जातियोमेसे पचायती बल उठ गया है और उसके स्थान पर अदालतोकी सत्यानाशिनी मुकद्दमेबाजी बढ गई है, क्योकि मुखिया और चौधरियोने लोभके कारण ठीक न्याय नही किया और इसलिये फिर उस पचायतकी किसीने नही सुनी ।

भारतवर्षसे इस पचायती बलके उठ जाने या कमजोर हो जानेने बहुत बडा गजब ढाया और अनर्थ किया है । आजकल जो हजारो दुराचार फैल रहे हैं और फैलते जाते हैं वह सब इस पचायती बलके लोप होनेका ही प्रतिफल है । पचायती बलके शिथिल होनेसे लोग स्वच्छद होकर अनेक प्रकारके दुराचार और पापकर्म करने लगे और फिर कोई भी उनको रोकनेमें समर्थ न हो सका । अदालतोके थोथे तथा नि सार नाटकोका भी इस विषयमे कुछ परिणाम न निकल सका ।

अफसोस । जो भारत अपने आचार-विचारमे, अपनी विद्या-चतुराई और कला-कौशलमे तथा अपनी न्यायपरायणता और सूक्ष्म अमूर्त्तिक पदार्थों तककी खोज करनेमे दूर तक विख्यात था और अन्य देशोके लिये आदर्श स्वरूप था वह आज इस लोभके वशीभूत होकर दुराचारो और कुकर्मोकी रंगभूमि बना हुआ है, सारी सद्विद्यायें इससे रूठ गई हैं और यह अपनी सारी गुण-गरिमा तथा प्रभाको खोकर निस्तेज हो बैठा है !! एक मात्र विदेशोका दलाल और गुलाम बना हुआ है !!!

जबतक हमारे भारतवासी इस लोभ कषायको कम करके अपनी अन्यायरूप प्रवृत्तिको नही रोकेंगे और जब तक स्वार्थ-त्यागी बनना नही सीखेंगे तबतक वे कदापि अपने देश तथा समाजका सुधार नही कर सकते हैं और न ससारमे ही कुछ सुखका अनुभव कर सकते हैं । क्योकि सुख नाम निराकुलताका

है और निराकुलता आवश्यकताओंको घटाकर—परिग्रहको कम करके—सतोष धारण करनेसे प्राप्त होती है। जो सतोषी मनुष्य हैं वे निराकुल होनेसे सुखी हैं, तृष्णावान और असतोषी मनुष्योको कदापि निराकुलता नही हो सकती और इसलिये वे सदा दुखी रहते हैं। कहा भी है—

"सतोषान्न परं सुखम्", 'किं दारिद्रचमसंतोष', 'असतोषो-महाव्याधि' अर्थात्—संतोषसे बढकर और कोई दूसरा सुख नही है। दारिद्र कौन है? असतोष और सबसे बडी बीमारी कौन-सी है? असतोष। भावार्थ—जो असतोषी हैं वे अनेक प्रकारकी धन-सम्पदाके विद्यमान होते हुए भी दरिद्री और रोगीके तुल्य दुखी रहते हैं। इसलिये सुख चाहनेवाले भाइयोको लोभका त्यागकर सतोष धारण करना चाहिये।

यहाँ इस कथनसे यह प्रयोजन नही है कि सर्वथा लोभका त्यागकर धन कमाना ही छोड देना चाहिए, धन अवश्य कमाना चाहिए, विना धनके गृहस्थीका काम नही चल सकता, परन्तु धन न्याय-पूर्वक कमाना चाहिये, अन्याय मार्गसे कदापि धन पैदा नही करना चाहिये। अर्थात् ऐसे अनुचित लोभका त्याग कर देना चाहिये जिससे अन्याय मार्गसे धन उपार्जन करनेकी प्रवृत्ति होवे, यही इस सारे कथनका अभिप्राय और सार है।

आशा है हमारे भाई इस लेखपरसे जरूर कुछ प्रबोधको प्राप्त होगे और अपनी लोभ-कषायके मद करनेका प्रयत्न करेंगे। अपने चित्तको अन्याय मार्गसे हटानेके लिये उन्हे नीतिशास्त्रो, आचरण-ग्रन्थो और पुराण-पुरुषोके चरित्रोका बराबर नियम-पूर्वक अवलोकन तथा स्वाध्याय करना चाहिये और सदा इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि लक्ष्मी चचल है, न सदा किसीके

पास रही और न रहेगी; प्राण भी क्षणभगुर हैं, एक-न-एक दिन इनका सम्बन्ध जरूर छूटेगा, कुटुम्बीजन तथा इष्ट-मित्रादिक अपने-अपने मतलबके साथी हैं, इनका भी सम्बन्ध सदा बना नही रहेगा, सिवाय अपने धर्मके परलोकमे और कोई भी साथ नही जाएगा और न कुछ काम आ सकेगा, इसलिये इनके कारण अपना धर्म बिगाडना बडा अनर्थ है, कदापि अपने धर्मको छोडकर अन्याय मार्गपर नही चलना चाहिये ।

विवेककी आँख : ६ :

एक पंडितजी काशी वास करके उदर-पूर्णाके लिये देश-विदेश भ्रमते-भ्रमते काखमें पोथी दबाये हुए एक स्थान पर पहुँचे। वहाँ क्या देखते हैं कि मनुष्योंकी एक बडी भारी भीड दूर तक लग रही है। एकके ऊपर एक गिरा पडता है। क्या मजाल, कोई भला आदमी अन्दर घुस सके, मारे धक्कोंके कचूमर निकला जावे। बेचारे पंडितजी अपनी पोथी संभाले खडे-खडे भीडका तमाशा देखने लगे। दो-चार आदमियोंसे आपने पूछा भी कि यह क्या तमाशा है? क्यों इतने लोग यहाँ पर जमा हैं? परन्तु किसीने उनकी बातको सुनना तक पसन्द नहीं किया और उत्तरमें जो कुछ शब्द उनको सुनाई पडे वे यही थे—"चुप रहो, बोलो मत। बडा मजा आरहा है।" इस पर पंडितजी सोचने लगे कि ऐसा क्या अद्भुत तमाशा हो रहा है जिससे लोग इतने ध्यानारूढ हैं कि बातका उत्तर तक भी देना पसन्द नहीं करते, इसको एक बार जरूर देखना चाहिये। यह विचार कर पंडितजीने उस भीडमें घुसनेकी ठान ली और अपने वस्त्रादिक समेटकर तथा अपनी पोथीको बगलमें मजबूतीसे दबाकर हिम्मतके साथ धकापेली करके भीडमें घुस पडे। आखिरको दो-चार धक्के-मुक्के खाकर और एक-दो मनुष्यकी मिन्नत-खुशामद करके पंडितजी खडे हुए मनुष्योंकी भीडको चीरकर अन्दर पहुँच ही गये। वहाँ जाकर क्या देखते हैं कि, हजारों आदमी दूर तक बैठे हैं, बडे-बडे अमीर और रईस तथा अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष अपनी-अपनी

वाँकी पोशाक डटाये हुए सज-धजके साथ विराजमान हैं, इन्द्रका सा अखाडा लगा हुआ है और एक रगीली वेश्याकी तान उड रही है। उस तानमे सब लोग हैरान और परेशान हैं, गानेको सुनकर और वेश्याके हावभावको निरख-निरखकर सब लोग वडे लट्टू होरहे हैं और अपनी मस्तीमे इस वातको विलकुल भूले हुए हैं कि किसीका क्या कुछ दर्जा या अधिकार है और क्या कुछ हमारा कर्तव्य व कर्म है।

भोले पंडितजी इस अद्‌भुत दृश्य और ठाठ-बाटको देखकर सोचने लगे कि 'यहाँके मनुष्य तो वडे उत्साही, उद्यमी और धन-पात्र मालूम होते हैं। जब ये लोग वेश्या-नृत्य जैसे पाप-कार्यमे ही इतना उत्साह दिखा रहे हैं तो फिर धर्म-कार्यमे तो इनके उत्साहका कुछ ठिकाना नही। आशा पडती है कि इस नगरमे हमारा कार्य जरूर सिद्ध होगा, यहाँ पर अवश्य कोई कथा थापनी चाहिये।' इधर पडितजी इस विचारमे ही उलझ रहे थे, इधर लगी वेश्यापर वारफेरसी होने। कोई एक रुपया देता है, कोई दो और कोई चार। इस प्रकार वारफेर होते-होते गणिका महारानीके सरगियेकी सरगी रुपयोसे ठसाठस भर गई। थोडी देरमे नृत्य समाप्त हुआ और वेश्याको सरगीके रुपयो समेत तीन सौ रुपये गिनकर मेहनताने-के दिये गये, घुघरू खुलवाई इससे अलग रही और वेश्याके सरगिये व तबलची वगैरहको दो-चार दुशाले और कुछ अन्य कपडे इनाममे दिये गये।

अब तो यह सब दृश्य देखकर पडितजीको पूरी तौरसे निश्चय होगया कि यहाँके भाई केवल धनाढ्य और उत्साही नही हैं, वल्कि साथमे वडे भारी उदार भी हैं और

इसलिये यहाँ पर जरूर हमारे कार्य-की साढे सोलह आने सिद्धि होगी। ऐसा निश्चय कर वेश्याके चले जानेपर पडितजीने पचोसे निवेदन किया कि, 'महाराज! मैं ब्राह्मण हूँ, बारह वर्ष काशीमे मैंने विद्याध्ययन किया है। इस नगरकी कीर्ति और आप जैसे धर्मात्माओकी धर्ममे प्रीति और उदारताको श्रवण कर मैं आपके दर्शनोके लिये यहाँ पर चला आया हूँ। यदि आप जैसे धर्ममूर्ति और धर्मावतारोकी कृपासे यहाँ पर मेरी कथा होजाय तो बहुत अच्छा है।' इस पर पचायतमे खिचडीसी पकने लगी और लगी कानाफूसी होने। कोई कहे होनी चाहिए, कोई कहे नही, कोई कहे नही मालूम यह (पडित) कोई ठगफिरै है, इसका ऐतबार क्या? कोई कहे नही यह ब्राह्मण बहुत दूरसे आस बाँधकर आया है, इसकी आस (उम्मेद) खाली नही जानी चाहिये। इस प्रकार आपसमे कानाफूसी होने लगी, कोई कुछ कहे और कोई कुछ। आखिरको दो-चार बडे-बूढोने सोच विचारकर कहा—"पडितजी! कुछ हर्ज नही, कलसे आपकी कथा जरूर हो जायगी, इससे अच्छी और क्या बात है जो भगवत-कथा सुननेका अवसर मिले, आप शौकसे कल अपनी कथा आरम्भ कर दीजिये।" उसी समय भाइयोको प्रगट कर दिया गया कि कलसे अमुक स्थानपर कथा हुआ करेगी। सब भाइयोको ठीक समयपर उसमे पधारना चाहिये। इसके बाद सब लोग अपने घरको चले गये और पडितजी भी एक टूटे-फूटेसे शिवालयमे ठहर गये।

अगले दिन नियत समयसे एक घटेके बाद पडितजीकी कथा प्रारम्भ होगई। पहले दिन ही कथामे सिर्फ ४०–५० आदमी आये। पडितजी सोचते रह गये कि यह क्या हुआ?

रडीके नाचमे तो हजारो मनुष्य मौजूद थे, वे कहाँ गये ? शायद आज सव लोगोको कथाकी खवर न हुई हो। परन्तु अगले दिन उतने भी न रहे, जिससे पडितजीका (खवर न होनेका) भ्रम मिट गया, और शनै शनै कथामे आने वाले कुल पाँच-सात ही आदमी रह गये और वे भी कौन ? वुड्ढे-वुड्ढे ठलुए मनुष्य, जिन्हे कुछ काम-धन्धा न था, जिनकी सब इन्द्रियाँ शिथिल थी और जो अपने मकानकी दहलीजमे या दरवाजे पर चौकीदारकी तरह पड़े रहते थे, वे वहाँ न पडे, कथामे अचारके घडेकी तरह जाकर धरे गये। कथा कौन सुनता था, लगे ऊँघने और खुर्राटे भरने। पडितजी वके जाओ और मगज खपाये जाओ—हाँ, यदि किसी समय किसीको कुछ होश-सा आगया तो कह दिया—"वाह पडितजी ! वहुत अच्छा कहा।" ऊँघते और टूलते समय उन वुड्ढे-ठुड्ढोके हस्त-पदादिककी जो क्रिया होती थी उसका फोटू शब्दोमे कौन उतार सकता है ? शब्दमे इतनी शक्ति ही नही है, परन्तु हाँ ! जव ऊँघते-ऊँघते एकका सिर दूसरेसे टकरा जाता था तो 'ठांदेसी' को आवाज जरूर होती थी, उससे सवकी आँख खुल जाती थी और कुछ देरके लिये निद्रा देवीकी उपासना छूट जाती थी।

खैर ! ज्यो-त्यो करके तीस दिनमे वह कथा पूरी हुई, उसी दिन नगरमे बुलावा दिलाया गया कि कथा पूरी होगई है उसपर कुछ चढाना चाहिये। सब पचायत इकट्ठी हुई और आपसमे विचार होने लगा कि पडितजीको क्या कुछ दक्षिणा दी जाय ! किसीने कहा "पडितजीको दस रुपये दे देने चाहिये," दूसरेने कहा "नही, कुछ कम देने चाहिये," तीसरेने कहा "दस नही, पन्द्रह देने चाहिये, इन्होने महीने भर मेहनतकी, आठ आने रोज

तो पडे," चौथेने कहा "मेरी रायमे पडितजीको बीस रुपये मिलने चाहिये ।" इस प्रकार किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ । आखिर बहुत कुछ वाद-विवादके पश्चात् दो चार भले मानुसोने, जिन्हे कुछ थोडी सूझ-बूझ थी, यह फैसला कर दिया कि पडित-जीने तीस दिन तक कथा पढी है इसलिये रुपया रोजके हिसाबसे इनको पूरे तीस रुपये दिये जावें और उसी वक्त तीस रुपये पडितजीके हवाले किये गये ।

इन तीस रुपयो तथा लोगोकी इस हालतको देखकर और वेश्याके उन तीन सौ रुपयोका स्मरणकर जो उसको तीन-चार घण्टेके नाचके उपलक्ष्यमे ही दिये गये थे पडितजीके बदनमे आग-सी लग गई और उन्होने शोकके साथ किंचित् जोशमे आकर अपना माथा धुना और सिर पीटकर यह दोहा पढा —

फूटी आँख विवेककी, कहा करै जगदीश ।
कंचनियाको तीनसौ, मनीरामको तीस ॥

अर्थात् अब विवेककी आँख फूट गई, भले-बुरेका और अपने हित-अहितका कुछ विचार नही रहा तो फिर जगदीश ही क्या कर सकता है । यह विवेकके नष्ट हो जानेका ही नतीजा है जो पापका उपदेश देनेवाली, नरकका मार्ग दिखानेवाली और धर्म-कर्मका सर्वनाश करनेवाली एक व्यभिचारिणी स्त्री (कचनी)को तो तीन-चार घण्टे तक देह मटकानेके उपलक्ष्यमे ही तीन सौ रुपये दिये गये । और मुझ मनीरामने तीस दिन तक बराबर धर्मका उपदेश दिया, जिससे जीवोका कल्याण होवे और परलोकमे सद्गतिकी प्राप्ती होवे । मैंने बहुत कुछ मगज खपाया, लेकिन मुझको मुश्किलसे तीस ही रुपये दिये । 'अफसोस'

यह कह कर पडित मनीरामजी लोगोकी इस पापमय प्रवृत्तिको धिक्कारते हुए वहाँसे प्रस्थान कर गये ।

पाठकगण ! ऊपरके दृष्टान्तमे देखी आपने आजकलके मनुष्योकी लीला ! वास्तवमे पडितजीने बहुत ठीक कहा है, जब मनुष्योकी विवेककी आँख फूट जाती हे, फिर उनको अपना हित-अहित और धर्म-अधर्म कुछ नही सूझता, वे बिलकुल अन्धे होकर पापमे प्रवृत्ति करने लगते हैं और जरा भी शका नही करते । हमारे भारतवासी बहुत दिनोसे अपना विवेक-नेत्र खो बैठे हैं । उसीका यह फल है कि आज भारतवर्षमे दिन-पर-दिन व्यभिचार का प्रचार बढता जाता है, कोई कोई अच्छे-अच्छे उच्चकुलीन मनुष्य भी हीन-से-हीन जाति तककी स्त्रियोको सेवन करने लगे हैं । वेश्या जैसी पापिनी और व्यभिचारिणी स्त्रियाँ तो मगला-मुखी और कुलदेवियाँ समझी जाती हैं, जगह-जगह वेश्या-नृत्यका प्रचार है, व्यभिचारको लोग धर्मकी चादर उढानेका प्रयत्न कर रहे हैं, पापकर्म और हीनाचारसे लोगोकी ग्लानि जाती रही है, खुले दहाने लडकियाँ बेची जाती हैं, दिन-दहाडे मन्दिरो और तीर्थोंका माल हडप किया जाता है, दीन पशुओका मास खाया जाता है, शराबकी बोतले गटगटाई जाती हैं, धर्मसे लोग कोसो दूर भागते हैं और विद्या, चतुराई कला-कौशलके कोई पास तक नही फटकता । फिर कहिये, यदि भारतवासी दुखी न होवें तो क्या होवें ?

हमारे भारतवासियोकी आजकल ठीक वही दशा है, जैसाकि श्री आचार्यों ने कहा है —

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

'आजकलके मनुष्य पुण्यका फल जो सुख है उसको तो चाहते हैं, हमेशा यही लगन लगी रहती है कि किसी-न-किसी प्रकार हमको सुखकी प्राप्ति हो जाय, परन्तु सुखका कारण जो पुण्यकर्म अर्थात् धर्म है उसको करना नही चाहते, उसके लिये सौ बहाने बना देते हैं। इसी प्रकार पापका फल जो दु ख है उससे बहुत डरते हैं, कदापि अपनेको दु ख होनेकी इच्छा नही करते, दु खके नामसे ही घबरा जाते हैं, परन्तु दु खका मूल कारण जो पाप कर्म है उसको बडे यत्नसे, बडी कोशिशसे और बडी युक्तियोसे करते हैं और चार जने मिलकर करते हैं। फिर कहिये हम कैसे सुखी हो सकते हैं? कदापि नही। जैसा हम कारण मिलायेंगे उससे वैसाही कार्य उत्पन्न होगा। यदि कोई मनुष्य अपना मुख मीठा करना चाहे और कोई भी मिष्ट पदार्थ न खाकर कडवे-से-कडवे पदार्थका ही सेवन करता रहे तो कदापि उसका मुख मीठा नही होगा। इसी प्रकार जब हम सुखी होना चाहते हैं तो हमको सुखका कारण मिलाना चाहिये अर्थात् धर्मका आचरण करना चाहिये और न्यायमार्ग पर चलना चाहिये तथा साथही अन्याय, अभक्ष्य और दुराचार का त्याग कर देना चाहिये, अन्यथा कदापि सुखकी प्राप्ति नही हो सकती। परन्तु यह सब कुछ तब ही हो सकता है, जब हृदयमे विवेक विद्यमान हो, बिना विवेकके हेयोपादेयके त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति होना असभव है। और विवेककी प्राप्ति उस वक्त तक नही हो सकती जबतक कि हम अपने धर्मग्रन्थो और नीति-शास्त्रोका अवलोकन और ध्यानपूर्वक मनन नही करेंगे। जबसे हमने अपने धर्मग्रन्थोका शरण छोड दिया है तबहीसे हमारी विवेक-ज्योति नष्ट होकर भारतवर्षमे सर्वत्र अज्ञानता और अविवेकता छागई है।

प्यारे भाइयो ! यदि आप वास्तवमे अपना कल्याण और हित चाहते हैं और यदि आप फिरसे इस भारतवर्षको उन्नतावस्थामे देखनेकी इच्छा रखते हैं तो कृपाकर अपने हृदयोमे विवेक-प्राप्तिका यत्न कीजिये, अपने धर्म-ग्रन्थो तथा नीति-शास्त्रोका नियमपूर्वक अवलोकन व स्वाध्याय कीजिये और अपने बालक व बालिकाओको नियमसे सबसे प्रथम धार्मिक शिक्षा दिलाइये, स्वय दुराचार और अन्यायको त्यागकर अपनी सन्तानको सदाचारी बनाइये और उसको न्यायमार्गपर चलना सिखाइये। जबतक आप ऐसा नही करेंगे तबतक आप कुछ भी इस मनुष्य-जन्मके पानेका फल नही उठा सकते। आशा है, हमारे भाई इस लेखको पढकर जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे[1]।

१. जैन गजट १४ ७ १९०९

मक्खनवालेका विज्ञापन : ७ :

(एक मनोरंजक वार्तालाप)

पडितजी—कहिये सेठजी । अबकी बारका 'अनेकान्त' तो देखा होगा ? बडी सज-धजके साथ वीरसेवा मन्दिरसे निकला है !

सेठजी—हां, कुछ देखा तो है, एक विज्ञापनसे प्रारम्भ होता है ।

पडितजी—कैसा विज्ञापन ? और किसका विज्ञापन ?

सेठजी—मुखपृष्ठपर है न, वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन ।

पडितजी—अच्छा, तो अनेकान्तके मुखपृष्ठपर जो सुन्दर भावपूर्ण चित्र है उसे आपने किसी मक्खनवालेका विज्ञापन समझा है । तब तो आपने खूब अनेकान्त देखा है ।

सेठजी—क्या वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन नही है ?

पडितजी—मालूम होता है सेठजी, व्यापारमे विज्ञापनोसे ही काम रहनेके कारण, आप सदा विज्ञापनका ही स्वप्न देखा करते हैं । नही तो, बतलाइये उस चित्रमे आपने कौनसी फर्मका नाम देखा है ? उसमे तो बहुत कुछ लिखा हुआ है, कही 'मक्खन' शब्द भी लिखा देखा है ? ऊपर नीचे अमृत-चन्द्रसूरि और स्वामी समन्तभद्रके दो श्लोक भी उसमें अकित हैं, उनका मक्खन वालेके विज्ञापनसे क्या सम्बध ?

सेठजी—मुझे तो ठीक कुछ स्मरण है नही, मैंने तो उसपर कुछ गोपियो (ग्वालनियो) को मथन-क्रिया करते देखकर यह समझ लिया था कि यह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन है, और इसीसे उसपर विशेप कुछ भी ध्यान नही दिया । यदि

वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन नही है तो फिर वह क्या है ? किसका विज्ञापन अथवा चित्र है ?

पंडितजी—वह तो जैनी नीतिके यथार्थ स्वरूपका सद्योतक चित्र है, और हमारे न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजीके कथनानुसार, 'जैन तत्त्वज्ञानकी तल-स्पर्शी सूझका परिणाम है'। यदि अनेकान्तदृष्टि-से उसे विज्ञापन भी कहे तो वह जैनी नीतिका विज्ञापन है—इस नीतिका दूसरोको ठीक परिचय कराने वाला है—न कि किसी मक्खनवालेकी दुकानका विज्ञापन। उसपर तो 'जैनीनीति'के चारो अक्षर भी चार वृत्तोके भीतर सुन्दर रूपसे अंकित हैं जो ऊपर-नीचे, सामने अथवा बराबर दोनो ही प्रकारसे पढने पर यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि यह चित्र 'जैनी नीति' का चित्र है। वृत्तोके नीचे जो 'स्याद्वादरूपिणी' आदि आठ विशेषण दिये हैं वे भी जैनीनीतिके ही विशेषण हैं—मक्खनवालेकी अथवा अन्य फर्मसे उनका कोई सम्बन्ध नही है। (यह कह कर पडितजीने झोलेसे अनेकान्त निकाला और कहा—) देखिये, यह है अने-कान्तका नववर्षाङ्क। इसमे वे सब बातें अकित हैं जो मैंने अभी आपको बतलाई हैं। अब आप देखकर बतलाइये कि इसमें कहाँ किसी मक्खनवालेका विज्ञापन हैं ?

सेठजी—(चित्रको गौरसे देखकर हैरतमे रह गये ! फिर बोले—) मक्खनवालेका तो यह कोई विज्ञापन नही है। यह तो हमारी भूल थी जो हमने इसे मक्खनवालेका विज्ञापन समझ लिया। पर यह 'जैनी नीति' है क्या चीज ? और यह ग्वालिनीके पास क्यो रहती है ? अथवा क्या यह कोई जैन-देवी है, जो विक्रिया करके अपने वे सात रूप बना लेती है, जिन्हे चित्रमें अकित किया गया है ? जरा समझा कर बतलाइये।

पंडितजी—जिनेन्द्रदेवकी जो नीति है—नयपद्धति अथवा न्याय-पद्धति है—और जो सारे जैनतत्वज्ञानकी मूलाधार एव व्यव-स्थापिका है उसे 'जैनीनीति' कहते हैं। अनेकान्त-नीति और 'स्याद्वादनीति' भी इसीके नामान्तर हैं। यह ग्वालिनीके पास नही रहती, किन्तु ग्वालिनीकी मन्थन-क्रिया इसके रूपकी निदर्शक है, और इसलिये दूध-दही विलोती हुई ग्वालिनीको इसका रूपक समझना चाहिये। और यदि इसे व्यक्तिविशेप न मानकर शक्तिविशेप माना जाय तो यह अवश्य ही एक जैन-देवता है, जो नयोके द्वारा विक्रिया करके अपने सात रूप बना लेती है और इसीलिये 'विविध-नयापेक्षा' के साथ इसे 'सप्तभग-रूपा' विशेषण भी दिया गया है। वस्तुतत्वकी सम्यग्ग्राहिका और यथातत्व-प्ररूपिका भी यही जैनी नीति है। जैनियोको तो अपने इस आराध्यदेवताका सदा ही आराधन करना चाहिये और इसीके आदेशानुसार चलना चाहिये—इसे अपने जीवनका अग बनाना चाहिये और अपने सम्पूर्ण कार्य-व्यवहारोमे इसीका सिक्का चलाना चाहिये। इसकी अवहेलना करनेसे ही जैनी आज नगण्य और निस्तेज बने हैं। इस नीतिका विशेष परिचय 'अनेकान्त' सम्पादकने अपने 'चित्रमय जैनीनीति' नामक लेखमे दिया है, जो खूब गौरके साथ पढने-सुननेके योग्य है। (यह कहकर पडितजीने सेठजीको वह सम्पादकीय लेख भी सुना दिया।)

सेठजी—(पडितजीकी व्याख्या और सम्पादकीय लेखको सुनकर बडी प्रसन्नताके साथ) पडितजी, आज तो आपने मेरा बडा ही भ्रम दूर किया है और बहुत ही उपकार किया है। मैं तो अभीतक 'अनेकान्त' को दूसरे अनेक पत्रोकी तरह एक

साधारण पत्र ही समझता आरहा था और इसीलिये कभी इसे ठीक तौरसे पढता भी नही था, परन्तु आज मालूम हुआ कि यह तो बडे ही कामका पत्र है—इसमे तो बड़ी-बडी गूढ बातोको बड़े अच्छे सुगम ढगसे समझाया जाता है।

पडितजी—(बीचमे ही बात काटकर) देखिये न, इस नव-वर्षाङ्कमे दूसरे भी कितने सुन्दर-सुन्दर लेख हैं—समन्तभद्र-विचारमाला नामकी एक नई लेखमाला शुरू की गई है, जिसमे 'स्वपरवैरी कौन' इसकी बडी ही सुन्दर एव हृदयग्राही व्याख्या है, तत्त्वार्थसूत्रके बीजोकी अपूर्व खोज है, 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' लेख बडा ही हृदयद्रावक एव शिक्षाप्रद है, 'भक्तियोग रहस्य' मे पूजा-उपासनादिके रहस्यका बडे ही मार्मिक ढगसे उद्घाटन किया है। दूसरे विद्वानोके भी अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक लेखोसे यह अलकृत है, अनेकानेक सुन्दर कविताओसे विभूषित हैं, और 'आत्मबोध' जैसी उत्तम शिक्षाप्रद कहानियो को भी लिये हुए है। इसकी 'पिंजरेकी चिडिया' बडी ही भावपूर्ण हैं। और सम्पादकजीकी लेखनीसे लिखी हुई 'एक आदर्श जैनमहिलाकी सचित्र जीवनी' तो सभी स्त्री-पुरुषोके पढने योग्य है और अच्छा आदर्श उपस्थित करती है। गरज इस अकका कोई भी लेख ऐसा नही जो पढने तथा मनन करनेके योग्य न हो। उनकी योजना और चुनावमे काफी सावधानीसे काम लिया गया है।

सेठजी—मैं सब लेखोको जरूर गौरसे पढूँगा, और आगे भी बराबर 'अनेकान्त' को पढा करूँगा तथा दूसरोको भी पढनेकी प्रेरणा किया करूँगा। साथ ही अब तक न पढते रहनेका कुछ

प्रायश्चित्त भी करूँगा—इस पत्रको कुछ सहायता जरूर भेजूगा। बडो हो कृपा हो पडितजी, यदि आप कभो कभी दर्शन देते रहा करें। आज तो मैं आपसे मिल कर बहुत ही उपकृत हुआ।

पडितजी—मुझे आपसे मिलकर बडी प्रसन्नता हुई। आपने मेरी बातोको ध्यानसे सुना, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ। यथावकाश मैं जरूर आपसे मिला करूँगा। अच्छा अब जानेकी इजाजत चाहता हूँ। (सेठजीने खडे होकर बडे आदरके साथ पडितजोको बिदा किया और दोनो ओरसे 'जयजिनेन्द्र' का सुमधुरनाद हर्षके साथ गूँज उठा।)[1]

---

१. अनेकान्त वर्ष ४, कि, ३, अप्रेल १९४१

: ५ :

प्रकीर्णक निबन्ध
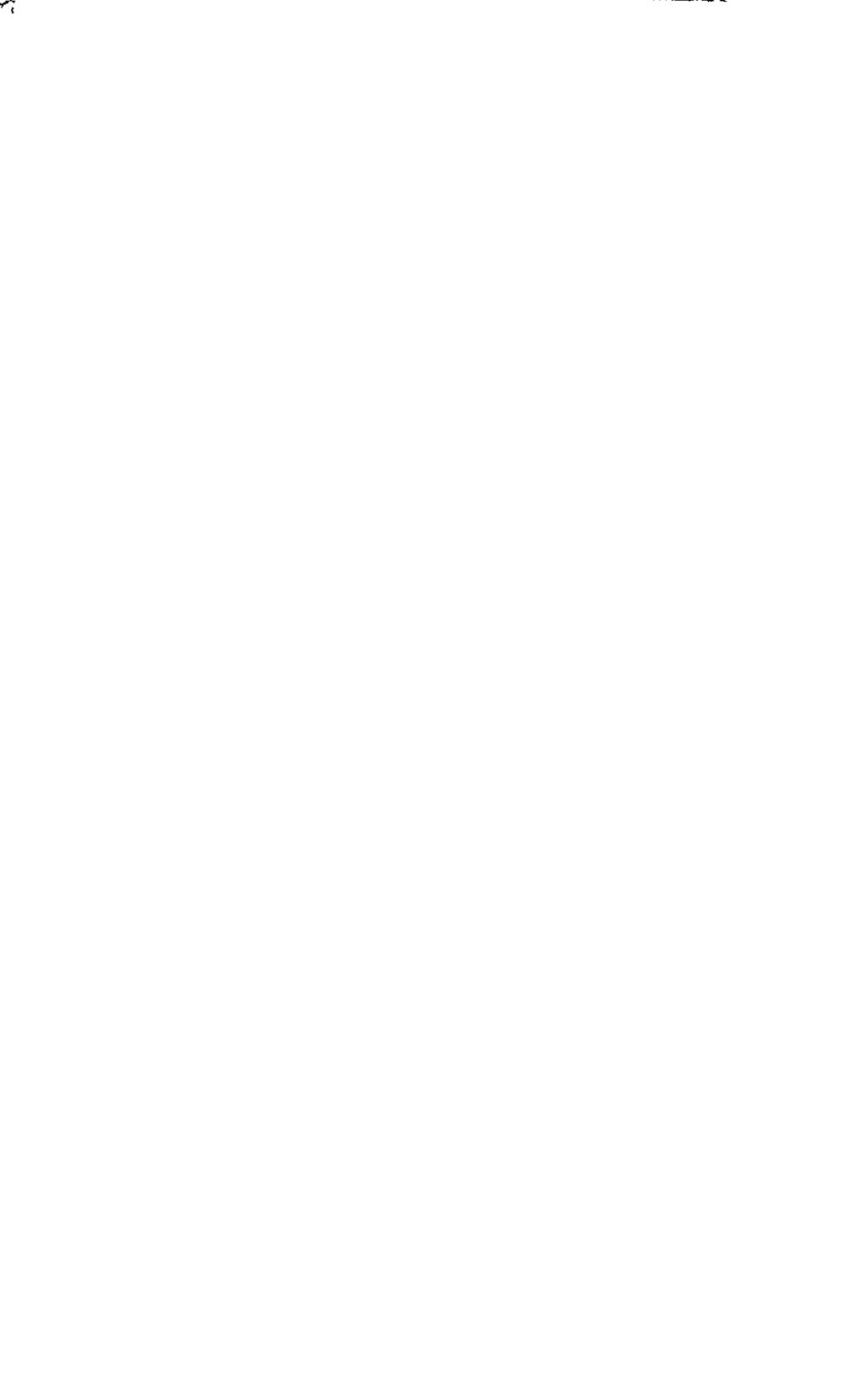
१. क्या मुनि कन्द-मूल खा सकते हैं ?
२. क्या सभी कन्द-मूल अनन्तकाय होते हैं ?
३. अस्पृश्यता-निवारक आन्दोलन
४. देवगढ़के मन्दिर-मूर्तियोंकी दुर्दशा।
५. ऊँच-गोत्रका व्यवहार कहाँ ?
६. महत्वकी प्रश्नोत्तरी
७ जैनकालोनी और मेरा विचार-पत्र
८. समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव
९. समयसारका अध्ययन और प्रवचन
१० भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा
११. न्यायोचित विचारोंका अभिनन्दन
१२. श्रीरामजी भाई दोशी एडवोकेट-विषयक एक अनुभव

क्या मुनि कंदमूल खा सकते हैं ?   : १ :

ऊपरका प्रश्न हमारे बहुतसे पाठकोको एकदम खटकेगा और वे उत्तरमें सहसा 'नही' शब्द कहना चाहेंगे। परन्तु शास्त्रीय चर्चामे इस प्रकारके जबानी उत्तरोका कुछ भी मूल्य नही है। इसमे केवल वे ही उत्तर ग्राह्य हो सकते हैं जो शास्त्रप्रमाणको लिये हुए हो। अत उक्त प्रश्नका समाधान करनेके लिये शास्त्रीय प्रमाणोके अनुसंधानकी जरूरत है। मैं भी इस विषयमें आज कुछ यत्न करता हूँ।

दिगम्बर सम्प्रदायमें 'मूलाचार' नामका एक अतिशय प्राचीन और प्रसिद्ध ग्रथ है, जिसे श्री वट्टकेर आचार्यने बनाया है। श्वेताम्बरोमे 'आचारागसूत्र'को जो पद प्राप्त है दिगम्बरोमे मूलाचारको उससे कम पद प्राप्त नही है। दिगम्बर सम्प्रदाय-मे यह एक बडा ही पूज्य और माननीय ग्रथ समझा जाता है। श्रीवसुनन्दी सैद्धान्तिकने इसपर 'आचारवृत्ति' नामकी एक संस्कृतटीका भी लिखी है जो सर्वत्र प्रसिद्ध है और बडे गौरवके साथ देखी जाती है। इस ग्रथकी निम्नलिखित दो गाथाओ और उनकी सस्कृतटीकासे उक्त प्रश्नका अच्छा समाधान हो जाता है, इसीसे उन्हे नीचे उद्धृत किया जाता है .—

फलकंदमूलवीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि।
णच्चा अणेसणीयं ण वि य पडिच्छंति ते धीरा ॥ ९–५९ ॥

टीका—फलानि कदमूलानि बीजानि चाग्निपक्वानि न भवति यानि अन्यदपि आमक यत्किंचिदनशनीयं ज्ञात्वा नैव प्रतीच्छन्ति नाभ्युपगच्छन्ति ते धीरा इति। यदशनीय तदाह .—

जं हवदि अणव्वीयं णिवट्टियं फासुयं कयं चेव ।
णाऊण एसणीयं तं भिक्खं मुणी पडिच्छन्ति ॥ ९-६० ॥

टीका—यद्भवत्यबीजं निर्बीज निर्वर्तिम निर्गतमध्यसार प्रासुक कृत चैव ज्ञात्वाऽशनीय तद्भैक्ष्य मुनय· प्रतीच्छन्ति ॥

इन दोनो गाथाओमेसे पहली गाथामे मुनिके लिये 'अभक्ष्य क्या है' और दूसरीमे 'भक्ष्य क्या है' इसका कुछ विधान किया है। पहली गाथामे लिखा है कि जो फल, कद, मूल तथा बीज अग्निसे पके हुए नही हैं और भी जो कुछ कच्चे पदार्थ हैं उन सबको अनशनीय (अभक्ष्य) समझकर वे धीर मुनि भोजनके लिये ग्रहण नही करते हैं।' दूसरी गाथामे यह बतलाया है कि जो बीजरहित हैं, जिनका मध्यसार (जलभाग ?) निकल गया है अथवा जो प्रासुक किये गये हैं ऐसे सब खानेके पदार्थोको भक्ष्य समझकर मुनि लोग भिक्षामे ग्रहण करते हैं।

मूलाचारके इस सपूर्ण कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट है और अनशनीय कद-मूलोका 'अनग्निपक्व' विशेषण इस बातको साफ बतला रहा है कि जैन मुनि कच्चे कद नही खाते परन्तु अग्निमे पकाकर शाक-भाजी आदिके रूपमे प्रस्तुत किये हुए कद-मूल वे जरूर खा सकते हैं। दूसरी गाथामे प्रासुक किये हुए पदार्थोको भी भोजनमे ग्रहण कर लेनेका उनके लिए विधान किया गया है। यद्यपि अग्निपक्व भी प्रासुक होते हैं, परन्तु प्रासुककी सीमा उससे कही अधिक बढी हुई है। उसमे सुखाए, तपाए, खटाई-नमक मिलाए और यन्त्रादिकसे छिन्न-भिन्न किये हुए सचित्त पदार्थ भी शामिल होते हैं, जैसा कि निम्नलिखित शास्त्रप्रसिद्ध गाथासे प्रकट हैं।—

सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेहिं मिस्सियं दव्वं ।
जं जंतेण य छिण्णं तं सव्वं फासुयं भणियं ॥

प्रासुकके इस लक्षणानुसार[1] जैन मुनि अग्नि-पक्वके अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओ द्वारा प्रासुक हुए कदमूलोको भी खा सकते हैं, ऐसा फलित होता है। परन्तु पहली गाथामे साफ तौरसे उन कद मूलोको अभक्ष्य ठहराया है जो अग्निद्वारा पके हुए नही हैं और इससे सूखने, तपने, आदि दूसरी अवस्थाओ द्वारा प्रासुक हुए कद-मूल मुनियोके लिये अभक्ष्य ठहरते हैं।' अतः या तो पहली गाथामे कहे हुए 'अग्निपक्व' विशेषणको उपलक्षण मानना चाहिये, जिससे सूखे, तपे आदि सभी प्रकारके प्रासुक कद-मूलोका ग्रहण हो सके और नही तो यह मानना पडेगा कि मुनि लोग फलो तथा बीजोको भी अग्निपक्वके सिवाय दूसरी अवस्थाओ द्वारा प्रासुक होनेपर ग्रहण नही कर सकते, क्योकि गाथामे 'फलमूलकंदबीय' ऐसा पाठ है, जिसका 'अनग्निपक्व' विशेषण दिया गया है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ उक्त अनग्निपक्व विशेषणको उपलक्षणरूपसे मानना ज्यादा अच्छा होगा और उससे सब कथनोकी सगति भी ठीक बैठ जायगी। अस्तु, उक्त विशेषण उपलक्षणरूपसे हो या न हो, परन्तु इसमें तो कोई सदेह नही रहता कि दिगम्बर मुनि अग्निद्वारा पके हुए शाक-भाजी आदिके रूपमें प्रस्तुत किये हुए कद-मूल जरूर खा सकते हैं। हाँ, कच्चे कद-मूल वे नही खा सकते। छठी प्रतिमा-धारक गृहस्थोके लिये भी उन्हीका निषेध किया गया है जैसा कि समन्तभद्रके निम्नवाक्यसे प्रकट है —

मूल-फल शाक-शाखा-करीर-कंद-प्रसूनबीजानि।
नाऽऽमानि योऽत्ति सोऽय सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥

---

१ यथा शुष्कपक्वध्वस्ताम्ललवणसमिश्रदग्धादि द्रव्य प्रासुक। इति —गोम्मटसारटीकाया।

परन्तु आजकलके श्रावकोका त्यागभाव बडा ही विलक्षण मालूम होता है, वह मुनियोके त्यागसे भी बढा हुआ है ? मुनि तो अग्नि द्वारा पके हुए कद-मूलोको खा सकते हैं, परन्तु वे गृहस्थ जो छठी प्रतिभा तो क्या पहली प्रतिभाके भी धारक नही हैं उनके खानेसे इनकार करते हैं, इतना ही नही बल्कि उनका खाना शास्त्र-विहित नही समझते । यह सब अज्ञान और रुढिका माहात्म्य है[1] ॥

---

१ जैन हितैषी, भाग १४, अक १०–११, जुलाई–अगस्त १९२०

क्या सभी कंदमूल अनंतकाय होते हैं ? : २ :

आमतौरपर जैनियोमे यह माना जाता है कि कदमूल सब अनतकाय होते हैं—उनमे एक-एक शरीरके आश्रित अनत जीव विद्यमान हैं—इसलिये हमारे बहुतसे पाठकोको यह प्रश्न भी कुछ नया सा मालूम होगा। परन्तु नया हो या पुराना, प्रश्न अच्छा है और इसका निर्णय भी शास्त्राधारसे ही होना चाहिये। अत यहाँ उसीका प्रयत्न किया जाता है —

गोम्मटसारके जीवकाडमे, प्रत्येक और अनतकायकी पहिचान बतलाते हुए, विशेष नियमके तौर पर एक गाथा इस प्रकारसे दी है —

मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलवीजे।
समभंगे सदिणंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥१८७॥

इसमे यह बतलाया है कि जिस किसी कदमूलादिकके[1] तोडनेपर समभग हो जायँ उसे अनतकाय और जिसके समभग न हो—बीचमे ततु रहे, ऊँचा-नीचा टूटे—उसे प्रत्येक समझना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि कदमूल भी दो प्रकारके होते हैं, एक प्रत्येक और दूसरे अनंतकाय। उक्त गाथाके अनन्तर एक दूसरे विशेष नियमकी प्रतिपादक गाथा इस प्रकार है —

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वा वि वहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥१८८॥

इस गाथामे कदमूलादिककी छाल (त्वचा) के सम्बन्धमे

---

१. आदिक शब्दसे छाल, कोंपल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और वीज समझना चाहिए।

एक विशेष नियम दिया है और यह बतलाया है कि जो छाल ज्यादह मोटी होती है उसे अनतकाय और जो ज्यादह पतली होती है उस छालको प्रत्येक जानना चाहिए। इससे यह पाया जाता है कि कदमूलादिक अपने सर्वांगरूपसे अनतकाय अथवा प्रत्येक नही होते, उनमे उनकी छालसे विशेष रहता है—अर्थात्, कोई कदमूलादिक ऐसे होते हैं जिनकी छाल अनतकाय होती है, परन्तु वे स्वय भीतरसे अनतकाय नही होते और कोई-कोई ऐसे भी होने हैं जो खुद भीतरसे तो अनतकाय होते हैं परन्तु उनकी छाल अनतकाय नही होती, वह प्रत्येक ही रहती है।

इसके बाद गोम्मटसारमे एक अपवाद नियम और भी दिया है और वह यह है कि ये कदमूलादिक ('आदि' शब्दसे प्रथम गाथोक्त छाल, कोपल, शाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज सभी ग्रहण करने चाहिये) अपनी प्रथमावस्थामे प्रत्येक होते हैं। यथा —

जो वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाय ॥

यह नियम इस बातको सूचित करता है कि कदमूलादिक—चाहे वे समभग हो या न हो, उनकी छाल मोटी हो अथवा पतली—अपनी प्रथमावस्थामे सब प्रत्येक होते हैं। उत्तरकी अवस्थाओमे वे प्रत्येक होते हैं और अनतकाय भी और उनकी खास पहिचान ऊपर वतलाई गई है।

नतीजा इस सारे कथनका यह निकलता है कि सभी कदमूल अनतकाय नही होते, न सर्वांगरूपसे ही अनतकाय होते हैं और न अपनी सारी अवस्थाओमे अनतकाय रहते हैं। बल्कि वे प्रत्येक और अनतकाग (साधारण) दोनो प्रकारके होते है, किसीकी छाल ही अनतकाय होती है, भीतरका भाग नही और किसीका

भीतरी भाग अनतकाय होता है तो छाल अनतकाय नही होती, कोई बाहर भीतर सर्वांगरूपसे अनतकाय होता है और कोई इससे बिलकुल विपरीत कतई अनतकाय नही होता, इसी तरह एक अवस्थामे जो प्रत्येक है वह दूसरी अवस्थामे अनतकाय हो जाता है और जो अनतकाय होता है वह प्रत्येक बन जाता है। प्राय यही दशा दूसरी प्रकारकी वनस्पतियोकी भी है। वे भी प्रत्येक और अनतकाय दोनो प्रकारकी होती हैं—आगममे उनके लिये भी इन दोनो भेदोका विधान किया गया है—जैसा कि ऊपरके वाक्योसे ध्वनित है और मूलाचारकी निम्न गाथाओसे भी प्रकट है, जिनमे पहली गाथा गोम्मटसारमे भी न० १८५ पर दी है।

> **मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।**
> **संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणांतकाया य ॥२१३॥**
> **कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवालपुप्फफलं।**
> **गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्वकाया य ॥२१४॥**

ऐसी हालतमे कदमूलो और दूसरी वनस्पतियोमे अनतकाय-की दृष्टिसे आमतौर पर कोई विशेष भेद नही रहता। अत जो लोग अनतकायकी दृष्टिसे कच्चे कदमूलोका त्याग करते हैं उन्हे इस विषयमे बहुत कुछ सावधान होनेकी जरूरत है। उनका सपूर्ण त्याग विवेकको लिये हुए होना चाहिए। अविवेक-पूर्वक जो त्याग किया जाता है वह कायकष्टके सिवाय प्राय किसी विशेष फलका दाता नही होता। उन्हे कदमूलोके नामपर ही भूलकर सबको एकदम अनतकाय न समझ लेना चाहिये, बल्कि इस बातकी जाँच करनी चाहिये कि कौन-कौन कदमूल अनतकाय नही हैं, किस कदमूलका कौन-सा अवयव अनतकाय है और कौन-

सा अनतकाय नही है, साथ ही यह भी कि, किस-किस अवस्था-में वे अनतकाय होते हैं और किस-किसमे अनतकाय नही रहते। अनेक वनस्पतियाँ भिन्न-भिन्न देशोकी अपेक्षा जुदा-जुदा रग, रूप, आकार, प्रकार और गुण-स्वभावको लिये हुए होती हैं। बहुतोमे वैज्ञानिक रीतिसे अनेक प्रकारके परिवर्तन कर दिये जाते हैं। नाम-साम्यकी वजहसे उन सबको एक ही लाठीसे नही हाँका जा सकता। सभव है कि एक देशमे जो वनस्पति अनतकाय हो दूसरे देशमे वह अनंतकाय न हो, अथवा उसका एक भेद अनतकाय हो और दूसरा अनतकाय न हो। इन सब बातोकी विद्वानोको अच्छी तरह जाँच करनी चाहिये और जाँचके द्वारा जैनागमका स्पष्ट व्यवहार लोगोको बतलाना चाहिये।

ऊपरकी कसौटीसे दो एक कदमूलोकी जो सरसरी जाँच की गई है उसे भी आज पाठकोके सामने रख देना उचित जान पडता है। आशा है विद्वान् लोग उनपर विचार करके अपनी सम्मति प्रकट करेंगे :—

१—हमारे इधर अदरक बहुत ततु विशिष्ट होता है। तोडने पर वह समभगरूपसे नही टूटता, ऊँचा नीचा रहता है और बीचमे ततु खडे रहते हैं। छाल भी उसकी मोटी नही होती। ऐसी हालतमे वह अनतकाय नही ठहरता। बम्बईकी तरफका अदरक हमने नही देखा, परन्तु उसकी जो सोठ इधर आती है वह 'मैदा सोठ' कहलाती है और उसके मध्यमे प्राय वैसे ततु नही होते, इसलिये सभव है कि वह अनतकाय हो।

२—गाजर भी अक्सर तोडने पर समभग रूपसे नही टूटती और न उसकी छाल मोटी होती है। इसलिये वह भी अनंतकाय मालूम नही होती।

३—मूलीकी छाल मोटी होती है और इसलिये उसे अनतकाय कहना चाहिये। परन्तु छालको उतार डालने पर मूलीका जो भीतरका भाग प्रकट होता है उसकी शिराएँ, रग-रेशे अच्छी तरहसे दिखाई देने लगते हैं, तोडनेपर वह समभग रूपसे भी नही टूटता। ऐसी हालतमे सभव है कि मूलीका भीतरी भाग अनतकाय न हो।

४—आलूका ऊपरका छिलका बहुत पतला होता है। अत वह अनंतकाय न होना चाहिये।

विद्वानोको चाहिये कि वे भी इसी तरह कदमूलादिकी जाँच करें और फिर उसके नतीजेसे सूचित करनेकी कृपा करें।

---

१. जैन हितैषी भाग १४, अक १०-११, जुलाई—अगस्त १९२०।

अस्पृश्यता-निवारक आन्दोलन : ३ :

अस्पृश्यता-निवारक और अछूतोके उद्धार-विषयक जो आन्दोलन महात्मा गाधीजीने आजकल उठा रक्खा हैं उसका हिन्दुओकी वाह्य-प्रवृत्ति और उनके धर्मशास्त्रोके साथ अनुकूलत्ता या प्रतिकूलताका जैसा कुछ सम्बन्ध है, जैनियोकी वाह्य-प्रवृत्ति और उनके धर्म-ग्रन्थोके साथ भी उसका प्रायः वैसा ही सम्बन्ध है—दोनो ही इस विषयमे प्राय समकक्ष हैं। और इसलिये यदि कुछ हिन्दू लोग, अपने चिर सस्कारोंके विरुद्ध होनेके कारण, इस आन्दोलनको अच्छा नही समझते, धर्म-घातक वतलाते हैं और उत्तेजित होकर इसका विरोध करते हैं, तो वाज जैनी भी यदि इसपर कुछ क्षुब्ध, कुपित तथा उत्तेजित हो जायँ और विरोध करने लगें तो इसमे कुछ भी अस्वाभाविकता नही हैं और न कोई आश्चर्यकी ही वात है। परन्तु इस प्रकारके क्षोभ, कोप और विरोधका कुछ भी नतीजा नही होता और न ऐसी अवस्थामे कोई मनुष्य किसी विषयके यथार्थ निर्णयको पहुँच सकता है और तभी किसी विषयका यथार्थ निर्णय हो सकता है जब कि समस्त उत्तेजनाओसे अलिप्त रहकर उस विषयका वडी शाति और गभीरताके साथ निष्पक्ष भावसे एक जजके तौर पर, गहरा विचार किया जाय, उसके हर पहलू पर नजर डाली जाय और इस तरह पर उसके असली तत्वको खोजकर निकाला जाय। यह ठीक है कि पुराने संस्कार किसी भी नई वातको ग्रहण करनेके लिये, चाहे वह कितनी ही अच्छी और

उपयोगी क्यो न हो, हमेशा धक्का दिया करते हैं और उसे सहसा ग्रहण नही होने देते। परन्तु बुद्धिमान् और विचारक लोग वही होते हैं जो संस्कारोके परदेको फाडकर अथवा इस कृत्रिम आवरणको उठाकर 'नग्न सत्य' का दर्शन किया करते हैं। और इसलिये जो लोग महात्माजीके विचारोको सस्कारोके परदेमेसे देखना चाहते हैं, वे भूल करते हैं। उन्हे उस परदेको उठाकर देखनेका यत्न करना चाहिए, जिससे उनका वास्तविक रंग-रूप मालूम हो सके। और यह तभी हो सकता है जबकि उत्तेजनाओसे अलग रहकर, बडी शान्ति और निष्पक्षताके साथ, गहरे अध्ययन, गहरे, मनन, और न्यायप्रियताको अपनेमे स्थान दिया जाय। महात्माजीके किसी एक शब्दको पकडकर उसपर झगडा करनेकी जरूरत नही है। ऐसा करना उनके शब्दोका दुरुपयोग करना होगा। उनके निर्णयकी तहको पहुँचनेके लिये उनके विचार-समुच्चयको लक्ष्यमे रखनेकी बडी जरूरत है। आशा है, इन आवश्यक सूचनाओको ध्यानमे रखते हुए, हमारे पाठक इस आन्दोलनके सम्बन्धमे महात्माजीके विचारो और उनकी इच्छाओको ठीक रूपसे समझने तथा आन्दोलनकी समीचीनता असमीचीनतापर गहरा विचार करनेकी कृपा करेंगे। और साथही निम्न बातोको भी ध्यानमे लेंगे :—

१ 'क्या पारमार्थिक दृष्टिसे धर्मका ऐसा विधान हो सकता है कि वह मनुष्योको मनुष्योसे घृणा करना और द्वेष रखना सिखलावे ? अपनेको ऊँचा और दूसरोको नीचा समझनेके भावको अच्छा बतलावे ? अथवा मनुष्योके साथ मनुष्योचित व्यवहारका निषेध करे ?

२ महावीर भगवानके समवसरणमे चारो ही वर्णके

मनुष्य, परस्पर ऊँच-नीच और स्पृश्यास्पृश्यका भेद न करके एकही मनुष्य-कोटिमे वैठते थे। इस आदर्शसे जैनियोको किस वातकी शिक्षा मिलती है ?

३ एक अछूत जातिके मनुष्यको आज हम छूते नही, अपने पास नही बिठलाते और न उसे अपने कूएँसे पानी भरने देते हैं। परन्तु कल वह मुसलमान या ईसाई हो जाता है, चोटी कटा लेता है, हिन्दू धर्म तथा हिन्दू देवताओको बुरा कहने लगता है, धार्मिक दृष्टिसे एक दर्जे और नीचे गिर जा सकता है और प्रकारान्तसे हिन्दुओका हित-शत्रु वन जाता है, तव हम उसको छूनेमे कोई परहेज नही करते, उससे हाथ तक मिलाते हैं, उसे अपने पास बिठलाते हैं, कभी कभी उच्चासन भी देते हैं और अपने कूएँसे पानी न भरने देनेकी तो फिर कोई वात ही नही रहती। वह खुशीसे उसी कूएँपर वरावर पानी भरा करता है। हमारी इस प्रवृत्तिका क्या रहस्य है ? क्या यह सब हिन्दू धर्मका ही खोट था जिसको धारण किये रहनेकी वजहसे वह वेचारा उन अधिकारोसे वञ्चित रहता था और उसके दूर होते ही उसे वे सब अधिकार प्राप्त हो जाते हैं ? ये सव खूब सोचने और समझनेकी वाते हैं।

४ किसी व्यक्तिको अस्पृश्य या स्पृश्य ठहराना, एक वक्तमें अस्पृश्य और दूसरे वक्तमे स्पृश्य वतलाना अथवा उसका एक जगह अस्पृश्य और दूसरी जगह स्पृश्य करार दिया जाना, यह सव विधि-विधान, लोकाचार, लोकव्यवहार और लौकिक धर्मसे सम्बद्ध है या पारलौकिक धर्म अथवा परमार्थसे इसका कोई खास सम्बन्ध है ? इसपर भी खास तौरसे विचार होनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैंने धार्मिक ग्रंथोका अध्ययन किया है,

उससे यह विषय मुझे लौकिक ही मालूम होता है—परमार्थसे इसका कोई विशेष सम्बन्ध नही है। कहा भी है कि :—

स्पृश्याऽस्पृश्यविधिः सर्वशेषो लोकेन गम्यते। —इन्द्रनन्दी

अर्थात् स्पृश्य और अस्पृश्यका सम्पूर्ण विधान लोक-व्यवहारसे सम्बन्ध रखता है—वह उसीके आश्रित है और इस लिये उसीके द्वारा गम्य है।

लौकिक विषयो और लौकिक धर्मोके लोकाश्रित होनेसे उनके लिये किसी आगमका आश्रय लेनेकी अर्थात् इस बातकी ढूंढ-खोज करनेकी कि आगम इस विषयमे क्या कहता है, कोई जरूरत नही है। आगमके आश्रय पारलौकिक धर्म होता है, लौकिक नही, जैसा कि श्री सोमदेव सूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
> लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥

लौकिक धर्म लौकिक जनोकी देश-कालानुसार प्रवृत्तिके अधीन होता है, और वह प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमे नही रहा करती। कभी देश-कालकी आवश्यकताओके अनुसार कभी पचायतियोके निर्णय द्वारा और कभी प्रतिष्ठित व्यक्तियोके उदाहरणोको लेकर-बराबर बदला करती है। इसलिये लौकिक धर्म भी हमेशा एक हालतमे नही रहता। वह बराबर परिवर्तन-शील होता है और इसीसे किसी भी लौकिक धर्मको सार्व-देशिक और सार्वकालिक नही कह सकते। ऐसी हालतमे किसी समय किसी देशके स्पृश्याऽस्पृश्य सम्बन्धी किसी लौकिक धर्मको लक्ष्यमे रखकर उसके अनुसार यदि किसी ग्रन्थमे कोई विधान किया गया हो, तो वह तात्कालिक और तद्देशीय विधान है,

इतना ही समझना चाहिये। इससे अधिक उसका यह आशय लेना ठीक नही होगा कि वह सर्वदेशो और सर्वसमयोके लिये, उस देश और उस समयके लिये भी जहाँ और जब वह परिस्थिति कायम न रहे, एक अटल सिद्धान्त है। और इसलिये एक लौकिक धर्म सम्बन्धी वर्तमान आन्दोलनके विरोधमे ऐसे ग्रन्थोके अवतरण पेश करनेका कोई नतीजा नही हो सकता। शास्त्रोमे ऐसी कितनी ही जातियोका उल्लेख है जो उस समय अस्पृश्य (अछूत) समझी जाती थी, परन्तु आज वे अस्पृश्य नही हैं। आज हम उन जातियोके व्यक्तियोको खुशीसे छूते हैं, पास बैठाते हैं और उनसे अपने तरह तरहके गृह-कार्य कराते हैं। उदाहरणके लिये धीवरोको लीजिये, जो हमारे इधर उच्चसे उच्च जातियोके यहाँ पानी भरते हैं, बर्तन माँजते हैं और अनेक प्रकारके खाने आदि बनाते हैं। ये लोग पहले अस्पृश्य समझे जाते थे और उस समय उनसे छू जानेका प्रायश्चित्त भी होता था। परन्तु आज कितने ही प्रदेशोमे वह दशा नही है, न वे अस्पृश्य समझे जाते हैं और न उनसे छू जानेका कोई प्रायश्चित्त किया जाता है। यह सब क्या है? क्या यह इस बातको सूचित नही करता कि बादमे लोगोने देश-कालकी आवश्यकताओके अनुसार अपनी इस प्रवृत्तिको बदल दिया है?* इसी तरह वर्तमान अछूत जातियो या उनमेसे किसी जातिके साथ यदि आज भी अस्पृश्यताका व्यवहार उठा दिया जाय तो उससे एक लोक-रूढिका—लोक व्यवहारका—परिवर्तन हो जाने-

---

* स्पृश्याऽस्पृश्यके सम्बन्धमें कितने ही उल्लेख शास्त्रोंमें ऐसे भी पाये जाते हैं, जिनमें आचार्योंमें परस्पर मत-भेद हैं और जो देश-कालकी भिन्न भिन्न स्थितियोंके परिवर्तनादिकको ही सूचित करते हैं।

के सिवाय हमारे पारमार्थिक धर्मको क्या हानि पहुँचती है ? और फिर वह हानि उस वक्त क्यो नही पहुँचती जबकि उस जाति-के व्यक्ति मुसलमान या ईसाई हो जाते हैं और हम उनके साथ अस्पृश्यताका व्यवहार नही रखते ? यह सभीके सोचने और समझनेकी बात है। और इससे तो प्राय· किसीको भी इनकार नही हो सकता कि जिन अत्याचारोके लिये हम अपने विपयमे गवर्नमेन्टकी शिकायत करते हैं, यदि वे ही अत्याचार और वल्कि उनसे भी अधिक अत्याचार हम अछूतोके साथ करते हैं, तो हमे यह कहने और इस वातका दावा करनेका कोई अधिकार नही है कि हमारे ऊपर अत्याचार न किये जायँ, हमे बराबरके हक दिये जायँ अथवा हमे स्वाधीन कर दिया जाय। हमे पहले अपने दोपोका सशोधन करना होगा, तभी हम दूसरोके दोपोका संशोधन करा सकेंगे। भले ही हमारे पुराने सस्कार और हमारी स्वार्थ-वासनाएँ हमे इस बातको स्वीकार करनेसे रोकें कि हम अछूतोपर कुछ अत्याचार करते हैं, और चाहे हम यहाँ तक कहनेकी धृष्टता भी धारण करे कि अछूतोके साथ जो व्यवहार किया जाता है, वह उनके योग्य ही है और वे उसीके लिये बनाये गये हैं, तो भी एक न्यायी और सत्यप्रिय हृदय इस बातको स्वीकार करनेसे कभी नही चूकेगा कि अछूतोपर अर्सेसे वहुत बडे अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं और इसलिये हमे अव उन सबका प्रायश्चित्त जरूर करना होगा।

अन्तमे मैं अपने पाठकोसे इतना फिर निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे अपने पूर्व-संस्कारोको दबाकर बडी शाति और गम्भीरताके साथ इस विपयपर विचार करनेकी कृपा करें और

देवगढ़के मन्दिर-मूर्तियोंकी दुदशा : ४ :

झासी जिलेमे ललितपुरसे दक्षिणकी ओर जाखलौन स्टेशनसे ६ मीलकी दूरीपर 'देवगढ' नामका एक अतिशय क्षेत्र बेतवा नदीके मुहानेपर स्थित है। मैंने स्वय ८ नवम्बर सन् १९२५ को इस पवित्र क्षेत्रके दर्शन किये, परन्तु दर्शन करके इतनी प्रसन्नता नही हुई जितनी कि हृदयमे वेदना उत्पन्न हुई। प्रसन्नता तो केवल इत ी ही थी कि मदिरोके साथ मूर्तियाँ बडी ही भव्य, मनोहर तथा दशनीय जान पडती थी—ऐसे खर पाषाणकी इतनी सुन्दर, सुडौल और प्रसन्नवदन मूर्तियाँ अन्यत्र बहुत ही कम देखनेमे आई थी और उन्हे देखकर अपने अतीत गौरवका—अपने अभ्युदयका—तथा अपने शिल्पचातुर्यका स्मरण हो आता था। परन्तु मदिर-मूर्तियोकी वर्तमान दुर्दशाको देखकर हृदय टूक टूक हुआ जाता था—उनकी सुन्दरता जितनी अधिक थी उनकी दुर्दशा उतनी ही ज्यादा कष्ट देती थी। जब मैं देखता था कि एक मदिरके पास दूसरा मदिर धराशायी हुआ पडा है, उसकी एक मूर्तिकी भुजा टूट गई है, दूसरीकी टाँग अलग हुई पडी है, तिसरीके मस्तकका ही पता नही है, सही सलामत बची हुई मूर्तियाँ भी कुछ अस्त-व्यस्त रूपसे खुले मैदानमे पडी हुई पशुओ आदिके आघात सह रही हैं, मदिरका खम्भा कही, तो शिखरका पत्थर कही पडा है और उन खडहरोपर होकर जाना पडता है, जो मदिर अभी तक धराशायी नही हुए, उनके आँगनोमे और उनकी छतो आदि पर गजो लम्बे घास खडे हैं, खैर-करोदी आदिके वृक्ष भी छतोतक

पर खडे हुए अपनी निरकुशता अथवा अपना एकाधिपत्य प्रकट कर रहे हैं, घासकी मोटी जडें इधर-उधर फैलकर अपनी धृष्टताका परिचय दे रही हैं, एक मदिरसे दूसरे मदिरको जानेके लिये रास्ता साफ नही, मदिरोके चारो तरफ जगल ही जगल होगया है। बेहद घास तथा झाडझखाड खडे हैं, मदिरोकी प्राय सारी छतें टपकती हैं, वर्षाका बहुतसा जल मूर्तियोके ऊपर गिरता है, बहुतसी मूर्तियोपर काई जम गई है, उनके कोई कोई अग फट गये हैं अथवा विरूप हो गये हैं और मदिरमे हजारो चमगादड फिरते हैं जिनके मल-मूत्रकी दुर्गंधके मारे वहाँ खडा नही हुआ जाता, तो यह सब दृश्य देखते-देखते हृदय भर आता था—धैर्य त्याग देता था—आखोसे अश्रुधारा बहने लगती थी, उसे बार-बार रूमालसे पोछना पडता था और रह-रहकर यह ख्याल उत्पन्न होता था कि क्या जैनसमाज जीवित है? क्या जैनी जिन्दा हैं? क्या ये मंदिर-मूर्तियां उसी जैन जातिकी हैं जो भारतवर्षमें एक धनाढ्य जाति समझी जाती है? अथवा जिसके हाथमे देशका एक चौथाई व्यापार बतलाया जाता है? और क्या जैनियोमे अपने पूर्वजोका गौरव अपने धर्मका प्रेम अथवा अपना कुछ स्वाभिमान अवशिष्ट है? उत्तर 'हाँ' में कुछ भी नही बनता था, और कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता था मानो मूर्तियाँ कह रही हैं कि, यदि तुम्हारे अदर दया है और तुमसे और कुछ नही हो सकता तो हमें किसी अजायबघरमें ही पहुँचा दो, वहाँ हम बहुतोको नित्य दर्शन दिया करेंगी—उनके दर्शनकी चीज बनेंगी—बहुतसे गुण-ग्राहकोकी प्रेमाजलि तथा भक्तिपुष्पाजलि ग्रहण किया करेंगी। और यदि यह भी कुछ नही हो सकेगा तो कमसे कम इस

आपत्तिसे तो बच जायँगी—वहाँ सुरक्षित तो रहेंगी, वर्षाका पानी तो हमारे ऊपर नही टपका करेगा, चमगादड तो हमारे ऊपर मल-मूत्र नही करेंगे, पशु तो हमसे आकर नही खसा करेंगे और कभी कोई जगली आदमी तो हमारेमेसे किसीके ऊपर खुरपे दाँती नही पनाएगा।

उधर बडे मदिरके उस अनुपम तोरण द्वारपर जब दृष्टि पडती थी जो अपने साथी मकानोसे अलग होकर अकेला खडा हुआ है तो मानो ऐसा मालूम होता था कि वह अब हसरत भरी निगाहोसे देख रहा है और पुकार-पुकारकर कह रहा है कि, मेरे साथी चले गये। मेरे पोषक चले गये ।। मेरा कोई प्रेमी नही रहा ।।। मैं कब तक और अकेला खडा रहूँगा? किसके आधारपर खडा रहूँगा? खडा रहकर करूँगा भी क्या? मैं भी अब धराशायी होना चाहता हूँ ।।। इस तरह इन करुण दृश्यो तथा अपमानित पूजा-स्थानोको देखकर और अतीत गौरवका स्मरण करके हृदयमे बार बार दु.खकी लहरें उठती थी—रोना आता था—और उस दु खसे भरे हुए हृदयको लेकरही मैं पर्वतसे नीचे उतरा था।

समझमे नही आता, जिनकी प्राचीन तथा उत्तम देवमूर्तियो-की यो अवज्ञा होरही हो वे नई-नई मूर्तियोका निर्माण क्या समझकर कर रहे हैं और उसके द्वारा कौनसा पुण्य उपार्जन करते हैं।। क्या बिना जरूरत भी इन नई नई मूर्तियोका निर्माण प्राचीन शास्त्र विहित मूर्तियोकी बलि देकर—उनकी ओरसे उपेक्षा धारण करके—नही हो रहा है? यदि ऐसा नही तो पहले इन दुर्दशाग्रस्त मदिर-मूर्तियोका उद्धार क्यो नही किया जाता? जीर्णोद्धारका पुण्य तो नूतन निर्माणसे

अधिक बतलाया गया है। फिर उसकी तरफसे इतनी उपेक्षा क्यो? क्या महज धर्मका ढोग बनाने, रूढिका पालन करने या अपने आसपासकी जनतामे वाहवाही लूटनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता है? अथवा ऐसी ही अवज्ञा तथा दुर्दशाके लिये ही ये नई-नई मूर्तियाँ बनाई जाती हैं? यदि यह सब कुछ नही है तो फिर इतने कालसे देवगढकी ये भव्यमूर्तियाँ क्यो विपद्ग्रस्त हो रही हैं? क्या इनकी विपद्का यह मुख्य कारण नही है कि देवगढ़मे जैनियोकी बस्ती नही रही, उसके आसपासके नगर-ग्रामोमे अच्छे समर्थ तथा श्रद्धालु जैनी नही रहे और दूसरे प्रान्तोके जैनियोमे भी धर्मकी सच्ची लगन अथवा अपने देवके प्रति सच्ची भक्ति नही पाई जाती? यदि देवगढमे और उसके आस-पास आज भी जैनियोकी पहले जैसी बस्ती होती और उनका प्रतापसूर्य चमकता होता तो इन मदिर-मूर्तियोको कदापि ये दिन देखने न पडते। और इसलिये जिन भोले भाईयोका यह खयाल है कि अधिक जैनियोसे या जैनियो-की सख्यावृद्धि करनेसे क्या लाभ? थोडे ही जैनी काफी हैं, उन्हे देवगढकी इस घटनासे पूरा पूरा सबक सीखना चाहिए और स्वामी समन्तभद्रके इस महत्वपूर्ण वाक्यको सदा ध्यानमे रखना चाहिये कि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—अर्थात्, धार्मिकोंके विना धर्मकी सत्ता नही, वह स्थिर नही रह सकता, धार्मिक स्त्री-पुरुष ही उसके एक आधार होते हैं, और इसलिये धर्मकी स्थिति बनाये रखने अथवा उसकी वृद्धि करनेके लिये धार्मिक स्त्री-पुरुषोके पैदा करनेकी और उनकी उत्तरोत्तर सख्या वढानेकी खास जरूरत है। साथ ही, उन्हे यह भी याद रखना चाहिये कि जैनियोकी सख्या-वृद्धिका यदि कोई समुचित प्रयत्न

नही किया गया तो जैनियोके दूसरे मदिर-मूर्तियोकी भी निकट भविष्यमे वही दुर्दशा होनेवाली है जो देवगढके मदिर-मूर्तियोकी हुई है और इसलिये उसके लिये उन्हे अभीसे सावधान हो जाना चाहिये और सर्वत्र जैन-धर्मके प्रचारादि-द्वारा उनके रक्षक पैदा करने चाहियें।

यदि दुर्दैवसे देवगढ जैनियोसे शून्य हो भी गया था तो भी यदि आसपासके जैनियोकी—बुन्देलखण्डी भाइयोकी—अथवा दूसरे प्रान्तके श्रावकोकी धर्ममे सच्ची प्रीति—सच्ची लगन—अपने देवके प्रति सच्ची भक्ति और अपने कर्तव्यपालनकी सच्ची रुचि बनी रहती और उन्हे अपने घरपर ही नया मन्दिर बनवा कर, नई मूर्तियाँ स्थापित कराकर बडे-बडे मेले प्रतिष्ठाएँ रचा कर तथा गजरथ चला कर सिघई, सवाई सिघई अथवा श्रीमन्त जैसी पदवियाँ प्राप्त करनेकी लालसा न सताती तो देवगढके मदिर-मूर्तियोको अभी तक इस दुर्दशाका भोग करना न पडता—उनका कभीका उद्धार हो गया होता। जैनियोका प्रतिवर्ष नये-नये मदिर-मूर्तियोके निर्माण तथा मेले प्रतिष्ठादिकोमे लाखो रुपया खर्च होता है। वे चाहते तो इस रकमसे एकही वर्षमे पर्वत तकको खरीद सकते थे—जीर्णोद्धारकी तो बात ही क्या है? परतु मैं देख रहा हूँ जैनियोका अपने इस कर्तव्यकी ओर बहुत ही कम ध्यान है। जिस क्षेत्र पर २०० के करीब शिला-लेख पाये गये हो, १५७ जिनमेसे ऐतिहासिक महत्व रखते हो और उनमे जैनियोके इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी हुई हो उस क्षेत्रके विषयमे जैनियोका यह उपेक्षाभाव, निःसन्देह बहुत ही खेदजनक है। सात वर्षसे कुछ ऊपर हुए जब भाई विश्वम्भर-दासजी गार्गीयने 'देवगढके जैनमदिर' नामकी एक पुस्तक

प्रकाशित करके इस विषयके आन्दोलनको खास तौरसे जन्म दिया था। उस वक्तसे कभी-कभी एकाध लेख जैनमित्रादिकमे प्रकाशित हो जाता है और उसमे प्राय· वे ही बातें आगे-पीछे अथवा संक्षिप्त करके दी हुई होती हैं जो उक्त पुस्तकमे संग्रहीत हैं। और इससे यह जाना जाता है कि देवगढ तीर्थोद्धार-फडने ग्राममें एक धर्मशाला बनवाने तथा मदिरोमे जोडियाँ चढवानेके अतिरिक्त अभी तक इस विषयमें और कोई खास प्रगति नहीं की—वह मदिर-मूर्तियोके इतिहासादि-सम्बन्धमें भी कोई विशेष खोज नही कर सका और न उन सब शिलालेखोकी कापी प्राप्त करके उनका पूरा परिचय ही समाजको करा सका है जो गवर्नमेण्टको इस क्षेत्रपरसे उपलब्ध हुए हैं और जिनमेसे १५७ का सक्षिप्त परिचय भी सरकारी रिपोर्टमें दिया हुआ बतलाया जाता है। कोई खास रिपोर्ट भी उसकी अभी तक देखनेमे नही आई। इसके सिवाय गवर्नमेण्टसे लिखा-पढी करके इस क्षेत्रको पूर्णरूपसे अपने हस्तगत करनेके लिये जो कुछ सज्जनोकी योजना हुई थी उनकी भी कोई रिपोर्ट आज तक प्रकाशित नही हुई और न यही मालूम पडा कि उन्होने इस विषयमे कुछ किया भी है या कि नही। तीर्थक्षेत्र-कमेटीने भी इस विषयमे क्या महत्वका भाग लिया है वह भी कुछ मालूम नही हो सका। हाँ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजोकी कुछ टिप्पणियोसे इतना आभास जरूर मिलता रहा है कि अभी तक इस दिशामे कोई खास उल्लेखनोय कार्य नही हुआ है। अस्तु, ऐसी मदगति, लापर्वाही और अव्यवस्थित रूपसे कार्य होनेकी हालतमे इस क्षेत्रके शीघ्र उद्धारकी क्या आशा की जा सकती है और उस उद्धारकार्यमे सहायता देनेकी भी किसीको क्या विशेष प्रेरणा हो सकती है।

अतः समाजका इस विषयमे यह खास कर्तव्य है कि वह अब और अधिक समय तक इस मामलेको खटाईमें न डाले रक्खे, उसे पूर्ण उद्योगके साथ गहरा आन्दोलन करके और अच्छे उत्साही तथा कार्यकुशल योग्य पुरुपोकी योजना-द्वारा व्यवस्थित रूपसे काम कर शीघ्र ही इस क्षेत्रके उद्धार-कार्यको पूरा करना चाहिये। ऐसा न हो कही विलम्बसे दूसरे मदिर भी धराशायी हो जायँ और फिर खाली पछतावा ही पछतावा अवशिष्ट रह जाय। बुन्देलखण्डके भाइयोकी इस विषयमें खास जिम्मेवारी है और इस क्षेत्रका अभी तक उद्धार न होनेका खास कलक भी उन्हीके सिर है। वे यदि कुछ समयके लिये नये-नये मंदिरोके निर्माण और मेले प्रतिष्ठाओको बन्द रख कर इस ओर अपनी शक्ति लगावें तो इस क्षेत्रका उद्धार होनेमे कुछ भी देर न लगे। तीर्थक्षेत्र-कमेटीको भी इस विषयमे सविशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये और यह प्रकट कर देना चाहिये कि अभी तक इस दिशामे क्या कुछ कारवाई हुई है।

---

१. अनेकान्त वर्ष १, किरण २, दिसम्बर १९३०।

ऊँच-गोत्रका व्यवहार कहाँ ? : ५ :

(धवल सिद्धान्तका एक मनोरञ्जक वर्णन)

षट्खण्डागमके 'वेदना' नामका चतुर्थ खण्डके चौबीस अधिकारोमेसे पाँचवें 'पयडि' (प्रकृति) नामक अधिकारका वर्णन करते हुए, श्रीभूतबली आचार्यने गोत्रकर्म-विषयक एक सूत्र निम्न प्रकार दिया है :—

"गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ उच्चागोदं चेव णीचागोदं चेव एवदियाओ पयडीओ ॥१२९॥"

श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी धवला-टीकामे, इस सूत्रपर जो टीका लिखी है वह बडी ही मनोरजक है और उससे अनेक नई-नई बातें प्रकाशमें आती हैं—गोत्रकर्मपर तो अच्छा खासा प्रकाश पडता है और यह मालूम होता है कि वीरसेनाचार्यके अस्तित्वसमय अथवा धवलाटीका (धवलसिद्धान्त) के निर्माण-समय (शक सं० ७३८) तक गोत्रकर्मपर क्या कुछ आपत्ति की जाती थी ? अपने पाठकोके सामने विचारकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करने और उनकी विवेकवृद्धिके लिये मैं उसे क्रमशः यहाँ देना चाहता हूँ।

टीकाका प्रारम्भ करते हुए, सबसे पहले यह प्रश्न उठाया गया है कि—"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः ?"—अर्थात् ऊँच गोत्रका व्यापार—व्यवहार कहाँ ?—किन्हे उच्चगोत्री समझा जाय ? इसके बाद प्रश्नको स्पष्ट करते हुए और उसके समाधानरूपमे जो-जो बातें कही जाती हैं, उन्हे सदोष बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, वह सब क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) "न तावद्राज्यादिलक्षणायां संपदि [व्यापारः], तस्याः सद्वेद्यतस्समुत्पत्तेः"

अर्थात्—यदि राज्यादि-लक्षणवाली सम्पदाके साथ उच्च-गोत्रका व्यापार माना जाय—ऐसे सम्पत्तिशालियोंको ही उच्च-गोत्री कहा जाय—तो यह बात नहीं बनती, क्योंकि ऐसी सम्पत्तिकी समुत्पत्ति अथवा सम्प्राप्ति सातावेदनीय कर्मके निमित्त-से होती है—उच्चगोत्रका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) "नापि पञ्चमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहण प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदया-भावप्रसंगात्।"

अर्थात्—यदि यह कहा जाय कि उच्चगोत्रके उदयसे पञ्चमहाव्रतोंके ग्रहणकी योग्यता उत्पन्न होती है और इसलिये जिनमें पञ्चमहाव्रतोंके ग्रहणकी योग्यता पाई जाय उन्हे ही उच्च-गोत्री समझा जाय, तो यह भी ठीक नही है, क्योंकि ऐसा माननेपर देवोंमें और अभव्योंमें जो कि पञ्चमहाव्रत-ग्रहणके अयोग्य होते है, उच्चगोत्रके उदयका अभाव मानना पडेगा—, परन्तु देवोंके उच्चगोत्रका उदय माना गया है और अभव्योंके भी उसके उदयका निषेध नही किया गया है।

(३) "न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः, ज्ञानावरण-क्षयोपशम-सहाय-सम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्तेः, तिर्यक्नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रं तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्।"

अर्थात्—यदि सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिके साथमें ऊँच गोत्रका व्यापार माना जाय—जो-जो सम्यग्ज्ञानी हो उन्हे उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी ठीक घटित नही होती, क्योंकि प्रथम तो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी सहायता-पूर्वक सम्य-ग्दर्शनसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है—उच्चगोत्रका उदय

उसकी उत्पत्तिमे कोई कारण नही है। दूसरे, तिर्यंच और नारकियोमे भी सम्यग्ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है, तब उनमे भी उच्चगोत्रका उदय मानना पडेगा और यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध होगी—सिद्धान्तमे नारकियो और तिर्यंचोके नीच गोत्रका उदय बतलाया है।

(४) "नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापारस्तेषां नामतस्समुत्पत्तेः।"

अर्थात्—यदि आदेयत्व, यश अथवा सौभाग्यके साथमे उच्चगोत्रका व्यवहार माना जाय—जो आदेयगुणसे विशिष्ट (कान्तिमान्), यशस्वी अथवा सौभाग्यशाली हो उन्हे ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी नही बनती, क्योंकि इन गुणोकी उत्पत्ति आदेय, यश. और सुभग नामक नामकर्म, प्रकृतियोके उदयसे होती है—उच्चगोत्र उनकी उत्पत्तिमे कोई कारण नही है।

(५) "नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ [व्यापारः], काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्वाद्, विड्-ब्राह्मण-साधु (शूद्रे ?) ष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्।"

अर्थात्—यदि इक्ष्वाकु-कुलादिमें उत्पन्न होनेके साथ ऊँच ात्रका व्यापार माना जाय—जो इन क्षत्रियकुलोमे उत्पन्न हो उन्हे ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी समुचित प्रतीत नही होती, क्योकि प्रथम तो इक्ष्वाकु आदि क्षत्रियकुल काल्पनिक हैं, परमार्थसे (वास्तवमें) उनका कोई अस्तित्व नही है। दूसरे, वैश्यो, ब्राह्मणो और शूद्रोमें भी उच्चगोत्रके उदयका विधान पाया जाता है।

(६) 'न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः, म्लेच्छराज-समुत्पन्न-पृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्।'

अर्थात्—सम्पन्न (समृद्ध) पुरुषोंसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंमें यदि उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—समृद्धों एवं धनाढ्योंकी सन्तानको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो म्लेच्छ राजासे उत्पन्न हुए पृथुकके भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा—और ऐसा माना नहीं जाता। (इसके सिवाय, जो सम्पन्नोंसे उत्पन्न न होकर निर्धनोंसे उत्पन्न होंगे, उनके उच्चगोत्रका निषेध भी करना पड़ेगा, और यह बात सिद्धान्तके विरुद्ध जायगी।)

(७) "नाऽणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्य असत्वप्रसंगात्, नाभेयस्य (स्य ?) नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च।"

अर्थात्—अणुव्रतियोंसे उत्पन्न होने वाले व्यक्तियोंमें यदि उच्चगोत्रका व्यापार माना जाय—अणुव्रतियोंकी सन्तानोंको ही उच्चगोत्री कहा जाय—तो यह बात भी सुघटित नही होती, क्योंकि ऐसा मानने पर देवोंमें, जिनका जन्म औपपादिक होता है और जो अणुव्रतियोंसे पैदा नही होते, उच्चगोत्रके उदयका अभाव मानना पडेगा, और साथ ही नाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेव (आदितीर्थंकर)को भी नीचगोत्री बतलाना पडेगा, क्योंकि नाभिराजा अणुव्रती नही थे—उस समय तो व्रतोंका कोई विधान भी नही हो पाया था।

(८) "ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रं तत एव न तस्य कर्मत्वमपि, तदभावेन नीचैर्गोत्रमपि द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्, ततो गोत्रकर्माभाव इति *।"

---

* ये सब अवतरण और आगेके अवतरण भी आराके जैन-सिद्धान्त भवनकी प्रतिसे लिये गये हैं।

अर्थात्—जब उक्त प्रकारसे उच्चगोत्रका व्यवहार कही ठीक बैठता नही, तब उच्चगोत्र निष्फल जान पडता हैं और इसीलिए उसके कर्मपना भी कुछ बनता नही। उच्चगोत्रके अभावसे नीच गोत्रका भी अभाव हो जाता हैं, क्योकि दोनोमे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बनता नही। और इसलिये गोत्रकर्मका ही अभाव सिद्ध होता है।

इस तरह गोत्रकर्मपर आपत्तिका यह 'पूर्वपक्ष' किया गया है, और इससे स्पष्ट जाना जाता है कि गोत्रकर्म अथवा उसका ऊँच-नीच-विभाग आज ही कुछ आपत्तिका विषय बना हुआ नही है, बल्कि आजसे ११०० वर्षसे भी अधिक समय पहलेसे वह आपत्तिका विषय बना हुआ था—गोत्रकर्माश्रित ऊँच-नीचता पर लोग तरह-तरहकी आशकाएँ उठाते थे और इस बातको जाननेके लिए बडे ही उत्कण्ठित रहते थे कि गोत्रकर्मके आधारपर किसको ऊँच और किसको नीच कहा जाय ?—उसकी कोई कसौटी मालूम होनी चाहिए। पाठक भी यह जाननेके लिए बडे उत्सुक होगे कि आखिर वीरसेनाचार्य-ने अपनी धवला-टीकामे, उक्त पूर्वपक्षका क्या 'उत्तरपक्ष' दिया है और कैसे उन प्रधान आपत्तियोका समाधान किया है जो पूर्वपक्षके आठवें विभागमे खडी की गई हैं। अत मैं भी अब उस उत्तरपक्षको प्रकट करनेमे विलम्ब करना नही चाहता। पूर्व-पक्षके आठवें विभागमे जो आपत्तियाँ खडी की गई हैं वे सक्षेपत: दो भागोमे बाँटी जा सकती हैं—एक तो ऊँच गोत्रका व्यवहार कही ठीक न बननेसे ऊँच गोत्रकी निष्फलता और दूसरा गोत्रकर्मका अभाव। इसीलिए उत्तरपक्षको भी दो भागो

मे बाँटा गया है, पिछले भागका उत्तर पहले और पूर्व विभाग-का उत्तर बादको दिया गया है—और वह सब क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) "[इति] न, जिनवचनस्याऽनन्यत्वविरोधात्; तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते। न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनाऽनुपलंभाज्जिनवचनस्याऽप्रमाणत्वमुच्येत।"

अर्थात्—इस प्रकार गोत्रकर्मका अभाव कहना ठीक नही है, क्योंकि गोत्रकर्मका निर्देश जिनवचन-द्वारा हुआ है और जिनवचन असत्यका विरोधी है। जिनवचन असत्यका विरोधी है, यह बात इतने परसे ही जानी जा सकती है कि उसके वक्ता श्रीजिनेन्द्रदेव ऐसे आप्त-पुरुष होते हैं जिनमे असत्यके कारणभूत राग-द्वेष-मोहादिक दोषोंका सद्भाव ही नही रहता*। जहाँ असत्य-कथन-का कोई कारण ही विद्यमान न हो वहाँसे असत्यकी उत्पत्ति भी नही होसकती, और इसलिये जिनेन्द्रकथित गोत्रकर्मका अस्तित्व जरूर है।

इसके सिवाय, जो भी पदार्थ केवलज्ञानके विषय होते हैं उन सबमे रागीजीवोंके ज्ञान प्रवृत्त नही होते, जिससे उन्हे उनकी उपलब्धि न होनेपर जिनवचनको अप्रमाण कहा जासके।

---

* जैसा कि 'धवला' के ही प्रथम खण्डमे उद्धृत निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

आगमो ह्याप्तवचनं आप्तं दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्॥
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥

अर्थात् केवलज्ञानगोचर कितनी ही बातें ऐसी भी होती हैं जो छद्मस्थोके ज्ञानका विषय नही बन सकती, और इसलिए रागाक्रान्त छद्मस्थोको यदि उनके अस्तित्वका स्पष्ट अनुभव न हो सके तो इतनेपरसे ही उन्हे अप्रमाण या असत्य नही कहा जा सकता।

(२) 'न च निष्फलं [उच्चैः] गोत्रं, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानामार्यप्रत्ययाभिधानव्यहार-निवन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रम्। तत्रोत्पत्तिहेतुकमप्युच्चैर्गोत्रम्। न चाऽत्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति विरोधात्। तद्वीपरीत नीचैर्गोत्रम्। एव गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः।"

अर्थात्—उच्चगोत्र निष्फल नही है, क्योकि उन पुरुषोंकी सन्तान उच्चगोत्र होती है जो दीक्षा-योग्य साधुआचारोसे युक्त हो, साधु-आचारवालोके साथ जिन्होने सम्बन्ध किया हो, तथा आर्याभिमत नामक व्यवहारोसे जो बँधे हो। ऐसे पुरुषोके यहाँ उत्पत्तिका—उनकी सन्तान बननेका—जो कारण है वह भी उच्चगोत्र है। गोत्रके इस स्वरूपकथनमे पूर्वोक्त दोषोकी सभावना नही है, क्योकि इस स्वरूपके साथ उन दोषोका विरोध है—उच्चगोत्रका ऐसा स्वरूप अथवा ऐसे पुरुषोकी सन्तानमे उच्चगोत्रका व्यवहार मानलेनेपर पूर्व-पक्षमे उद्भूत किये हुए दोष नही बन सकते। उच्चगोत्रके विपरीत नीचगोत्र है—जो लोग उक्त पुरुषोकी सन्तान नही हैं अथवा उनसे विपरीत आचार-व्यवहार-वालोकी सन्तान हैं वे सब नीचगोत्र-पद के वाच्य हैं, ऐसे लोगोमे जन्म लेनेके कारणभूत कर्मको भी नीचगोत्र कहते हैं। इस तरह गोत्रकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ होती हैं।

यह उत्तरपक्ष पूर्वपक्षके मुकाबलेमे कितना सबल है, कहाँ

तक विषयको स्पष्ट करता है और किस हद तक सन्तोषजनक है, इसे सहृदय पाठक एव विद्वान महानुभाव स्वयं अनुभव कर सकते हैं। मै तो, अपनी समझके अनुसार, यहांपर सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि इस उत्तर-पक्ष का पहला विभाग तो बहुत कुछ स्पष्ट है। गोत्रकर्म जिनागमकी खास वस्तु है और उसका वह उपदेश जो उक्त मूलसूत्रमे संनिविष्ट है, अविच्छिन्न ऋषि-परम्परासे बराबर चला आता है। जिनागमके उपदेष्टा जिनेन्द्रदेव—भ० महावीर—राग, द्वेष, मोह और अज्ञानादि दोपोसे रहित थे। ये ही दोष असत्यवचनके कारण होते हैं। कारणके अभावमे कार्यका भी अभाव हो जाता है, और इसलिए सर्वज्ञ-वीतराग-कथित इस गोत्रकर्मको असत्य नही कहा जासकता, न उसका अभाव ही माना जासकता है। कम-से-कम आगम-प्रमाण-द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध है। पूर्वपक्षमे भी उसके अभावपर कोई विशेष जोर नही दिया गया मात्र उच्चगोत्रके व्यवहारका यथेष्ट निर्णय न हो सकनेके कारण उकताकर अथवा आनुषंगिक रूपसे गोत्रकर्मका अभाव बतला दिया गया है। इसके लिये जो दूसरा उत्तर दिया गया है वह भी ठीक ही है। निः सन्देह, केवलज्ञान-गोचर कितनी ही ऐसी सूक्ष्म बातें भी होती हैं जो लौकिक ज्ञानोका विषय नही हो सकती अथवा लौकिक साधनोसे जिनका ठीक बोध नही होता, और इसलिये अपने ज्ञानका विषय न होने अथवा अपनी समझ मे ठीक न बैठनेके कारण ही किसी वस्तु-तत्वके अस्तित्वसे इनकार नही किया जासकता।

हाँ, उत्तरपक्षका दूसरा विभाग मुझे बहुत कुछ अस्पष्ट जान पड़ता है। उसमे जिन पुरुषोकी संतानको उच्चगोत्र नाम दिया गया है उनके विशेषणोपरसे उनका ठीक स्पष्टीकरण नही

होता—यह मालूम नही होता कि—१ दीक्षायोग्य साधु-आचारोसे कौनसे आचार विशेष अभिप्रेत हैं ? २ 'दीक्षा' शब्दसे मुनिदीक्षाका ही अभिप्राय है या श्रावकदीक्षाका भी ?—क्योकि प्रतिमाओके अतिरिक्त श्रावकोके बारह व्रत भी द्वादशदीक्षा-भेद कहलाते हैं*, ३ साधु आचारवालोके साथ सम्बन्ध करनेकी जो बात कही गई है वह उन्ही दीक्षायोग्य साधु आचारवालोसे सम्बन्ध रखती है या दूसरे साधु आचारवालोसे ? ४ सम्बन्ध करनेका अभिप्राय विवाह-सम्बन्धका ही है या दूसरा उपदेश, सहनिवास, सहकार्य और व्यापारादिका सम्बन्ध भी उसमे शामिल है ? ५ आर्याभिमत अथवा आर्य-प्रत्ययाभिधान नामक व्यवहारोसे कौनसे व्यवहारोका प्रयोजन है ? ६ और इनविशेषणो का एकत्र समवाय होना आवश्यक है अथवा पृथक-पृथक् भी ये ये उच्चगोत्रके व्यजक हैं ? जबतक ये सब बातें स्पष्ट नही होती, तबतक उत्तरको सन्तोषजनक नही कहा जा सकता, न उससे किसीकी पूरी तसल्ली हो सकती है और न उक्त प्रश्न ही यथेष्ट रूपमे हल हो सकता है। साथही इस कथनकी भी पूरी जाँच नही हो सकती कि 'गोत्रके इस स्वरूप-कथनमे पूर्वोक्त दोषोकी सम्भावना नही है।' क्योकि कल्पनाद्वारा जब उक्त बातोका स्पष्टीकरण किया जाता है तो उक्त स्वरूप-कथनमे कितने ही दोष आकर खड़े हो जाते हैं। उदाहरणके लिए यदि

* जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे दिये हुए श्रीविद्यानन्द आचार्यके निम्न वाक्य से प्रकट हैं :—

"तेन गृहस्थस्य पचाणुव्रतानि सप्तशीलानि गुणव्रत शिक्षाव्रत व्यपदेशभाञ्जीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च महाव्रत-तच्छीलवत् ।"

'दीक्षा' का अभिप्राय मुनिदीक्षाका ही लिया जाय तो देवोंको उच्चगोत्री नही कहा जायगा, किसी पुरुषकी सन्तान न होकर औपपादिक जन्मवाले होनेसे भी वे उच्चगोत्री नही रहेगे। यदि श्रावकके व्रत भी दीक्षामें शामिल हैं तो तिर्यंच पशु भी उच्चगोत्री ठहरेंगे, क्योकि वे भी श्रावकके व्रत धारण करनेके पात्र कहे गए हैं और अक्सर श्रावकके व्रत धारण करते आए हैं। तथा देव इससे भी उच्चगोत्री नही रहेगे, क्योकि उनके किसी प्रकारका व्रत नही होता—वे अव्रती कहे गए हैं। यदि सम्बन्ध का अभिप्राय विवाह-सम्बन्धसे ही हो, जैसा कि म्लेच्छ-खण्डोसे आए हुए म्लेच्छोका चक्रवर्ती आदिके साथ होता है और फिर वे म्लेच्छ मुनिदीक्षा तकके पात्र समझे जाते हैं, तब भी देवतागण उच्चगोत्री नही रहेगे, क्योकि उनका विवाह सम्बन्ध ऐसे दीक्षायोग्य साध्वाचारोके साथ नही होता है। और यदि सम्बन्धका अभिप्राय उपदेश आदि दूसरे प्रकारके सम्बन्धोसे हो तो शक, यवन, शवर, पुलिंद और चाण्डालादिककी तो बात ही क्या? तिर्यंच भी उच्चगोत्री हो जायँगे, क्योकि वे साध्वाचारोके साथ उपदेशादिके सम्बन्धको प्राप्त होते हैं और साक्षात् भगवान् के समवसरण मे भी पहुँच जाते हैं। इस प्रकार और भी कितनी ही आपत्तियाँ खडी हो जाती है।

आशा है विद्वान् लोग श्रीवीरसेनाचार्यके उक्त स्वरूप-विषयक कथनपर गहरा विचार करके उन छहो बातोका स्पष्टीकरण करने आदिकी कृपा करेंगे, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, जिससे यह विषय भली प्रकार प्रकाशमे आ सके और उक्त प्रश्नका सबोके समझमे आने योग्य हल हो सके।[१]

---

१ अनेकान्त वर्ष २, किरण २, ता० ३१-११-१९३८

महत्त्वकी प्रश्नोत्तरी : ६ :

प्रश्न—ससारमे सार क्या है ?

उत्तर—मनुष्य होकर तत्वज्ञानको प्राप्त करना और स्व-परके हितसाधनमे सदा उद्यमी रहना ।

प्रश्न—संसारको बढानेवाली वेल कौन-सी है ?

उत्तर—आशा-तृष्णा ।

प्रश्न—ससारमे पवित्र कौन है ?

उत्तर—जिसका मन शुद्ध है ।

प्रश्न—पडित कौन है ?

उत्तर—जो हेय-उपादेयके ज्ञानको लिये हुए विवेकी है ।

प्रश्न—बडे लुटेरे कौन हैं ?

उत्तर—इन्द्रिय-विषय, जो आत्माके ज्ञान-वैराग्यादि धनको लूट रहे हैं ।

प्रश्न—बडा बैरी कौन है ?

उत्तर—आलस्य-अनुद्योग, जिसके कारण आत्मा विकसित नही हो पाता और न भले प्रकार जी सकता है ।

प्रश्न—शूरवीर कौन है ?

उत्तर—जिसका चित्त स्त्रियोके लोचन-बाणो (कटाक्षो) से व्यथित नही होता ।

प्रश्न—अन्धा कौन है ?

उत्तर—जो न करने योग्य कार्यके करनेमें लीन है ।

प्रश्न—बहरा कौन है ?

उत्तर—जो हितकी बातें नही सुनता ।

प्रश्न—गूँगा कौन है ?

उत्तर—जो समय पर प्रिय वचन बोलना नही जानता।

प्रश्न—अन्धेसे भी अन्धा कौन है ?

उत्तर—जो रागी है—किसी विषयमे आसक्त होकर विवेक-शून्य हो गया है।

प्रश्न—जागता कौन है ?

उत्तर—जो विवेकी है—भले-बुरेको पहचानता है ?

प्रश्न—सोता कौन है ?

उत्तर—जो मूढताको अपनाये रखता है और आत्मामे विवेकको जाग्रत नही होने देता।

प्रश्न—पूज्य कौन है ?

उत्तर—जो सच्चारित्रवान् है।

प्रश्न—दरिद्रता क्या चीज है ?

उत्तर—असतोषका नाम दरिद्रता है, जहाँ संतोष है वहाँ दरिद्रताका नाम नही।

प्रश्न—नरक क्या है ?

उत्तर—पराधीनताका नाम नरक है।

प्रश्न—मित्र कौन है ?

उत्तर—जो पापोमे प्रवृत्त होने अथवा कुमार्गमे जानेसे रोकता है।

प्रश्न—मनुष्यका असली आभूषण क्या है ?

उत्तर—पवित्र आचार-विचाररूप शील।

प्रश्न—वाणीका भूषण क्या है ?

उत्तर—सत्यताके साथ प्रिय भाषण।

प्रश्न—असली मरण कौन-सा है ?

उत्तर—मूर्खता, जिसमे आत्माके ज्ञान गुणका तिरोभाव हो जाता है ।

प्रश्न—किनमे सदा उपेक्षाभाव रखना चाहिये ?

उत्तर—दुर्जनोमे, परस्त्रियोमे और पराये धनमे ।

प्रश्न—किसको अपनी प्यारी सहचरी वनाना चाहिये ?

उत्तर—दया, चातुरी और मैत्रीको ।

प्रश्न—कण्ठगत प्राण होने पर भी किसके सुपुर्द अपनेको नही करना चाहिये ?

उत्तर—मूर्खके, विषादयुक्तके, अभिमानीके और कृतघ्नके ।

प्रश्न—धन होनेपर शोचनीय क्या है ?

उत्तर—कृपणता ।

प्रश्न—धनकी अत्यन्त कमी (निर्धनता) होनेपर प्रशसनीय क्या है ?

उत्तर—उदारता ।

प्रश्न—चिन्तामणिके समान दुर्लभ क्या है ?

उत्तर—प्रियवाक्यसहित दान, गर्वरहित ज्ञान, क्षमायुक्त शूरता और दान सहित लक्ष्मी, ये चार कल्याणकारी चीजें अत्यन्त दुर्लभ हैं ।*

अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२, मार्च १९४३ ।

---

* यह प्रश्नोत्तरी अमोघवर्षकी 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' सस्कृतके आधारपर नये ढगसे सकलित की गई ।

जैन कालोनी और मेरा विचार-पत्र : ७ :

आजकल जैन-जीवनका दिन-पर-दिन ह्रास होता जा रहा है, जैनत्व प्रायः देखनेको नही मिलता—कही-कही और कभी-कभी किसी अधेरे कोनेमे जुगनूके प्रकाशकी तरह उसकी कुछ झलक-सी दीख पडती है। जैन-जीवन और अजैन-जीवनमे कोई स्पष्ट अन्तर नजर नही आता। जिन राग-द्वेष, काम-क्रोध, छल-कपट, झूठ-फरेब, धोखा-जालसाजी, चोरी-सीनाजोरी, अतितृष्णा, विलासता, नुमाइशीभाव और विषय तथा परिग्रहलोलुपता आदि दोषोसे अजैन पीडित हैं, उन्हीसे जैन भी सताये जा रहे हैं। धर्मके नामपर किये जानेवाले क्रियाकाण्डोमे कोई प्राण मालूम नही होता, अधिकाशमे जाब्तापूरी, लोकदिखावा अथवा दम्भका ही सर्वत्र साम्राज्य जान पडता है। मूलमे विवेकके न रहनेसे धर्मकी सारी इमारत डावाडोल हो रही है। जब धार्मिक ही न रहे तब धर्म किसके आधारपर रह सकता है? स्वामी समन्तभद्रने कहा भी है कि—'न धर्मोधार्मिकैर्विना'। अत. धर्मकी स्थिरता और उसके लोकहित-जैसे शुभ परिणामोके लिये सच्चे धार्मिकोकी उत्पत्ति और स्थितिकी ओर सविशेषरूपसे ध्यान दिया ही जाना चाहिये, इसमे किसीको भी विवादके लिये स्थान नही है। परन्तु आज दशा उलटी है—इस ओर प्राय किसीका भी ध्यान नही है। प्रत्युत इसके देशमे जैसी कुछ घटनाएँ घट रही हैं और उसका वातावरण जैसा कुछ क्षुब्ध और दूषित हो रहा है उससे धर्मके प्रति लोगोकी अश्रद्धा बढती जा रही है, कितने ही धार्मिक सस्कारोसे शून्य जन-मानस उसकी

बगावत पर तुले हुए हैं और बहुतोकी स्वार्थपूर्ण भावनाएँ एवं अविवेकपूर्ण स्वच्छन्द-प्रवृत्तियाँ उसे तहस-नहस करनेके लिये उतारू हैं, और इस तरह वे अपने तथा उसे देशके पतन एवं विनाशका मार्ग आप ही साफ कर रहे हैं। यह सब देखकर भविष्यकी भयङ्करताका विचार करते हुए शरीरपर रोगटे खडे होते हैं और समझमे नहीं आता कि तब धर्म और धर्मायतनोका क्या बनेगा। और उनके अभावमें मानव-जीवन कहाँ तक मानवजीवन रह सकेगा॥

दूषित शिक्षा-प्रणालीके शिकार बने हुए सस्कारविहीन जैनयुवकोकी प्रवृत्तियाँ भी आपत्तिके योग्य हो चली हैं—वे भी प्रवाहमे बहने लगे हैं, धर्म और धर्मायतनोपरसे उनकी श्रद्धा उठती जाती है, वे अपने लिये उनकी जरूरत ही नही समझते, आदर्शकी थोथी बातो और थोथे क्रियाकाण्डोसे वे ऊब चुके हैं, उनके सामने देशकालानुसार जैन-जीवनका कोई जीवित आदर्श नही है, और इसलिये वे इधर-उधर भटकते हुए जिधर भी कुछ आकर्षण पाते हैं उधरके ही हो रहते है। जैनधर्म और समाज के भविष्यकी दृष्टिसे ऐसे नवयुवकोका स्थितिकरण बहुत ही आवश्यक है और वह तभी हो सकता है जब उनके सामने हरसमय जैन-जीवनका जीवित उदाहरण रहे।

इसके लिये एक ऐसी जैनकालोनी—जैनवस्तीके बसानेकी बडी जरूरत है जहाँ जैन-जीवनके जीते जागते उदाहरण मौजूद हो—चाहे वे गृहस्थ अथवा साधु किसी भी वर्गके प्राणियोके क्यो न हो, जहाँ पर सर्वत्र मूर्तिमान जैनजीवन नजर आए और उससे देखनेवालोको जैनजीवनकी सजीव प्रेरणा मिले, जहाँका वातावरण शुद्ध-शात-प्रसन्न और जैनजीवनके अनुकूल अथवा उसमे सब प्रकारसे सहायक हो, जहाँ प्राय: ऐसे ही

सज्जनोका अधिवास हो जो अपने जीवनको जैनजीवनके रूपमें ढालनेके लिये उत्सुक हो, जहाँपर अधिवासियोकी प्रायः सभी जरूरतोको पूरा करनेका समुचित प्रबन्ध हो और जीवनको ऊँचा उठानके यथासाध्य सभी साधन जुटाये गये हो, जहाँ के अधिवासी अपनेको एक ही कुटुम्बका व्यक्ति समझें, एक ही पिताकी सन्तानके रूपमे अनुभव करें, और एक दूसरेके दुख-सुखमे बराबर साथी रहकर पूर्णरूपसे सेवाभावको अपनाएँ तथा किसीको भी उसके कष्टमे यह महसूस न होने देवें कि वह वहाँ पर अकेला है।

समय-समयपर बहुतसे सज्जनोके हृदयमें धार्मिक जीवनको अपनानेकी तरगें उठा करती हैं और कितने ही सद्गृहस्थ अपनी गृनस्थीके कर्तव्योको बहुत-कुछ पूरा करलेनेके बाद यह चाहा करते हैं कि उनका शेष जीवन रिटायर्डरूपमें किसी ऐसे स्थानपर और ऐसे सत्सङ्गमे व्यतीत हो जिससे ठीक-ठीक धर्मसाधन और लोक-सेवा दोनो ही कार्य बन सकें। परन्तु जब वे समाजमे उसका कोई समुचित साधन नही पाते और आसपासका वातावरण उनके विचारोके अनुकूल नही होता तब वे यो ही अपना मन मसोसकर रह जाते हैं—समर्थ होते हुए भी बाह्य परिस्थितियोके वश कुछ भी कर नही पाते, और इस तरह उनका शेष जीवन इधर उधरके धन्धोमे फँसे रहकर व्यर्थही चला जाता है। और यह ठीक ही है, बीजमे अकुरित होने और अच्छा फलदार वृक्ष बननेकी शक्तिके होते हुए भी उसे यदि समयपर मिट्टी पानी और हवा आदिका समुचित निमित्त नही मिलता तो उसमे अकुर नही फूटता और वह यो ही जीर्ण-शीर्ण होकर नकारा हो जाता है। ऐसी हालतमे समाजकी

शक्तियोको सफल बनाने अथवा उनसे यथेष्ट काम लेनेके लिये सयोगोको मिलाने और निमित्तोको जोडनेकी बडी जरूरत रहती है। इस दृष्टिसे भी जैनकालोनीकी स्थापना समाजके लिये बहुत लाभदायक है और वह बहुतोको सन्मार्गपर लगाने अथवा उनकी जीवनधाराको समुचितरूपसे बदलनेमे सहायक हो सकती है।

कुछ वर्ष हुए, जब बाबू छोटेलालजी जैन कलकत्ता मद्रास-प्रान्तस्थ आरोग्यवरम्के सेनिटोरियममे अपनी चिकित्सा करा रहे थे, उस समय वहाँके वातावरण और ईसाई सज्जनोके प्रेमालाप एव सेवाकार्योसे वे बहुत ही प्रभावित हुए थे। साथ ही यह मालूम करके कि ईसाईलोग ऐसी सेवा-सस्थाओ तथा आकर्षक रूपमे प्रचुर साहित्यके वितरण-द्वारा जहाँ अपने धर्मका प्रचार कर रहे हैं वहाँ मासाहारको भी काफी प्रोत्तेजन दे रहे हैं, जिससे आश्चर्य नही जो निकट भविष्यमे सारा विश्व मासाहारी हो जाय, और इसलिये उनके हृदयमे यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यदि जैनी समयपर सावधान न हुए तो असभव नही कि भगवान महावीरकी निरामिप-भोजनादि-सम्बन्धी सुन्दर देशनाओपर पानी फिर जाय और वह एकमात्र पोथी-पत्रोकी ही बात रह जाय। इसी चिन्ताने जैनकालोनीके विचार-को उनके मानसमे जन्म दिया और जिसे उन्होने जनवरी सन् १९४५ के पत्रमें मुझपर प्रकट किया। उस पत्रके उत्तरमे २७ जनवरी माघसुदी १४ शनिवार सन् १९४५को जो पत्र देहलीसे उन्हे मैंने लिखा था वह अनेक दृष्टियोसे पाठकोके जानने योग्य है। बहुत सम्भव है कि बाबू छोटेलालजीको लक्ष्यकरके लिखा गया यह पत्र दूसरे हृदयोको भी अपील करे और उनमेसे कोई

माईका लाल ऐसा निकल आवे जो एक उत्तम जैनकालोनीकी योजना एवं व्यवस्थाके लिये अपना सब कुछ अर्पण कर देवे, और इस तरह वीरशासनकी जड़ोको युगयुगान्तरके लिये स्थिर करता हुआ अपना एक अमर स्मारक कायम कर जाय। इसी सदुद्देश्यको लेकर आज उक्त पत्र नीचे प्रकाशित किया जाता है। यह पत्र एक बडे पत्रका मध्यमांश है, जो मौनके दिन लिखा गया था, उस समय जो विचार धारा-प्रवाहरूपसे आते गये उन्हीको इस पत्रमे अङ्कित किया गया है और उन्हे अङ्कित करते समय ऐसा मालूम होता था मानों कोई दिव्य-शक्ति मुझसे वह सब कुछ लिखा रही है। मैं समझता हूँ इसमें जैनधर्म, समाज और लोकका भारी हित सन्निहित है।

जैनकालोनी-विषयक पत्र—

"जैनकालोनी आदि सम्बन्धी जो विचार आपने प्रस्तुत किये हैं और बावू अजितप्रसादजी भी जिनके लिये प्रेरणा कर रहे हैं वे सब ठीक हैं। जैनियोमे सेवाभावकी स्पिरिटको प्रोत्तेजन देने और एकवर्ग सच्चे जैनियो अथवा वीरके सच्चे अनुयायियोको तैयार करनेके लिए ऐसा होना ही चाहिए। परन्तु ये काम साधारण बातें बनानेसे नही हो सकते, इनके लिये अपनेको होम देना होगा, दृढसङ्कल्पके साथ कदम उठाना होगा, 'कार्यं साधयिष्यामि शरीरं पातयिष्यामि वा' की नीतिको अपनाना होगा, किसीके कहने-सुनने अथवा मानापमानकी कोई पर्वाह नही करनी होगी और अपना दुख-सुख आदि सब कुछ भूल जाना होगा। एकही ध्येय और एकही लक्ष्यको लेकर बराबर आगे बढना होगा। तभी रूढियोका गढ़ टूटेगा, धर्मके आसनपर जो रूढियाँ आसीन हैं उन्हे आसन छोडना पड़ेगा और

हृदयोपर अन्यथा सस्कारोका जो खोल चढा हुआ है वह सब चूरचूर होगा। और तभी समाजको वह दृष्टि प्राप्त होगी जिससे वह धर्मके वास्तविक स्वरूपको देख सकेगी। अपने उपास्य देवताको ठीक रूपमे पहचान सकेगी, उसकी शिक्षाके मर्मको समझ सकेगी और उसके आदेशानुसार चलकर अपना विकास सिद्ध कर सकेगी। इस तरह समाजका रुख ही पलट जायेगा और वह सच्चे अर्थोंमे एक धार्मिक समाज और एक विकासोन्मुख आदर्श समाज बन जायगा। और फिर उसके द्वारा कितनोका उत्थान होगा, कितनोका भला होगा, और कितनोका कल्याण होगा, यह कल्पनाके बाहरकी बात है। इतना बडा काम कर जाना कुछ कम श्रेय, कम पुण्य अथवा कम धर्मकी बात नही हैं। यह तो समाजभरके जीवनको उठानेका एक महान आयोजन होगा। इसके लिये अपनेको बीजरूपमें प्रस्तुत कीजिये। मत सोचिये कि मैं एक छोटासा बीज हूँ। बीज जब एक लक्ष्य होकर अपनेको मिट्टीमे मिला देता है, गला देता और खपा देता है, तभी चहुँ ओरसे अनुकूलता उसका अभिनन्दन करती है और उससे वह लहलहाता पौधा तथा वृक्ष पैदा होता है जिसे देखकर दुनियाँ प्रसन्न होती है, लाभ उठाती है आशीर्वाद देती है, और फिर उससे स्वत. ही हजारो बीजोकी नई सृष्टि हो जाती है। हमे वाक्पटु न होकर कार्यपटु होना चाहिये, आदर्शवादी न बनकर आदर्शको अपनाना चाहिये और उत्साह तथा साहसकी वह अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिये जिसमे सारी निर्बलता और सारी कायरता भस्म हो जाय। आप युवा हैं, धनाढ्य हैं, धनसे अलिप्त हैं, प्रभावशाली हैं, गृहस्थके बन्धनसे मुक्त है और साथ ही शुद्धहृदय तथा विवेकी है, फिर आपके लिये दुष्कर कार्य क्या हो सकता है? थोडी-सी स्वास्थ्यकी

खराबीसे निराश होने जैसी बातें करना आपको शोभा नहीं देता। आप फलकी आतुरताको पहलेसे ही हृदयमे स्थान न देकर दृढ सङ्कल्प और Full will power के साथ खडे हो जाइये, सुखी आराम तलब जैसे—जीवनका त्याग कीजिये और कष्टसहिष्णु बनिये, फिर आप देखेंगे अस्वस्थता अपने आप ही खिसक रही है और आप अपने शरीरमे नये तेज, नये बल और नई स्फूर्तिका अनुभव कर रहे है। दूसरोके उत्थान और दूसरोके जीवनदानकी सच्ची सक्रिय भावनाएँ कभी निष्फल नही जाती—उनका विद्युतका-सा असर हुए बिना नही रहता। यह हमारी अश्रद्धा है अथवा आत्मविश्वासकी कमी है जो हम अन्यथा कल्पना किया करते हैं।

मेरे खयालमे तो जो विचार परिस्थितियोको देख कर आपके हृदयमें उत्पन्न हुआ है वह बहुत ही शुभ है, श्रेयस्कर है और उसे शीघ्र ही कार्यमे परिणत करना चाहिये। जहाँ तक मैं समझता हूँ जैन कालोनीके लिये राजगृह तथा उसके आस-पासका स्थान बहुत उत्तम है। वह किसी समय एक बहुत बडा समृद्धिशाली स्थान रहा है, उसके प्रकृत्तिप्रदत्त चश्मे—गर्म जलके कुण्ड—अपूर्व है। स्वास्थ्यकर है, और जनताको अपनी ओर आकर्षित किये हुए हैं। उसके पहाडी दृश्य भी बड़े मनोहर हैं और अनेक प्राचीन स्मृतियो तथा पूर्व गौरवकी गाथाओको अपनी गोदमे लिये हुए है। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह स्थान बुरा नही है। स्वास्थ्य-सुधारके लिये यहाँ लोग महीनो आकर ठहरते है। वर्षाऋतुमे मच्छर साधारणत. सभी स्थानोपर होते है—यहाँ वे कोई विशेषरूपसे नही होते और जो होते है उसका भी कारण सफाईका न होना है। अच्छी कालोनी बसने और सफाईका समुचित प्रबन्ध रहनेपर यह शिकायत भी सहज ही दूर

हो सकती है। मालूम हुआ कि यहाँ दरियागञ्जमे पहले मच्छरोका बडा उपद्रव था। गवर्नमेंटने ऊपरसे गैस वगैरह छुडवाकर उसको शात कर दिया और अब वह बडी रौनकपर है और वहाँ बडे-बडे कोठी-बगले तथा मकानात और बाजार बन गए है। ऐसी हालतमे यदि जरूरत पडी तो राजगृहमे भी वैसे उपायोसे काम लिया जा सकेगा, परन्तु मुझे तो जरूरत पडती हुई ही मालूम नही होती। साधारण सफाईके नियमोका सख्तीके साथ पालन करने और करानेसे ही सब कुछ ठीक-ठीक हो जायगा।

अतः इसी पवित्र स्थानको फिरसे उज्जीवित (Relive) करनेका श्रेय लीजिये, इसीके पुनरुत्थानमे अपनी शक्तिको लगाइये और इसीको जैन कालोनी बनाइये। अन्य स्थानोकी अपेक्षा यहाँ शीघ्र सफलताकी प्राप्ति होगी। यहाँ जमीनका मिलना सुलभ है और कालोनी बसानेकी सूचनाके निकलते ही आपके नक्शे आदिके अनुसार मकानात बनानेवाले भी आसानीसे मिल सकेंगे और उसके लिये आपको विशेष चिन्ता नही करनी पडेगी। कितने ही लोग अपना रिटायर्ड जीवन वही व्यतीत करेंगे और अपने लिये वहाँ मकानात स्थिर करेंगे। जिस सस्थाकी बुनियाद अभी कलकत्तेमे डाली गई वह भी वहाँ अच्छी तरहसे चल सकेगी। कलकत्ते जैसे बडे शहरोका मोह छोडिये और इसे भी भुला दीजिये कि वहाँ अच्छे विद्वान् नही मिलेंगे। जब आप कालोनी जैसा आयोजन करेंगे तब वहाँ आवश्यकताके योग्य आदमियोकी कमी नही रहेगी। यह हमारा काम करनेसे पहलेका भयमात्र है। अतः ऐसे भयोको हृदयमे स्थान न देकर और भगवान महावीरका नाम लेकर काम प्रारम्भ कर दीजिये। आपको जरूर सफलता मिलेगी और यह कार्य आपके जीवनका

एक अमर कार्य होगा। मैं अपनी शक्तिके अनुसार हर तरहसे इस कार्यमे आपका हाथ बटानेके लिये तैयार हूँ। वृद्ध हो जानेपर भी आप मुझमे इसके लिये कम उत्साह नही पाएँगे। जैनजीवन और जैनसमाजके उत्थानके लिये मैं इसे उपयोगी समझता हूँ।

लाला जुगलकिशोरजी (कागजी) आदि कुछ सज्जनोसे जो इस विषयमे बातचीत हुई तो वे भी इस विचारको पसन्द करते हैं और राजगृहको ही इसके लिये सर्वोत्तम स्थान समझते हैं। इस सुन्दर स्थानको छोडकर हमे दूसरे स्थानकी तलाशमें इधर-उधर भटकनेकी जरूरत नही। यह अच्छा मध्यस्थान है—पटना, आरा आदि कितनेही बडे-वडे नगर भी इसके आस-पास हैं और पावापुर आदि कई तीर्थक्षेत्र भी निकटमे हैं। अत. इस विषयमे विशेष विचार करके अपना मत स्थिर कीजिये और फिर लिखिये। यदि राजगृहके लिये आपका मत स्थिर हो जाय तो पहले साहू शान्तिप्रसादजीको प्रेरणा करके उन्हे वह जमीदारी खरीदवाइये, जिसे वे खरीदकर तीर्थक्षेत्रको देना चाहते है, तब वह जमीदारी कालोनीके काममे आ सकेगी।[1]

१ अनेकान्त वर्ष ९, किरण १, जनवरी १९४८

समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव : ८ :

जैनसमाजमे पूजा-प्रतिष्ठाओ, मेले-ठेलो, मन्दिर-मूर्तियोके निर्माण, मन्दिरोकी सजावट और तीर्थयात्रा आदि जैसे कार्योंमें जैसा भाव और उत्साह देखनेमें आता है वैसा सत्साहित्यके उद्धार और नव-निर्माण जैसे कार्योंमे वह नही पाया जाता। वहाँ करोडो रुपये खर्च होते हैं तो यहाँ उनका सहस्राश भी नही। इसका मूल कारण समाजमे साहित्यिक सद्रुचिका अभाव है और उसीका यह फल है जो आज हजारो ग्रन्थ शास्त्रभडारो-की कालकोठरियोमे पडे हुए अपने जीवनके दिन गिन रहे हैं—कोई उनका उद्धार करनेवाला नही है। यदि भाग्यसे किसी सद्ग्रन्थका उद्धार होता भी है जो वह वर्षों तक प्रकाशकोके घर पर पडा-पडा अपने पाठकोका मुँह जोहता रहता है—उसको जल्दो खरीदनेवाले नही, और इस बीचमे कितनी ही ग्रन्थप्रतियो-की जीवन-लीलाको दीमक तथा चूहे आदि समाप्त कर देते हैं। इसी तरह समयकी पुकार और आवश्यकताके अनुसार नव-साहित्यके निर्माणमें भी जैनसमाज बहुत पीछे है। उसे पता ही नही कि समयकी आवश्यकताके अनुसार नव-साहित्यके निर्माणकी कितनी अधिक जरूरत है—समयपर नदीके जलको नये घडेमे भरनेसे वह कितना अधिक ग्राह्य तथा रुचिकर हो जाता है। किसी भी देश तथा समाजका उत्थान उसके अपने साहित्यके उत्थानपर निर्भर है। जो समाज अपने सत्साहित्यका उद्धार तथा प्रचार नही कर पाता और न स्फूर्तिदायक नवसाहित्यके निर्माणमें ही समर्थ होता है वह मृतकके समान है और

आजके विश्वकी दृष्टिमे जीनेका कोई अधिकार नही है। ऐसी हालतमे समाजको कालके किसी बड़े प्रहारसे पहले ही जाग जाना चाहिए और अपनेमे साहित्यिक सद्रुचिको जगानेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये शीघ्र ही संगठित होकर निम्न कार्योंका किया जाना अत्यावश्यक है—

(१) अपना एक ऐसा बड़ा ग्रन्थसग्रहालय देहली जैसे केन्द्र स्थानमे स्थापित किया जाय, जिसमे उपलब्ध सभी जैन-ग्रन्थोकी एक-एक प्रति अवश्य ही सगृहीत रहे और अनुसन्धानादि कार्योंके लिये उपयुक्त दूसरे ग्रन्थोका भी अच्छा संग्रह प्रस्तुत रहे।

(२) महत्वके प्राचीन जैन-ग्रन्थोको शीघ्र ही मूलरूपमें प्रकाशित किया जाय, लागतसे भी कम मूल्यमें बेचा जाय और ऐसा आयोजन किया जाय जिससे बडे-बडे नगरो तथा शहरोकी लायब्रेरियो और जैनमन्दिरोमे उनका एक-एक सेट अवश्य पहुँच जाय।

(३) उपयोगी ग्रथोका हिन्दी, अग्रेजी आदि देशी-विदेशी भाषाओमे अच्छा अनुवाद करा कर उन्हे सस्ते मूल्य द्वारा खूब प्रचारमे लाया जाय और अनेक साधनो द्वारा लोक-हृदयमे उनके पढनेकी रुचि पैदा की जाय।

(४) सधे हुए प्रौढ़ विद्वानो द्वारा अथवा अच्छे पारखी विद्वानोकी देख-रेखमे ऐसे नये साहित्यका निर्माण कराया जाय जो जैन-साहित्यके प्रति लोकरुचिको जागृत करे, विद्वानोकी उपपत्तिचक्षु (समाधान दृष्टि) को खोले, उदारताका वातावरण उत्पन्न करे और लोकमे फैली हुई तत्वादि-विषयक भूल-भ्रान्तियो-को दूर करनेमे समर्थ होवे। ऐसे साहित्यको सर्वत्र सुलभ करके और भी अधिकताके साथ प्रचारमे लाया जाय। ऐसा साहित्य

निर्माण करानेके लिये कुछ अच्छे पुरस्कारोंकी भी योजना करनी होगी, तभी यथेष्ट सफलता मिल सकेगी।

(५) अनेकान्तको सभीके पढने योग्य जैन-समाजका एक आदर्शपत्र बनाया जाय और प्रचारको द्वारा यथासाध्य ऐसा यत्न किया जाय कि कोई भी नगर-ग्राम, जहाँ एक भी घर जैनका हो, उसकी पहुँचसे बाहर न रह सके—वह सबकी सेवामे बराबर पहुँचा करे।

इन सब कार्योंके सम्पन्न होने पर साहित्यिक रुचि प्रबल वेगसे जागृत हो उठेगी और तब समाज सहज ही उन्नतिके पथ पर अग्रसर होने लगेगा। अत: पूरी शक्ति लगाकर इन कार्योंको शीघ्र ही पूरा करना चाहिये—भले ही दूसरे कामोको कुछ समयके लिये गौण करना पडे।[1]

१. अनेकान्त, वर्ष ११, किरण १२, मई १९५३।

समयसारका अध्ययन और प्रवचन : ६ :

आजकल जैन-समाजमे समयसारका प्रचार बढ़ रहा है—जिसे देखो वही समयसारकी स्वाध्याय करना तथा उसके प्रवचनोको सुनना चाहता है। बाह्य दृष्टिसे बात अच्छी है—बुरी नही; परन्तु देखना यह है कि समयसारका अध्ययन कितनी गहराईके साथ हो रहा है और उसके प्रवचनोमे क्या कुछ विशेषता रहती है। भावुकतामे बह जाना तथा दूसरोको बहा देना और बात है और किसी विषयके ठीक मर्मको समझना-समझाना दूसरी बात है। कितने ही विद्वान तो थोडा-सा अध्ययन करते ही अपनेको प्रवचनका अधिकारी समझने लगते हैं और लच्छेदार भाषणोको झाड़कर लोकका अनुरजन करनेमे प्रवृत्त हो जाते हैं, जिनमेसे बहुतोकी गति "वागुच्चारोत्सवं मात्र तत्क्रिया कर्तुमक्षमा:" जैसी होती है। इतना ही नही, बल्कि वे इस ग्रन्थपर टीका-टिप्पण तक लिखकर उसे प्रकाशित करते-कराते हुए भी देखनेमे आते हैं। उन्हे इस बातकी कोई चिन्ता नही कि वे वैसा करनेके अधिकारी भी हैं या कि नही तथा अपनी उस टीकामे कोई उल्लेखनीय खास विशेषता ला सके हैं या कि नही और उनके खुदके ऊपर समयसारका कितना असर है।

हालमे ऐसी दो एक टीकाओको देखनेका मुझे अवसर मिला है, परन्तु उनमे कुछ वाक्योको इधर-उधरसे ज्यो-का-त्यो उठाकर या कुछ तोड-मरोडकर रख देने और पिष्टपेषण तथा यो ही बढा-चढाकर कहनेके सिवा कोई खास बात प्राय: देखनेको नही मिली। मूल गाथाओके पद-वाक्योकी गहराईमे स्थित अर्थको स्पष्ट करने अथवा उनके गुप्त रहस्यको विवेचन द्वारा प्रकट करनेकी उनमे कोई खास चेष्टा नही पाई गई। ऐसी नगण्य

टीकाएँ प्रायः लोकैषणाके वशवर्ती होकर लिखी जाती हैं। जो सज्जन लोकैषणाके वशवर्ती नही हैं और जिनपर समयसारका थोडा बहुत रँग चढा हुआ है वे वर्षों पहले अपने अध्ययन, अनुभव और मननके बलपर लिखी गई टीकामे अपना विशेष कर्तृत्व नही समझते और आज भी, जबकि उस टीकामे सशोधन तथा परिमार्जनादिका काफो अवसर मिल चुका है, अनेक सत् प्रेरणाओंके रहते हुए भी उसे प्रकाशित करनेमें हिचकिचाते हैं। मानो वे अभी भी अपनी उस टीकाको टीकापदके योग्य न समझते हो। ऐसे सज्जनोमे वर्णी श्रीगणेशप्रसादजीका नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि मैं उनकी इस प्रवृत्तिसे पूर्णत· सहमत नही हूँ—वे अपने प्रवचनो आदिके द्वारा जब दूसरोको अपने अनुभवोका लाभ पहुँचाते हैं तब अपनी उस टीका द्वारा उन्हे स्थायी लाभ क्यो न पहुँचाएँ? फिर भी उनकी उपस्थितिमें जब उनके भक्त अपनी समयसारी टीकाएँ प्रकाशित करनेमे उद्यत हो जाएँ तब उनका अपनी कृतिके प्रति यह निर्ममत्व उल्लेखनीय जरूर हो जाता है।

नि सन्देह समयसार जैसा ग्रन्थ बहुत गहरे अध्ययन तथा मननकी अपेक्षा रखता है और तभी आत्म-विकास जैसे यथेष्ट फलको फल सकता है। हर एकका वह विषय नही है। गहरे अध्ययन तथा मननके अभावमे कोरी भावुकतामे बहनेवालोकी गति बहुधा 'न इधरके रहे न उधरके रहे' वाली कहावतको चरितार्थ करती है अथवा वे उस एकान्तकी ओर ढल जाते हैं जिसे आध्यात्मिक एकान्त कहते हैं और जो मिथ्यात्वमे परिगणित किया गया है। इस विषयकी विशेष चर्चाको फिर किसी समय उपस्थित किया जायगा।[1]

१. अनेकान्त वर्ष ११, किरण १२, मई १९५३।

भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा : १० :

जो भवका—संसारका—अभिनन्दन करता है—सासारिक कार्योमे रुचि, प्रीति अथवा दिलचस्पी रखता है—उसे 'भवाऽभिनन्दी' कहते हैं। जो मुनिरूपमे प्रव्रजित—दीक्षित—होकर भवाऽभिनन्दी होता है वह 'भवाभिनन्दी मुनि' कहलाता है। भवाभिनन्दी मुनि स्वभावसे अपनी भवाभिनन्दिनी प्रकृतिके वश भवके विपक्षीभूत मोक्ष[1] का अभिनन्दी नही होता—मोक्षमे अन्तरगसे रुचि, प्रीति, प्रतीति अथवा दिलचस्पी नही रखता। दूसरे शब्दोमे यो कहिये, जो मुनि मुमुक्षु नही, मोक्षमार्गी नही, वह भवाभिनन्दी होता है। स्वामी समन्तभद्रके शब्दोमे उसे 'ससाराऽऽवर्तवर्ती' समझना चाहिये। भवरूप संसार बन्धका कार्य[2] है और बन्ध मोक्षका प्रतिद्वन्दी है, अतः जो बन्धके कार्यका अभिनन्दी बना, उसमे आसक्त होता है वह स्वभावसे ही मोक्ष तथा मोक्षका फल जो अतीन्द्रिय, निराकुल, स्वात्मोत्थित, अबाधित, अनन्त, शाश्वत, परनिरपेक्ष एवं असली स्वाधीन सुख है उससे विरक्त रहता है—भले ही लोकानुरजनके लिए अथवा लोकमे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके अर्थ वह बाह्यमे उसका (मोक्षका) उपदेश देता रहे और उसकी उपयोगिताको भी बतलाता रहे, परन्तु अन्तरगमे वह उससे द्वेष ही रखता है।

भवाभिनन्दी मुनियोके विषयमे नि.सग-योगिराज श्री

---

१. मोक्षस्तद्विपरीतः। (समन्तभद्र)

२. बन्धस्य कार्यः संसारः। (रामसेन)

अमितगति प्रथमने योगसार-प्राभृतके आठवें अधिकारमे लिखा है—

> भवाऽभिनन्दिनः केचित् सन्ति संज्ञा-वशीकृताः ।
> कुर्वन्तोऽपि परं धर्मं लोक-पंक्ति-कृतादराः ॥ १८ ॥

'कुछ मुनि परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी भवाऽभिनन्दी—ससारका अभिनन्दन करनेवाले अनन्त ससारी तक—होते हैं, जो कि सज्ञाओके[1]—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह नामकी चार सज्ञाओ—अभिलाषाओके—वशीभूत हैं और लोकपक्तिमे आदर किये रहते हैं—लोगोके आराधने—रिझाने आदिमे रुचि रखते हुए प्रवृत्त होते हैं ।'

यद्यपि जिनलिंगको—निर्ग्रन्थ जैनमुनि-मुद्राको—धारण करनेके पात्र अति निपुण एवं विवेक-सम्पन्न मानव ही होते है[2] फिर भी जिनदीक्षा लेनेवाले साधुओमे कुछ ऐसे भी निकलते हैं जो बाह्यमे परम धर्मका अनुष्ठान करते हुए भी अन्तरगसे संसारका अभिनन्दन करनेवाले होते हैं । ऐसे साधु-मुनियोकी पहचान एक तो यह है कि वे आहारादि चार सज्ञाओके अथवा उनमेसे किसीके भी वशीभूत होते हैं, दूसरे लोकपक्तिमे—लौकिकजनो—जैसी क्रियाओके करनेमे—उनकी रुचि बनी रहती है और वे उसे अच्छा समझकर करते भी हैं । आहार—सज्ञाके वशीभूत मुनि बहुधा ऐसे घरोमे भोजन करते हैं जहाँ अच्छे रुचिकर एव गरिष्ठ-स्वादिष्ट भोजनके मिलनेकी अधिक

---

१. आहार-भय-परिग्गह-मेहुण-सण्णाहि मोहितोसि तुमं ।
भमिओ ससारवणे आणाइकाल अणप्पवसो ॥१०॥
—कुन्दकुन्द, भावपाहुड

२. मुक्ति यियासता धार्यं जिनलिंग पटीयसा ।—योगसार प्रा०, ८-१

संभावना होती है, उद्दिष्ट भोजनके त्यागको—आगमोक्त दोषो-के परिवर्जनकी—कोई परवाह नही करते, भोजन करते समय अनेक बाह्य क्षेत्रोसे आया हुआ भोजन भी ले लेते हैं, जो स्पष्ट आगमाज्ञाके विरुद्ध होता है। भय-संज्ञाके वशीभूत मुनि अनेक प्रकारके भयोसे आक्रान्त रहते हैं, परीषहोके सहनसे घबराते तथा वनोवाससे डरते हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि सप्त प्रकारके भयो-से रहित होता है। मैथुनसंज्ञाके वशीभूत मुनि ब्रह्मचर्य महाव्रत-को धारण करते हुए भी गुप्त रूपसे उसमे दोष लगाते हैं। और परिग्रह-सज्ञावाले साधु अनेक प्रकारके परिग्रहोकी इच्छाको धारण किये रहते हैं, पैसा जमा करते हैं, पैसेका ठहराव करके भोजन करते हैं, अपने इष्टजनोको पैसा दिलाते हैं, पुस्तकें छपा-छपाकर बिक्री करते-कराते रुपया जोडते हैं, तालाबन्द बाक्स रखते हैं, बाक्सकी ताली कमण्डलु आदिमे रखते हैं, पीछीमे नोट छिपाकर रखते हैं, और अपनी पूजाएँ बनवाकर छपवाते हैं[1] ये सब लक्षण उक्त भवाभिनन्दियोके हैं जो पद्यके 'संज्ञावशीकृता' और 'लोकपंक्तिकृतादरा' इन दोनो विशेषणोसे फलित होते हैं और आजकल अनेक मुनियोमे लक्षित भी होते हैं।

भवाऽभिनन्दी मुनियोकी स्थितिको स्पष्ट करते हुए आचार्य-महोदयने तदनन्तर एक पद्य और भी दिया है जो इस प्रकार है —

मूढा लोभपराः क्रूरा भीरवोऽसूयकाः शठाः।
भवाऽभिनन्दिनः सन्ति निष्फलारम्भकारिणः॥ १९॥

इसमे बतलाया है कि 'जो मूढ—दृष्टि-विकारको लिये हुए

---

१. एक पडितजीने मुझसे कहा कि अमुक मुनि महाराजका जब बाराबकीमे चातुर्मास था तब उन्होंने अपनी पूजा बनवानेके लिये उन्हें प्रेरणा की थी।

मिथ्यादृष्टि लोभमे तत्पर, क्रूर, भीरु (डरपोक) ईर्ष्यालु और विवेक-विहीन हैं वे निष्फल-आरम्भकारी—निरर्थक धर्मानुष्ठान करनेवाले—भवाऽभिनन्दी हैं। यहाँ भवाभिनन्दियोके लिए जिन विशेषणोका प्रयोग किया गया है वे उनकी प्रकृतिके द्योतक हैं। ऐसे विशेषण-विशिष्ट मुनि ही प्राय उक्त सज्ञाओके वशीभूत होते हैं, उनके सारे धर्मानुष्ठानको यहाँ निष्फल—अन्त सार-विहीन—घोषित किया गया है। इसके बाद उस लोकपक्तिका स्वरूप दिया है, जिसमें भवाऽभिनन्दियोका सदा आदर बना रहता है और वह इस प्रकार है :—

आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते या क्रिया वालैर्लोकपंक्तिरसौ मता ॥ २० ॥

'अविवेकी साधुओके द्वारा मलिन अन्तरात्मासे युक्त होकर लोगोंके आराधन—अनुरंजन अथवा अपनी ओर आकर्षणके लिए जो धर्म-क्रिया की जाती है वह 'लोक-पक्ति' कहलाती है।'

यहाँ लौकिकजनो-जैसी उस क्रियाका नाम 'लोकपक्ति' है जिसे अविवेकीजन दूषित-मनोवृत्तिके द्वारा लोकाराधनके लिये करते हैं अर्थात् जिस लोकाराधनमे ख्याति-लाभ-पूजादि-जैसा अपना कोई लौकिक स्वार्थ सन्निहित होता है। इसीसे जिस लोकाराधनरूप क्रियामे ऐसा कोई लौकिक स्वार्थ सनिहित नही होता और जो विवेकी विद्वानोके द्वारा केवल धर्मार्थ की जाती है वह लोकपक्ति न होकर कल्याणकारिणी होती है, परन्तु मूढचित्त साधुओके द्वारा उक्त दूषित मनोवृत्तिके साथ लोकाराधनके लिये किया गया धर्म पापबन्धका कारण होता है। इसी बातको निम्न पद्य-द्वारा व्यक्त किया गया है —

धर्माय क्रियमाणा सा कल्याणाङ्गं मनीपिणाम्।
तन्निमित्तः पुनर्धर्मः पापाय हतचेतसाम् ॥२१॥

इसके बाद मुक्ति किसको कैसे प्राप्त होती है इसकी संक्षिप्त सूचना करते हुए आचार्यमहोदयने स्पष्ट शब्दोमे यह घोषणा की है कि 'इस मुक्तिके प्रति मूढचित्त भवाभिनन्दियोका विद्वेष—विशेषरूपसे द्वेषभाव—रहता है—

कल्मष-क्षयतो मुक्तिर्भोग-संगम(वि)वर्जिनाम् ।
भवाऽभिनन्दिनामस्यां विद्वेषो मूढचेतसाम् ॥२३॥

ठीक है, ससारका अभिनन्दन करनेवाले दीर्घ-ससारी होनेसे उन्हे मुक्तिकी बात नही सुहाती—नही रुचती—और इसलिये वे उससे प्राय: विमुख बने रहते हैं—उनसे मुक्तिकी साधनाका कोई भी योग्य प्रयत्न बन नही पाता; सब कुछ क्रियाकाण्ड ऊपरा-ऊपरी और कोरा नुमायशी ही रहता है ।

मुक्तिसे उनके द्वेष रखनेका कारण वह दृष्टि-विकार है जिसे मिथ्या-दर्शन कहते हैं और जिसे आचार्य-महोदयने अगले पद्यमे ही 'भवबीज' रूपसे उल्लेखित किया है । लिखा है कि 'भवबीज' का वियोग हो जानेसे जिनके मुक्तिके प्रति यह विद्वेष नही है वे भी धन्य हैं, महात्मा हैं और कल्याणरूप फलके भागी हैं ।' वह पद्य इस प्रकार है '—

नास्ति येषामयं तत्र भव-बीज-वियोगतः ।
तेऽपि धन्या महात्मानः कल्याण-फल-भागिनः ॥२४॥

नि:सन्देह ससारका मूलकारण मिथ्यादर्शन है, मिथ्यादर्शनके सम्बन्धसे ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र होता है, जिन तीनोको भवपद्धति—ससार-मार्गके रूपमे उल्लेखित किया जाता है, जो कि मुक्तिमार्गके विपरीत है[1] । यह दृष्टि-विकार

---

१. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ (समन्तभद्र)

ही वस्तु-तत्त्वको उसके असली रूपमे देखने नही देता, इसीसे जो अभिनन्दनीय नही है उसका तो अभिनन्दन किया जाता है और जो अभिनन्दनीय है उससे द्वेष रक्खा जाता है। इस पद्यमे जिन्हे धन्य, महात्मा और कल्याणफल-भागी बतलाया है उनमें अविरत-सम्यदृष्टि तकका समावेश है।

स्वामी समन्तभद्रने सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डाल-पुत्रको भी 'देव' लिखा है—आराध्य बतलाया है; और श्री कुन्दकुन्दाचार्यने सम्यग्दर्शनसे भ्रष्टको भ्रष्ट ही निर्दिष्ट किया है, उसे निर्वाणकी[1] सिद्धि—मुक्तिकी प्राप्ति नही होती।

इस सब कथनसे यह साफ फलित होता है कि मुक्तिद्वेषी मिथ्यादृष्टि भवाभिनन्दी-मुनियोकी अपेक्षा देशव्रती श्रावक और अविरत-सम्यग्दृष्टि गृहस्थ तक धन्य हैं, प्रशसनीय है तथा कल्याणके भागी हैं। स्वामी समन्तभद्रने ऐसे ही सम्यग्दर्शन-सम्पन्न सद्गृहस्थोके विषयमे लिखा है :—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो, नैव मोहवान्।
अनगारो, गृही श्रेयान् निर्मोहो, मोहिनो मुनेः॥

'मोह (मिथ्यादर्शन[2]) रहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है। मोह-सहित (मिथ्या-दर्शन-युक्त) मुनि मोक्षमार्गी नही है। (और इसलिये) मोही—मिथ्यादृष्टि मुनिसे निर्मोही—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुनिमात्रका दर्जा गृहस्थसे ऊँचा नही है, मुनियोमें मोही और निर्मोही दो प्रकारके मुनि होते हैं। मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थका दर्जा ऊँचा है—यह

---

१. दसणभट्टा भट्टा दसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं। (दंसणपाहुड)
२. मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते—रामसेन, तत्त्वानुशासन।

उससे श्रेष्ठ है। इसमे मैं इतना और जोड देना चाहता हूँ कि अविवेकी मुनिसे विवेकी गृहस्थ भी श्रेष्ठ है और इसलिये उसका दर्जा अविवेकी मुनिसे ऊँचा है।

जो भवाभिनन्दी मुनि मुक्तिसे अन्तरगमे द्वेष रखते हैं वे जैन मुनि अथवा श्रमण कैसे हो सकते हैं? नही हो सकते। जैन मुनियोका तो प्रधान लक्ष्य ही मुक्ति प्राप्त करना होता है। उसी लक्ष्यको लेकर जिनमुद्रा धारणकी सार्थकता मानी गई है[1]। यदि वह लक्ष्य नही तो जैन मुनिपना भी नही, जो मुनि उस लक्ष्यसे भ्रष्ट हैं उन्हे जैन मुनि नही कह सकते—वे भेषी-ढोगी मुनि अथवा श्रमणाभास हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारके तृतीय चारित्राधिकारमे ऐसे मुनियोको 'लौकिकमुनि' तथा 'लौकिकजन' लिखा है। लौकिकमुनि-लक्षणात्मक उनकी वह गाथा इस प्रकार है —

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहि।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि ॥६९॥

इस गाथामे बतलाया है कि 'जो निर्ग्रन्थरूपसे प्रव्रजित हुआ है—जिसने निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनिकी दीक्षा धारण की है—वह यदि इसे लोक-सम्बन्धी सासारिक दुनियादारीके कार्योमे प्रवृत्त होता है तो तप-सयमसे युक्त होते हुए भी उसे 'लौकिक' कहा गया है।' वह परमार्थिक मुनि न होकर एक प्रकारका सासारिक दुनियादार प्राणी है। उसके लौकिक कार्योमें प्रवर्तनका आशय मुनि-पदको आजीविकाका साधन बनाना, ख्याति-लाभ-पूजादिके लिए सब कुछ क्रियाकाण्ड करना, वैद्यक-ज्योतिष-मन्त्र-तन्त्रादिका व्यापार करना, पैसा बटोरना,

---

१. मुक्ति यियासता धार्यं जिनलिग पटीयसा। (योगसार प्रा० ८-१)

लोगोके झगडे-टण्टेमे फँसना, पार्टीबन्दी करना, साम्प्रदायिकताको उभारना और दूसरे ऐसे कृत्य करने-जैसा हो सकता है जो समतामे बाधक अथवा योगीजनोके योग्य न हो।

एक महत्वकी बात इससे पूर्वकी गाथामे आचार्यमहोदयने और कही है और वह यह है कि 'जिसने आगम और उसके द्वारा प्रतिपादित जीवादि पदार्थोंका निश्चय कर लिया है, कषायोको शान्त किया है और जो तपस्यामें भी बढा-चढा है, ऐसा मुनि भी यदि लौकिक-मुनियो तथा लौकिक-जनोका ससर्ग नही त्यागता तो वह सयमी मुनि नही होता अथवा नही रह रह पाता है—ससर्गके दोपसे, अग्निके ससर्गसे जलकी तरह, अवश्य ही विकारको प्राप्त हो जाता है'—

> णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
> लोगिगजन-संसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि॥६८॥

इससे लौकिक-मुनि ही नही; किन्तु लौकिक-मुनियोकी अथवा लौकिक जनोकी सगति न छोडनेवाले भी जैन मुनि नही होते, इतना और स्पष्ट हो जाता है, क्योकि इन सबकी प्रवृत्ति प्राय लौकिकी होती है जबकि जैन-मुनियोकी प्रवृत्ति लौकिकी न होकर अलौकिकी हुआ करती है; जैसा कि श्री अमृत-चन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है —

> अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार-नित्य-निरभिमुखा।
> एकान्त-विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः॥१३॥
>
> —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमे अलौकिक वृत्तिके दो विशेषण दिये गए हैं—एक तो करम्बित (मिलावटी-बनावटी-दूषित) आचारसे सदा विमुख रहनेवाली, दूसरे एकान्तत (सर्वथा) विरतिरूपा—किसी भी

पर-पदार्थमे आसक्ति न रखनेवाली। यह अलौकिकी वृत्ति ही जैन मुनियोकी जान—प्राण और उनके मुनि-जीवनकी शान होती है। बिना इसके सब कुछ फीका और नि.सार है।

इस सब कथनका सार यह निकला कि निर्ग्रन्थ रूपसे प्रव्रजित—दीक्षित जिनमुद्राके धारक मुनि दो प्रकारके हैं—एक वे जो निर्मोही—सम्यग्दृष्टि हैं, मुमुक्षु–मोक्षाभिलाषी हैं, सच्चे मोक्षमार्गी हैं, अलौकिकी वृत्तिके धारक सयत हैं, और इसलिए असली जैन मुनि हैं। दूसरे वे, जो मोहके उदयवश दृष्टिविकार-को लिये हुए मिथ्यादृष्टि हैं, अन्तरगसे मुक्तिद्वेषी हैं, बाहरसे दम्भी मोक्षमार्गी हैं, लोकाराधनके लिए धर्मक्रिया करनेवाले भवाभिनन्दी हैं, ससारावर्तवर्ती हैं, फलत असयत हैं, और इसलिए असली जैन-मुनि न होकर नकली मुनि अथवा श्रमणा-भास हैं। दोनोकी कुछ बाह्यक्रियाएँ तथा वेष सामान्य होते हुए भी दोनोको एक नही कहा जा सकता, दोनोमे वस्तुतः जमीन-आसमानकासा अन्तर है। एक कुगुरु ससार-भ्रमण करने-करानेवाला है तो दूसरा सुगुरु ससार-बन्धनसे छुडाने-वाला है। इसीसे आगममे एकको वन्दनीय और दूसरेको अवन्दनीय बतलाया है। ससारके मोही प्राणी अपनी सासारिक इच्छाओकी पूर्तिके लिए भले ही किसी परमार्थत अवनन्दनीय-की वन्दना-विनयादि करें—कुगुरुको सुगुरु मान लें—परन्तु एक शुद्ध सम्यग्दृष्टि ऐसा नही करेगा। भय, आशा, स्नेह और लोभमेसे किसीके भी वश होकर उसके लिये वैसा करनेका निषेध है[1]।

---

१. भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणाम विनय चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टय.॥
—स्वामी समन्तभद्र

यदि भवाभिनन्दी लौकिक मुनि अपना बाह्य वेप तथा रूप लौकिक ही रखते तो ऐसी कोई बात नही थी, दूसरे भी अनेक ऐसे त्यागी अथवा साधु-सन्यासी हैं जो ससारका नेतृत्व करते हैं। परन्तु जो वेश तथा रूप तो धारण करते हैं मोक्षाभिनन्दीका, और काम करते हैं भवाभिनन्दियोके—ससाराऽवर्तवर्तियोके, जिनसे जिन-लिंग लज्जित तथा कलकित होता है। यही उनमे एक बडी भारी विपमता है और इसीसे परीक्षकोकी दृष्टिमे भेपी अथवा दम्भी कहलाते हैं। परोपकारी आचार्योंने ऐसे दम्भी साधुओसे सावधान रहनेके लिए मुमुक्षुओको कितनी ही चेतावनी दी है और उनको परखनेकी कसीटी भी दी है, जिसका ऊपर सक्षेपमे उल्लेख किया जा चुका है। साथ ही यहाँ तक भी कह दिया है कि जो ऐसे लौकिक मुनियोका ससर्ग–सम्पर्क नही छोडता वह निश्चितरूपसे सूत्रार्थ-पदोका ज्ञाता विद्वान्, शमित-कषाय और तपस्यामे बढा-चढा होते हुए भी सयत नही रहता—असयत हो जाता है। इससे अधिक चेतावनी और ऐसे मुनियोके ससर्ग-दोपका उल्लेख और क्या हो सकता है? इसपर भी यदि कोई नही चेते, विवेकसे काम नही ले और गतानुगतिक बनकर अपना आत्म-पतन करे तो इसमे उन महान् आचार्योंका क्या दोष?

मुनि-निन्दाका हौआ!

आजकल जैन-समाजमें मुनिनिन्दाका हौआ खूब प्रचारमे आ रहा है, अच्छे-अच्छे विद्वानो तकको वह परेशान किये हुए है और उन्हे मुनि-निन्दक न होनेके लिए अपनी सफाई तक देनी पडती है। जब किसी मुनिकी लौकिक प्रवृत्तियो, भवाभिनन्दिनी वृत्तियो, कुत्सित आचार-विचार, स्वेच्छाचार, व्रतभग

और आगमकी अवहेलना-जैसे कार्योंके विरोधमे कोई आवाज उठाई जाती है तो उसका कोई समुचित उत्तर न देकर प्राय मुनि-निन्दाका आरोप लगा दिया जाता है, और इस तरह मुनि-निन्दाका आरोप उन लोगोंके हाथका एक हथियार बन गया है, जिन्हे कुछ भी युक्तियुक्त कहते नही बनता। मुनि-निन्दाका फल कुछ कथाओमे दुर्गति जाना और बहुत कुछ दु ख-कष्ट उठाना चित्रित किया गया है, इस भयसे ऐसे मुनियोकी आगम-विरुद्ध दूषित प्रवृत्तियोको जानते हुए भी हर किसीको उनके खिलाफ मुँह खोलने तकका साहस नही होता। भयके वातावरणमे सारा विचार-विवेक अवरुद्ध हो जाता है और कर्तव्यके रूपमें कुछ भी करते-धरते नही बनता। नतीजा इसका यह हो रहा है कि ऐसे मुनियोका स्वेच्छाचार बढता जाता है, जिसके फलस्वरूप समाजमे अनेक कठिन समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। समाजके सगठनका विघटन हो रहा है, पार्टीबन्दियाँ शुरू हो गई हैं और पक्ष-विपक्षकी खीचातानीमे सत्य कुचला जा रहा है। यह सब देखकर चित्तको बडा ही दु'ख तथा अफसोस होता है और समाजके भविष्यकी चिन्ता सामने आकर खडी हो जाती है।

समझमे नही आता, कि जो महान् जैनाचार्योंके उक्त कथनानुसार परमधर्मका अनुष्ठान करते हुए भी जैनमुनि ही नही, मुमुक्षु नही, मोक्षमार्गी नही, सासारिक प्रवृत्तियोका अभिनन्दन करनेवाले भवाभिनन्दी लौकिक-जन हैं उनके विषयमें किसी सत्य-समालोचकपर मुनिनिन्दाका आरोप कैसे लगाया जा सकता है? मुनि हो तो मुनि-निन्दा भी हो सकती है, मुनि ही नही तब मुनि-निन्दा कैसी?

यदि विचार-क्षेत्रमे अथवा वस्तु-निर्देशके रूपमे कुछ मुनियोके दोषोको व्यक्त करना भी मुनि-निन्दामे दाखिल हो तो जिन महान् आचार्योंने कतिपय मुनियोको भवाभिनन्दी, आहार-भय-मैथुनादि-सज्ञाओके वशीभूत, लोकाराधनके लिए धर्मक्रिया करनेवाले मलिन अन्तरात्मा लिखा है, उनके लिए मूढ (मिथ्यादृष्टि) लोभपरायण, क्रूर, भीरु (डरपोक), असूयक (ईर्ष्यालु), शठ (अविवेकी)—जैसे शब्दोका प्रयोग किया है, उन्हे मुक्ति-द्वेषी तक बतलाया है तथा लौकिक-कार्योंमे प्रवृत्त करनेवाले लौकिकजन एव असयत (अमुनि) घोषित किया है, वे सब भी मुनि-निन्दक ठहरेंगे और तब ऐसी मुनि-निन्दासे डरनेका कोई भी युक्तियुक्त कारण नही रह जायगा। परन्तु वास्तवमे वे महामुनि मुनि-निन्दक नही थे और न कोई उन्हे मुनि-निन्दक कहता या कह सकता है। उन्होंने वस्तुतत्वका ठीक निर्देश करते हुए उक्त सब कुछ कहा है और उसके द्वारा हमारी विवेककी आंखको खोला है—यह सुझाया है कि बाह्यमे परमधर्मका आचरण करते हुए देखकर सभी मुनियोको समानरूपसे सच्चे मुनि न समझ लेना चाहिए, उनमे कुछ ऐसे भेषी तथा दम्भी मुनि भी होते हैं जो मुक्ति-प्राप्तिके लक्ष्यसे भ्रष्ट हुए लौकिक-कार्योंकी सिद्धि तथा ख्याति-लाभ-पूजादिकी दृष्टिसे ही मुनिवेषको धारण किये हुए होते हैं। ऐसे मुनियोको भवाऽभिनन्दी मुनि बतलाया है और उनके परखनेकी कसौटीको भी 'संज्ञावशीकृता', 'लोकपक्तिकृतादरा', 'लोभपरा' आदि विशेषणोके रूपमे हमें प्रदान किया है। इस कसौटीको काममे न लेकर जो मुनिमात्रके अथवा भवाऽभिनन्दी मुनियोके अन्धभक्त बने हुए हैं, उन अन्ध-श्रद्धालुओको विवेकी नही कहा जा सकता और अविवेकियोकी पूजा, दान, गुरुभक्ति आदि सब धर्मक्रियायें धर्मके यथार्थफलको

नही फलती। इसीसे विवेक-(सम्यग्ज्ञान) पूर्वक आचरणको सम्यक्चारित्र कहा गया है। जो आचरण विवेकपूर्वक नही, वह मिथ्याचारित्र है और ससार-भ्रमणका कारण है।

अतः गृहस्थो—श्रावकोको वडी सावधानीके साथ विवेकसे काम लेते हुए मुनियोको उक्त कसौटी पर कसकर जिन्हे ठीक जैनमुनिके रूपमे पाया जाय उन्हीको सम्यक्मुनिके रूपमे ग्रहण किया जाय और उन्हीको गुरु वनाया जाय—भवानन्दियोको नही, जो कि वास्तवमे मिथ्यामुनि होते हैं। ऐसे लौकिक-मुनियों को गुरु मानकर पूजना पत्थरकी नाव पर सवार होनेके समान है, जो आप डूबती तथा आश्रितोको भी ले डूबती है। उन्हे अपने हृदयसे मुनि-निन्दाके भ्रान्त-भयको निकाल देना चाहिये और यह समझना चाहिए कि जिन कथाओमे मुनिनिन्दाके पाप-फलका निर्देश है वह सम्यक् मुनियोकी निन्दासे सम्वन्ध रखता है, भवाभिनन्दी जैसे मिथ्यामुनियोकी निन्दासे नही—वे तो आगमकी दृष्टिसे निन्दनीय—निन्दाके पात्र—हैं ही। आगमकी दृष्टिसे जो निन्दनीय हैं उनकी निन्दासे क्या डरना? यदि निन्दाके भयसे हम सच्ची बात कहनेमे सकोच करेंगे तो ऐसे मुनियोका सुधार नही हो सकेगा। मुनिनिन्दाका यह हौआ मुनियोके सुधार-मे प्रबल बाधक है, उन्हे उत्तरोत्तर विकारी बनानेवाला अथवा बिगाड़नेवाला है। मुनियोको बनाने और बिगाडनेवाले बहुधा गृहस्थ-श्रावक ही होते हैं और वे ही उनका सुधार भी कर सकते हैं, यदि उनमे संगठन हो, एकता हो और वे विवेकसे काम लेवें। उनके सत्प्रयत्नसे नकली, दम्भी और भेषी मुनि सीधे रास्ते पर आ सकते हैं। उन्हे सीधे रास्ते पर लाना सद्गृहस्थो और विवेकी विद्वानोका काम है। मुख्यत असद्दोषोद्भावनका नाम निन्दा है, गौणतः सद्दोषोद्भावनका नाम भी निन्दा है,

जबकि उसके मूलमे व्यक्तिगत द्वेपभाव सनिहित हो, जबकि ऐसा कोई द्वेपभाव संनिहित न होकर हृदयमे उसके सुधारकी, उसके ससर्ग-दोषसे दूसरोके संरक्षणकी भावना सनिहित हो और अपना कर्तव्य समझकर सद्दोषोका उद्भावन किया जाय तो वह निन्दा न होकर अपने कर्तव्यका पालन है। इसी कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे महान् आचार्योंने ऐसे भवाभिनन्दी लौकिक मुनियोमे पाये जानेवाले दोषोका उद्घाटन कर उनकी पोलपट्टीको खोला है और उन्हे दिगम्बर जैनमुनिके रूपमे मानने-पूजने आदिका निपेध किया है। ऐसा करनेमे जिनशासनकी निर्मलताको सुरक्षित रखना भी उनका एक ध्येय रहा है, जिसे समय-समयपर ऐसे दम्भी साधुओ—तपस्वियो और भ्रष्टचारित्र-पण्डितोने मलिन किया है, जैसाकि १३वी शताब्दीके विद्वान् प० आशाधरजी-द्वारा उद्धृत निम्न पुरातन पद्यसे भी जाना जाता है :—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

इस पद्यमे उन भवाभिनन्दी साधुओके लिए 'वठर' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है दम्भी, मायावी तथा धूर्त। और पण्डितोके लिए प्रयुक्त 'भ्रष्टचारित्रैः' पदमे धार्मिक तथा नैतिक चरित्रसे भ्रष्ट ही नही, किन्तु अपने कर्तव्यसे भ्रष्ट विद्वान् भी शामिल है। जिन विद्वानोको यह मालूम है कि अमुक आचार-विचार आगमके विरुद्ध है, भवानिन्दी मुनियो-जैसा है और निर्मल-जिनशासन तथा पूर्वाचार्योंकी निर्मल कीर्तिको मलिन करनेवाला है, फिर भी किसी भय, आशा, स्नेह, अथवा लोभादिकके वश होकर वे उसके विरोधमे कोई आवाज नही

उठाते, अज्ञ जनताको उनके विषयमे कोई समुचित चेतावनी नही देते, प्रत्युत इसके कोई-कोई विद्वान् तो उनका पक्ष तक लेकर उनकी पूजा-प्रशंसा करते है, ठकुरसुहाती बातें कहकर असत्यका पोषण करते और दम्भको बढ़ावा देते है, यह सब भी चरित्र-भ्रष्टतामे दाखिल है, जो विद्वानोको शोभा नही देता। ऐसा करके वे अपने दायित्वसे गिर जाते है और पूर्वाचार्योकी निर्मलकीर्ति तथा निर्मल-जिनशासनको मलिन करनेमे सहायक होते है। अतः उन्हे सावधान होकर चारित्रभ्रष्टताके इस कलक-से बचना चाहिए और मुनिनिन्दाके व्यर्थके हौएको दूर भगाकर उक्त भ्रष्टमुनियोके सुधारका पूरा प्रयत्न करना चाहिए—हर-प्रकारसे आगम-वाक्योके विवेचनादि-द्वारा उन्हे उनकी भूलो एवं दोषोका समुचित बोध कराकर सन्मार्गपर लगाना चाहिए और सतत् प्रयत्न-द्वारा समाजमे ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए, जिससे भवाभिनन्दी मुनियोका उस रूपमे अधिक समय तक टिकाव न हो सके और जो सच्चे साधु है उनकी चर्याको प्रोत्साहन मिले[१]।

---

१ 'भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा' नामक ट्रेक्ट, मार्च १९६५।

न्यायोचित विचारोंका अभिनन्दन : ११ :

जून मासके 'श्रमण' अक ४ मे मुनि श्री न्यायविजयजीकी एक 'नम्र-विज्ञप्ति' मुझे हालमे पढनेको मिली, जो समग्र जैन-संघको लक्ष्य करके लिखी गई है। पढनेपर मालूम हुआ कि मुनिजी अच्छे उदार विचारोके साधु हैं, जैनधर्म एव जिनशासन-के महत्वको हृदयगम किये हुए हैं, उसका समुचित प्रचार और प्रसार न देखकर उनका हृदय आकुलित है और यह देखकर तो वह बेचैन हो उठता है कि देशके राजनीतिज्ञ नेता तथा दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् जब भी देखो तब दूसरे बौद्धादि धर्मोंका तो गौरवके साथ निर्देश करते हैं, परन्तु जैनधर्मका नाम कोई कदाचित् ही ले पाते हैं, जब कि जैनधर्म गौरवमे किसीसे भी कम नही है—उसका तत्त्वज्ञान बहुत उच्चकोटिका और उसका साहित्य सब विपयोके उत्तम गन्थोसे समृद्ध है। साथ ही, उसके प्रवर्तक परम-त्यागी—तपस्वी, महान् ज्ञानी, विश्वकल्याणकी भावनाओसे ओत-प्रोत और विश्वहितके अनुरूप सन्मार्गका प्रचार करने वाले हुए हैं। ऐसे महान् लोकहितकारी जैनधर्मको प्रसिद्धि-विहीन देखकर मुनिजीके चित्तको चोट पहुँची है और वे उसका दोष जैनधर्मके प्रचारको, श्रावको तथा साधुओ दोनोको ही दे रहे हैं—'श्रावक अपने व्यापार-धन्धेमे मशगूल रहे और साधुजन कुछ साम्प्रदायिक अन्य प्रवृत्तियोमे ऐसे निमग्न हो गये कि इस महान् धर्मका विशेष फैलाव करनेकी ओर सक्रिय उत्साहित नही हुए।' इसीसे जैनधर्मका जितना और जैसा प्रचार होना चाहिए था वह नही हुआ, इस पर अपना खेद व्यक्त करनेके अनन्तर मुनिजीने लिखा है .—

"परन्तु अब खेदकी स्थितिमे न पडा रहकर समयको पहचानते हुए चतुर्विध सघको जैनधर्मका विस्तार करनेके लिए कटिबद्ध हो जानेकी आवश्यकता है। प्रचारके लिये आवश्यक है व्यापक दृष्टि, व्यापक भावना और व्यापक मिशन।"...... "जब तक हमारी अन्दरकी संकुचित दृष्टि और वाडाबंदीकी मनोदशा दूर नही हो जाती, तबतक 'सब जीव करूँ शासन रसी' की भावनाको साकार रूप मिलना सभव नही है।"

"शाखाओके बीचकी भेदक व अवरोधक दीवालोको दूर करना आवश्यक है। इसीमे जिन-शासनकी मुख्य सेवा समाई हुई है फिर भी क्रियाकाडकी योजनाओमे 'रुचीनां वैचित्र्यात्' अर्थात् रुचिभेदके कारण सामान्य अन्तर हो तो उसे महत्व नही दिया जाना चाहिए। जैसे सब अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भोजन करते हैं, वैसे ही सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार क्रियाकाड करते रहना चाहिए।"

"परन्तु शाखाओके बीच जो वडे अवरोधक हैं, उनका इलाज किये बिना चल नही सकता। यदि जिनशासनका लाभ ससारके विशाल प्रदेशमे प्रसारित करना हो तो दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, मूर्तिपूजक आदि भिन्न-भिन्न प्रवाहोमे जो सघर्ष चल रहा है उसे अब मिटा देना ही होगा। इन प्रवाहोके प्रश्न ऐसे नही कि इनका हल न निकले। मन साफ हो तो सुसगति साध्य है। दीर्घकालके सस्कार तथा परम्पराका शोधन होना अवश्य कठिन है, परन्तु सत्यके अन्वेषक सत्य-भक्त, मध्यस्थ चिन्तन द्वारा सत्यका अवलोकन होनेपर असत्यकी दीर्घकालीन पोषित वासनाको दूर कर देनेका सामर्थ्य दिखा सकते हैं। यह समझ लेना चाहिए कि वाडानिष्ठा हीनवृत्ति है, जब कि सत्य-

निष्ठा एक उच्च तथा कल्याणरूप वृत्ति है । समझदारोंको कल्याण-कामी बनकर बाडानिष्ठा त्याग सत्यनिष्ठा प्रकट करना चाहिए । सम्प्रदायचुस्तता मोक्षका मार्ग नही है । मोक्षका मार्ग है वीत-रागताकी साधना, जिसका आरम्भ सत्यनिष्ठामेसे होता है ।''

इन सद्विचारोके अनन्तर मुनिजीने 'सुसगठनके मार्गको सरल बनानेके लिए सब शाखाओ-सम्प्रदायोको कुछ-न-कुछ छोडना पडता ही है' 'ऐसा लिखकर किसको क्या छोडनेकी जरूरत है, इस विषयमे अपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमेंके प्रमुख विचार इस प्रकार हैं :—

(१) ''श्वेताम्बर मूर्तिपूजक वर्गको जिनप्रतिमापर अग-रचना करना बन्द कर देना चाहिए, मुकुट अथवा कोई भी आभूषण जिनप्रतिमापर नही लगाना चाहिए । यह परिवर्तन शास्त्रानुकूल होनेके कारण श्वेताम्बर मूर्तिपूजक वर्गको करना उचित है ।'' इसके समर्थनमे जो फुटनोट दिया है वह इस प्रकार है :—

''वीतराग भगवान्‌की मूर्तिपर वीतरागका दिखावा होना उचित है । यह सहज ही समझमे आनेलायक बात है । जिनेन्द्र देवकी ध्यानस्थ वीतराग योगीकी आकृतिवाली मूर्तिपर वीत-रागताके साथ सगत नही, वीतराग मूर्तिको न शोभे ऐसा दिखावा अगरचना द्वारा करनेमे आता है । इसे बन्द कर दिया जाए यही शोभनीय है ।''

(२) ''स्थानकवासी और तेरापथी वर्गको मुखपर मुख-वस्त्रिका बाँधना बन्द करना चाहिए । उसे हाथमे रखकर उसका उपयोग करना चाहिए । यह परिवर्तन जरा भी हिचकिचाहट बिना प्रसन्नतासे किया जाय, क्योकि इसमे शास्त्राज्ञाका कोई भी अटकाव नहीं है ।''

(३) तपागच्छ आदि सावत्सरिक पर्व पचमीका करें और चौमासी पूनमकी एवं पक्खी पूनम और अमावसकी करें। भादो सुदी पंचमी दिगम्बर समाजका भी मुख्य धार्मिक दिवस है। अर्थात् इस दिनको सांवत्सरिक पर्वकी फिरसे योजना करनेसे समग्र जैन समाजका यह मुख्य धार्मिक दिवस वन जाएगा। सामाजिक सगठनकी दृष्टिसे यह बहुत भारी लाभ है।''… इस प्रकारका परिवर्तन करनेमें जिनाज्ञाकी कोई रुकावट नही है यह मैं अपने पूरे अतरवलसे कहता हूँ।'' इत्यादि।

(४) ''हमारे सब उत्सव-महोत्सव पवित्र ज्ञान और कल्याणवाही संस्कारके उद्बोधक, प्रवोधक और शिक्षक रूप होने-बनने चाहिए। सब प्रदर्शन सादे, सयमित और भाववाही बनने चाहिये। इससे आम जनतामे जिनशासनकी प्रेरणा मिले ऐसी सुन्दर प्रभावना होगी।''

(५) ''हमारी साध्वियोको हमे व्याख्यान देनेकी छूट देनी चाहिये। जैन-समाजके अनेक वर्गोमे इस प्रकारकी छूट है ही। तपागच्छवालोको भी, उनकी साध्वियाँ अपने पवित्र ज्ञानका लाभ जैन ही नही, आम जनता (तक) को दें इसके लिए उन्हे प्रोत्साहित करना चाहिए। सभामे वे औचित्यपूर्ण ऊँचे आसन पर बैठें यह तो उनके गुण-गौरवके लिए शोभनीय ही है। सभा-मे साधु, मुनिवरोकी उपस्थितिमे जब गृहस्थ स्त्रियाँ भाषण दे सकती हैं, देती हैं तो फिर साध्वियाँ व्याख्यान क्यो नही देवें ? और उसे सुननेमे साधु-मुनिवरोको ऐतराज क्या हो सकता है ?''

(६) ''आचार्य हरिभद्रने अपनी जन्मदात्री माताका तो कही भी कोई उल्लेख नही किया, परन्तु अपनेको प्रेरणा देने वाली साध्वीजीका उल्लेख अपनेको उनका धर्मपुत्र बताते हुए अपने

प्राय: प्रत्येक ग्रन्थके अन्तमे किया है और इस तरह उन साध्वीजी का महत्व स्थापित करते हुए उन्हे पूज्यता प्रदान की है।" इस बातका उल्लेख करके मुनिजीने लिखा है :—

"ऐसा गौरव रखनेवाली साध्वीजी दीक्षा-पर्यायमें पचास वर्षकी हो और उनके निर्मल चारित्रकी सुगध फैली हो तो भी वह तत्क्षणदीक्षित हुए नये छोटे साधुको वन्दन करे, यह बडा अद्भुत लगता है। इसमे चारित्र-पर्यायके मूल्यकी अवगणना करते हुए जातीय शरीरका बहुमान होता क्या हमे नही दिखलाई देता ?"

मुनिजीके ये सब विचार न्यायोचित हैं और इसलिए मैं इनका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ। जैन-सघकी जिस-जिस शाखा-वर्ग, सम्प्रदाय तथा गच्छादिसे इन विचारोका सम्वन्ध है, उन्हे शीघ्र ही इन विचारोको न्यायविहित एवं उपयोगी समझकर विना किसी झिझकके कार्यमे परिणत करना चाहिए, और इस तरह अपनी सत्यनिष्ठा, सच्ची जिनशासन-भक्ति और सही समाज-हितैषिताका परिचय देना चाहिये। ऐसा होनेपर जैनधर्मके जो तीन-चार वडे टुकडे हो रहे हैं वे जुडनेकी ओर प्रेरित होगे, उनमे परस्पर जो सघर्ष चल रहा है जिसके कारण उनकी शक्तिका ह्रास हो रहा है वह मिटेगा और जैनधर्म तथा जैन-समाजका एक अच्छा प्रभावशाली सगठन तैयार होनेका मार्ग साफ हो जाएगा। पूर्वजोके द्वारा देश-काल-की परिस्थितियो तथा अपनी-अपनी समझ एव कषायोके वश जो कुछ कार्य पहले ऐसे वन गये हैं जो आज न्यायोचित तथा समाजके हितकारी मालूम नही होते उनके लिए पूर्वजोको दोष देने या उनके साथ चिपटे रहनेकी जरूरत नही है। हमे विवेक-

से काम लेकर और अपनी वर्तमान परिस्थितियो एव आवश्यक-ताओको ध्यानमे रखकर जो हितरूप परिवर्तन है उसे करना ही चाहिये। इसमे आगमसे कोई वाधा नही आती और न किसी शास्त्राज्ञाका विरोध ही घटित होता है। आगम-शास्त्र सदासे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार परिवर्तनकी वात कहते आए हैं और जिनशासनमे परीक्षापूर्वकारिताकी ही प्रधानता रही है, न कि रूढ़ि-पालनकी। इसीसे रूढिचुस्तता अथवा सम्प्रदायचुस्तता (कट्टरता) कोई मोक्षमार्ग नही, ऐसा जो मुनिजीने लिखा है और वाडानिष्ठाको हीनवृत्ति वतलाया है वह सब ठीक ही है। यह एकान्तको अपनाने और अनेकान्तकी ओर पीठ देनेके परिणाम हैं, इसीसे परस्पर संघर्ष तथा विरोध चलता है, अन्यथा अनेकान्त तो विरोधका मथन करने वाला है, तब अनेकान्तके उपासकोमे विरोध कैसा ? विरोधको देखकर यही कहना पडता है कि वे अपनेको अनेकान्तके उपासक कहते जरूर हैं, परन्तु अनेकान्तकी उपासनासे कोसो दूर है, और यह उनके लिए वडी ही लज्जा, शरम तथा कलककी वात है।

अनेकान्त दृष्टिको, जिसे स्वामी समन्तभद्रने सती—सच्ची दृष्टि बतलाई है और जिससे युक्त न होनेवाले सब वचनोको मिथ्या वचन घोषित किया है,[1] अपनाये तथा अपने जीवनमे उतारे बिना जैनधर्म अथवा जिनशासनका कोई प्रचार-प्रसार नही वनता। स्वय समन्तभद्र अनेकान्तके अनन्य उपासक थे, उन्होने उसे अपने जीवनमे पूर्णत उतारा था, उनकी जो कुछ भी वचनप्रवृत्ति होती थी वह सब लोकहितकी दृष्टिको लिए

---

१. अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥
(स्वयम्भूस्तोत्र)

हुए स्याद्वाद-न्यायकी तुलामे तुली हुई थी, इसीसे किसीको भी उसका विरोध करते प्रायः नही बनता था और वे अपने जिन-शासन-प्रचार-मिशनमे पूर्णतः सफल हुए हैं। यही वजह है कि बैलूर तालुकेके एक प्राचीन कनडी शिलालेख न० १७ मे, जो शक सवत् १०५९ का उत्कीर्ण है, स्वामी समन्तभद्रको श्री वर्धमानके तीर्थ-शासनकी हजार गुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त होनेवाले लिखा है।

जिनशासनका प्रचार करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रके उदार दृष्टिकोण, लोकहितकी भावना और उस निर्दोष वचन-पद्धतिको अपनाना होगा, जिसमे वह मोहन-मत्र छिपा था जिसने उन्हे सर्वत्र सफल-मनोरथ बनाया है।[2] स्वामी समन्त-भद्र दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायोके महामान्य आचार्योंमे परिगणित हैं। उन्होने अपने युक्त्यनुशासन ग्रथमे जिनशासनको एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका—सभी अर्थ-क्रियार्थि-जनोके द्वारा अवश्य आश्रयणीयरूप-सम्पत्तिका—स्वामी होने की शक्तिसे सम्पन्न बतलाया है और उसके अपवादका—एका-धिपत्य प्राप्त न कर सकने अथवा व्यापक रूपसे प्रचार न पा सकनेका असाधारण बाह्य कारण[3] वक्ताके वचनाऽनयको—आचार्यादि प्रवक्तृवर्ग-द्वारा सम्यक्नय-विवक्षाको छोडकर सर्वथा एकान्त रूपसे उपदेश दिये जानेको—निर्दिष्ट किया है, अत. वचनाऽनयके दोषसे रहित होकर उपदेश देना चाहिए—सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए नही।

वाकी यह खूबी जिनशासनमें स्वत. है कि उससे यथेष्ट—

२. देखो, 'स्वामी समन्तभद्र।

३. साधारण वाह्यकारणमें कलिकालका निर्देश है।

काफी द्वेष रखनेवाला–उसकी भरपेट निन्दा करने वाला–भी यदि मध्यस्थ वृत्ति हुआ उपत्तिचक्षुसे--मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसगत समाधानकी दृष्टिसे—उसका अवलोकन–परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानश्रृग खण्डित हो जाता है---सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है---और वह अभद्रसे समन्तभद्र बन जाता है—मिथ्यादृष्टिसे सम्यक्‌दृष्टि होकर जिनशासनका अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनके निम्न पद्यमे बडी ही दृढ श्रद्धाके साथ उद्‌घोषित किया है —

कामं द्विषन्नप्युपत्तिचक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

अत· अपनेको ठीक करके, जिनशासनके प्रचारमे जरा भी सकोच तथा सन्देह करनेकी जरूरत नही है—वह अवश्य सफल होगा। आजकल तो समय भी उसके बहुत अनुकूल है, लोगोकी मनोवृत्ति बदल रही है—पक्षपातकी भावनाएँ दूर होकर उपपत्ति-चक्षु खुलती जा रही है—और प्रचारके साधन भी इतने अधिक उपलब्ध तथा सुलभ हो रहे हैं, जो पहले कभी प्राप्य नही थे। ऐसे सुअवसरको पाकर भी यदि हम शासनके प्रचार कार्यमे अग्रसर न हुए तो यह हमारे लिए एक दुर्भाग्यकी बात होगी और यह समझ लेना अनुचित न होगा कि हमारे अन्त करणमे जिनशासनकी सच्ची भक्ति नही है—भक्तिके ऊपरी कोरे गीत ही गीत हैं।[1]

---

१. श्रमण, अगस्त १९६६।

एक अनुभव : १२ :

हालमें मुझे २६ अक्टूबर १६६४ का 'जैनसन्देश' अंक २६ देखनेको और उसमे श्रीरामजी भाई माणिकचन्द दोशी एडवोकेट, सोनगढका लेख पढनेको मिला, जिसका शीर्षक है 'प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना।' इस लेखमें एक जगह नम्बर (५) पर लिखा है :—

"श्री समन्तभद्राचार्य भी अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें भगवान् मुनिसुव्रतकी स्तुति करते हुए लिखते है कि समय-समयके चर-अचर पदार्थों का उपादान, निमित्त स्वकाल लब्धि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका ज्ञान केवलज्ञानमे आपको प्रकट हुआ है; इसलिये आप सर्वज्ञ हो।"

इस वाक्यमें श्री समन्तभद्राचार्यके जिस लेख (कथन) का उल्लेख किया गया है, वह उनकी मुनिसुव्रत-स्तुतिमे उस प्रकारसे नही पाया जाता। स्तुतिका तद्विपयक पद्य इस प्रकार है—

स्थिति-जनन-निरोध-लक्षणं चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
इति जिन! सकलज्ञ-लांछन वचनमिद वदतांवरस्य ते।।४६।।

इस पद्यका स्पष्ट अर्थ तथा आशय इतना ही है कि—

'हे जिन!, आप वदतांवर हैं—प्रवक्ताओमें श्रेष्ठ हैं—आपका यह वचन कि चर और अचर (जगम-स्थावर) जगत् प्रतिक्षण स्थिति-जनन-निरोधलक्षणको लिये हुए है—प्रत्येक समयमे ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय (विनाश) स्वरूप है—सर्वज्ञताका चिन्ह है—संसार भरके सभी पदार्थोंमे प्रतिक्षण

ध्रौव्य, उत्पाद और व्ययको एक साथ लक्षित करना सर्वज्ञताके विना नही वन सकता, और इसलिये इस (परम अनुभूत) वचनसे यह सूचित होता है, कि आप सर्वज्ञ है ।'

मूल स्तुति-पद्य और उसके उक्त मूलानुगामी अर्थ तथा आशयसे, जिन्हे भिन्न टाइपोमे दिया गया है, यह स्पष्ट जाना जाता है, कि श्रीरामजी भाई दोशीने जिसे समन्तभद्रा-चार्यका लेख (लिखना) प्रकट किया है वह उनका लेख (कथन अथवा वचन) नही है । स्वामी समन्तभद्रके उक्त पद्यमें तो कोई क्रियापद भी नही है, जिसका अर्थ "प्रकट हुआ है" किया जा सके, न 'जगत्' आदि शब्दोके साथ षष्ठी विभक्तिका कोई प्रयोग है, जिससे द्वितीय चरणका अर्थ "समय-समयके चर-अचर पदार्थोंका" किया जासके और न उपादान, निमित्त, स्वकाल लब्धि, ज्ञान और केवलज्ञान जैसे शब्दोका ही कही कोई अस्तित्व पाया जाता है । प्रथम चरण भी प्रथमान्त एकवचनात्मक है और इसलिये उसका भी षष्ठो विभक्तिके रूपमे अर्थ नही किया जा सकता । 'प्रतिक्षण' पदका घनिष्ट सम्बन्ध **'स्थिति-जनन-निरोधलक्षणं'** पदसे है, न कि **'जगत्'** आदि पदोसे, जिनके साथ उसे जोडा गया है, जैसाकि युक्त्य-नुशासनके **'प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्म-तत्त्वव्यवस्थं'** इस समन्तभद्र-वाक्यसे भी जाना जाता है । इसके सिवा **'इदं वचन'** पदोका कोई अर्थ ही नही दिया गया, जो उक्त पद्यकी एक प्रकारसे जान-प्राण है और इस बातको सूचित करते है कि स्वामी समन्तभद्रने यहां मुनिसुव्रतजिनके एक प्रवचनको उद्धृत किया है, जो पद्यके प्रथम दो चरणोमे उल्लिखित है । उसी वचनरूप साधनसे उनके सर्वज्ञ होनेका अनुमान किया गया है—न कि

अमुक-अमुक पदार्थों आदिका ज्ञान आपको केवलज्ञानमे प्रकट हुआ है, इसलिये आप सर्वज्ञ हैं।

समन्तभद्र-विषयक उक्त उल्लेखकी ऐसी स्थिति होनेसे यह साफ फलित होता है कि अपने किसी मन्तव्य अथवा उद्देश्यकी सिद्धि—पूर्तिके लिये आचार्य महोदयके वाक्यको तोड़-मरोडकर अन्यथा रूपमे उपस्थित किया गया है। इस अन्यथा उपस्थितिका भेद सहजमें खुल न जानेके कारण ही शायद मूल वाक्यको साथमें देना उचित नही समझा गया। श्री रामजीभाई दोशी एडवोकेट जैसे विद्वान्, जो एक समय 'आत्मधर्मका' सम्पादन और श्री कानजी स्वामीके 'प्रवचन' कहे जानेवाले उपदेशोको लेखोमे परिणत करते रहे है, ऐसा भी कर सकते हैं और उन्होने किया है, यही उनके विषयमे मेरा एक नया ताजा अनुभव है। अभी तक मेरा विचार यह चला आरहा था कि श्रीरामजी भाई दोशी अपने लेखोमें जिन आचार्य-वाक्योको अनुवादरूपमे प्रस्तुत करते रहे है, उनके उस अनुवाद-विषयमे वे प्रमाणिक रहे होगे, परन्तु अब मुझे अपना वह विचार बदलनेके लिये बाध्य होना पडता है और यह कहना पडता है कि श्रीरामजीभाई अपने अनुवादोमें सर्वत्र प्रामाणिक रहे मालूम नही होते—उन्होने अपने किसी अभिमतकी पुष्टिके लिये उनमें कभी मन-मानी कांट-छाँट अथवा हीनाधिकता (कमोबेस) करके उन्हे अन्यथा रूपमे भी प्रस्तुत किया है, जिसके एक उदाहरणको इस लेखमे स्पष्ट करके बतलाया गया है। इससे उनके अनुवादरूपमे प्रस्तुत जिन आगमादि-वाक्योंके साथ मूल वाक्य उद्धृत नही हैं उनके अर्थ तथा आशयके विषयमें धोखा होसकता है—विद्वान भी धोखा खा सकते है, क्योकि किसी

ग्रन्थके सब वाक्य अपने असली रूपमे सभी विद्वानोको समयपर उपस्थित नही होते—और इसलिये उन्हे अच्छी जाँच-पडतालके बाद ही ग्रहण किया जाना चाहिये—यो ही विना परीक्षाके उनके कथनमात्रसे प्रमाण रूपमें अंगीकार न कर लेना चाहिये। मैं समझता हूँ किसी महान् आचार्यादिके वाक्यको प्रमाणमे देते हुए उसे मूलरूपमे उद्धृत न करके मात्र अनुवादरूपमे उपस्थित करनेकी यह प्रणाली अच्छी नही—खतरेसे प्राय खाली नही है।[1]

---

१. जैन सन्देश १८ अगस्त १९६६।

निबन्ध-सूची

[इस सूचीमें ब्रेकेटके भीतर यह सूचित किया गया है कि कौन निबन्ध कब-कहाँ प्रथमत प्रकाशित हुआ है और जिस निबन्धका ठीक निर्माणकाल मालूम हो सका है, उसका वह समय निबन्धनामके अनन्तर डैशके बाद तथा ब्रेकटके पूर्व दिया गया है ।]

(१) उत्तरात्मक निबन्ध

१. शुभ चिह्न—(जैनमित्र २४ मार्च १९१३) १

२. म्लेच्छ-कन्याओंसे विवाह—(जैनमित्र २२ अप्रैल १९१३) २६

३ अर्थ-समर्थन—(जैनमित्र १७ सितम्बर १९१३) ३१

४ विवाह-क्षेत्र-प्रकाश—(प्रथमावृत्ति अगस्त १९२५) ४८ से १९३

५ दण्ड-विधान-विषयक समाधान—(जैनजगत १६ अप्रेल १९२६) १९४

६ जयजिनेन्द्र, जुहारु और इच्छाकार—(जैन जगत २१ मई १९२६) २०३

७ उपासना-विषयक समाधान—(जैनजगत २२३ से २८३ १६ जनवरीसे १ मार्च १९२७)

८ एक आक्षेप,—मई १९३० (अनेकान्त १, ६-७-८) २८४

९ एक विलक्षण आरोप—अक्तूवर १९३० (अने० १, ११-१२) २९३

१०. ब्रह्मचारीजीकी विचित्र स्थिति और अजीव निर्णय - (जैनजगत १६ जुलाई १९३४) ३२०

११ स्वार्थसे निवृत्ति कैसी ?—१७-१०-१९३६ (जैनदर्शन वर्ष ४, १ दिस० १९३६) ३३१

१२ पूर्वाऽपर-विरोध नहीं—(जैनदर्शन, वर्ष ४, १ जनवरी १९३७) ३४१

१३ अनोखा तर्क और अजीव साहस—(जैनजगत १० सितम्बर १९३७) ३४५

१४ गोत्रकर्मपर शास्त्रीजीका उत्तर लेख—२१, २, १६३६
(अनेकान्त वर्ष २ कि० ५) ३६०
१५ गलती और गलतफहमी—८-२-१६४४ (अनेकान्त वर्ष ६, क० १०-११) ३८८
१६ जैनागम और यज्ञोपवीतपर विचारणा—१२-४-१६४४
(अनेकान्त व० ६ कि० ९) ३६८
१७ समवसरणमे शूद्रोका प्रवेश—२-६-१६४८ (अनेकान्त वर्ष ६ कि० २) ४०४
१८ कानजी स्वामी और जिनशासन—(अनेकान्त नवम्बर १६५३, जनवरी, जुलाई १६५४) ४३२-८२
१९ श्रीहीराचन्द वोहराका नम्रनिवेदन—(अनेकान्त वर्ष १३, कि० ४-५ से ८ तथा ११-१२) ४८३ से ५३५

(४) समालोचनात्मक निबन्ध

१ द्रव्य-सग्रहका अग्रेजी सस्करण— ३-१-१६१८ (जैनहितैषी, भाग १३) ५३६
२ जयधवलाका प्रकाशन—१, १, १६३४
(जैनजगत वर्ष १० अक ३) ५५७
३ प्रवचनसारका नया संस्करण—(जैनसिद्धान्तभास्कर, जून १६३७) ५७०
४ नया सन्देश (समालोचना करनेवाला जैनी नही)—
अप्रैल १६२१ (जैनहितैषी, भाग ११, अक ६) ५६७
५ चिन्ताका विषय अनुवाद—(जैनजगत, १६-१-१६२६) ६०७
६ एक ही अमोघ उपाय—(जैनजगत ८ नवम्बर १६१६) ६१६
७ लेखक जिम्मेदार या सम्पादक—(जैनसन्देश, १७ मार्च १६३८) ६३३
८ भट्टारकीय-मनोवृत्तिका नमूना—(अनेकान्त ८, कि० ६-७) ६४३
९ डा० भायाणी एम-ए० की भारी भूल—(अनेकान्त वर्ष १३-१ जुजाई १६५४) ६४७

१० समाजका वातावरण दूषित— जैनसन्देश २८-११-१९६५) ६५०

(३) स्मृति-परिचयात्मक निबन्ध

१ वैद्यजीका वियोग—(अनेकान्त वर्ष १ कि० ११-१२) ६६१
२ ईसरीके सन्त—(अनेकान्त ४, ९, अक्तूवर १९४१) ६६३
३ शाहा जवाहरलाल और जैनज्योतिष—(अनेकान्त ५, १२, जनवरी १९४३) ६६५
४ हेमचन्द्र-स्मरण—११ मार्च १९४४ (स्व० हेमचन्द) ६६९
५ कर्मठ विद्वान—२४ मार्च १९४४ (ब्र० शीतलप्रसाद) ६८०
६ राजगृहमे वीरशासन-महोत्सव—(अनेकान्त ५, १२, जुलाई १९४४) ६८५
७ कलकत्तामें वीरशासन-महोत्सव—(अनेकान्त ७, ३-४ नवम्बर १९४४) ६९१
८ श्री दादीजी—(अनेकान्त वर्ष ७ कि० ९-१०) ७००
९. जैनजातिका सूर्य अस्त—(अने० वर्ष ७ कि० ११-१२) ७०८
१० अभिनन्दनीय प० नाथूरामजी प्रेमी—५ जुलाई १९४६ (प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ) ७१७
११ अमर प० टोडरमलजी—(वीरवाणी, जनवरी १९४८) ७२२
१२ सन्मति-विद्या-विनोद—(अने० वर्ष ९, ५ मई १९४८) ७२४
१३ पं० चैनसुखदासजीका अभिनन्दन—(२१ मार्च १९५१) ७४१
१४ श्री पं० सुखलालजीका अभिनन्दन—१० जून १९५७ ७४३
१५ शुभ भावना—१ मार्च १९६२ (आ० तुलसी अभि० ग्रन्थ) ७४५
१६ प० ठाकुरदासजीका वियोग—(जैनसन्देश जून १९६१) ७४७
१७. दुःसह दुःखद वियोग—(जैनसन्देश ३ फरवरी १९६६) ७५२

(४) विनोद-शिक्षात्मक निबन्ध

१. मैं और आप दोनों लोकनाथ—(जैनगजट १ जुलाई १९०७) ७५७
२ श्रीमान और धीमानकी बातचीत—(जैनगजट ८ जुलाई १९०७) ७५९

३ अतिपरिचयादवज्ञा—(जैनगजट १६ जुलाई १९०७) ७६२
४. मांसभक्षणमे विचित्र हेतु—(जैनगजट ८ अगस्त १९०७) ७६४
५ पापका बाप—(जैनगजट १४ जून १९०९) ७६७
६ विवेककी ऑख—(जैनगजट २४ जुलाई १९०९) ७७७
७ मक्खनवालेका विज्ञापन—(अने० ४, ३, अप्रेल १९४१) ७८५

(५) प्रकीर्णक निबन्ध

१. क्या मुनि कन्द-मूल खा सकते हैं ?—(जैनहितैषी, जुलाई-अगस्त १९२०) ७९२
२. क्या सभी कन्द-मूल अनन्तकाय होते हैं ?—(जैनहितैषी जुलाई-अगस्त १९२०) ७९६
३ अस्पृश्यता-निवारक आन्दोलन—(जैनहि० जुलाई १९२१) ८०१
४ देवगढ़के मन्दिर-मूर्तियोंकी दुर्दशा—(अने० दिस० १९३०) ८०८
५. ऊँच-गोत्रका व्यवहार कहाँ ?–(अने० २, २, दिस० १९३८) ८१५
६ महत्वकी प्रश्नोत्तरी— ८२५
७. जैनकॉलोनी और मेरा विचारपत्र—(अने० वर्ष ५, कि० १-२, १९४२) ८२८
८. समाजमें साहित्यिक सद्रुचिका अभाव—(अने० ८, १) ८३७
९. समयसारका अध्ययन और प्रवचन—(अ०वर्ष ११ कि० १२) ८४०
१० भवाऽभिनन्दी मुनि और मुनि-निन्दा—(प्रथमावृत्ति, मार्च १९६५) ८४२
११. न्यायोचित विचारोंका अभिनन्दन—(श्रमण, अगस्त १९६६) ८५७
१२. श्री रामजी भाई दोशी एडवोकेट-विषयक एक अनुभव—(जैनसन्देश १८ अगस्त १९६६) ८६५